Impact Factor (IIFS) : 8
ISSN 2231-1351
यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित
UGC Approved Journal No. 49359 (Old)

पदचिन्ह

बहुविषयक सहकर्मी - समीक्षित एवं संदर्भित पत्रिका

PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

May 2026 Volume: 15 Issue: 5

www.muditeducation.com/padchinha

Impact Factor (IIFS): 8 ISSN 2231-1351

UGC Approved Journal No. 49359 (Old) यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

May 2026 Volume: 15 Issue: 5

EDITOR

DR. AJAY PARMAR

B-30/239 Nagavan, Lanka, Varanasi - 221005

CO-EDITOR

DR. PANKAJ KUMAR SINGH

Mudit Shiksha Sanstha, Trimurti Nagar

Wardha (Maharashtra) PIN Code - 442001

Contact: 9823696685 **E-mail: padchinha@mudieducation.com**

Note:

• The views expressed in the journal "Padchinha" are not necessarily the views of peer reviewing board or publisher. Neither any member of the peer reviewing board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings.

• All disputes are subject to Varanasi jurisdiction only.

www.muditeducation.com/padchinha

संपादक-मंडल/ रेफ़रीड बोर्ड

प्रो. प्रेमनारायण सिंह
निदेशक
अंतर विश्वविद्यालय अध्यापक शिक्षा केंद्र
बी. एच. यू. वाराणसी (उ. प्र.) पिन - 221005

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
पूर्व अधिष्ठाता, संस्कृति विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

डॉ. मनोज कुमार राय
एसोसिएट प्रोफेसर, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा
सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी
(बिहार) पिन – 845401

डॉ. अनिल कुमार
वरीय सहायक प्राचार्य, स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग
भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, पश्चिमी परिसर
पी.जी. सेंटर सहरसा, बिहार. पिन : 852201

डॉ. रणजीत कुमार
सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
मौलाना मजहरूल हक अरबी व फारसी विश्वविद्यालय
पटना (बिहार) पिन - 800001

डॉ. स्वीटी कुमारी
सहायक आचार्य, प्राणिविज्ञान विभाग
श्री विश्वनाथ पी.जी. कॉलेज, कलानसुल्तानपुर
उत्तर प्रदेश. पिन -228101

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक. पिन - 737102

प्रो. अमरेन्द्र त्रिपाठी
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
(उत्तर प्रदेश) पिन - 211002

डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय
सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.) – 221005

डॉ. निमिषा त्रिपाठी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर-सह-अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची

डॉ. राम मनोहर मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर
कानपुर देहात (उ.प्र.) पिन : 209101

रवीन्द्र पाण्डेय
हिंदी विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उ. प्र.) पिन - 273009

सलाहकार समिति

डॉ. राजीव रंजन गिरि
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली – 110007

डॉ. रवेन्द्र राजपूत
एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़
उत्तर प्रदेश. पिन - 202001

डॉ. निशीथ राय
सहायक प्रोफेसर, मानवविज्ञान विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन – 442001

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी.- 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित। संपादक : अजय परमार

UGC Approved Journal No. 49359 (Old) Impact Factor: 8
यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

पदचिन्ह PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

मई (May) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 5

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
	संपादकीय	
➢	मनरेगा के कार्यान्वयन में मुखिया की भूमिका : सारण जिला के दाउदपुर पंचायत का एक अध्ययन (2016–2023) **_Dr. Abhishek Kumar Singh**	01-08
➢	आदिवासी महासभेत प्रवेश करण्यापूर्वीचे जयपाल सिंह आणि कॉंग्रेस पक्षा सोबत आलेले संबंध **_विश्वेश्वर भगवान महाजन**	09-15
➢	प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में वर्णित राज्य व्यवस्था, महामारी, अकाल और युद्ध जैसी आपदाओं से निपटने के व्यावहारिक नियम **_हरि शंकर भास्कर**	16-21
➢	रमेश पोखरियाल 'निशंक' के उपन्यासों में चित्रित आंचलिक जीवन और सामाजिक सरोकार **_अभिषेक कुमार**	22-26
➢	वैश्वीकरण के युग में भारतीय संघवाद और स्थानिक कूटनीति: केंद्र-राज्य संबंधों के बदलते आयाम **_शिवम कुमार सिन्हा**	27-32
➢	स्वातंत्र्योत्तर भारत की खादी नीति एवं समकालीन युवा समाज : चुनौतियाँ और संभावनाएँ **_तरुण सिंह**	33-38
➢	डॉ. भीमराव अम्बेडकर : वंचित समाज के महानायक **_सुशील कुमार**	39-46
➢	From Policy to Pedagogy: The Role of Translation in Realizing Nep 2020 **_Dr. Jitendra**	47-58
➢	रामानुज दर्शन में जीव : एक विश्लेषण **_डॉ. विमलेश कुमार मिश्र**	59-62
➢	'ग्राम साहित्य' के उन्नायक : पण्डित रामनरेश त्रिपाठी **_डॉ. धर्म विजय सिंह**	63-67
➢	The Imperatives of Epistemic Delinking: Countering the Hegemonic Notion of Secularism **_Nilofar Anjum Siddiqui**	68-74
➢	Information Need and Impact of Information and Communication Technologies on Health **_Dr. Preeti Singh _Dr. Seema Rani**	75-82
➢	Effect of climate change on development and reproduction of Nephus regularis (Sicard) **_Sweetee Kumari _Sachin S. Suroshe**	83-89
➢	राजस्थान एवं दिल्ली में दो वर्षीय बी.एड. इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की तुलनात्मक स्थिति : एक बहु-अभिधारक विश्लेषण **_प्रियंका मीना _डॉ. खीमाराम काक**	90-96
➢	सैन समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता और उर्ध्वगामी गतिशीलता **_प्रमोद कुमार _प्रो. पुष्पा चौधरी**	97-103
➢	आधुनिक हिंदी काव्य में प्रकृति-चित्रण और पर्यावरणीय चेतना **_डॉ. रीना _डॉ. मनीष पंवार**	104-107
➢	आलोक चक्रवाल कृत 'काशी : एक नगर का महाकाव्य' में काशी का सांस्कृतिक, भाषिक और जीवन-दर्शनात्मक विन्यास् **_डॉ. अनुपमा कुमारी**	108-113
➢	उधमपुर : समृद्ध संस्कृति की पहचान **_डॉ. इन्दु दत्ता**	114-118
➢	भूमि, ब्राह्मणत्व और पहचान : औपनिवेशिक बिहार में भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन (1870–1947) **_ज्योति पाँचाल _अंकित कुमार**	119-127

पदचिन्ह **PADCHINHA**

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

मई (May) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 5

- भारतीय शिक्षा: भूत, वर्तमान और भविष्य _**अनिकेत गौतम** 128-130
- राष्ट्रभाषा हिंदी और डॉ. अंबेडकर _**प्रो. विवेकानंद तिवारी** 131-133
- प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर पश्चिम भारत (600-1200 ई.) के मंदिरों में पशु-प्रतीकों का प्रतीकवाद: धर्म, समाज और कला का सांस्कृतिक अध्ययन _**रवि कुमार** 134-138
- From Patronage to Dispossession: Sultanic Craft Culture, Sufi Networks, and Colonial Commodification in the Kashmiri Handicraft Economy, c. 1420–1900 _**Vijay Kumar Yadav** 139-149
- किसान आंदोलन में दक्षिण बिहार की भूमिका(1923-1947) : एक ऐतिहासिक विश्लेषण _**कुमुद रंजन** _**प्रो. (डॉ.) कृष्ण कन्हैया** 150-157
- आपातकाल में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं : एक विमर्श _**नीतीश कुमार** _**प्रो. (डॉ.) कृष्ण कन्हैया** 158-163
- अमृतलाल वेगड़ का यात्रा-संस्मरण ‘सौंदर्य की नदी नर्मदा’ का लोक-आख्यान _**मुकेश कुमार झा** 164-171
- यक्षिणी : एक सांस्कृतिक विमर्श _**स्नेहा ओझा** _**प्रो. अर्चना खरे** 172-176
- गीतगोविन्दम् में वर्णित नायिका राधा का स्वरूप _**अनुपम कुमार** 177-183
- मानवीय मूल्य के सन्दर्भ में ‘उत्तररामचरितम्’ _**डॉ. दुर्गेश** 184-189
- उत्तर बिहार के किसान आंदोलन में तिरहुत प्रमण्डल की भूमिका (1920–1947) _**पूनम कुमारी** _**डॉ. श्वेता गुप्ता** 190-193
- अस्पृश्यता उन्मूलन पर महात्मा गांधी के विचार : एक ऐतिहासिक विश्लेषण _**सोनू कुमार** _**प्रो. (डॉ.) कृष्ण कन्हैया** 194-202
- नीरजा माधव की कहानियों में वृद्धों की उपेक्षा और पारिवारिक विघटन _**रुबी मौर्या** 203-206
- हिंदी पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता _**डॉ. सारिका राय शर्मा** _**दिव्या राहंगडाले** 207-214
- The Role of Cultural Migration in International Relations _**Dr. Rakhi Singh** 215-222
- पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी का एकीकरण : माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों का प्रत्यक्षण और कक्षागत अभ्यासों का एक गुणात्मक अध्ययन _**जेस्पेंदर सिंह** _**डॉ. सारिका राय शर्मा** 223-231
- प्रयागराज की हाई टेक रामलीला पथरचट्टी _**डॉ. विधु खरे दास** 232-235
- छत्तीसगढ़ में सादरी भाषा का सृजनात्मक इतिहास _**डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो** 236-239
- विनोद कुमार शुक्ल की रचनाओं में भाषा शैली _**अर्चना पांडये** 240-242
- बाल अपराध के रोकथाम में शिक्षा एवं परिवार की भूमिका : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन _**डॉ. नीलिमा नागर** 243-251
- आदिवासी साहित्य में रामकथा_**डॉ. अपर्णा पाण्डेय** 252-259
- रेडियो कार्यक्रम ‘मन की बात’ की संचार शैली और विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दे : एक अध्ययन _**सूरज शुक्ला** _**डॉ विशाल शर्मा** _**डॉ. ओमशंकर गुप्ता** 260-266
- “Who Owns the Local Voice” The Study of Ownership Structure in India’s Small Hindi Newspapers _**Dr. Mukesh Kumar** 267-277
- स्वास्थ्य संचार के सैद्धांतिक पक्ष : भारतीय संदर्भ में मॉडल, सिद्धांत और अनुप्रयोग _**डॉ. अमृत कुमार** 278-282
- यथार्थवाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन _**डॉ. रवेन्द्र राजपूत** 283-288

NOTES FOR AUTHORS

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 01.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

मनरेगा के कार्यान्वयन में मुखिया की भूमिका: सारण जिला के दाउदपुर पंचायत का एक अध्ययन (2016–2023)

Dr. Abhishek Kumar Singh

abhishekkumarsing0670@gmail.com

सार

महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम भारत के सबसे महत्वपूर्ण अधिकार-आधारित ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में से एक है। इसका उद्देश्य मजदूरी वाले रोजगार की गारंटी देकर और उत्पादक ग्रामीण संपत्तियां बनाकर ग्रामीण परिवारों को आजीविका की सुरक्षा प्रदान करना है। हालांकि मनरेगा को मांग-आधारित और भागीदारी वाले कार्यक्रम के रूप में डिज़ाइन किया गया है, लेकिन इसका प्रभावी कार्यान्वयन काफी हद तक स्थानीय शासन संस्थानों, विशेषकर ग्राम पंचायत पर निर्भर करता है। बिहार में, ग्राम पंचायत के निर्वाचित प्रमुख के रूप में मुखिया, राज्य, पंचायत प्रशासन और ग्रामीण नागरिकों को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मुखिया की भूमिका केवल प्रशासनिक पर्यवेक्षण तक सीमित नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक मध्यस्थता, जागरूकता पैदा करने, स्थानीय प्राथमिकताओं को तय करने और जवाबदेही तक फैली हुई है। मुखिया का प्रभावी नेतृत्व मांग पंजीकरण, कार्यस्थल की निगरानी, कमजोर वर्गों को शामिल करने और जनता के विश्वास को बेहतर बना सकता है। हालांकि, मजदूरी भुगतान में देरी, सीमित तकनीकी क्षमता, ग्राम सभा की कमजोर भागीदारी, राजनीतिक पक्षपात, अपर्याप्त जागरूकता और ब्लॉक-स्तरीय अधिकारियों पर निर्भरता जैसी चुनौतियां स्थानीय कार्यान्वयन की पूरी क्षमता को सीमित करती हैं। गांव स्तर पर मनरेगा को अधिक उत्तरदायी और जवाबदेह बनाने के लिए मुखिया और ग्राम पंचायत की संस्थागत क्षमता को मजबूत करना, पारदर्शिता तंत्र में सुधार करना और नियमित सामाजिक अंकेक्षण सुनिश्चित करना आवश्यक है।

मुख्य शब्द: *मुखिया, ग्राम पंचायत, ग्रामीण रोजगार,दाउदपुर पंचायत, सारण जिला, सामाजिक अंकेक्षण।*

प्रस्तावना

भारत की विकास नीति में ग्रामीण रोज़गार, आजीविका की सुरक्षा और लोगों की भागीदारी से विकास हमेशा से मुख्य मुद्दे रहे हैं। महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी अधिनियम, जिसे आमतौर पर मनरेगा के नाम से जाना जाता है, कल्याण-आधारित ग्रामीण कार्यक्रमों से हटकर अधिकारों पर आधारित रोज़गार गारंटी ढांचे की ओर एक बड़ा बदलाव है। मनरेगा का आधिकारिक मकसद ग्रामीण परिवारों की आजीविका सुरक्षा को बेहतर बनाना है। इसके तहत उन ग्रामीण परिवारों को कम से कम 100 दिनों का गारंटीड मज़दूरी वाला रोज़गार दिया जाता है, जिनके वयस्क सदस्य बिना हुनर वाले शारीरिक काम करने के लिए तैयार होते हैं। मनरेगा की खासियत सिर्फ़ इसकी रोज़गार गारंटी ही नहीं, बल्कि इसे लागू करने का विकेंद्रीकृत ढांचा भी है। यह कानून योजना बनाने, उसे लागू करने, निगरानी करने और जवाबदेही तय करने में ग्राम सभा और ग्राम पंचायत को केंद्र में रखता है। मनरेगा के आधिकारिक दिशानिर्देशों के अनुसार, यह कार्यक्रम निचले स्तर से शुरू होने वाला , लोगों पर केंद्रित, मांग-आधारित, खुद से चुनने वाला और अधिकारों पर आधारित है। कामों की प्रकृति और प्राथमिकता के बारे में फैसले खुली ग्राम सभा की बैठकों में लिए जाते हैं और ग्राम पंचायत उन्हें मंज़ूरी देती है[1]।

बिहार में, ग्राम पंचायत के चुने हुए प्रमुख को 'मुखिया' कहा जाता है। मुखिया से उम्मीद की जाती है कि वह ग्राम सभा और ग्राम पंचायत की बैठकें बुलाए, रिकॉर्ड रखे, स्थानीय प्रशासन की देखरेख करे और पंचायत व्यवस्था के भीतर कार्यकारी ज़िम्मेदारियां निभाए। बिहार पंचायत राज अधिनियम, 2006 मुखिया को ग्राम सभा और ग्राम पंचायत की बैठकें बुलाने और उनकी अध्यक्षता करने, पंचायत के रिकॉर्ड रखने, वित्तीय और कार्यकारी प्रशासन संभालने और पंचायत कर्मचारियों की देखरेख करने की ज़िम्मेदारी सौंपता है। यह संस्थागत पद मुखिया को मनरेगा को लागू करने में एक अहम

भूमिका निभाने वाला व्यक्ति बनाता है। हालांकि सरकारी विभाग, कार्यक्रम अधिकारी, तकनीकी सहायक, रोज़गार सेवक और ज़िला अधिकारी भी इसमें शामिल होते हैं, लेकिन गांव के स्तर पर मुखिया ही सबसे प्रमुख चुना हुआ अधिकारी होता है। ग्रामीण परिवारों, खासकर मज़दूरी करने वाले गरीब परिवारों के लिए, मुखिया अक्सर जॉब कार्ड से जुड़ी समस्याओं, काम की मांग, काम की जगह की जानकारी और स्थानीय शिकायतों के लिए संपर्क का पहला ज़रिया बन जाता है।

यह शोध पत्र 2016-2023 के दौरान बिहार के सारण ज़िले की दाउदपुर पंचायत में मनरेगा को लागू करने में मुखिया की भूमिका की जांच करता है। यह समय इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें सामान्य रूप से काम चलने वाले साल, कोविड-19 महामारी से आई रुकावट, प्रवासी मज़दूरों की वापसी और मनरेगा प्रक्रियाओं का बढ़ता डिजिटाइज़ेशन शामिल है। यह पत्र यह समझने की कोशिश करता है कि क्या मुखिया ने सिर्फ़ एक प्रशासनिक मध्यस्थ के तौर पर काम किया या एक ऐसे स्थानीय लोकतांत्रिक नेता के तौर पर, जो समावेशी और जवाबदेह तरीके से योजनाओं को लागू करने में अहम भूमिका निभा सकता था।

समस्या का विधान

मनरेगा को ऐसा बनाया गया है कि इसमें लोगों की भागीदारी हो और यह मांग पर आधारित हो, लेकिन अक्सर स्थानीय स्तर पर इसे लागू करने में कमियां रह जाती हैं। इन कमियों में शामिल हैं - मज़दूरों में जागरूकता की कमी, ग्राम सभा की बैठकें अनियमित होना, मज़दूरी मिलने में देरी, काम की मांग का रजिस्ट्रेशन अधूरा होना, सोशल ऑडिट का तरीका कमज़ोर होना, राजनीतिक पक्षपात, रिकॉर्ड ठीक से न रखना, और महिलाओं व पिछड़े समुदायों की कम भागीदारी। कई गांवों में, लाभार्थियों को अपने अधिकारों की साफ़ जानकारी नहीं होती, जैसे काम के लिए आवेदन करना, तारीख वाली रसीद पाना, पंद्रह दिनों के अंदर काम मिलना और समय पर मज़दूरी मिलना।

मनरेगा के आधिकारिक नियमों के अनुसार, काम चाहने वालों को जॉब कार्ड पाने, काम के लिए आवेदन करने, तारीख वाली रसीद पाने, पंद्रह दिनों के अंदर काम मिलने, मस्टर रोल देखने, दो हफ़्ते के अंदर मज़दूरी पाने और देर से भुगतान होने पर मुआवज़ा पाने का अधिकार है। फिर भी, इन अधिकारों का असल में मिलना स्थानीय स्तर पर मिलने वाली मदद पर बहुत हद तक निर्भर करता है। अगर मुखिया सक्रिय, पारदर्शी और सबको साथ लेकर चलने वाला है, तो लाभार्थियों को बेहतर जानकारी और सुविधाएं मिल सकती हैं। अगर मुखिया निष्क्रिय है या राजनीतिक रूप से पक्षपाती है, तो इस कार्यक्रम में लोगों की भागीदारी कम हो सकती है।2016 से 2023 के बीच दाउदपुर पंचायत में मनरेगा को लागू करने पर मुखिया के नेतृत्व का क्या असर पड़ा[2]। अध्ययन यह पता लगाने की कोशिश करता है कि क्या मुखिया ने बेहतर प्लानिंग, रोज़गार पैदा करने, पारदर्शिता और जवाबदेही में योगदान दिया, या फिर ढांचागत और प्रशासनिक सीमाओं ने स्थानीय नेतृत्व की असरदार भूमिका को कम कर दिया[3]।

अध्ययन के उद्देश्य

इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य बिहार के सारण जिले की दाउदपुर पंचायत में 2016 से 2023 तक मनरेगा को लागू करने में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण करना है।इसके खास उद्देश्य इस प्रकार हैं:

1. मनरेगा की योजना बनाने और काम चुनने में मुखिया की भूमिका की जांच करना।
2. जॉब कार्ड बनवाने, काम की मांग दर्ज कराने और रोजगार पैदा करने में मुखिया के योगदान का अध्ययन करना।
3. पारदर्शिता, सोशल ऑडिट और जन-भागीदारी सुनिश्चित करने में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण करना।
4. पंचायत स्तर पर मनरेगा के कार्यान्वयन में सुधार के लिए उपाय सुझाना।

अनुसंधान प्रश्न

यह पत्र इन शोध सवालों पर आधारित है:

1. पंचायत स्तर पर मनरेगा को लागू करने में मुखिया की क्या ज़िम्मेदारियाँ होती हैं?
2. मुखिया काम चुनने, मज़दूरों को जुटाने और लाभार्थियों की भागीदारी पर कैसे असर डालता है?
3. पारदर्शिता और जवाबदेही सुनिश्चित करने में मुखिया की क्या भूमिका होती है?
4. कौन-सी प्रशासनिक, राजनीतिक और सामाजिक चुनौतियाँ मुखिया के काम पर असर डालती हैं?

साहित्य की समीक्षा

मनरेगा पर हुई शोध इसके दोहरे स्वरूप को दिखाती है: यह एक रोज़गार कार्यक्रम भी है और विकेंद्रीकृत शासन का एक साधन भी। यह मज़दूरी वाला रोज़गार तो देता ही है, साथ ही ग्राम सभाओं, पंचायतों, सोशल ऑडिट और ग्रामीण नागरिकों के लिए एक संस्थागत जगह भी बनाता है। जानकारों का तर्क है कि मनरेगा में लोकतंत्र को मज़बूत करने की क्षमता है; यह ग्रामीण मज़दूरों को कानूनी अधिकार देता है और योजना बनाने व उसे लागू करने में स्थानीय निकायों को शामिल करता है।मनरेगा और स्थानीय शासन पर फिशर की अध्ययन का तर्क है कि यह कार्यक्रम भारत में स्थानीय सरकारों को संसाधनों के सबसे बड़े हस्तांतरणों में से एक है और इसने स्थानीय सत्ता संबंधों और लोकतांत्रिक भागीदारी को प्रभावित किया है। इस अध्ययन में बिहार, उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश के केस अध्ययनज़ भी शामिल हैं, जो दिखाते हैं कि विकेंद्रीकृत कार्यान्वयन स्थानीय सामाजिक और राजनीतिक इतिहास के साथ कैसे जुड़ता है।मनरेगा का ढाँचा ग्राम सभा और ग्राम पंचायत को खास ज़िम्मेदारियाँ देता है। ग्राम सभा कामों की प्राथमिकता तय करती है, उनके कार्यान्वयन की निगरानी करती है और सोशल ऑडिट के लिए मुख्य मंच का काम करती है। ग्राम पंचायत रजिस्ट्रेशन आवेदन लेने, जॉब कार्ड जारी करने, काम के लिए आवेदन लेने, काम आवंटित करने, माँग का आकलन करने, कामों की पहचान और योजना बनाने, रिकॉर्ड रखने, ग्राम सभा बुलाने और सक्रिय रूप से जानकारी का खुलासा करने के लिए ज़िम्मेदार है[4]।

साहित्य यह भी दिखाता है कि सोशल ऑडिट मनरेगा की जवाबदेही के केंद्र में है। आधिकारिक दिशानिर्देश सोशल ऑडिट को कार्यक्रम के कार्यान्वयन की समुदाय-आधारित समीक्षा के रूप में परिभाषित करते हैं, जिसमें काम की गुणवत्ता, भुगतान का विवरण, काम पर रखे गए मज़दूरों की संख्या और इस्तेमाल की गई सामग्री शामिल है। सोशल ऑडिट का मकसद सार्वजनिक जवाबदेही सुनिश्चित करना है और इसमें ग्राम सभा की चर्चा शामिल होनी चाहिए।यह शोध पत्र एक पंचायत में मुखिया की भूमिका पर खास तौर पर ध्यान केंद्रित करके साहित्य में योगदान देता है। ग्राम पंचायत को एक सामान्य संस्था मानने के बजाय, यह चुने हुए गाँव के नेता की एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जाँच करता है जो कानून, प्रशासन और नागरिकों के बीच मध्यस्थता करता है।

क्रियाविधि

यह अध्ययन क्वालिटेटिव केस-अध्ययन अप्रोच पर आधारित है। इसके लिए बिहार के सारण ज़िले की दाउदपुर पंचायत को चुना गया है। अध्ययन की अवधि 2016–2023 है। यह शोध पत्र गाँव-स्तर पर गवर्नेंस की अध्ययन के तौर पर तैयार किया गया है, जिसमें काम को लागू करने की प्रक्रिया में मुखिया की भूमिका पर ध्यान दिया गया है।डेटा के प्रस्तावित स्रोतों में शामिल हैं:

प्राथमिक श्रोत: मनरेगा वर्कर्स, जॉब कार्ड होल्डर्स, महिला वर्कर्स, वार्ड मेंबर्स, पंचायत के अधिकारियों, मुखिया, पंचायत सचिव, रोज़गार सेवक, टेक्निकल असिस्टेंट और स्थानीय निवासियों के साथ इंटरव्यू।

द्वितीयक श्रोत: मनरेगा MIS रिपोर्ट्स, पंचायत रिकॉर्ड्स, ग्राम सभा की कार्यवाही, मस्टर रोल रिकॉर्ड्स, सोशल ऑडिट रिपोर्ट्स, सरकारी गाइडलाइंस, बिहार पंचायत राज एक्ट और ज़िला-स्तरीय रिपोर्ट्स।

अध्ययन क्षेत्र: दाउदपुर पंचायत, सारण जिला

चित्र-1 (दाऊदपुर का मानचित्र)

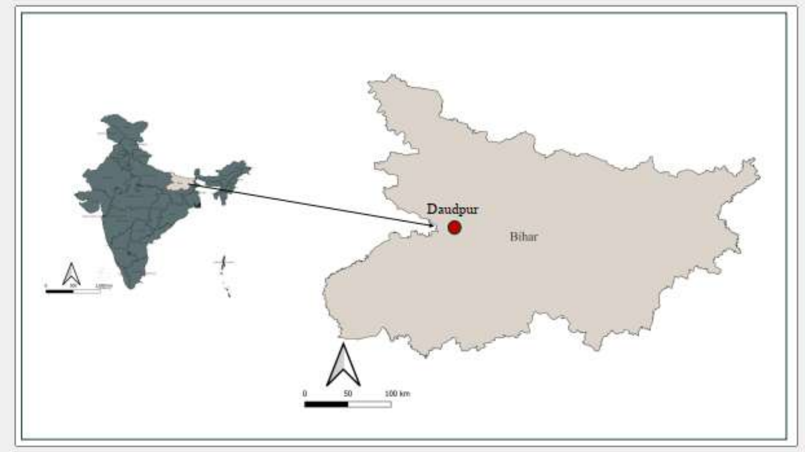

बिहार का सारण ज़िला खेती-बाड़ी, पलायन और ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक बदलावों के लंबे इतिहास वाला इलाका है। बिहार के कई ज़िलों की तरह, सारण में भी बड़ी ग्रामीण आबादी खेती, मज़दूरी, छोटे-मोटे व्यापार और पलायन पर निर्भर है। मौसमी

पलायन का असर ऐतिहासिक रूप से मज़दूरों की उपलब्धता और परिवारों की आमदनी के तरीकों पर पड़ा है। इस संदर्भ में, मनरेगा का खास महत्व है क्योंकि यह खेती के काम में कमी और आर्थिक तंगी के समय स्थानीय स्तर पर मज़दूरी वाला रोज़गार देता है।दाउदपुर पंचायत ग्रामीण शासन-व्यवस्था की एक आम इकाई है, जहाँ मुखिया, वार्ड सदस्य, पंचायत सचिव, रोज़गार सेवक और ग्राम सभा से मिलकर काम करने की उम्मीद की जाती है। पंचायत की ज़िम्मेदारी है कि वह स्थानीय विकास की ज़रूरतों की पहचान करे, जैसे कि ग्रामीण सड़कें, जल निकासी, तालाब, ज़मीन का विकास, जल संरक्षण, पेड़-पौधे लगाना और मनरेगा के तहत मंज़ूर अन्य काम[5]।

2016-2023 के दौरान, दाउदपुर पंचायत में भी दूसरे ग्रामीण इलाकों की तरह शासन-व्यवस्था में बदलाव देखे गए। 2020 से पहले का समय सामान्य कामकाज का दौर था। कोविड-19 के समय स्थानीय रोज़गार का महत्व बढ़ गया क्योंकि कई प्रवासी मज़दूर गाँव लौट आए थे। महामारी के बाद के सालों में डिजिटल सिस्टम, ऑनलाइन मस्टर रोल, आधार से जुड़े भुगतान और इलेक्ट्रॉनिक फंड मैनेजमेंट पर निर्भरता बढ़ गई। इन बदलावों ने स्थानीय नेतृत्व के लिए मौके और चुनौतियाँ, दोनों ही बढ़ा दिए।

मनरेगा में मुखिया की संस्थागत भूमिका

मनरेगा में मुखिया की भूमिका दो संस्थागत ढांचों से तय होती है: पंचायती राज व्यवस्था और मनरेगा को लागू करने का ढांचा। बिहार पंचायत राज अधिनियम के तहत, मुखिया एक चुना हुआ प्रमुख होता है जो ग्राम सभा और ग्राम पंचायत की बैठकें बुलाने, रिकॉर्ड रखने, पंचायत कर्मचारियों की देखरेख करने और कार्यकारी जिम्मेदारियां संभालने के लिए जिम्मेदार होता है। मनरेगा के तहत, ग्राम पंचायत की जिम्मेदारियों में रजिस्ट्रेशन, जॉब कार्ड, काम के लिए आवेदन, योजना बनाना, काम पूरा करना, रिकॉर्ड रखना, जागरूकता फैलाना, निगरानी करना और सोशल ऑडिट में मदद करना शामिल है।असल में, मुखिया की भूमिका को पांच मुख्य हिस्सों में बांटा जा सकता है।

पहला, मुखिया सुविधाओं तक पहुंच बनाने में मदद करता है। कई ग्रामीण मजदूर सीधे ब्लॉक ऑफिस नहीं जाते। वे जॉब कार्ड, काम की मांग, मजदूरी से जुड़े मुद्दों या शिकायतों के लिए मुखिया या वार्ड सदस्य के पास जाते हैं। इसलिए, मुखिया यह तय करता है कि मनरेगा को एक कानूनी अधिकार माना जाए या सिर्फ स्थानीय प्रभाव से बांटी जाने वाली सरकारी योजना।

दूसरा, मुखिया योजना बनाने वाले के तौर पर काम करता है। मनरेगा के काम ग्राम सभा की चर्चा में पहचानी गई स्थानीय जरूरतों के आधार पर तय होने चाहिए। मुखिया यह पक्का कर सकता है कि काम का चुनाव लोगों की प्राथमिकताओं, जैसे जल निकासी, जल संरक्षण, सड़क संपर्क और जमीन सुधार को ध्यान में रखकर किया जाए। हालांकि, अगर योजना बनाने में सबकी भागीदारी न हो, तो कामों में समुदाय की जरूरतों के बजाय राजनीतिक हित दिख सकते हैं।

तीसरा, मुखिया तालमेल बिठाने वाले के तौर पर काम करता है। मनरेगा को लागू करने के लिए प्रोग्राम ऑफिसर, जूनियर इंजीनियर, पंचायत सचिव, रोजगार सेवक, डेटा एंट्री ऑपरेटर, बैंक और मजदूरों के बीच तालमेल की जरूरत होती है। मुखिया की कामयाबी इस बात पर निर्भर करती है कि वह इन लोगों के साथ कितना अच्छा तालमेल बिठा पाता है।

पांचवां, मुखिया जवाबदेही तय करने वाली कड़ी के तौर पर काम करता है। ग्राम सभा की बैठकें, जानकारी सार्वजनिक करना, सोशल ऑडिट और शिकायतों का निपटारा करने के लिए स्थानीय राजनीतिक इच्छाशक्ति की जरूरत होती है। एक पारदर्शी मुखिया रिकॉर्ड को सबके लिए उपलब्ध करा सकता है और लोगों को सवाल पूछने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है। एक अपारदर्शी मुखिया जवाबदेही को कमजोर कर सकता है।

योजना बनाने और काम चुनने में भूमिका

मनरेगा को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए प्लानिंग बहुत ज़रूरी है। सरकारी नियमों के तहत, स्थानीय ज़रूरतों और संसाधनों के आधार पर कामों की प्राथमिकता तय करने की ज़िम्मेदारी ग्राम सभा की होती है। दाउदपुर पंचायत में, ग्राम सभा की बैठकों के लिए ग्रामीणों को इकट्ठा करने और यह पक्का करने में कि चुने गए काम सही हों, मुखिया की भूमिका अहम होती है।एक मज़बूत मुखिया अलग-अलग वार्डों, महिलाओं, ज़मीन-विहीन मज़दूरों, अनुसूचित जातियों, पिछड़े समुदायों और छोटे किसानों की भागीदारी को बढ़ावा दे सकता है। इससे पंचायत को ज़्यादा समावेशी लेबर बजट और

प्रोजेक्ट्स की लिस्ट तैयार करने में मदद मिलती है। इसके उलट, अगर ग्राम सभा की बैठकों में लोग कम आते हैं या उन पर स्थानीय प्रभावशाली लोगों का दबदबा होता है, तो कामों का चुनाव सीमित और राजनीतिक रूप से पक्षपाती हो सकता है।मनरेगा के तहत कामों का चुनाव ऐसा होना चाहिए जिससे रोज़गार की ज़रूरतों और संपत्ति बनाने के बीच संतुलन बना रहे। बिहार के बाढ़-प्रवण या जल-जमाव वाले इलाकों में, जल निकासी, तालाबों के नवीनीकरण, मिट्टी के संरक्षण, वृक्षारोपण और ग्रामीण कनेक्टिविटी से जुड़े कामों का लंबे समय तक फ़ायदा हो सकता है। मुखिया यह तय करने में अहम भूमिका निभा सकता है कि पंचायत टिकाऊ और उपयोगी संपत्तियां बनाए या सिर्फ़ कम समय के लिए चलने वाले काम करे।

2016-2023 के दौरान, डिजिटल रिपोर्टिंग और तकनीकी मंज़ूरी की ज़रूरतों की वजह से प्लानिंग का काम ज़्यादा जटिल हो गया। भले ही मुखिया कामों की पहचान कर ले, लेकिन मंज़ूरी तकनीकी अनुमान और ब्लॉक-स्तर पर जांच पर निर्भर करती है। इसका मतलब है कि मुखिया की भूमिका अहम तो है, लेकिन वह पूरी तरह स्वतंत्र नहीं है। स्थानीय मांगों को मंज़ूर किए गए कामों में बदलने के लिए मुखिया को तकनीकी स्टाफ़ और प्रोग्राम ऑफ़िसर के साथ तालमेल बिठाना पड़ता है।

जॉब कार्ड बनवाने और रोज़गार पैदा करने में भूमिका

ग्राम पंचायत की ज़िम्मेदारी है कि वह रजिस्ट्रेशन के लिए आवेदन ले, आवेदनों की जाँच करे, परिवारों का रजिस्ट्रेशन करे, जॉब कार्ड जारी करे, काम के लिए आवेदन ले और तारीख वाली रसीदें दे। इन कामों का सीधा असर रोज़गार मिलने पर पड़ता है।

दाउदपुर पंचायत में, मुखिया गरीब परिवारों को यह समझने में मदद कर सकता है कि जॉब कार्ड कैसे बनवाएँ और काम की माँग कैसे करें। मुखिया यह भी पक्का कर सकता है कि महिलाएँ, बुज़ुर्ग मज़दूर, ज़मीन-विहीन परिवार और समाज में पिछड़े परिवारों को इससे बाहर न रखा जाए। जागरूकता इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि कई मज़दूरों को यह नहीं पता होता कि मनरेगा माँग पर आधारित है और आवेदन करने के पंद्रह दिनों के अंदर रोज़गार देना ज़रूरी है।रोज़गार पैदा करने में मुखिया की भूमिका कुछ हद तक सीधी और कुछ हद तक अप्रत्यक्ष होती है[6]। सीधे तौर पर, मुखिया मज़दूरों को काम के लिए आवेदन करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है और समय पर काम शुरू करने की सिफारिश कर सकता है। अप्रत्यक्ष रूप से, मुखिया स्थानीय अधिकारियों पर दबाव डाल सकता है कि वे आवेदनों पर कार्रवाई करें, मस्टर रोल जारी करें और मंज़ूर किए गए काम शुरू करें। कोविड-19 के दौरान, जब वापस लौटने वाले प्रवासी मज़दूरों को स्थानीय स्तर पर रोज़गार की ज़रूरत थी, तो मुखिया की यह मददगार भूमिका और भी अहम हो गई।

हालाँकि, रोज़गार पैदा करना फंड की उपलब्धता, तकनीकी मंज़ूरी, प्रशासनिक दक्षता और काम की माँग के रजिस्ट्रेशन पर भी निर्भर करता है। इसलिए, अकेले मुखिया रोज़गार की गारंटी नहीं दे सकता। एक बड़ी चुनौती यह है कि ऊँचे स्तर की प्रशासनिक या पेमेंट सिस्टम की वजह से होने वाली देरी के लिए ग्रामीण मुखिया को दोषी ठहरा सकते हैं। इससे स्थानीय नेतृत्व पर दबाव बनता है।

वेतन भुगतान के समन्वय में भूमिका

मनरेगा के मज़दूरों को हर हफ़्ते या काम पूरा होने के दो हफ़्ते के अंदर मज़दूरी पाने का अधिकार है। तय समय के बाद पेमेंट में देरी होने पर उन्हें मुआवज़ा पाने का भी अधिकार है। असल में, मनरेगा को लागू करने में मज़दूरी का पेमेंट एक बहुत संवेदनशील मुद्दा है।मुखिया का पूरे इलेक्ट्रॉनिक मज़दूरी पेमेंट सिस्टम पर सीधा कंट्रोल नहीं होता, लेकिन वे तालमेल बिठाने में अहम भूमिका निभाते हैं। जब मज़दूरी में देरी होती है, बैंक अकाउंट लिंक नहीं होते, आधार की जानकारी गलत होती है या पेमेंट रिजेक्ट हो जाता है, तो मज़दूर अक्सर मुखिया के पास जाते हैं। मुखिया मज़दूरों की मदद रोज़गार सेवक, पंचायत सचिव, बैंक कॉरेस्पोंडेंट और ब्लॉक ऑफ़िस से बातचीत करने में कर सकते हैं।दाउदपुर पंचायत में, मज़दूरी में देरी से मनरेगा में मज़दूरों की दिलचस्पी कम हो सकती है। गरीब परिवार समय पर मिलने वाली नकद कमाई पर निर्भर होते हैं। अगर पेमेंट में देरी होती है, तो मज़दूर प्राइवेट मज़दूरी या पलायन को चुन सकते हैं। इसलिए, पेमेंट से जुड़ी समस्याओं पर मुखिया का फ़ॉलो-अप करना स्कीम की विश्वसनीयता पर असर डालता है।डिजिटल सिस्टम के बढ़ते इस्तेमाल से कुछ हद तक पारदर्शिता तो आई है, लेकिन इससे डिजिटल रूप से पिछड़े मज़दूरों के लिए मुश्किलें भी पैदा हुई हैं[7]। कई ग्रामीण मज़दूर ऑनलाइन पेमेंट का स्टेटस नहीं देख पाते। ऐसे मामलों में, मुखिया और पंचायत स्टाफ़ मज़दूरों और डिजिटल गवर्नेंस सिस्टम के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं।

पारदर्शिता और सामाजिक ऑडिट में भूमिका

मनरेगा में पारदर्शिता बहुत ज़रूरी है। ग्राम पंचायत को रिकॉर्ड रखने होंगे, काम, मज़दूरी, सामान और मज़दूरों के बारे में जानकारी देनी होगी और सोशल ऑडिट के लिए दस्तावेज़ उपलब्ध कराने होंगे। सोशल ऑडिट का मकसद काम, खर्च और मज़दूरों की भागीदारी की कम्युनिटी द्वारा जांच करके जनता के प्रति जवाबदेही पक्की करना है। सरकारी गाइडलाइंस के अनुसार, सोशल ऑडिट में दस्तावेज़ों की जांच, काम की फ़िज़िकल जांच, ग्राम सभा में चर्चा, मुद्दों को रिकॉर्ड करना और की गई कार्रवाई की रिपोर्ट शामिल होनी चाहिए।पारदर्शिता के प्रति मुखिया का रवैया सोशल ऑडिट की क्वालिटी पर काफ़ी असर डालता है। अगर मुखिया खुली जानकारी देने का समर्थन करता है, तो ग्रामीण मस्टर रोल, काम की क्वालिटी और पेमेंट के बारे में सवाल पूछ सकते हैं। अगर मुखिया रिकॉर्ड को निजी प्रशासनिक दस्तावेज़ मानता है, तो सोशल ऑडिट कमज़ोर हो जाता है।दाउदपुर पंचायत में, वॉल पेंटिंग, पब्लिक नोटिस बोर्ड, ग्राम सभा की बैठकों में काम की जानकारी पढ़कर सुनाने और जॉब कार्ड व पेमेंट की जानकारी पहले से ही शेयर करने से पारदर्शिता को मज़बूत किया जा सकता है। मुखिया मज़दूरों को यह जांचने के लिए भी प्रोत्साहित कर सकता है कि उनके नाम, काम के दिन और मज़दूरी सही तरह से दर्ज हैं या नहीं।

हालाँकि, सोशल ऑडिट से राजनीतिक तनाव पैदा हो सकता है क्योंकि इससे गड़बड़ियाँ सामने आ सकती हैं। जवाबदेही के लिए प्रतिबद्ध मुखिया को सवालों का सामना करने और गलतियों को सुधारने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसके लिए न केवल ईमानदारी बल्कि संस्थागत परिपक्वता की भी ज़रूरत होती है।

जनभागीदारी और समावेशन में भूमिका

मनरेगा सिर्फ़ रोज़गार देने वाली योजना नहीं है; यह लोगों की भागीदारी वाली गवर्नेंस व्यवस्था भी है। ग्राम सभा वह मंच है जहाँ गाँव वाले प्राथमिकताएँ तय करते हैं और काम के लागू होने पर नज़र रखते हैं। ग्राम सभा की बैठकों को सार्थक बनाने में मुखिया की लीडरशिप बहुत अहम होती है।

कई गाँवों में जाति, लिंग, साक्षरता, गरीबी और राजनीतिक जुड़ाव जैसी चीज़ें भागीदारी पर असर डालती हैं। महिला वर्कर सबके सामने बोलने में हिचकिचा सकती हैं। हाशिए पर रहने वाले समुदाय बैठकों में जाने से बच सकते हैं अगर उन्हें लगे कि फ़ैसले पहले ही प्रभावशाली समूहों द्वारा ले लिए गए हैं। मुखिया या तो इन असमानताओं को और बढ़ा सकता है या फिर सबको साथ लेकर चलने वाली लीडरशिप से उन्हें कम कर सकता है।सबको साथ लेकर चलने वाला मुखिया सुविधाजनक समय पर बैठकें कर सकता है, महिलाओं और गरीब परिवारों को बुला सकता है, एजेंडा की बातें आसान भाषा में समझा सकता है और वार्ड-स्तर पर प्रतिनिधित्व पक्का कर सकता है। ऐसे तरीकों से मनरेगा ज़्यादा लोकतांत्रिक बनता है। इसके उलट, अगर मुखिया सिर्फ़ अपने करीबी समर्थकों से सलाह-मशविरा करता है, तो यह योजना स्थानीय स्तर पर पक्षपात का ज़रिया बन सकती है[8]।दाउदपुर पंचायत के लिए सबको साथ लेकर चलना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि मनरेगा का फ़ायदा उन परिवारों के लिए सबसे ज़्यादा होता है जिनके पास ज़मीन कम है, जिनकी आमदनी पक्की नहीं है और जो मौसमी बेरोज़गारी का सामना करते हैं। मुखिया इन परिवारों तक कितनी अच्छी तरह पहुँच पाता है, इसी से तय होता है कि योजना अपने मकसद को पूरा कर पाएगी या नहीं।

मुखिया के सामने चुनौतियां

मनरेगा को लागू करने में मुखिया को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

प्रशासनिक निर्भरता: मुखिया अकेले काम लागू नहीं कर सकता। तकनीकी मंज़ूरी, माप-जोख, फंड ट्रांसफर, मस्टर रोल बनाना और मज़दूरी का भुगतान करने के लिए ब्लॉक-लेवल और डिजिटल सिस्टम की ज़रूरत होती है। इन स्तरों पर देरी से स्थानीय स्तर पर भरोसा कम होता है।

सीमित तकनीकी क्षमता: कई पंचायत प्रतिनिधियों को तकनीकी अनुमान, ऑनलाइन सिस्टम, वित्तीय नियमों और ऑडिट की ज़रूरतों के बारे में ट्रेनिंग नहीं होती है। इससे असरदार निगरानी सीमित हो जाती है।

ग्राम सभा में कम भागीदारी: हालांकि कानूनी तौर पर ग्राम सभा महत्वपूर्ण है, लेकिन इसमें लोगों की उपस्थिति कम हो सकती है। ग्रामीणों में जागरूकता की कमी हो सकती है या उन्हें लग सकता है कि बैठकें सिर्फ़ दिखावे के लिए होती हैं।

राजनीतिक दबाव और पक्षपात: स्थानीय राजनीति काम चुनने और मज़दूरों को जुटाने के काम पर असर डाल सकती है। समर्थक प्राथमिकता की उम्मीद कर सकते हैं, जबकि विरोधी गुट मुखिया पर पक्षपात का आरोप लगा सकते हैं।

मज़दूरी के भुगतान में देरी: भुगतान में देरी से मज़दूरों का भरोसा कम होता है। भले ही देरी पंचायत के बाहर हो, ग्रामीण अक्सर इसके लिए मुखिया को ही ज़िम्मेदार मानते हैं।

रिकॉर्ड रखने का बोझ: मनरेगा के तहत जॉब कार्ड रिकॉर्ड, मस्टर रोल, वर्क रजिस्टर, माप-जोख की किताबें, बिल, वाउचर और सोशल ऑडिट के दस्तावेज़ रखने पड़ते हैं। ठीक से रिकॉर्ड न रखने से पारदर्शिता पर असर पड़ता है।

डिजिटल पहुंच की कमी: मज़दूर ऑनलाइन सिस्टम, आधार-आधारित भुगतान, बैंक द्वारा भुगतान अस्वीकार किए जाने और MIS एंट्री को नहीं समझ पाते हैं। इससे बिचौलियों पर निर्भरता बढ़ जाती है।

सामाजिक ऊंच-नीच: जाति और लिंग के आधार पर असमानता भागीदारी को रोक सकती है। मुखिया को लोगों को बाहर रखे जाने से सक्रिय रूप से रोकना चाहिए।

चर्चा- दाउदपुर पंचायत का मामला दिखाता है कि मुखिया सिर्फ़ नाम का प्रमुख नहीं होता। मुखिया राज्य की नीतियों और स्थानीय समाज के बीच एक पुल का काम करता है। मनरेगा के कानूनी प्रावधान तभी सार्थक होते हैं जब ग्रामीण मज़दूर स्थानीय संस्थाओं के ज़रिए इनका लाभ उठा सकें।लोगों को एकजुट करने, जागरूकता फैलाने, स्थानीय योजना बनाने और रोज़मर्रा की समस्याओं को सुलझाने में मुखिया की भूमिका सबसे अहम होती है। हालाँकि, पेमेंट प्रोसेस और मंज़ूरी देने जैसे तकनीकी और वित्तीय सिस्टम वाले मामलों में उनकी भूमिका कमज़ोर पड़ जाती है। इससे लोगों की उम्मीदों और असल अधिकारों के बीच अंतर पैदा होता है।अध्ययन से यह भी पता चलता है कि मनरेगा को लागू करना लीडरशिप और संस्थाओं, दोनों पर निर्भर करता है। एक अच्छा मुखिया भागीदारी और पारदर्शिता बढ़ा सकता है, लेकिन सिस्टम की वजह से होने वाली देरी को पूरी तरह खत्म नहीं कर सकता। इसी तरह, अगर स्थानीय लीडरशिप सुस्त या भेदभावपूर्ण हो, तो मज़बूत नियम भी बेअसर हो जाते हैं।

इसलिए, मनरेगा को बेहतर बनाने के लिए मुखिया और उनके आस-पास के संस्थागत सिस्टम, दोनों को मज़बूत करना ज़रूरी है। ट्रेनिंग, समय पर डेटा मिलना, तकनीकी मदद, ब्लॉक के ज़िम्मेदार अधिकारी और सक्रिय सोशल ऑडिट बहुत ज़रूरी हैं।

नीतिगत सुझाव

- पहला, मुखिया, वार्ड सदस्यों, पंचायत सचिवों और रोज़गार सेवकों के लिए नियमित रूप से क्षमता-निर्माण कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए। ट्रेनिंग में मनरेगा के तहत मिलने वाले अधिकार, डिजिटल प्रोसेस, रिकॉर्ड रखना, सोशल ऑडिट और शिकायतों का निपटारा जैसे विषय शामिल होने चाहिए।
- दूसरा, ग्राम सभा की बैठकों में लोगों की भागीदारी बढ़ाई जानी चाहिए। बैठक की तारीखों की सार्वजनिक घोषणा होनी चाहिए और एजेंडा की बातें आसान भाषा में समझाई जानी चाहिए।
- तीसरा, नोटिस बोर्ड, दीवार पर जानकारी लिखना, काम की जानकारी सार्वजनिक रूप से पढ़कर सुनाना और मज़दूरी व सामग्री पर हुए खर्च का ब्यौरा दिखाकर पंचायत स्तर पर पारदर्शिता बढ़ाई जानी चाहिए।
- चौथा, सोशल ऑडिट नियमित और स्वतंत्र रूप से होने चाहिए। मुखिया को दस्तावेज़ उपलब्ध कराकर और मज़दूरों की भागीदारी को बढ़ावा देकर सहयोग करना चाहिए।
- पाँचवाँ, मज़दूरी के भुगतान से जुड़ी समस्याओं पर पंचायत स्तर के शिकायत रजिस्टर के ज़रिए नज़र रखी जानी चाहिए। बैंक, आधार और पेमेंट रिजेक्शन से जुड़ी समस्याओं को सुलझाने में मज़दूरों की मदद की जानी चाहिए।

निष्कर्ष

मनरेगा की सफलता काफी हद तक स्थानीय शासन की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। सारण ज़िले की दाउदपुर पंचायत में, 2016-2023 के दौरान मुखिया की भूमिका को प्रशासनिक, राजनीतिक, भागीदारी-आधारित और जवाबदेही पर केंद्रित माना जा सकता है। मुखिया जॉब कार्ड पाने, काम की मांग करने, ग्राम सभा को एकजुट करने, काम चुनने, स्थानीय स्तर पर निगरानी रखने और शिकायतों को आगे बढ़ाने में मदद करते हैं। साथ ही, मुखिया एक बड़े प्रशासनिक सिस्टम के तहत

काम करते हैं, जहाँ तकनीकी मंज़ूरी, मज़दूरी का भुगतान और ऑडिट की प्रक्रियाएँ कई अलग-अलग लोगों या संस्थाओं द्वारा नियंत्रित होती हैं।एक सक्रिय, पारदर्शी और सबको साथ लेकर चलने वाले मुखिया जागरूकता बढ़ाकर, भागीदारी मज़बूत करके, लोगों के छूटने की समस्या को कम करके और भरोसा बढ़ाकर मनरेगा (मनरेगा) के काम को बेहतर बना सकते हैं। हालाँकि, मुखिया की प्रभावशीलता भुगतान में देरी, कमज़ोर तकनीकी सहायता, ग्राम सभा में कम भागीदारी, डिजिटल रुकावटों और प्रशासनिक निर्भरता के कारण सीमित हो जाती है।मनरेगा के अधिकार-आधारित वादे को पूरा करने के लिए, मुखिया और ग्राम पंचायत को ट्रेनिंग, जानकारी, तकनीकी सहायता और जवाबदेही सिस्टम के ज़रिए सशक्त बनाना ज़रूरी है। दाउदपुर पंचायत का अनुभव बताता है कि ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रमों को सिर्फ़ खर्च या 'पर्सन-डेज़' (काम के दिनों) के आधार पर नहीं आंका जा सकता; बल्कि उनका मूल्यांकन इस आधार पर भी किया जाना चाहिए कि वे स्थानीय लोकतंत्र को कितनी अच्छी तरह मज़बूत करते हैं और ग्रामीण मज़दूरों के अधिकारों की रक्षा कैसे करते हैं।

संदर्भ :-

[1] दाउदपुर पंचायत के ग्रामसभा कार्यवृत्त / बैठक रजिस्टर, 2016–2023

[2] मनरेगा एमआईएस से दाउदपुर/मांझी/सारण की वर्षवार रिपोर्ट, 2016-2023

[3] ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार. (2013). महात्मा गांधी NREGA संचालन दिशानिर्देश 2013 (चौथा संस्करण). भारत सरकार.

[4] ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार. (2021). राज्य प्रदर्शन रिपोर्ट 2020–21 और कार्य योजना 2021–22. भारत सरकार.

[5] बिहार सरकार. (2006). बिहार पंचायत राज अधिनियम, 2006. पंचायती राज मंत्रालय, भारत सरकार.

[6] मनरेगा एमआईएस से दाउदपुर/मांझी/सारण की वर्षवार रिपोर्ट, 2016-2023

[7] मुखिया, पंचायत सचिव, रोजगार सेवक, वार्ड सदस्य, साथी और समर्थकों के साक्षात्कार,मनरेगा एमआईएस से दाउदपुर/मांझी/सारण की वर्षवार रिपोर्ट, 2016-2023

[8] चक्रवर्ती, पी. (2007). भारत में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम का कार्यान्वयन: स्थानिक आयाम और राजकोषीय निहितार्थ. लेवी अर्थशास्त्र संस्थान.

- भारत सरकार. महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम / मनरेगा का आधिकारिक पोर्टल. ग्रामीण विकास मंत्रालय.
- भारत सरकार. मनरेगा पर अक्सर पूछे जाने वाले सवाल (FAQs). ग्रामीण विकास मंत्रालय.
- भारत सरकार. मनरेगा MIS, बिहार राज्य की रिपोर्ट. ग्रामीण विकास मंत्रालय.
- फिशर, एच. डब्ल्यू. "Reshaping the public domain: Decentralization, the Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act, and local democracy in India." वर्ल्ड डेवलपमेंट, 2019.
- पंचायती राज मंत्रालय. ग्रामीण विकास और समावेश को बढ़ावा देने में पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका. भारत सरकार.
- नंदी, डी. "Activating Panchayats through मनरेगा." PRADAN / NewsReach.
- श्रमिक जॉब कार्ड रजिस्टर, कार्य मांग रजिस्टर, रोजगार रजिस्टर
- मस्टर रोल, मजदूरी भुगतान/एफटीओ रिकॉर्ड, संपत्ति रजिस्टर
- सामाजिक लेखापरीक्षा रिपोर्ट और शिकायत रिकॉर्ड

Received: 02.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

आदिवासी महासभेत प्रवेश करण्यापूर्वीचे जयपाल सिंह आणि कॉँग्रेस पक्षा सोबत आलेले संबंध

विश्वेश्वर भगवान महाजन*

जयपाल सिंह जेव्हा आपल्या मूळ प्रदेशात आले तेव्हा त्यांच्यापुढे उदरनिर्वाहाचा प्रश्न महत्वाचा प्रश्न बनला होता. जगभरात नौकरीच्या निमित्ताने प्रवास करणारे जयपाल सिंह आपल्या मातृभूमीत स्थिरस्थावर प्रयत्नशील असल्याचे चित्र आपणास दिसते. त्यांचा सर्वप्रथम डॉ. राजेंद्रप्रसाद यांच्याशी झालेला पत्रव्यवहार हा सर्वात महत्वाचा टप्पा होता. याठिकाणी एक प्रश्न उपस्थित होतो तो असा की जयपाल सिंह मुंडा कॉँग्रेस पक्षात जाण्याचा प्रयत्न करत होते का? का त्यांचे डॉ. राजेंद्रप्रसाद यांच्याशी असलेले संबंध केवळ उदरनिर्वाह शोधण्याच्या संदर्भात सीमित होते. सुरुवातीला तरी जयपाल सिंह मुंडा यांच्यासाठी कोणत्याही पक्षात प्रवेश करण्यापेक्षा उदरनिर्वाहाचा शोध घेणे हाच क्रम राहिलेला दिसतो.

जयपाल सिंह हे रायपुर येथील राजकुमार कॉलेज मध्ये अध्यापनाचे कार्य करत असतांना त्यांनी 11 जून 1938 प्रथमतः डॉ. राजेंद्रप्रसाद यांना जे पत्रव्यवहार केला त्यामध्ये त्यांनी राजेंद्रप्रसाद यांच्याकडून काही अपेक्षा केल्याचे दिसून येते. जयपाल सिंह देश विदेशात नौकरीच्या निमित्ताने भ्रमण करून थकले असल्याचे दिसते त्यांनी आपल्या मातृभूमीत आपल्या शैक्षणिक आणि क्रिडाक्षेत्रातील यशस्वीतेच्या अनुरूप एखादी संधि आपणास मिळावी ही इच्छा व्यक्त केली होती. “मी एकमात्र असा छोटानागपूरचा व्यक्ति आहे ज्याने विदेशात राहूण उच्च शिक्षण ग्रहण केले आहे आणि खेळात आपल्या देशाचा सन्मान वाढवला आहे. या आधारावर मी स्वतला तुमच्या उदारतेची अपेक्षा करतो. माझी शिक्षणक्षेत्रात विशेष रुचि आहे. पण संधी मिळाली तर मी प्रशासकीय जबाबदारी घेण्यास उत्सुक आहे.” [डॉ. राजेंद्रप्रसाद: कॉरेसपोंडेस एंड सेलेक्ट डॉक्युमेंट्स, वॉल्यूम-2, संपादक-वाल्मिकी चौधरी, एलाइड पब्लिशर्स, 1984, पृ.क्र. -55]जयपाल सिंह यांच्या या पत्राला उत्तर देत राजेंद्रप्रसाद यांनी सुद्धा 20 जून 1938 ला असे उत्तर दिले की, “तुमच्या सेवेचा लाभ आमच्या प्रदेशाला कसा मिळू शकेल मी यासाठी प्रयत्न करत आहे. सध्या मला हे कळत नाही की तुमच्या साठी काय योग्य असेल.” [डॉ. राजेंद्रप्रसाद: कॉरेसपोंडेस एंड सेलेक्ट डॉक्युमेंट्स, वॉल्यूम-2, संपादक-वाल्मिकी चौधरी, एलाइड पब्लिशर्स, 1984 पृ.क्र. -56] राजेंद्रप्रसाद यांनी याबाबत बिहारचे शिक्षा सचिव सैय्यद महमुद यांच्याशी पत्रव्यवहार केल्याचे समजते 22 डिसेंबर 1938 ला जयपाल सिंह यांनी राजेंद्रप्रसाद यांना कलकत्ता येथून पत्र लिहिले त्यात त्यांनी असे म्हटले की, “आदिवासी लोक,ज्यामध्ये मीसुद्धा एक आहे त्यांना निश्चितच सहाय्य मिळण्याची गरज आहे ह्या लोकांना प्रदीर्घ काळापासून दुर्लक्षित करण्यात आले आहे.” [डॉ.राजेंद्रप्रसाद:कॉरेसपोंडेस एंड सेलेक्ट डॉक्युमेंट्स, वॉल्यूम-2, संपादक-वाल्मिकी चौधरी, एलाइड पब्लिशर्स, 1984 पृ.क्र. -177-178] पुढे जाउन ते असेही प्रतिपादन करतात की, “पण माझ्या माझ्या गावाच्या नजीक असलेल्या आदिवासी लोकांची अवस्था पाहून माझे मन पूर्णपणे खिन्न झाले आहे. माझ्या लोकांची वाईट अवस्था आणि करून हाक ऐकून मी स्वतला त्यापासून अलिप्त कसे ठेऊ शकतो?” [डॉ राजेंद्रप्रसाद:कॉरेसपोंडेस एंड सेलेक्ट डॉक्युमेंट्स, वॉल्यूम-2, संपादक-वाल्मिकी चौधरी, एलाइड पब्लिशर्स, 1984 पृ.क्र. -178]

जयपाल सिंह मुंडा आणि राजेंद्रप्रसाद यांच्यात जो पत्रव्यवहार झाला त्यावरून त्यांचे संबंध सोहार्दाचे असल्याचे दिसून येते. पण हे संबंध जास्त काळ टिकू शकले नाहीत. पहिल्या पत्रात जे प्रेम आणि सौहार्द या दोन नेत्यांच्या सांभाषणातून दिसून आला तो हळूहळू बदलत गेल्याचे आपणास दिसते. जयपाल सिंह खरोखरच राजकारणात येऊ इच्छित होते की नियतीने त्यांना असे करण्यास भाग पाडले? हे लक्षात घेणे महत्वाचे आहे. राजेंद्रप्रसाद यांच्याशी झालेल्या पत्रव्यवहारतून त्यांना एक लक्षात आले की आपणास कोणत्याही प्रकारची मदत मिळू शकेल अशी शक्यता नाही. हळूहळू आता जयपाल

*** *संशोधक विद्यार्थी, स्वामी रामानंद तीर्थ मराठवाडा विद्यापीठ, नांदेड [महाराष्ट्र]***

सिंह यांची स्वतबद्दल विचार करण्याची मर्यादित प्रवृत्ती आपल्या समाजाचे कसे भले करता येईल? या व्यापक परिप्रेक्षात बदलत जात होती. स्वताच्या उदरनिर्वाहापेक्षाही आपल्या समाजाला आपली जास्त गरज आहे या उदात्त हेतूने त्यांनी आपली पुढील वाटचाल करण्यास सुरुवात केली. जयपाल सिंह यांची आदिवासी अस्मिता जागृत होण्यास आता सुरुवात होऊ लागली. जयपाल सिंह यांच्या जीवनाची खरी शोकांतिका म्हणजे त्यांना ज्या ज्या क्षेत्रात आपले भविष्य अजमावायचे होते त्या क्षेत्रात त्यांना संधि मिळाली नाही किंवा संधि मिळाली तरी त्यांच्यासोबत नियतीने म्हणा की वंशभेद आणि वर्णभेद म्हणा अन्यायच झाल्याचे दिसून येते. एकतर प्रशासकीय सेवेत त्यांची प्रथम पसंती होती पण हॉकी साठी त्यांनी प्रशासकीय क्षेत्रातील सन्मानाच्या नौकरीचा त्याग केला. पण ज्या हॉकी साठी हे केले त्यामध्ये सुद्धा त्यांच्या सोबत अन्याय करण्यात आला. त्यांच्या संघात बहुतांश खेळाडू अँग्लो-इंडियन होते. त्यांनाही जयपाल सिंह नको होते. येथे त्यांच्याशी वंश भेद करण्यात आला याबद्दल ध्यानचंद सुद्धा त्यांच्या 'गोल' नावाच्या आत्मचरित्रात खंत व्यक्त करतांना दिसतात. पुढे बर्मा शेल येथेही हाच अनुभव येतो. पुढे प्रशासकीय पदे. शिक्षक पदे आणि प्राचार्य पद सांभाळतांना त्यांना अवहेलना स्वीकारावी लागली.

त्यांच्या एकूण कारकिर्दीत त्यांची शेवटची इच्छा ही आपल्या मातृभूमीत म्हणजे तत्कालीन बिहार भागात शिक्षक व्हावे असे वाटत होते पण नियतीला हेसुद्धा मान्य नव्हते. कदाचित या सामान्य ध्येयप्राप्तिसाठी त्यांचा जन्म झालाच नव्हता. ज्या राजकारणात ते अनवधानाने ओढल्या गेले त्यामाध्यमातून त्यांना आपल्या जीवनाचे शाश्वत ध्येय सापडले ते म्हणजे आदिवासी समाजाचे कल्याण होय. जयपाल सिंह यांचा कॉंग्रेस पक्षात प्रवेश होणार अशी सुद्धा परिस्थिति निर्माण झाली होती. पण जयपाल सिंह यांना आपल्या गुरु कॅनन कासग्रेव यांच्या इच्छेचा आदर करत आपल्या आदिवासी समाजाच्या विकासाचे कार्य करायचे होते अशीच नियतीने खेळी केली. याच काळात एक अत्यंत महत्वाचे व्यासपीठ जयपाल सिंह यांची प्रतीक्षा करत होते आणि ते म्हणजे नुकतीच 1938 मध्ये स्थापन झालेली आदिवासी महासभा होय. जयपाल सिंह यांना आदिवासी महासभेच्या नेत्यांनी आदिवासी महासभेचे अध्यक्षपद स्वीकारावे अशी विनंती केली होती. यानंतर जयपाल सिंह आदिवासी महासभेच्या दुसऱ्या वार्षिक अधिवेशनात आदिवासी महासभेचे अध्यक्ष बनले ते कायमचेच म्हणजे कॉंग्रेस पक्षात प्रवेश करण्या पर्यंत म्हणजे 1963 पर्यंत. जयपाल सिंह यांनी आदिवासी महासभेत अध्यक्ष म्हणून प्रवेश केल्यावर डॉ राजेंद्रप्रसाद आणि कॉंग्रेस पक्ष यांच्याशी जयपाल सिंह यांच्या संघर्षाचे युग सुरू झाले. जयपाल सिंह आणि आदिवासी महासभा यांनी आदिवासी अस्मितेची जी लढाई सुरू केली त्यातून कॉंग्रेस पक्ष आणि आदिवासी महासभा तसेच राजेंद्रप्रसाद आणि जयपाल सिंह यांच्यात एकप्रकारची स्पर्धा सुरू झाली. आता पूर्वीचे सलोख्याचे संबंध आता संघर्षात बदलू लागले होते. एकीकडे जयपाल सिंह आणि आदिवासी महासभा यांच्या माध्यमातून आदिवासी समाजाचे कल्याण केंद्रस्थानी ठेवून कोणीही आपली मदत करणार नाही. आदिवासी समाजाच्या विकासासाठी आदिवासी समाजालाच पुढाकार घ्यावा लागेल या निष्कर्षाप्रत ते येऊन पोहचले यामधून कॉंग्रेस पक्षाशी खटके उडणार हे आता सिद्ध झाले. दुसरीकडे जयपाल सिंह आणि आदिवासी महासभा यांच्या वर आरोप करण्याचे कॉंग्रेस नेत्यांचे प्रयत्न सुरू झालेत.

आदिवासी महासभेत प्रवेशानंतर आलेले संबंध

जयपाल सिंह यांनी विधिवत आदिवासी महासभेत प्रवेश करून आदिवासी महासभेच्या अध्यक्षपदाची धुरा संभाळत आपल्या पहिल्याच अध्यक्षीय भाषणात सलग दोन दिवस आदिवासी समाजाला प्रोत्साहित करण्याचे अत्यंत महत्वाचे कार्य करत होते. यानंतर तपकारा हत्याकांड घडून आले ज्यात पाच आदिवासी बांधव शहिद झालेत. जयपाल सिंह यांनी आपल्या आत्मसंस्मरणात यासाठी कॉंग्रेस पक्ष आणि राजेंद्रप्रसाद यांना दोष दिला तर दुसऱ्या बाजूला राजेंद्रप्रसाद यांनी आदिवासी महासभेला याबाबत दोषी ठरवल्याचे दिसते.

जयपाल सिंह आणि राजेंद्रप्रसाद यांच्यातील संबंधाचा जो दूसरा टप्पा सुरू होतो तो म्हणजे संविधान सभेत संविधान निर्मितीच्या प्रक्रियेत. जयपाल सिंह संविधान सभेत सदस्य म्हणून आणि राजेंद्रप्रसाद हे संविधान सभेचे अध्यक्ष म्हणून कार्य पाहत असतांना आता एकत्र येऊन कार्य करण्याशिवाय पर्याय नाही लक्षात आल्यावर त्यांनी राजेंद्रप्रसाद यांना अध्यक्षपदी निवड झाल्याबद्दल अभिनंदन करतांना आपल्या प्रांतातील आदिवासी समाजाकडे सहानुभूति पूर्वक लक्ष द्यावे अशी अपेक्षा व्यक्त करतांना शेवटी असे म्हटले की, "डॉ राजेंद्रप्रसाद यांच्याकडून आम्हाला ज्या सहनुभूतीची अपेक्षा आहे तसाच सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार ही संविधान सभा त्यांच्याप्रति [आदिवासी समजाप्रती] करेल अशी मला आशा आहे." [घोडेस्वार देविदास सजनराव, संविधान सभा डिबेटस [2020 द्वितीय संस्करण], साक्षी प्रकाशन, नवानकाशा, नागपूर-17 खंड

[निकाय]-1, पृ.क्र. -61] यावरून आपणास लक्षात येते की जयपाल सिंह आणि राजेंद्रप्रसाद यांच्यातील संबंध हे नेहमी सारखेच राहिले नाहीत. ते सतत परिवर्तीत होत राहिले.

तत्कालीन बिहार कॉंग्रेस नेतृत्व आणि जयपाल सिंह यांच्यातील संबंध

जयपाल सिंह यांची लोकप्रियता आणि प्रभावाला कसे कमी करता येईल यासाठी राजकारण सुरू झाले. त्यांना इसाई मिशनरीचा हस्तक, ब्रिटिशांचा प्रतिनिधि म्हणून सादर करण्याचाही प्रयत्न सुरू होता. कॉंग्रेस पक्ष आणि जयपाल सिंह यांच्यातील संघर्षाच्या संबंधात त्यांचे सुपुत्र जयंत जयपाल सिंह जे प्रतिपादन करतात त्याबद्दलही विचार करणे महत्वाचे वाटते. "सुरुवातीला कॉंग्रेस पक्षातील नेतृत्व आदिवासी समाजाला ओळखत नव्हते. आदिवासी आहेत कोण? अश्याप्रकारचा त्यांचा परिप्रेक्ष होता. ते आदिवासी समाजाकडे पूर्णतः दुर्लक्ष करायचे. इंग्लंडमधून क्रिप्स मिशन भारतात आले तेव्हा कॉंग्रेस पक्षांनी त्याला भारत सोडाचे नारे दिले पण जयपाल सिंह यांनी त्याला विरोध केला. त्यांचे म्हणणे असे होते की, तुम्ही लोक इंग्रजांना विरोध करताय पण सध्या परिस्थिति काय आहे? इंग्रज येथून गेले तरी देशाच्या सीमेवर जपानी सेना उभी आहे. ते आपल्यावर राज्य करतील आणि आपली अवस्था ही इंग्रजी राजवती पेक्षा भयानक होईल." [जयंत जयपाल सिंह, मुलाखत 03/05/2026 वेळ 01. 58] वरील विधानावरून जयपाल सिंह यांच्या वक्तव्या मधील एक वैश्विक परिप्रेक्ष दिसतो तो असा की कोणताही देश भारतावर राजवट स्थापन करण्याचा प्रयत्न करेल तेव्हा आपल्या देशाची वाताहतच होईल. आपल्यावर राज्य करतांना प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र हे अन्यायच करणार ही त्यांची विचारधारा होती. जयपाल सिंह आणि कॉंग्रेस पक्ष यांच्यात इंगजी राजवटिबद्दल असलेली मते ही भिन्न स्वरूपाची होती असे दिसत होते. काही विशेष अटीवर कॉंग्रेस पक्ष ब्रिटिश सत्तेसोबत सहकार्य करण्यास तयार होते जसे की ब्रिटिशांनी दुसऱ्या महायुद्धात आपण लोकशाहीचे रक्षण करण्यासाठी युद्ध करत आहोत अशी वल्गना केली होती. यात जर काही तथ्य असेल तर युद्ध समाप्त होताच इंग्रजांनी भारताला स्वातंत्र्य देण्याची हमी द्यावी. यामध्ये कॉंग्रेस पक्षाची राष्ट्रवादी विचारधारा प्रदर्शित होतांना आपणास दिसून येते. या अनुषंगाने जयपाल सिंह आपणास दोषी वाटू शकतात. पण बारकाईने विचार केला तर इंग्रज आणि त्यांचे मित्र राष्ट्र ज्या जर्मनी आणि त्यांच्या अक्ष राष्ट्रांच्या विरोधात लढत होते ती राष्ट्रे विश्वाला हुकुमशाही प्रवृत्तीकडे नेत होती हे सुद्धा विसरून चालणार नाही. जर दुसऱ्या महायुद्धात मित्र राष्ट्रे जिंकण्या एवजी हिटलरचा विजय झाला असता तर जगावर आणि भारतावर त्याचे काय परिणाम झाले असते याचाही विचार होणे गरजेचे आहे. हिटलर,मुसोलिनी अश्या हुकूमशाहांच्या हातात जगाचे भविष्य आले असते तर त्याचे परिणाम किती विघातक झाले असते ही बाब ध्यानात घेणे गरजेचे आहे. विशेष परिस्थितित म्हणजे देशाला स्वातंत्र्य मिळणार या एकच अटीवर कॉंग्रेस पक्ष इंग्रजांना मदत करण्यास तयार होता. पण इंग्रजांनी याबद्दल मौन पाळल्याने किंवा उत्तर देण्याचे टाळल्याने कॉंग्रेस पक्षाच्या मंत्रिमंडळाने राजीनामे दिले.

जयपाल सिंह यांचा आदिवासी महासभेचा प्रतिनिधि आणि अध्यक्ष या नात्याने आलेला संबंध म्हणजे तत्कालीन बिहारचे मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिंह यांच्या निवासस्थानी 5 जुलै 1939 रोजी घेतलेली भेट होय. बलबीर दत्त यांनी जाणकार लोकांचे मत व्यक्त करतांना याचे वर्णन असे करण्यात आले की, "जयपाल सिंह या भेटीतून सरकारला हे सांगू इच्छित होते की एकतर शासनाने आदिवासींना त्यांचा हक्क द्यावा नाहीतर छोटानागपूर ल वेगळे करण्यात यावे." [दत्त. बलबीर,जयपाल सिंह एक रोमांचक अनकही कहानी [जीवनी, संस्मरण एवं ऐतिहासिक दस्ताऐवज] [2017] प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.क्र. 59]. मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिंह यांनी 8 फेब्रुवारी 1939 रोजी बिहारच्या प्रांतीय विधानसभेत असे प्रतिपादन केले की, "छोटानागपूर आणि संथाल परगणा यांना बिहारपासून वेगळे करण्याची मागणी कधीही मान्य केली जाणार नाही. आम्ही त्याचा विरोध करू आणि प्रयत्न करू की हे आंदोलन कधीही यशस्वी होणार नाही." [दत्त.बलबीर, कहानी झारखंड आंदोलन की इतिहास से साक्षात्कार बलबीर दत्त, 2024 द्वितीय संस्करण, क्राउन पब्लिकेशन, रांची, पृ.क्र. -19]

वरील दोन्ही विधानांचा अभ्यास केल्यावर एक बाब लक्षात येते की आदिवासी महासभा आणि जयपाल सिंह यांची मागणी आदिवासी न्यायाची होती. जर सध्यपरिस्थितीत आदिवासी समाजाला या माध्यमातून न्याय मिळत नसेल किंवा त्यांच्या विकासाकडे लक्ष देण्यात जर हलगर्जीपणा करण्यात येत असेल तर आदिवासींना शेवटचा पर्याय म्हणून आपल्या हक्काचे राज्य असावे. जयपाल सिंह आणि तत्कालीन बिहार मधील कॉंग्रेस नेतृत्वामध्ये असलेल्या संघर्षात सर्वात कळीचा मुद्दा हाच राहीला आहे. तत्कालीन मुख्यमंत्र्यांनी या मागणीला तीव्र नापसंती दर्शवली. एक मुख्यमंत्री म्हणून आपल्या राज्याचे तुकडे पडू नयेत ही त्यांची भूमिका त्यांच्या पदाला शोभनीय असली तरी आदिवासी महासभा आणि जयपाल सिंह यांचे म्हणणेही मानविय परिप्रेक्षातून चुकीचे होते असे म्हणता येणार नाही. ज्या दक्षिण बिहारच्या प्रांतातून सर्वात जास्त

खनिज उत्पादन होत होते तेथील रहिवासी दारिद्रयाच्या विळख्यात सापडला होता. त्यांना न्याय मिळवून द्यायचा असेल तर आदिवासी समाजासहित त्या प्रदेशातील नागरिकांचा विकास करायचा असेल तर स्वतंत्र राज्य असणे गरजेचे आहे. 2000 मध्ये ते राज्य अस्तित्वात आले परंतु याची पायाभरणी जयपाल सिंह यांच्या कार्यातून झाली हे विसरता येणार नाही. जयपाल सिंह आणि बिहारच्या काँग्रेस नेतृत्वाच्या विचारधारेत कमालीचा विरोधाभास असणे हेच संघर्षाला चिघळवणारे घटक म्हणता येतील. तत्कालीन दक्षिण बिहार प्रांतातून उत्पादित संसाधनावर संपूर्ण बिहारची अर्थव्यवस्था अवलंबून असल्याने वेगळ्या राज्याच्या संकल्पनेला तत्कालीन कॉंग्रेस आणि इतर बिगर आदिवासी सत्तेत असणाऱ्या पक्षाने याबद्दल कधीही सकारात्मक विचार केला नाही. लालू प्रसाद यादव यांनी सुद्धा झारखंड राज्याची निर्मिती माझ्या प्रेतावरच होईल असे म्हटले होते. तत्कालीन बिहार प्रांतात केवळ झारखंड पक्षाचे बहुमत कधीच आले नाही. कारण झारखंड पक्षाचा प्रभाव दक्षिण बिहार भागातच होता. ही लढाई उत्तर बिहार विरुद्ध दक्षिण बिहार असे रूप धारण करू लागली. उत्तर बिहार खनिजसंपत्ति साठी दक्षिण बिहारवर आधारित होता. त्यांना तेथून मोठ्या प्रमाणात उत्पादन मिळत असल्याने दक्षिण बिहार म्हणजे आजचा झारखंड कोणत्याही परिस्थितित वेगळा करावयाचा नव्हता. पण दक्षिण बिहारमधील जनतेच्या मते याभागात असलेल्या आदिवासी व इतर बांधव यांच्या बाबत नेहमीच अन्याय होत आहे. परिणामी हे दोन टोकाचे ध्रुव असल्याने त्यांच्यात संघर्ष अटळ होता. जयपाल सिंह दक्षिण बिहारचे प्रतिनिधित्व करत होते ज्याठिकाणी आदिवासी समाजाचे बाहुल्य होते.

देशभरात भाषेच्या आधारावर राज्यनिर्मिती करण्याच्या पार्श्वभूमीवर अनेक आंदोलने सुरू होती. भाषेच्या आधारावर राज्याची निर्मिती कशी करता येईल यासाठी भाषावार प्रांतरचना आयोगाची निर्मिती करण्यात आली जिचे अध्यक्ष हे फाजल अली हे होते. हा आयोग दक्षिण बिहारमध्ये आदिवासी महासभेच्या परिसरात येणे आणि जयपाल सिंह यांची अनुपस्थिती या प्रकरणात सुद्धा कॉंग्रेस पक्ष त्यांचे नेते आणि जयपाल सिंह यांच्या मध्ये संघर्षाची ठिणगी तेवतच राहिल्याचे दिसते. याबबात जयपाल सिंह यांच्यावर शेवटपर्यंत टीका आणि आरोप होत राहिले. बलबीर दत्त यांच्या ग्रंथात ते डाक बंगल्यावर होते असे नमूद केले आहे. याबाबत त्यांच्याच झारखंड पक्षाचे बिहारच्या विधानसभेत आमदार म्हणून कार्य पाहणाऱ्या सुखदेव मांझी यांनी दिलेल्या मुलाखतीत शैलेन्द्र महतो यांना असे सांगितले की, "राज्यपुनर्रचना आयोगाचे पथक जेव्हा रांचीमध्ये आले तेव्हा तत्कालीन बिहारचे मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिंह. कॉंग्रेसचे वरिष्ठ नेते श्रीकृष्ण वल्लभ सहाय्य आणि विनोदानंद झा यांनी जयपाल सिंह यांना नेहरूनी झारखंड बाबत चर्चा करण्यासाठी आजच दिल्लीला बोलावले असल्याचे सांगितले होते. जयपाल सिंह यांनी यासाठी नकार दिल्यावर त्यांनी आजच दिल्लीला जाउन परत यायचे आहे असे सांगितले. तिकडे जयपाल सिंह दोन दिवसापासून नेहरूना भेटण्यासाठी प्रतीक्षा करत होते. तिसऱ्या दिवशी भेट झाल्यावर नेहरूनी याबद्दल मला काही कल्पना नाही असे सांगितले तेव्हा जयपाल सिंह यांना आपली फसवणूक झाल्याचे लक्षात आले." [महतो. शैलेन्द्र, झारखंड की समरगाथा, [2023] अनुज्ञा बुक्स, शाहदरा दिल्ली, पृ.क्र. -247] याबत सुखदेव मांझी यांचे वक्तव्य खरे मानले तर जयपाल सिंह आणि तत्कालीन बिहारच्या सत्ताधारी पक्षात किती षड्यंत्र होत होते याची कल्पना येते. शैलेश पंडित यांनी जयपाल सिंह आणि कॉंग्रेस पक्षातील संबंधावर प्रकाश टाकतांना असे म्हटले की, "जर श्रीकृष्ण सिंह, विनोदानंद झा, श्रीकृष्ण वल्लभ सहाय्य सारख्या लोकांनी त्यांच्यासोबत कुचक्र केले असेल तर या महानायकाच्या [जयपाल सिंह] विचारावर आपण प्रश्न कसे उपस्थित करू शकतो." गोंझू गिरिधारी राम, 'झारखंड आंदोलन के जनक मरङ गोमके जयपाल सिंह मुंडा, [2018] विकल्प प्रकाशन सोनिया विहार दिल्ली, पृ.क्र.-10] जयपाल सिंह यांच्यावर झालेल्या अन्यायाला अधोरेखित करतांना अश्विनी कुमार पंकज म्हणतात की, "जयपाल सिंह यांनी झारखंड साठी जी तडजोड केली त्यात ते केवळ तत्कालीन सत्तेकडून फसवल्याच गेले नाही तर राजनीतीक विश्वासघाताचे बळी ठरले." [संपादक- पंकज अश्विनी कुमार, संविधान सभा में जयपाल [कोलोनियल रिबेट, फ्यूडल डीबेट और आदिवासी आखेट] [फरवरी 2021] notionpress.com, पृ.क. -35]

पंडित जवाहरलाल नेहरू आणि जयपाल सिंह यांचे संबंध नेहमी मैत्रीचे राहिल्याचे दिसते. संविधान सभेत आदिवासी समाजाचे भवितव्य आपण नेहरूंच्या हातात सोपवण्यास तयार आहोत असे म्हणत त्यांनी नेहरूना अल्पसंख्यांक समाजाचे खरे मित्र असे म्हटले. नेहरू स्वतः रांचीला सेरामटोली येथील जयपाल सिंह यांच्या निवासस्थानी त्यांना भेटण्यासाठी गेले होते असेही दिसून येते. जयपाल सिंह यांनी संसदेतील खासदार मंडळीच्या क्रिडा स्पर्ध्याची कल्पना प्रत्यक्षात उतरवून जी मॅच आयोजित केली त्यात नेहरूनी घेतलेल्या झेलाबद्दल आपल्या आत्मसंस्मरणात वर्णन केले आहे. पहिल्या आणि दुसऱ्या सार्वत्रिक निवडणुकीत जयपाल सिंह आणि नेहरू यांच्यात राजकीय बाबतीत स्पर्धा असल्याने त्यांच्यात राजकीय व्यासपीठावरून आरोप-प्रत्यारोप होणे एक नैसर्गिक प्रक्रिया म्हणावी लागेल.

कॉंग्रेस पक्षाच्याच नव्हे तर संपूर्ण भारतातील राजकीय चळवळींना राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त करून देणारे आणि या चलवळींना आपल्या तत्वज्ञानाची जोड देणारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी आणि जयपाल सिंह यांच्यात कसे संबंध होते याचादेखील अभ्यास होणे गरजेचे आहे. सार्वजनिक जीवनात महात्मा गांधींनी जयपाल सिंह यांच्याबद्दल प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष रित्या मत प्रकट केल्याचे दिसत नाही. महात्मा गांधी यांचे कार्य हे राष्ट्रीय पातळीवरील असल्याने त्यांच्या कार्याची व्यापकता किती अफाट असेल याची आपल्याला कल्पना येऊ शकते. जयपाल सिंह यांनी महात्मा गांधीच्या रांची भेटीत आदिवासी महासभेने बहिष्कार घातल्याचे आणि त्या बदला प्रतिसाद न मिळाल्याचे प्रतिपादन करतांना म्हटले की, "गांधीजींचे स्वागत आणि जयजयकार करण्यासाठी रस्त्यावर गर्दी नव्हती. यासाठी त्यांनी मला कधीही माफ केले नाही." [Katyayan. Rashmi[editor] "In And With Adivasidam An Auto Memoir Of Marang Gomke Jaipal Singh Munda'' 2023, pyaraa kerketta foundation, Ranchi, Jharkhand, पृ.क्र. -109]. याउलट बलबीर दत्त यांनी असे काही झाले नाही हे फक्त जयपाल सिंह यांचे प्रसिद्धी वाढवण्याचा एक प्रकार असल्याचे नमूद केले. "गांधीजींच्या हत्येनंतर जयपाल सिंह यांनी श्रद्धांजलि अर्पण करतांना गांधीजींना स्वतंत्र भारताचे निर्माता असे म्हणून सर्व उपस्थित सदस्यांना गांधीजींच्या सन्मानार्थ दोन मिनिट उभे राहूण मौन पाळण्यास सांगितले." [दत्त. बलबीर, कहानी झारखंड आंदोलन की इतिहास से साक्षात्कार बलबीर दत्त, 2024 द्वितीय संस्करण, क्राउन पब्लिकेशन, रांची, पृ.क्र.-46]

कॉंग्रेस पक्षात प्रवेशानंतर आलेले संबंध

जयपाल सिंह यांच्या द्वारे स्थापित झारखंड पक्षाची पहिल्या दोन सार्वत्रिक निवडणुकात लोकसभा आणि विधानसभेत नेत्रदीपक कामगिरी राहिल्याचे दिसते. 1952 च्या पहिल्याच सार्वत्रिक निवडणुकीमध्ये जयपाल सिंह यांच्या करिष्माई नेतृत्वामुळे झारखंड पक्षाला लोकसभा आणि विधानसभेत नेत्रदीपक यश मिळाले. पहिल्या सार्वत्रिक निवडणुकांचा कालावधी 1952 ते 1957 असा पाच वर्षांचा होता. झारखंड पक्षाला बिहार विधानसभेत 32 जागा आणि लोकसभेत 4 जागा मिळाल्याने या पक्षाच्या आमदार आणि खासदारांना आदिवासी अस्मितेची लढाई लढण्यास सकारात्मक प्रतिसाद जनतेकडून प्राप्त झाला. दुसऱ्या सार्वत्रिक निवडणुकांचा कालावधी 1957 ते 1962 असा पाच वर्षांचा होता. दुसऱ्या सार्वत्रिक निवडणुकीत जयपाल सिंह मुंडा यांच्या झारखंड पक्षाला पहिल्या सार्वत्रिक निवडणुकीपेक्षा जनतेचा भरघोस प्रतिसाद मिळाला. विधानसभेत 34 आमदार आणि लोकसभेत 5 खासदार निवडून आले. खरे याकाळात जयपाल सिंह मुंडा आणि झारखंड पक्ष यशाच्या शिखरावर होता असे म्हटले तर अतिशयोक्ति ठरणार नाही.

पण झारखंड पक्षाला सर्वात मोठा पराभवाचा सामना हा तिसऱ्या सार्वत्रिक निवडणुकीत अनुभवण्यास मिळाला. भारताच्या तिसऱ्या सार्वत्रिक निवडणुकीत बिहारच्या विधानसभेत ज्या पक्षाला मागील निवडणुकीत 34 जागा मिळाल्या त्यांना केवळ 20 जागांवर समाधान मानावे लागले. तसेच भारताच्या लोकसभा या सभागृहातही त्यांची संख्या 05 वरुण 04 वर आली. हा काळ म्हणजे जयपाल सिंह यांच्या राजकीय जीवनातील प्रचंड ताणतणवाचा काळ ठरला. खरे पाहता झारखंड पक्षाच्या या पिछेहाट होण्यास अनेक कारणे होती. या निकालांमुळे झारखंड पक्षात कमालीची उदासीनता निर्माण झाली. या उदासीनतेचे रूपांतरण शेवटी 1963 मध्ये झारखंड पक्ष कॉंग्रेस पक्षात विलीन होण्यात झाला. आदिवासींच्या ध्येयप्राप्तिला हा मोठा आघात होता. जयपाल सिंह यांच्या जीवनातील आत्यंतिक उदासीनतेच्या या काळात झारखंड राज्याचे पाहिलेले स्वप्न आता धूसर होत गेले. जयपाल सिंह यांनी राज्यनिर्मिती साठी वेगळ्या मार्गाने प्रयत्न करण्याचा विचार केला पण त्यांना त्यात यश मिळाले नाही.

कॉंग्रेस पक्षात त्यांची होणारी घुसमट ही त्यांच्या राजकीय जीवनातील शेवटाकडे घेऊन जाणारी ठरली. जयपाल सिंह यांना कॉंग्रेस पक्षात प्रवेश केल्यावर देशाच्या चवथ्या सार्वत्रिक निवडणुकीला सामोरे जावे लागले हे त्यांच्या जीवनातील अत्यंत क्लेशदायक क्षण ठरलेत. कारण पहिल्यांदाच जयपाल सिंह हे झारखंड पक्ष आणि त्याचे कोंबडा ह्या प्रतिकाएवजी जनताजनार्दनाच्या दरबारात गेले तेव्हा त्यांच्यातील राजकीय विरोधाभास त्यांना अस्वस्थ करणारा ठरला. 1967 च्या सार्वत्रिक निवडणुकीत जयपाल सिंह पहिल्यांदा झारखंड पक्षाएवजी कॉंग्रेसच्या तिकिटावर लढलेत आणि कमी मतांनी विजयी झालेत. अतिशय नेत्रदीपक कामगिरी करणाऱ्या झारखंड पक्षाच्या आणि जयपाल सिंह यांच्या विकासरथाचा शेवट हा निराशेच्या गर्तेत अडकला. एका पक्षाच्या आणि एक नेत्याच्या राजकीय जीवनातील मृत्यू असेच या घटनेचे वर्णन करावे लागेल.

आदिवासी महासभा आणि जयपाल सिंह तसेच कॉंग्रेस नेतृत्व यांच्यातील संघर्षाची कारणे –

जयपाल सिंह यांची लढाई ही आदिवासी अस्मितेची लढाई होती. त्यासंदर्भात त्यांनी भारताच्या संविधान सभेत उद्देशाच्या प्रस्तावावर जे मत प्रकट केले ते महत्वाचे आहे. ते म्हणतात की, "माझ्या 3 करोड आदिवासी समाजातर्फे मी या संकल्पाचे स्वागत आणि समर्थन करतो. ते या भीतीने नाही की भारताच्या राष्ट्रीय कॉंग्रेसच्या एका मोठ्या नेत्याने प्रस्तावित केला म्हणून. आम्ही याचे समर्थन यासाठी करतो की कारण हा संकल्प देशाच्या प्रत्येक नागरिकांच्या भावनांचे आणि हृदयातील स्पंदनाला अभिव्यक्त करतो. " [मुंडा.ज. स, जयपाल सिंह यांचे प्रस्तावाच्या उद्देशावर भाषण, 19 डिसेंबर 1946, parliament of India, Digital Library, पृ.क्र.-143] https://eparlib.sansad.in]. यावरून असे लक्षात येते की जयपाल सिंह आदिवासी प्रश्नाला केंद्रस्थानी ठेऊनच आपल्या कार्याची वाटचाल केली असल्याने जयपाल सिंह आणि कॉंग्रेस नेतृत्वा मध्ये एकप्रकारचा आंतरिक संघर्ष सुरू होता असे दिसून येते.

भारताच्या स्वातंत्र्या नंतर आदिवासी समाजाच्या संदर्भात जयपाल सिंह यांची आदिवासी राज्याची संकल्पना ही सार्वभौम भारतीय संघराज्यात आदिवासी स्वायत्त जीवनाची अभिलाषा बाळगणारी होती. जयपाल सिंह यांनी भारतभूमीच्या एकीकरणाचे नेहमीच समर्थन केले. त्यांची राष्ट्रवादी भूमिका आपणास नागा लोकांच्या वेगळ्या राष्ट्राची मागणी संदर्भात त्यांनी नागा समाजाला जे भारतभूमीच्या अविभाज्य अंग म्हणून नागांना कधीही भारतापासून वेगळे होता येणार नाही आणि तो भाग भारताचा अविभाज्य भाग असून भारतापासून वेगळे होण्याचा प्रश्नच उद्भवत नाही या त्यांच्या विधानातून लक्षात येते. जयपाल सिंह यांच्या साठी राष्ट्र सर्वप्रथम होते. पण त्यानंतर आदिवासी स्वायत्त जीवन प्रणालीला डावलले जाऊ नये यासाठी ते कायम प्रयत्नशील राहिलेत. कदाचित तत्कालीन बिहारचे पक्षीय राजकारण आणि नेतृत्वाची भूमिका यांच्यात आणि जयपाल सिंह यांच्या मूळ विचार करण्याच्या शैलीत कमालीची मतभिन्नता ही त्यांच्या संघर्षाला खतपाणी घालणारी असल्याचे चित्र दिसते.

निष्कर्ष

जयपाल सिंह मुंडा आणि कॉंग्रेस पक्षाची नेतृत्व मंडळी यांच्यातील संबंधाचा अभ्यास करतांना आदिवासी महासभा आणि कॉंग्रेस पक्षाच्या राजकीय मतभिन्नता म्हणजे पक्षीय विचारधारा यांचा अभ्यास सदर संशोधनातून केला आहे. हे संबंध वरवर पाहता सामान्य वाटत असले तरी ते गुंतागुंतीचे होते. दोन्ही पक्ष आणि त्यांच्या विचारधारा ह्या आपापल्या ठिकाणी योग्य होत्या असेही निदर्शनास येते. पण मोठ्या पक्षाच्या तत्वज्ञानाचा प्रचार प्रसार सर्वत्र झाला असल्याने त्यांचीच बाजू प्रकाशात येते आणि ते वारंवार आपल्या मनावर बिंबवल्या जाट गेल्याने आपणाला दुसरी बाजू कधीच लक्षात येत नाही. जयपाल सिंह मुंडा आणि त्यांचे विचार,तत्वज्ञान आजच्या परिस्थितित सुद्धा किती प्रमाणात समाजाला कळाले याबद्दल शंकाच आहे. जयपाल सिंह मुंडा यांच्या विचारांना प्रथम समजून घेऊन त्यांच्या कार्याचे मूल्यमापन होणे काळाची गरज आहे. जयपाल सिंह यांचे कॉंग्रेस पक्षाशी असलेले संबंध आणि संघर्ष चहूबाजूंनी तपासलेकी त्यांच्या संबंधातील परिवर्तनीयता आणि त्यामागील सत्यता लक्षात येते. ते समजून घेणे महत्वाचे यासाठी ठरते की ही लढाई केवळ राजकीय पातळीवरच्या स्पर्धेची नसून त्याला एक सामाजिक न्यायाचा एक पैलू सुद्धा आहे. दोन्ही पक्षातील नेते आणि त्यांच्या गरजा यांना केंद्रस्थानी ठेवले तर त्यांच्यातील संघर्षाची कारणे सुद्धा लक्षात येतात.

संदर्भ सूची

1] मुंडा.ज.स, जयपाल सिंह यांचे प्रस्तावाच्या उद्देशावर भाषण, 19 डिसेंबर 1946, parliament of India, Digital Library, पृ.क्र. -143, https://eparlib.sansad.in].

2] डॉ राजेंद्रप्रसाद: कॉरेसपोंडेस एंड सेलेक्ट डॉक्युमेंट्स, वॉल्यूम-2, संपादक-वाल्मिकी चौधरी, एलाइड पब्लिशर्स, 1984 पृ.क्र. -56

3] "In And With Adivasidam An Auto Memoir Of Marang Gomke Jaipal Singh Munda'' 2023, Katyayan. Rashmi[editor] pyaraa kerketta foundation, Ranchi, Jharkhand ,पृ.क्र. -109].

4] [जयंत जयपाल मुलाखत 03/05/2025, वेळ 1.58]

5] संविधान सभा में जयपाल [कोलोनियल रिबेट, फ्यूडल डीबेट और आदिवासी आखेट] संपादक -अश्विनी कुमार पंकज [फरवरी 2021] ISBN9781638321545

6] जयपाल सिंह एक रोमांचक अनकही कहानी [जीवनी, संस्मरण एवं ऐतिहासिक दस्ताऐवज] बलबीर दत्त [2017] प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली

7] झारखंड आंदोलन के जनक मरङ गोमके जयपाल सिंह मुंडा, गिरिधारी राम गोंझू 'गिरीराज' [2018] विकल्प प्रकाशन सोनिया विहार दिल्ली

8] संविधान सभा डिबेटस [2020 द्वितीय संस्करण] प्रा. देविदास सजनराव घोडेस्वार, साक्षी प्रकाशन, नवानकाशा, नागपूर-17] एकूण 10 खंड [निकाय]

9] दत्त. बलबीर, कहानी झारखंड आंदोलन की इतिहास से साक्षात्कार बलबीर दत्त, 2024 द्वितीय संस्करण, क्राउन पब्लिकेशन, रांची, पृ.क्र. -46

10] झारखंड की समरगाथा, शैलेन्द्र महतो [2023] अनुज्ञा बुक्स, शाहदरा दिल्ली.

Received: 03.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में वर्णित राज्य व्यवस्था, महामारी, अकाल और युद्ध जैसी आपदाओं से निपटने के व्यावहारिक नियम

हरि शंकर भास्कर*

bhaskardm4@gmail.com

सारांश

प्राचीन भारतीय संस्कृत ग्रंथ- विशेषतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, महाभारत, शुक्रनीति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रीय ग्रंथ- केवल दार्शनिक अथवा धार्मिक रचनाएँ नहीं थीं, बल्कि ये समृद्ध प्रशासनिक एवं संकट-प्रबंधन की मार्गदर्शिकाएँ भी थीं। इस शोध-पत्र में यह विश्लेषण किया गया है कि प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था में महामारी, दुर्भिक्ष, युद्ध और अन्य आपदाओं से निपटने हेतु किस प्रकार के व्यावहारिक नियम, संस्थागत व्यवस्थाएँ तथा राजनीतिक दर्शन विकसित किए गए थे। राजधर्म, दण्डनीति, प्रजाहित, लोककल्याणकारी राज्य, अन्न भंडारण व्यवस्था, जनस्वास्थ्य, युद्धनीति एवं कूटनीति जैसी अवधारणाओं का गहन परीक्षण करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि ये सिद्धांत आधुनिक आपदा प्रबंधन प्रणाली के संदर्भ में भी उतने ही प्रासंगिक हैं। प्रामाणिक संस्कृत श्लोकों, भारतीय विद्वानों के मतों तथा तुलनात्मक विश्लेषण के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि भारतीय ज्ञान-परंपरा में आपदा प्रबंधन की एक परिपक्व, व्यापक और व्यावहारिक प्रणाली विद्यमान थी।

मुख्य शब्द:

राजधर्म, दण्डनीति, अर्थशास्त्र, आपदा प्रबंधन, महामारी, अकाल, युद्धनीति, प्रजापालन, लोककल्याण, क्षेम।

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा में यह मान्यता सदा से रही है कि राज्य का मूलभूत उद्देश्य प्रजा का पालन और संरक्षण करना है। राजा केवल शासक नहीं, अपितु प्रजा का पिता, रक्षक और धर्म का संस्थापक भी है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में राज्य व्यवस्था, संकट-प्रबंधन और जनकल्याण के विस्तृत नियम निर्धारित किए गए। आधुनिक जगत में यह भ्रांति प्रचलित है कि भारतीय प्राचीन ग्रंथ केवल धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों से संबंधित थे। किन्तु पी. वी. काणे ने अपने बृहद् ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' में स्पष्ट किया है कि धर्मशास्त्रीय साहित्य में राज्यशास्त्र, न्याय, प्रशासन, आर्थिक नीति और संकट प्रबंधन से संबंधित सामग्री अत्यंत विस्तृत और व्यावहारिक रूप में उपस्थित है।[1]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र विश्व के प्रारम्भिक प्रशासनिक ग्रंथों में एक है, जिसमें राजतंत्र, सैन्य नीति, आर्थिक व्यवस्था, जनसुरक्षा और आपदा प्रबंधन के सूक्ष्म नियम दिए गए हैं। आर. शमाशास्त्री, जिन्होंने 1915 में इसका पहला अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया, ने लिखा कि 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐसा ग्रंथ है जो प्राचीन भारत की राजनीतिक परिपक्वता का प्रमाण है।'[2] इसी प्रकार महाभारत का शांतिपर्व, मनुस्मृति और शुक्रनीतिसार में भी ऐसे व्यावहारिक नियम मिलते हैं जो आज के आपदा प्रबंधन ढाँचे के समतुल्य हैं।

यह शोध-पत्र इसी परंपरा की गहन पड़ताल करता है और यह प्रमाणित करता है कि भारतीय राज्य-दर्शन में 'क्षेम' (जनसुरक्षा) और 'योग' (संपत्ति की प्राप्ति) की संकल्पना आधुनिक कल्याणकारी राज्य की नींव रखती है।

* **आचार्य (संस्कृत साहित्य), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश**

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था की अवधारणा

प्राचीन भारत में राज्य की अवधारणा 'धर्मराज्य' के रूप में विकसित हुई थी। यहाँ राजा को 'राजधर्म' का पालनकर्ता माना जाता था। राजधर्म का अर्थ केवल शासन से नहीं, बल्कि उस नैतिक उत्तरदायित्व से है जो राजा को अपनी प्रजा के प्रति निभाना होता था। महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं:

प्रजाहिते हि राज्ञां स्यात् कर्तव्यं परमं सदा। स्वर्गकामस्य राज्ञस्तु स्वार्थस्त्याज्यस्तदा भवेत्।।

(महाभारत, शांतिपर्व, 56.14) — राजा का सर्वोच्च कर्तव्य प्रजाहित ही है। स्वर्ग की इच्छा रखने वाले राजा को अपने स्वार्थ का त्याग करना चाहिए।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'भारत की खोज' में इस विचार को रेखांकित किया है कि भारतीय राज्य-चिंतन में राजा का अर्थ केवल सत्ता-धारक नहीं, अपितु 'प्रजापालक' है।[3] इसी दर्शन के आधार पर प्राचीन राजनीति में सप्तांग राज्य-व्यवस्था का विकास हुआ- राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र- ये सात अंग मिलकर एक सुदृढ़ शासन-तंत्र की रचना करते थे, जो आपदाओं में भी प्रजा की रक्षा करने में सक्षम था।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने 'इंडियन फिलॉसॉफी' में लिखा है कि भारतीय राज्य-दर्शन में नैतिकता और व्यावहारिकता का अद्भुत समन्वय है।[4] राजा का धर्म केवल युद्ध जीतना नहीं, अपितु शांतिकाल में भी प्रजा की सुरक्षा, समृद्धि और न्याय सुनिश्चित करना था।

अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और धर्मशास्त्रों में प्रशासनिक सिद्धांत

कौटिल्य का अर्थशास्त्र (लगभग चौथी शती ई.पू.) प्रशासनिक ग्रंथों में सर्वाधिक व्यावहारिक और विस्तृत है। इसके पंचम से सप्तम अधिकरण में संकट-काल, दुर्भिक्ष, महामारी और युद्ध जैसी परिस्थितियों में राजा के कर्तव्यों का सूक्ष्म वर्णन है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य स्पष्ट कहते हैं:

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।

(अर्थशास्त्र, 1.19.34) — राजा के लिए प्रजा का सुख ही सुख है और प्रजा का हित ही हित है। राजा का अपना प्रिय नहीं, अपितु प्रजा का प्रिय ही उसका हित है।

मनुस्मृति में राजा को 'आपदा-निवारण' का प्रमुख उत्तरदायी माना गया है। मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राजधर्म का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा गया है कि राजा को सदैव प्रजा की रक्षा के लिए सतर्क रहना चाहिए। पी. वी. काणे के अनुसार, धर्मशास्त्रों में 'आपदधर्म' एक विशेष अवधारणा है जो संकटकाल में साधारण नियमों को शिथिल करके प्रजाहित को सर्वोपरि मानती है।[1]

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।।

(मनुस्मृति, 7.18) — दण्ड ही समस्त प्रजा को अनुशासित करता है, दण्ड ही उनकी रक्षा करता है। जब सब सो रहे हों तो दण्ड जागता रहता है; विद्वान् इसे धर्म मानते हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी राजकर्तव्यों के अंतर्गत आपदाओं के समय करों में छूट, अन्न-वितरण और जनकल्याण के उपायों का उल्लेख है। रमेशचंद्र मजूमदार ने 'एन्शियेंट इंडिया' में यह मत व्यक्त किया है कि भारतीय धर्मशास्त्र केवल धार्मिक नियमों का संग्रह नहीं था, अपितु यह एक जीवंत प्रशासनिक और न्यायिक संहिता थी।[5]

महामारी प्रबंधन के नियम एवं जनस्वास्थ्य व्यवस्था

प्राचीन भारत में महामारी को 'गण-रोग' या 'जनपद-उध्वंस' कहा गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण में नगर प्रबंधन के अंतर्गत जनस्वास्थ्य के विस्तृत नियम दिए गए हैं। नगर के भीतर स्वच्छता, मृत शरीरों का उचित निपटान, जल-स्रोतों की शुद्धता और रोगियों को पृथक् रखने के नियम इसमें स्पष्ट रूप से वर्णित हैं। अर्थशास्त्र में कहा गया है:

मृतमनुष्यपशुपक्षिणां निरासनं कुर्यात्। चिकित्सकांश्च नियुञ्ज्यात् नगरे च जनपदे च।।

(अर्थशास्त्र, 2.36, सारांश) — मृत मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों को नगर से बाहर निकाला जाए। नगर और जनपद में चिकित्सकों की नियुक्ति की जाए।

सुश्रुतसंहिता और चरकसंहिता में महामारी के कारण, लक्षण और उपचार के व्यापक नियम दिए गए हैं। चरकसंहिता के विमानस्थान में 'जनपदोध्वंस' (महामारी) के संदर्भ में वायु, जल, देश और काल के दूषण को महामारी का मूल कारण बताया गया है। गोविंदचंद्र पांडेय ने 'प्राचीन भारतीय इतिहास का रूपरेखा' में इस तथ्य को रेखांकित किया है कि भारत में चिकित्सा और जनस्वास्थ्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन और वैज्ञानिक थी।[6]

अर्थशास्त्र में महामारी के समय राजा को कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाने का निर्देश दिया गया है। रोगग्रस्त क्षेत्रों को 'संक्रमण-मुक्त क्षेत्र' बनाना, वैद्यों की सेवाएँ निःशुल्क उपलब्ध कराना, औषधियों का भंडारण करना, और प्रभावित क्षेत्रों के लोगों को अन्य क्षेत्रों में आने-जाने पर प्रतिबंध लगाना — ये सभी उपाय आधुनिक 'क्वारंटीन' और 'संक्रमण नियंत्रण' की अवधारणाओं से साम्य रखते हैं। कपिल कपूर ने 'भारतीय साहित्य और संस्कृति' में लिखा है कि भारतीय ज्ञान परंपरा में शरीर, समाज और राज्य की स्वास्थ्य-रक्षा एक एकीकृत व्यवस्था का भाग थी।[7]

अकाल, दुर्भिक्ष एवं आर्थिक संकट से निपटने के उपाय

दुर्भिक्ष (अकाल) को प्राचीन भारतीय ग्रंथों में सर्वाधिक भयावह आपदाओं में एक माना गया है। अर्थशास्त्र के अष्टम अधिकरण में 'आपद्-धर्म' के अंतर्गत दुर्भिक्ष-प्रबंधन के विस्तृत नियम वर्णित हैं। कौटिल्य का मानना था कि सुदृढ़ राज्य वह है जो अकाल की पूर्व-तैयारी करता है और संकट काल में भी प्रजा को भुखमरी से बचाता है।

अकाले च समुत्पन्ने दुर्भिक्षे भयसंकटे। राजा प्रजाः पालयेत् सर्वाः स्वकोशात् पूर्वसंचितात्।।

(अर्थशास्त्र, 8.4, भाव) — अकाल, भय और संकट के समय राजा पूर्व में संचित अपने कोश से सभी प्रजाजनों का पालन-पोषण करे।

अन्न भंडारण की व्यवस्था अर्थशास्त्र में अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से वर्णित है। राज्य के प्रत्येक जनपद में अन्न-कोश स्थापित करने, फसल का एक भाग राज्य-भंडार में सुरक्षित रखने, और व्यापारियों द्वारा जमाखोरी पर कठोर दण्ड का प्रावधान था। रामशरण शर्मा ने 'मटेरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन्स इन एन्शियेंट इंडिया' में यह तर्क दिया है कि भारत में अन्न-भंडारण और वितरण की प्रणाली राज्य-नियंत्रित थी और यह प्रणाली अकाल के समय सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण स्रोत थी।[8]

मनुस्मृति में अकाल के समय राजा को कर-मुक्ति देने, ऋण-राहत प्रदान करने और बड़े व्यापारियों पर अतिरिक्त कर लगाकर गरीबों को राहत देने का निर्देश दिया गया है। शुक्रनीतिसार में कहा गया है:

दुर्भिक्षे राजा प्रजानां कर्षणं न कुर्यात् कदाचन। स्वकोषं व्ययेत् सर्वं किन्तु प्रजाः पालयेत् सदा।।

(शुक्रनीतिसार, 4.2, भाव) — अकाल के समय राजा प्रजा पर कभी कर का बोझ न डाले। अपना समस्त कोश व्यय कर दे, किन्तु प्रजा का पालन अवश्य करे।

इन नियमों की तुलना आधुनिक 'National Disaster Management Authority (NDMA)' के सिद्धांतों से की जाए तो स्पष्ट होता है कि पूर्व-तैयारी, शीघ्र प्रतिक्रिया और समाज के कमजोर वर्गों की विशेष सुरक्षा — ये मूल तत्त्व प्राचीन भारतीय व्यवस्था में भी उपस्थित थे।

युद्धकालीन नीतियाँ एवं राजधर्म

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में युद्ध को एक अंतिम उपाय माना गया है। कूटनीति, सामदाम-दण्डभेद की चतुर्मुखी नीति, और शत्रु के साथ भी न्यायपूर्ण व्यवहार का विधान भारतीय युद्ध-दर्शन की विशेषता है। महाभारत में युधिष्ठिर के शब्दों में:

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च चतुर्विधम्। साधयेत् कार्यमत्यर्थं बुद्धिमान् नीतिकोविदः।।

(महाभारत, उद्योगपर्व, 33.10) — नीति-कुशल बुद्धिमान व्यक्ति साम, दान, भेद और दण्ड — इन चार उपायों से अत्यंत कठिन कार्य भी सिद्ध कर लेता है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र युद्धनीति में 'षाड्गुण्य' नीति का विस्तृत वर्णन करता है — संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय। इन छः नीतियों का समुचित प्रयोग राजा को युद्ध के विकल्पों से परिचित कराता है और बिना युद्ध के भी शत्रु को परास्त करने की रणनीति देता है। रामायण में भी राम की कूटनीतिक दक्षता को अनेक प्रसंगों में दर्शाया गया है।

युद्धकाल में नागरिकों की सुरक्षा के भी नियम थे। मनुस्मृति में कहा गया है कि युद्ध में निहत्थे, घायल, बालक, वृद्ध और पलायन करने वाले शत्रु पर प्रहार नहीं करना चाहिए। यह नियम आधुनिक 'जिनेवा कन्वेंशन' के प्रावधानों से साम्य रखता है। गोविंदचंद्र पांडेय के शब्दों में, 'भारतीय युद्ध-नैतिकता विश्व की प्राचीनतम मानवाधिकार संहिताओं में से एक है।'[6]

न विकर्तुर्न कर्तव्यं युद्धे धर्मः सनातनः। शरणागतं प्रपन्नं च न हन्याद् धर्मवित् कदा।।

(मनुस्मृति, 7.92, भाव) — युद्ध में धर्म का उल्लंघन न करें। शरण में आए हुए अथवा आत्मसमर्पण करने वाले को धर्म का ज्ञाता कभी न मारे।

आपदा प्रबंधन में राजा, प्रजा और धर्म की भूमिका

प्राचीन भारतीय आपदा प्रबंधन त्रिभुज की कल्पना पर आधारित था- राजा, प्रजा और धर्म। ये तीनों मिलकर संकट का सामना करते थे। राजा का कार्य था - संसाधनों का वितरण, सुरक्षा और नेतृत्व प्रदान करना। प्रजा का कार्य था- सहयोग, सामूहिक प्रयास और सामाजिक एकजुटता बनाए रखना। धर्म का कार्य था- नैतिक बल प्रदान करना, सामाजिक अनुशासन बनाए रखना और पारस्परिक सहायता की भावना जागृत करना।

राजा कालस्य कारणम्। राजदोषेण वा प्राज्ञो नाशयेत् परिरक्षयेत्।।

(विदुरनीति, महाभारत, उद्योगपर्व) — राजा ही काल (समय की परिस्थितियों) का कारण होता है। राजा के दोष से प्रजा का नाश होता है और राजा के सुनीति से प्रजा की रक्षा होती है।

आपदा के समय सामाजिक संरचना को बनाए रखने में 'ग्रामणी' (ग्राम-प्रधान) और 'नागरिक' (नगर-अधिकारी) की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अर्थशास्त्र में ग्राम-स्तर पर अनाज-कोश, चिकित्सालय और सुरक्षा-बल के प्रावधान मिलते हैं। रमेशचंद्र मजूमदार ने लिखा है कि 'प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन की परंपरा अत्यंत सुदृढ़ थी और यह आपदाओं में सबसे पहले प्रतिक्रिया देती थी।'[5]

धर्म की भूमिका आपदाओं में केवल अनुष्ठानिक नहीं थी। 'धर्म' का अर्थ यहाँ न्याय, नैतिकता और सामाजिक व्यवस्था है। संकट-काल में अनाज की जमाखोरी करने वाले व्यापारियों को राजदण्ड का भागी माना जाता था। याज्ञवल्क्यस्मृति में ऐसे व्यक्तियों के लिए कठोर दण्ड का विधान है।

आधुनिक आपदा प्रबंधन के संदर्भ में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण की प्रासंगिकता

21वीं शताब्दी में विश्व ने COVID-19 महामारी, जलवायु परिवर्तन जनित आपदाओं और खाद्य-सुरक्षा की चुनौतियों का सामना किया। इन संदर्भों में प्राचीन भारतीय ग्रंथों के नियम उल्लेखनीय रूप से प्रासंगिक हैं। कपिल कपूर ने ध्यान दिलाया है कि 'भारतीय ज्ञान परंपरा में 'समग्रता' (holistic approach) का सिद्धांत आधुनिक आपदा प्रबंधन की 'all-hazards approach' से आश्चर्यजनक रूप से मिलता-जुलता है।'[7]

अर्थशास्त्र में वर्णित पूर्व-तैयारी, शीघ्र प्रतिक्रिया, पुनर्वास और दीर्घकालिक पुनर्निर्माण के चरण आधुनिक 'Disaster Risk Reduction' (DRR) के चार स्तंभों से अभिन्न हैं। जहाँ आधुनिक व्यवस्था 'Sendai Framework' पर आधारित है, वहीं कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी यही कहता है कि आपदा से बचाव युद्ध जीतने से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

नित्यमुद्युक्तमात्मानं दर्शयेद् रिपुसंनिधौ। कोशदण्डसमृद्धो हि लोकं जयति पार्थिवः।।

(अर्थशास्त्र, 7.1.1, भाव) — राजा सदैव कोश (आर्थिक भंडार) और दण्ड (सुरक्षा-बल) से समृद्ध रहे। ऐसा राजा ही संसार को जीत सकता है अर्थात् सभी संकटों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

रामशरण शर्मा के अनुसार, प्राचीन भारत में भूमि-प्रबंधन, सिंचाई व्यवस्था और जल-संरक्षण के जो नियम थे, वे दीर्घकालिक खाद्य-सुरक्षा की दृष्टि से आधुनिक 'Food Security Policy' के पूर्वगामी थे।[8] ग्रामीण स्तर पर अन्न-भंडारण की परंपरा, जल-संरक्षण हेतु तालाब-निर्माण और सामूहिक कृषि-प्रबंधन — ये सभी तत्त्व जलवायु परिवर्तन के युग में पुनः विचारणीय हैं।

आधुनिक शासन-तंत्र के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी है कि प्राचीन भारतीय व्यवस्था में 'विकेंद्रीकरण' और 'समुदाय-सहभागिता' के तत्त्व स्पष्ट रूप से उपस्थित थे। अर्थशास्त्र में ग्राम-स्तर से लेकर केन्द्र तक सूचना-प्रवाह की व्यवस्था वर्णित है, जो आधुनिक 'Early Warning System' के समतुल्य है।

निष्कर्ष

इस शोध-पत्र में यह स्पष्ट हो गया है कि प्राचीन भारतीय संस्कृत ग्रंथ — विशेषतः अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, महाभारत, शुक्रनीति, याज्ञवल्क्यस्मृति — न केवल धार्मिक और दार्शनिक रचनाएँ थीं, अपितु ये प्रशासन, जनसुरक्षा और संकट-प्रबंधन के व्यावहारिक मार्गदर्शक भी थे। राजधर्म, दण्डनीति, प्रजापालन और लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणाएँ — ये सब मिलकर एक ऐसी शासन-प्रणाली की रूपरेखा देती हैं जो आपदाओं का सामना करने में सक्षम थी।

महामारी में संक्रमण-नियंत्रण, जनस्वास्थ्य और चिकित्सा-व्यवस्था; अकाल में अन्न-भंडारण, कर-राहत और पुनर्वास; तथा युद्धकाल में नागरिक-सुरक्षा और न्यायसंगत युद्ध-नैतिकता — ये सभी तत्त्व इन ग्रंथों में उपस्थित हैं। यह परंपरा 'क्षेम' अर्थात् जन-सुरक्षा को राज्य का प्रथम दायित्व मानती है। आधुनिक आपदा प्रबंधन की चुनौतियों के संदर्भ में इस ज्ञान-परंपरा का पुनः अध्ययन और पुनर्मूल्यांकन अत्यंत आवश्यक और उपयोगी है।

यथा स्वांगानि रक्षेत् तथा रक्षेत् प्रजास्सदा। क्षेमं च योगं च समाचरेच्च सर्वप्रजासु राजा सततं नृपः।।

(अर्थशास्त्र, 1.19, भाव) — जैसे मनुष्य अपने अंगों की रक्षा करता है, वैसे ही राजा सदैव प्रजा की रक्षा करे। राजा प्रजा के लिए सदा 'क्षेम' (सुरक्षा) और 'योग' (समृद्धि) का आचरण करे।

संदर्भ

Agrawala, Vasudevasharan (1964). Bharata ki Khoj. Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi.

Basham, A. L. (1954). The Wonder That Was India. Sidgwick & Jackson, London. Reprint: Rupa Publications, New Delhi.

Bühler, G. (Trans.) (1886). The Laws of Manu (Manusmṛti). Sacred Books of the East, Vol. 25. Clarendon Press, Oxford. Reprint: Motilal Banarsidass, Delhi.

Dwivedi, Hazari Prasad (1952). Bharatiya Sahitya ki Bhumika. Rajkamal Prakashan, New Delhi.

Ganguli, K. M. (Trans.) (1883–1896). The Mahabharata of Krishna-Dwaipayana Vyasa (18 vols.). Bharata Press, Calcutta. Reprint: Munshiram Manoharlal, Delhi.

Kane, P. V. (1930–1962). History of Dharmaśāstra (5 vols.). Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Kangle, R. P. (Ed. & Trans.) (1960–1965). The Kauṭilīya Arthaśāstra (3 Parts). University of Bombay.

Kapoor, Kapil (2005). Bharatiya Sahitya aur Sanskriti. Bharatiya Book Corporation, New Delhi.

Majumdar, R. C. (Ed.) (1968). The History and Culture of the Indian People (11 vols.). Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.

Olivelle, Patrick (2013). King, Governance, and Law in Ancient India: Kauṭilya's Arthaśāstra. Oxford University Press, New York.

Olivelle, Patrick (Trans.) (2005). Manu's Code of Law. Oxford University Press, New York. [मनुस्मृति का आधुनिक शैक्षणिक अनुवाद]

Pandey, Govindchandra (1983). Prachin Bharatiya Itihas ki Ruprekha. Lok Bharati Prakashan, Allahabad.

Radhakrishnan, S. (1923). Indian Philosophy (2 vols.). George Allen & Unwin, London.

Sarkar, Benoy Kumar (Ed.) (1914). The Shukraniti. Sudhindra Natha Vasu, Allahabad.

Shamasastry, R. (1915). Kautilya's Arthashastra. Government Press, Bangalore. [प्रथम अंग्रेजी अनुवाद]

Sharma, Priya Vrat (Ed.) (1981). Caraka Saṃhitā (4 vols.). Chaukhamba Orientalia, Varanasi. [विमानस्थान — महामारी प्रकरण]

Sharma, R. S. (1983). Material Culture and Social Formations in Ancient India. Macmillan India, New Delhi.

Srinivasan, P. R. (1971). 'Famine Relief in Ancient India: A Study of Kautilya's Arthashastra.' Indian Economic & Social History Review, 8(3), 265–278.

Sthanapati, Acharya Vishwanath (Ed.) (1949). Yājñavalkya Smṛti with Mitākṣarā Commentary. Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Varanasi.

Vaidya, P. L. (Ed.) (1954). Rāmāyaṇa of Vālmīki (Critical Edition). Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Received: 04.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

रमेश पोखरियाल 'निशंक' के उपन्यासों में चित्रित आंचलिक जीवन और सामाजिक सरोकार

अभिषेक कुमार*
abhishekgautam580@gmail.com

शोध सार-

रमेश पोखरियाल 'निशंक' समकालीन हिंदी साहित्य के उन महत्वपूर्ण रचनाकारों में से हैं, जिन्होंने देव भूमि उत्तराखंड की माटी की गंध और वहाँ के जनजीवन की समस्याओं को अपने उपन्यासों में प्रमुखता से स्थान दिया है। प्रस्तुत शोध लेख में उनके विविध उपन्यासों के माध्यम से पर्वतीय अंचल की विशिष्टता, पलायन की विभीषिका, सामाजिक कुरीतियाँ और मानवीय संवेदनाओं का विश्लेषण किया गया है। उपन्यासों में यह दर्शाया गया है की किस तरह पहाड़ की बदलती ऋतुएँ पात्रों की मानसिक स्थिति को प्रभावित करती हैं। उपन्यासों में बर्फबारी या दुर्गम चढ़ाई केवल भौगोलिक बाधा नहीं, बल्कि पात्रों के धैर्य की परीक्षा भी है।

बीज शब्द:-

आंचलिकता, पर्वतीय जनजीवन, पलायन, सामाजिक चेतना, नारी सशक्तिकरण, व्यसन-मुक्ति, सैन्य संस्कृति, नैतिक मूल्य।

मूल आलेख:-

साहित्य की सार्थकता मात्र मनोरंजन में नहीं, बल्कि समाज के यथार्थ को प्रतिबिंबित करने और उसे एक नई दृष्टि प्रदान करने में निहित होती है। भारतीय साहित्य को सदैव समाज का 'दर्पण' माना गया है, किंतु आधुनिक संदर्भों में यह दर्पण मात्र छवि ही नहीं दिखाता, बल्कि समाज की दशा और दिशा को बदलने का एक सशक्त माध्यम भी है। समकालीन हिंदी उपन्यास साहित्य के फलक पररमेश पोखरियाल 'निशंक' एक ऐसे रचनाकार के रूप में उभरते हैं, जिनकी लेखनी की जड़ें हिमालय की अभेद्य चोटियों और वहाँ की मिट्टी की सोंधी गंध में गहराई तक धंसी हुई हैं।

रमेश पोखरियाल 'निशंक' का कथा-साहित्य केवल पर्वतीय सौंदर्य का शब्दांकन नहीं है, अपितु वह हिमालयी अंचल के दुर्गम जीवन, वहाँके जनमानस के अनवरत संघर्ष, उपेक्षित पीड़ा और सांस्कृतिक गौरव का जीवंत दस्तावेज है। निशंक की दृष्टि केवल समस्याओं को रेखांकित करने तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वे समाज में व्याप्त कुरीतियों, जैसे नशाखोरी, दहेज प्रथा और वृद्धों की उपेक्षा के विरुद्ध एक मौन क्रांति का सूत्रपात करतीहैं। निशंक की रचनाधर्मिता उनके स्वयं के अनुभवों और अनुभूतियों की उपज है। वे किताबी ज्ञान के बजाय 'भोगे हुए यथार्थ' को प्राथमिकता देते हैं। उनके साहित्य में संवेदनाओं का जो ज्वार दिखाई देता है, वह उनके स्वयं के संघर्षशील जीवन और लोक जीवन से जुड़ाव का प्रतिफल है। अपने लेखन के मूल उद्देश्य और सृजन-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने स्वयं 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की भूमिका में स्वीकार किया है:- "मेरा देखा, महसूस किया और भोगा यथार्थ वेदना-संवेदना, अनुभूति और अनुभवों से अनुप्राणित है। कभी जीवन-मूल्यों की धड़कन बनकर, तो कभी आम आदमी की आवाज़ बनकर मैं इन्हें सीधे-सरल शब्दों में अपने पाठकों तक पहुँचाने की कोशिश करता रहा हूँ। मेरी सारी कहानियाँ, कविताएँ और उपन्यास इन्हीं सामाजिक मूल्यों और लोकजीवन की संवेदनाओं से उपजे हैं।"[1] प्रस्तुत शोध आलेख में इन्हीं बिंदुओं के आलोक में'निशंक' के उपन्यासों में चित्रित आंचलिक जीवन और सामाजिक चेतना का गहन विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

* **शोधार्थी, हिंदी साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

हिमालयी अंचल के निवासियों के लिए उनकी माटी केवल जमीन का टुकड़ा नहीं, बल्कि एक जीवंत संवेदना है। उपन्यास 'पहाड़ से ऊँचा' में लेखक ने सेवानिवृत्त सैनिकों के माध्यम से इस अगाध प्रेम को चित्रित किया है। शहर की सुख-सुविधाओं के आकर्षण के बावजूद अपनी जड़ों की ओर लौटने की छटपटाहट आंचलिक यथार्थ का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। 'निशंक' पहाड़ से ऊँचा उपन्यास के माध्यम से बताते हैं कि:- "सेना में 32 साल की नौकरी के बाद ऑनरेरी कैप्टेन शंकर दत्त बड़े उत्साह से गाँव आकर बस गये थे। उनसे पहले रिटायर हुए सूबेदार गोपाल दत्त, मोहन सिंह बिष्ट के साथ ही न जाने कितने और साथी देहरादून, रुड़की और कोटद्वार में बस चुके थे। संगी साथी जब शहर में बसने की बात करते, तो शंकर दत्त का मन व्यथित हो जाता।"[2] पर्वतीय जीवन जितना सुंदर दिखता है, जीने में उतना ही कठिन है। 'बीरा' और 'छूट गया पड़ाव' जैसे उपन्यासों में हिमालयी अंचल की दुर्गमता और वहाँ के जनजीवन की दैनिक चुनौतियों का सूक्ष्म अंकन मिलता है। 'बीरा' में एक अनाथ लड़की का संघर्ष पूरे अंचल की संघर्षशीलता का प्रतीक बन जाता है। उपन्यास के अंत में बीरा का संकल्प इस माटी के प्रति उसकी प्रतिबद्धता को दर्शाता है:- "आज से हमारा संकल्प है कि साथ-साथ चलकर हम इस पिछड़े पहाड़ी क्षेत्र को एक नई दिशा देने का हर संभव प्रयत्न करेंगे...बल्कि एक स्वावलम्बी महिला होने के नाते तुमसे भी दो कदम आगे बढ़कर इस भगीरथ अभियान में हमेशा आहुति देती रहूँगी।"[3]

निशंक जी के उपन्यासों में आंचलिकता वहाँ के रीति-रिवाजों, मेलों और लोक-विश्वासों के माध्यम से भी प्रकट होती है। 'निशांत' और 'अपना-पराया' में पर्वतीय समाज के पारिवारिक ढांचों वहाँ की लोक-संस्कृति का स्वाभाविक चित्रण है। 'मेजर निराला' में एक सैनिक का अपने गाँव के प्रति अनुराग आंचलिक अस्मिता की पहचान कराता है:- "कितना प्यार था उसे अपने गाँव से और गाँव के लोगों से। हँसी खुशी जीवन बीत रहा था...किन्तु ईश्वर को शायद यह सब कुछ मंजूर नहीं था। इसीलिए तो उसकी खुशियों को ग्रहण लग गया।"[4] निशंक के उपन्यासों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वे पाठक के भीतर एक 'आदर्श समाज' के निर्माण की ललक पैदा करते हैं। 'निशंक' के उपन्यासों का अंत अक्सर एक नई शुरुआत या एक 'संकल्प' के साथ होता है, जो यह दर्शाता है कि सृजन की प्रक्रिया निरंतर जारी रहनी चाहिए।

हिमालयी जीवन का एक कड़वा यथार्थ अभाव और सुविधाओं की कमी है, लेकिन निशंक के पात्र इन अभावों के आगे झुकते नहीं हैं। 'छूट गया पड़ाव' में सरोज का पात्र शिक्षा के माध्यम से उस अंचल का भाग्य बदलने की कोशिश करता है। यहाँ आंचलिकता केवल दुख का गान नहीं है, बल्कि उस दुख से उबरने की प्रेरणा भी है। निशंक के उपन्यासों में हिमालय केवल एक पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि वह स्वयं एक मुख्य पात्र की भांति व्यवहार करता है। उनका आंचलिक लेखन 'स्व' से 'सर्व' की यात्रा है, जहाँ व्यक्तिगत पीड़ा पूरे हिमालयी समाज की सामूहिक चेतना बन जाती है। निशंक के उपन्यासों में उत्तराखंड का भूगोल और संस्कृति जीवंत हो उठती है। हिमालयी क्षेत्रों के लिए 'पलायन' केवल एक शब्द नहीं, बल्कि एक गहरा जख्म है जिसने पहाड़ की जवानी और पानी दोनों को सोख लिया है। 'निशंक' ने अपनी रचनाओं में इस समस्या को एक समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उकेरा है। उनके उपन्यासों में पलायन के कारण, उससे उपजी रिक्तता और उसे रोकने के ठोस संकल्प का त्रिकोणीय विमर्श मिलता है। 'पहाड़ से ऊँचा' और 'प्रतिज्ञा' उपन्यासों में लेखक ने यह रेखांकित किया है कि पहाड़ों में रोजगार के अभाव और मूलभूत सुविधाओं (जैसे शिक्षा और चिकित्सा) की कमी ने ग्रामीणों को शहर की ओर भागने पर मजबूर किया है। 'पहाड़ से ऊँचा' में कैप्टन शंकर दत्त का यह दर्द पूरे अंचल का दर्द बन जाता है जब वे देखते हैं कि उनके साथी गाँवों को छोड़कर मैदानों में बस रहे हैं:- "संगी साथी जब शहर में बसने की बात करते, तो शंकर दत्त का मन व्यथित हो जाता। फौज की व्यस्त नौकरी में यदा कदा पहाड़ से हो रहे पलायन की बात सुनकर उनका मन खराब होने लगता था। इसी के चलते उन्होंने रिटायरमेंट के बाद गाँव में ही बसने की ठानी।"[5] उपन्यास 'प्रतिज्ञा' में पलायन के एक अन्य पक्ष को दिखाया गया है। जब गाँव के युवा रोजगार की तलाश में बाहर जाते हैं, तो पीछे छूटे गाँव नशे और असामाजिक तत्वों के गढ़ बनने लगते हैं। 'प्रतिज्ञा' का नायक वीरू इसी अव्यवस्था को सुधारने का संकल्प लेता है। गाँव के उजड़ने और सांस्कृतिक पहचान खोने का भय पात्रों के भीतर एक छटपटाहट पैदा करता है। 'पहाड़ से ऊँचा' में मोहन जैसे पात्रों के माध्यम से वे यह संदेश देते हैं कि यदि पहाड़ के युवाओं में साहस हो और वे अपनी माटी में ही स्वरोजगार के अवसर तलाशें, तो गाँवों को उजड़ने से बचाया जा सकता है। लेखक ने अक्सर सैनिकों को पलायन विरोधी चेतना के वाहक के रूप में प्रस्तुत किया है। 'मेजर निराला' और 'पहाड़ से ऊँचा' दोनों में ही यह भाव प्रबल है कि जिसने सीमा पर देश की रक्षा की है, वह सेवानिवृत्ति के बाद अपने गाँव की रक्षा और विकास का दायित्व क्यों न उठाए? मेजर निराला की गाँव के प्रति आसक्ति इसी सामाजिक सरोकार का हिस्सा है:- "गाँव की माटी से प्यार का और गाँव वालों की मदद का भूत सवार था मेजर के सिर पर। तभी तो उसने गाँव छोड़कर शहर में जा बसने की सावित्री की माँग बार-बार ठुकरा दी थी।"[6] 'छूट गया पड़ाव' उपन्यास में दिखाया

गया है कि शिक्षा के अभाव में भी पलायन और शोषण बढ़ता है। सरोज जैसे पात्र जब ग्रामीण बच्चों को शिक्षित करने का बीड़ा उठाते हैं, तो वे अप्रत्यक्ष रूप से पलायन की जड़ों पर प्रहार करते हैं, ताकि भविष्य की पीढ़ी अपनी जमीन पर खड़े होने के काबिल बन सके।

रमेश पोखरियाल 'निशंक' के उपन्यासों में नारी केवल घरेलू दायित्वों तक सीमित पात्र नहीं है, बल्कि वह समाज की जड़ता को तोड़ने वाली एक सक्रिय इकाई है। उनके कथा-साहित्य में नारी के तीन मुख्य रूप उभरते हैं: संकल्पशील, सुधारक और रक्षक। 'बीरा' उपन्यास की नायिका पर्वतीय अंचल की उन हज़ारों लड़कियों की प्रतिनिधि है जो अभावों में पलती हैं, लेकिन अपनी नियति स्वयं लिखती हैं। बीरा का चरित्र 'स्व' से 'सर्व' की यात्रा है। वह व्यक्तिगत प्रेम और विवाह के पारंपरिक बंधन को समाज सेवा के व्यापक उद्देश्य के लिए पुनर्परिभाषित करती है। उसका संकल्प केवल शब्दों में नहीं, बल्कि कर्म में झलकता है:- "एक स्वावलम्बी महिला होने के नाते तुमसे भी दो कदम आगे बढ़कर इस भगीरथ अभियान में हमेशा आहुति देती रहूँगी। यही होगी हमारे इतने वर्षों के सच्चे स्नेह की परिणति।"[7] बीरा प्रेम को 'त्याग' नहीं, बल्कि 'सहयोग और शक्ति' के रूप में देखती है, जो सामाजिक परिवर्तन की पहली शर्त है। 'छूट गया पड़ाव' में नारी चेतना 'शिक्षा' के माध्यम से प्रकट होती है। नायिका सरोज एक ऐसी शिक्षिका है जो स्कूल की चार दीवारी से बाहर निकलकर समाज के मानसिक अंधेरे से लड़ती है। वह अंधविश्वासों और नियतिवाद को चुनौती देती है। जब रानी जैसी बालिका का निधन होता है, तो सरोज टूटती नहीं है, बल्कि उस शोक को शक्ति में बदलती है। डॉ. दुग्गल का कथन उसे नारी के व्यापक उत्तरदायित्व का बोध कराता है:- "उसे हिम्मत बंधाई और कहा- 'आगे बढ़ो, दुनिया में और भी बच्चे हैं जिन्हें तुम्हारे स्नेह, तुम्हारी सेवा की आवश्यकता है'।"[8] यह सरोज के माध्यम से लेखक का संदेश है कि नारी का 'ममत्व' केवल अपनी संतान तक सीमित न रहकर पूरे समाज के वंचित बच्चों के लिए 'सुरक्षा कवच' बनना चाहिए।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास में नारी चेतना का एक 'जुझारू' रूप मिलता है। पर्वतीय समाज में शराब और नशे ने जिस तरह परिवारों को तबाह किया है, उसके विरुद्ध सुनीता का खड़ा होना एक बड़ी सामाजिक क्रांति है। अपने पति वीरू के बलिदान के बाद वह शोक में डूबने के बजाय उस अधूरे कार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाती है। उपन्यास की अंतिम पंक्तियाँ उसकी मानसिक दृढ़ता की परिचायक हैं। सुनीता का यह रूप सिद्ध करता है कि नारी जब ठान लेती है, तो वह व्यवस्था के क्रूरतम चेहरों से भी टकरा सकती है। जहाँ बीरा और सरोज सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं, वहीं 'अपना-पराया' की अनिता और 'भागोंवाली' की अम्मा पारिवारिक मोर्चे पर संघर्षरत हैं। 'भागोंवाली' में अम्मा का अपने अस्तित्व और घर के लिए लड़ना, नारी के उस अधिकार की मांग है जिसे समाज अक्सर गौण मान लेता है:- "मेरे पति का घर है यह, मुझे मत निकालो यहाँ से...चार-चार बेटे हैं मेरे, चार-चार बहू हैं। भागोंवाली हूँ मैं...।"[9] यह पंक्तियाँ नारी के उस 'स्वाभिमान' को दर्शाती हैं जो बुढ़ापे और तिरस्कार के बीच भी जीवित रहता है। 'कृतघ्न' उपन्यास में सुकन्या का पात्र नारी के धैर्य और सेवा भाव का उत्कृष्ट उदाहरण है। वह बिना किसी स्वार्थ के एक परिवार को संभालती है और कठिन समय में संबल बनती है। लेखक ने सुकन्या के माध्यम से यह दिखाया है कि नारी चेतना केवल विद्रोह में नहीं, बल्कि 'सृजन' और 'संभालने' में भी निहित है।

आधुनिकता, शहरीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारतीय समाज के 'संयुक्त परिवार' के ढांचे को बुरी तरह झकझोर दिया है। निशंक के उपन्यासों में यह स्पष्ट दिखता है कि कैसे भौतिक सुख-सुविधाओं की लालसा में व्यक्ति अपने रक्त-संबंधों और नैतिक उत्तरदायित्वों को भुलाता जा रहा है। 'भागोंवाली' उपन्यास इस नैतिक पतन की सबसे मार्मिक अभिव्यक्ति है। उपन्यास की नायिका 'अम्मा' जिसने अपना पूरा जीवन परिवार को सींचने में लगा दिया, अंत में अपने ही बेटों के लिए 'बोझ' बन जाती है। 'भागोंवाली' नाम यहाँ एक गहरा कटाक्ष है- वह महिला जिसके चार बेटे और चार बहुएँ हैं, वह स्वयं को भाग्यशाली 'भागोंवाली' कहती है, किंतु वास्तव में वह बेघर होने की कगार पर है।जब उसका बेटा दिनेश घर खाली करने की बात करता है, तो अम्मा का विलाप केवल एक वृद्धा का विलाप नहीं, बल्कि मरती हुई पारिवारिक मर्यादाओं की चीख है:- "अम्माँ सन्निपात में बड़बड़ाती- 'मेरे पति का घर है यह, मुझे मत निकालो यहाँ से, मैं कहीं नहीं जाऊँगी यहाँ से... मेरे पति की निशानी है यह... चार-चार बेटे हैं मेरे, चार-चार बहू हैं। भागोंवाली हूँ मैं..."[10] लेखक यहाँ दिखाते हैं कि कैसे संपत्ति का लालच माँ की ममता पर भारी पड़ जाता है। जयदीप जैसा पात्र जब अपनी माँ की अंतिम इच्छा पूरी करने के लिए भाई के आगे हाथ जोड़ता है, तो वह समाज की लुप्त होती संवेदनाओं को रेखांकित करता है। 'अपना-पराया' उपन्यास रिश्तों में आती स्वार्थपरता और 'अपनत्व' के खोखलेपन को उजागर करता है। मध्यमवर्गीय परिवारों में वैचारिक मतभेद और पीढ़ीगत अंतरालके कारण कैसे अपने ही लोग पराये हो जाते हैं, यह इस उपन्यास का मुख्य स्वर है। रिश्तों की शुचिता का स्थान अब औपचारिकता ने ले लिया है। उपन्यास के अंत में राहुल और अनीता का मानसिक द्वंद्व संबंधों के इसी जटिल

यथार्थ को दर्शाता है:- "माँ सो गईं, तो राहुल ने धीरे से उनका हाथ हटाकर स्वयं को और अनीता को मुक्त कर लिया। लेकिन क्या अब कभी इस बंधन से वे दोनों मुक्त हो पाएँगे?"[11]

उपन्यास 'कृतघ्न' का शीर्षक ही समाज की उस प्रवृत्ति पर प्रहार करता है जहाँ व्यक्ति उपकार को भूलकर स्वार्थ को सर्वोपरि रखता है। अंबुज और सुकन्या के माध्यम से लेखक दिखाते हैं कि समाज में सेवा और समर्पण करने वालों को अक्सर उपेक्षा ही मिलती है। सुकन्या, जो बिना किसी अधिकार के एक परिवार को संभालती है, अंत में किसी 'अहसान' के बदले नहीं, बल्कि अपने गुणों के कारण ही सम्मान की पात्र बनती है। नैतिक पतन का एक रूप 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में नशे के रूप में सामने आता है। जब युवा पीढ़ी अपने संस्कार और उत्तरदायित्व छोड़कर नशे की गिरफ्त में आ जाती है, तो वह केवल स्वयं को नहीं, बल्कि पूरे समाज के नैतिक ढांचे को नष्ट कर देती है। कुलदीप की मृत्यु और वीरू का संघर्ष इसी पतन के विरुद्ध एक चेतावनी है:- "सामने कुलदीप की लाश पड़ी थी। रक्त-रंजित चेहरा... सुनीता हँस पड़ी और फिर रोने लगी। 'वीरू का बलिदान कैसे व्यर्थ होने देती मैं? कैसे उनके खुशहाल गाँव के सपने को तोड़ देती?"[12] 'निशांत' उपन्यास में पारिवारिक मूल्यों के बीच 'संदेह' और 'अविश्वास' की दीवार को दिखाया गया है। मिताली का निशांत पर अविश्वास करना और अंत में अपनी गलती का अहसास होना यह दर्शाता है कि संवाद की कमी कैसे रिश्तों को खत्म कर देती है:- "मुझे माफ कर दो निशांत मैंने तुम पर अविश्वास करके बहुत बड़ा पाप किया है, मेरा यह पाप क्षमा योग्य नहीं है।"[13] 'कृतघ्न' और 'निशांत' जैसे उपन्यासों के माध्यम से लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि भौतिक उन्नति तब तक निरर्थक है जब तक कि हृदय में कृतज्ञता, अविश्वास की मुक्ति और अपनों के प्रति सम्मान न हो। 'भागोंवाली' की अम्मा का दर्द आधुनिक समाज की नैतिक रिक्तता पर एक गंभीर प्रश्नचिह्न लगाता है, जो पाठकों को आत्म-मंथन के लिए विवश करता है।

हिमालयी अंचल की शांत वादियों में 'नशे' का जहर जिस तरह घुल रहा है, निशंक ने उसे अपनी लेखनी का मुख्य सरोकार बनाया है। उनके उपन्यासों में व्यसन-मुक्ति का अर्थ केवल नशा छोड़ना नहीं, बल्कि उस माफिया और मानसिकता को जड़ से उखाड़ना है जो युवा शक्ति को पंगु बना रही है।निशंक जी का मानना है कि 'नशा' केवल एक व्यक्तिगत बुराई नहीं है, बल्कि यह एक 'सांस्कृतिक हमला' है जो पहाड़ की जवानी को खोखला कर रहा है। लेखक ने दिखाया है कि जब कानून और प्रशासन विफल हो जाते हैं, तब केवल 'जन-संकल्प' और 'युवा चेतना' ही इस विष को रोक सकती है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास कि कथा का पूरा ताना-बाना नशे के विरुद्ध संघर्ष पर टिका है। इसमें कुलदीप जैसे युवाओं का चित्रण किया गया है जो नशे के सौदागरों के मोहरे बन जाते हैं। कुलदीप की मृत्यु का दृश्य पाठकों को झकझोरने के लिए रचा गया है, ताकि वे नशे की विभीषिका को समझ सकें सामने अकल्पनीय दृश्य था- "कुलदीप का रक्त-रंजित शव पंचायत हॉल में पड़ा था। बाहर मेले के शोर के कारण किसी को भी कुलदीप की चीख न सुनाई दी।"[14] यहाँ लेखक यह संकेत देते हैं कि समाज इतना संवेदनहीन हो गया है कि वह अपने ही युवाओं की चीखें नहीं सुन पा रहा है। उपन्यास में सुनीता का पात्र भारतीय नारी के उस रूप को दर्शाता है जो दुख में डूबने के बजाय सामाजिक बुराई के समूल नाश की 'प्रतिज्ञा' लेती है। वह जानती है कि यदि आज वह रुकी, तो गाँव का हर घर श्मशान बन जाएगा। सुनीता बुदबुदायी और मन ही मन हँसी, सुनीता कीयह हंसी उपहास है उन ताकतों पर जो समझते थे कि वीरू की मृत्यु के बाद आंदोलन थम जाएगा, और रोना उस महान उद्देश्य की पवित्रता का प्रतीक है।लेखक का मानना है कि यदि युवा पीढ़ी को कोई ऊँचा लक्ष्य मिल जाए, तो वह व्यसनों की ओर नहीं भटकेगी। जब युवा हाथ स्वरोजगार में लगे होते हैं, तो वे नशे की ओर नहीं बढ़ते। 'पहाड़ से ऊँचा' में मोहन का संघर्ष भी इसी संकल्प को दोहराता है कि पहाड़ की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझना ही सबसे बड़ा धर्म है। व्यसन-मुक्ति के लिए मानसिक मजबूती अनिवार्य है, जो शिक्षा से आती है। 'छूट गया पड़ाव' की सरोज बच्चों में उन नैतिक मूल्यों के बीज बोती है जो उन्हें भविष्य में किसी भी प्रकार के पतन से बचाते हैं। रानी जैसी बालिका के अंतिम शब्द एक नई पीढ़ी के जन्म की घोषणा करते हैं:- "उनके दुःखों का पहाड़ पाटकर खुशियों का समन्दर लौटा लाऊँगी। उनके फर्ज का कर्ज है मुझ पर। पर यह रास्ता उन्हें ही खोलना है। मुझ जैसे अभागों का भाग्य खोलकर।"[15] यह 'भाग्य खोलना' दरअसल युवाओं को नशे के अंधेरे से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाना है।

निष्कर्ष :-

निष्कर्षतः रमेश पोखरियाल 'निशंक' का औपन्यासिक साहित्य समकालीन हिंदी जगत में 'उद्देश्यपरक सृजन' का एक अनुपम उदाहरण है। उनके उपन्यास केवल मनोरंजन की वस्तु न होकर सामाजिक सरोकारों की एक ऐसी जीवंत प्रयोगशाला हैं, जहाँ वे पर्वतीय अंचल की विशिष्ट समस्याओं को वैश्विक मानवीय संवेदनाओं के साथ जोड़ते हैं। परिस्थितियों

पर मानवीय जिजीविषा की विजय लेखक के पात्र चाहे वह 'बीरा' उपन्यास की पात्र बीरा हो, 'प्रतिज्ञा' की सुनीता हो या 'मेजर निराला' के मेजर कभी भी परिस्थितियों के आगे आत्मसमर्पण नहीं करते। वे 'पहाड़ से ऊँचा' हौसला रखते हैं और अपने संघर्ष से समाज में सकारात्मक परिवर्तन की नींव रखते हैं। आंचलिकता और सार्वभौमिकता का संगम यद्यपि उनके उपन्यासों की पृष्ठभूमि उत्तराखंड का हिमालयी अंचल है, किंतु उनमें उठाए गए प्रश्न-जैसे नशे की बढ़ती प्रवृत्ति, वृद्धों की उपेक्षा, और रिश्तों में आता बिखराव- संपूर्ण भारतीय समाज के यथार्थ को दर्शाते हैं। लेखक ने आंचलिकता के बहाने उन सार्वभौमिक सत्यों को छुआ है जो मनुष्य को मनुष्यता से जोड़ते हैं। जड़ों की ओर लौटने का आवाह्न निशंक जी का साहित्य बार-बार अपनी 'मिट्टी' और 'जड़ों' की महत्ता को प्रतिपादित करता है। 'पहाड़ से ऊँचा' के कैप्टन शंकर दत्त और 'बीरा' का संकल्प पाठकों को अपनी विरासत पर गर्व करने और स्व-रोजगार के माध्यम से आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देता है। वे यह संदेश देने में सफल रहे हैं कि विकास की अंधी दौड़ में अपनी पहचान को खोना आत्मघाती है। 'निशंक' का साहित्य केवल समस्याओं का दस्तावेजीकरण नहीं है, बल्कि वह 'पलायन से पुनर्वास' और 'पीड़ा से संकल्प' की ओर ले जाने वाला एक मार्गदर्शक प्रकाश है।

संदर्भ :

[1] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2011). *प्रतिज्ञा*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 05

[2] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2016). *पहाड़ से ऊँचा*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 05

[3] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2008). *बीरा*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 169

[4] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2007). *मेजर निराला*. देहरादून: विनसर पब्लिशिंग कंपनी. पृ. 03

[5] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2016). *पहाड़ से ऊँचा*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 05

[6] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2007). *मेजर निराला*. देहरादून: विनसर पब्लिशिंग कंपनी. पृ. 04

[7] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2008). *बीरा*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 169

[8] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2009). *छूट गया पड़ाव*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 99

[9] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2015). *भागोंवाली*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 142

[10] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2015). *भागोंवाली*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 142

[11] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2024). *अपना पराया*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 159

[12] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2011). *प्रतिज्ञा*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 151

[13] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2005). *निशांत*. देहरादून: विनसर पब्लिशिंग कंपनी. पृ. 104

[14] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2011). *प्रतिज्ञा*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 151

[15] निशंक, रमेश पोखरियाल. (2009). *छूट गया पड़ाव*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 100

निशंक, रमेश पोखरियाल. (2015). *कृतघ्न*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 05.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

वैश्वीकरण के युग में भारतीय संघवाद और स्थानिक कूटनीति: केंद्र-राज्य संबंधों के बदलते आयाम

शिवम कुमार सिन्हा*

shivamsinha.2591994@gmail.com

सारांश

वैश्वीकरण के कारण भारतीय संघवाद की अवधारणा, संरचना और कार्यप्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। 1990 के दशक में भारत नें आर्थिक उदारीकरण को अपनाया, जिसके बाद राज्यों की भूमिका केवल प्रशासनिक इकाई तक सीमित नहीं रही, बल्कि वे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर निवेश, व्यापार और सहयोग जुटाने के लिए पहले से अधिक सक्रिय हो गए। इस प्रक्रिया को स्थानिक-कूटनीति (Para-diplomacy) कहा जाता है, जिसके माध्यम से राज्य वैश्विक मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। हालाँकि, भारत में विदेश नीति से संबन्धित मुद्दे केंद्र सरकार के विषय रहे हैं। लेकिन हाल के वर्षों में राज्यों की सक्रिय भूमिका के कारण केंद्र-राज्य संबंधों में सहयोग, समन्वय और शक्ति-संतुलन के नए आयाम उभरे हैं। प्रस्तुत शोधपत्र, वर्तमान में वैश्वीकरण के कारण भारतीय संघवाद पर स्थानिक-कूटनीति (Para-diplomacy) के प्रभाव और केंद्र-राज्य संबंधों में हो रहे परिवर्तनों का अध्ययन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द: .

वैश्वीकरण, भारतीय संघवाद, केंद्र-राज्य संबंध, स्थानिक-कूटनीति, विदेशी नीति, राज्य

प्रस्तावना

वैश्वीकरण के कारण विश्व राजनीति, अर्थव्यवस्था और शासन की पारंपरिक संरचनाएँ में महत्वपूर्ण बदलाव हुए हैं। वर्ष 1990 के बाद से आर्थिक उदारीकरण, मुक्त व्यापार, पूँजी के वैश्विक प्रवाह और तकनीकी क्रांति ने राष्ट्र-राज्य की भूमिका को नए सिरे से परिभाषित किया है। इन परिवर्तनों का प्रभाव केवल अंतरराष्ट्रीय स्तर तक सीमित नहीं रहा, बल्कि देशों की आंतरिक शासन-व्यवस्था, विशेषकर संघीय संरचना पर पड़ा है (Singh & Srinivasan)। भारत जैसे बहुस्तरीय और बहुसांस्कृतिक संघीय लोकतंत्र में यह परिवर्तन और अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। भारतीय संघवाद संविधान द्वारा उल्लेखित एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का परस्पर विभाजन सुनिश्चित किया गया है। भारतीय संविधान के सातवीं अनुसूची में संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के माध्यम से विधायी अधिकारों का स्पष्ट निर्धारण किया गया है। पारंपरिक रूप से विदेश नीति, रक्षा और अंतरराष्ट्रीय संबंधों को केंद्र सरकार के अधिकार क्षेत्र में रखा गया है (Choudhry et al, 2016; Kumar, 2025)। परंतु वैश्वीकरण के प्रभाव से यह व्यवस्था व्यवहारिक स्तर पर अधिक लचीली और गतिशील होती गई है। वर्ष 1991 में हुए आर्थिक सुधारों के पश्चात भारतीय अर्थव्यवस्था ने वैश्विक बाजारों के साथ गहन संपर्क स्थापित किया। इस आर्थिक सुधार से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI), अंतरराष्ट्रीय व्यापार और वैश्विक निवेश सम्मेलनों के माध्यम से राज्यों को आर्थिक विकास के नए अवसर प्राप्त हुए। इस परिप्रेक्ष्य में राज्यों की भूमिका केवल प्रशासनिक इकाई तक सीमित नहीं रही, बल्कि वे आर्थिक विकास के लिए सक्रिय रूप से उभरे। यही वह बिंदु है जहाँ स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) की अवधारणा भारतीय संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाती है (Borah, 2014)।

* **शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)**

भारतीय संघवाद के संदर्भ में, स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) से आशय- उन गतिविधियों से है जिनके माध्यम से राज्य सरकारें या उप-राष्ट्रीय इकाइयाँ, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संलग्न होती हैं। यह संलग्नता विदेशी निवेश आकर्षित करने, व्यापारिक साझेदारी स्थापित करने, सांस्कृतिक और शैक्षणिक सहयोग बढ़ाने तथा तकनीकी हस्तांतरण जैसे क्षेत्रों में दिखाई देती है। यद्यपि संवैधानिक रूप से विदेश नीति केंद्र के अधिकार क्षेत्र में है, फिर भी व्यवहारिक स्तर पर राज्यों की सक्रियता ने केंद्र-राज्य संबंधों में नए आयाम जोड़े हैं (Pant & Tewari, 2017)। हालाँकि, वैश्वीकरण ने प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद (Competitive federalism) की अवधारणा को भी प्रोत्साहित किया है। राज्य अब निवेश आकर्षित करने और औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। गुजरात का 'Vibrant Gujarat Summit,' तमिलनाडु और कर्नाटक के "वैश्विक निवेश शिखर सम्मेलन," तथा महाराष्ट्र की अंतरराष्ट्रीय मंचों पर सक्रिय भागीदारी इसके उदाहरण हैं। इन पहलों ने यह स्पष्ट किया है कि राज्य केवल केंद्र की नीतियों के केवल अनुयायी नहीं हैं, बल्कि वे स्वयं वैश्विक मंच पर अपनी पहचान बनाने तथा निवेश आकर्षित करने का प्रयास कर रहे हैं (Maini, 2024)। इस प्रक्रिया ने केंद्र-राज्य संबंधों की प्रकृति को प्रभावित किया है। एक ओर यह सहकारी संघवाद (Cooperative federalism) को सुदृढ़ करता है, क्योंकि राज्यों को अंतरराष्ट्रीय गतिविधियों में भाग लेने के लिए केंद्र के साथ समन्वय स्थापित करना पड़ता है। दूसरी ओर, यह शक्ति-संतुलन के प्रश्न को भी जन्म देता है, क्योंकि विदेश नीति से संबंधित विषयों में राज्यों की बढ़ती भागीदारी संवैधानिक सीमाओं की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता उत्पन्न करती है। उपरोक्त संदर्भ में यह अध्ययन, वैश्वीकरण के युग में भारतीय संघवाद और स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) के अंतर्संबंधों का विश्लेषण करने का प्रयास करता है। इसका उद्देश्य यह समझना है कि राज्यों की बढ़ती अंतरराष्ट्रीय भूमिका ने केंद्र-राज्य संबंधों के स्वरूप को किस प्रकार परिवर्तित किया है।

वैश्वीकरण के कारण भारतीय संघवाद पर प्रभाव

वैश्वीकरण ने संघवाद को पहले से अधिक प्रासंगिक बना दिया है। यह विश्व राजनीति, अर्थव्यवस्था और शासन प्रणाली के स्वरूप में गहरे परिवर्तन किए हैं। विशेष रूप से विकासशील देशों में वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने राज्य की भूमिका, नीति निर्माण की दिशा तथा संघीय व्यवस्थाओं की प्रकृति को नए सिरे से प्रभावित किया है। साथ ही भारत में भी वैश्वीकरण ने संघीय ढांचे को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। आर्थिक उदारीकरण, वैश्विक व्यापार के विस्तार और विदेशी निवेश के बढ़ते प्रवाह ने राज्यों की भूमिका को पहले की तुलना में अधिक सक्रिय और प्रभावशाली बना दिया है। परिणामस्वरूप, भारतीय संघवाद अब केवल संवैधानिक शक्ति-विभाजन की व्यवस्था तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि यह वैश्विक आर्थिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से भी गहराई से जुड़ गया है (Mankama, 2021)।

भारतीय संदर्भ में वैश्वीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए 1991 के आर्थिक सुधारों को एक महत्वपूर्ण मोड़ माना जाता है। 1991 में भारत ने उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (LPG) की नीतियों को अपनाया, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे वैश्विक बाजार के लिए खुलने लगी। इन आर्थिक सुधारों के बाद विदेशी निवेश, अंतरराष्ट्रीय व्यापार और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इस परिवर्तन ने भारतीय राज्यों के लिए भी नए अवसर और चुनौतियाँ उत्पन्न कीं। अब आर्थिक विकास और निवेश आकर्षित करने की प्रक्रिया में राज्यों की भूमिका पहले की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हो गई (Kohli, 1989)। पहले विकास और निवेश के अधिकांश निर्णय केंद्र सरकार के स्तर पर लिए जाते थे, किंतु उदारीकरण के बाद राज्यों को भी निवेश आकर्षित करने और औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने की अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न राज्य सरकारों ने निवेशकों को आकर्षित करने के लिए नई नीतियाँ अपनाईं, जैसे औद्योगिक नीतियों में सुधार, विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZ) की स्थापना, तथा निवेश-अनुकूल प्रशासनिक ढांचा विकसित करना। इस प्रकार राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धी संघवाद (Competitive federalism) की प्रवृत्ति मजबूत हुई (Choudhury, 2024)।

इसके साथ ही वैश्वीकरण ने राज्यों को अंतरराष्ट्रीय आर्थिक नेटवर्क से जोड़ने का अवसर भी प्रदान किया। अनेक राज्य सरकारें अब विदेशी निवेशकों को आकर्षित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय मंचों पर सक्रिय रूप से भाग ले रही हैं। राज्य सरकारों के प्रतिनिधिमंडल विभिन्न देशों की यात्राएँ करते हैं, अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक सम्मेलनों में भाग लेते हैं और वैश्विक कंपनियों के साथ निवेश समझौते करते हैं। इस प्रक्रिया में राज्य सरकारें आर्थिक कूटनीति का एक नया स्वरूप विकसित कर रही हैं, जिसे स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) के रूप में समझा जा सकता है। भारतीय राज्यों द्वारा अपनाई गई यह

रणनीति केवल निवेश आकर्षित करने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह तकनीकी सहयोग, व्यापार विस्तार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान जैसे क्षेत्रों में भी दिखाई देती है। उदाहरण के लिए कई राज्य सरकारें विदेशी विश्वविद्यालयों और अनुसंधान संस्थानों के साथ सहयोग स्थापित कर रही हैं, जिससे शिक्षा और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी अंतरराष्ट्रीय साझेदारी विकसित हो रही है। इसी प्रकार पर्यटन और सांस्कृतिक सहयोग के माध्यम से भी राज्यों की वैश्विक उपस्थिति बढ़ रही है (Rjiesh, 2018)।

वैश्वीकरण के इस प्रभाव ने भारतीय संघवाद के स्वरूप को अधिक बहुस्तरीय बना दिया है। अब नीति निर्माण और आर्थिक विकास की प्रक्रिया केवल केंद्र सरकार तक सीमित नहीं रह गई है, बल्कि इसमें राज्य सरकारों की सक्रिय भागीदारी भी शामिल हो गई है। इससे केंद्र और राज्यों के बीच संबंधों में भी नए आयाम जुड़े हैं। एक ओर केंद्र सरकार राष्ट्रीय आर्थिक नीति और अंतरराष्ट्रीय व्यापार समझौतों का निर्धारण करती है, वहीं दूसरी ओर राज्य सरकारें इन नीतियों को स्थानीय स्तर पर लागू करने और निवेश को आकर्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण के युग में भारतीय संघवाद एक नए चरण में प्रवेश कर चुका है। इस प्रक्रिया ने राज्यों की भूमिका को मजबूत किया है और उन्हें वैश्विक आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी का अवसर प्रदान किया है। साथ ही यह परिवर्तन केंद्र-राज्य संबंधों के स्वरूप को भी प्रभावित कर रहा है, जिससे भारतीय संघवाद का चरित्र अधिक सहयोगात्मक, प्रतिस्पर्धी और बहुस्तरीय बनता जा रहा है।

भारत में स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) का विकास

भारत में स्थानिक कूटनीति नया नहीं है, बल्कि लंबे समय से विभिन्न राज्यों द्वारा इस नीति को उपयोग में लाई जा रही है। स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) से तात्पर्य उन नीतियों से है, जिनके माध्यम से राज्य या प्रांतीय सरकारें अपने आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनीकी हितों को आगे बढ़ाने के लिए विदेशी सरकारों, अंतरराष्ट्रीय संगठनों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करती हैं। भारत में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से 1991 के आर्थिक उदारीकरण के बाद तेजी से विकसित हुई है।

भारतीय संघीय व्यवस्था में विदेश नीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों का अधिकार संवैधानिक रूप से केंद्र सरकार के अधीन है। भारतीय संविधान (Indian constitution) के अनुसार विदेश नीति, रक्षा और अंतरराष्ट्रीय समझौते संघ-सूची के अंतर्गत आते हैं। इसके बावजूद वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के प्रभाव ने राज्य सरकारों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय होने के लिए प्रेरित किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आर्थिक विकास और विदेशी निवेश आकर्षित करने की प्रक्रिया में राज्यों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। परिणामस्वरूप राज्य सरकारें अब विदेशी निवेशकों, अंतरराष्ट्रीय कंपनियों और विदेशी सरकारों के साथ आर्थिक और तकनीकी सहयोग स्थापित करने के लिए प्रयास कर रही हैं (Chatterjee & Maitra, 2023)।

भारत में स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) का विकास मुख्य रूप से आर्थिक कूटनीति (Economic diplomacy) के माध्यम से हुआ है। कई राज्य सरकारों ने विदेशी निवेश (Foreign Investment) को आकर्षित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय निवेश सम्मेलनों का आयोजन शुरू किया है। इन सम्मेलनों के माध्यम से राज्य सरकारें अपने राज्य की औद्योगिक संभावनाओं, अवसंरचना (Infrastructure) और निवेश-अनुकूल नीतियों (Investment oriented policy) को वैश्विक निवेशकों के सामने प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार के आयोजन राज्यों के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी आर्थिक पहचान बनाने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गए हैं। उदाहरण के लिए गुजरात सरकार द्वारा आयोजित "Vibrant Gujarat Global Summit" भारत में स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) का एक प्रमुख उदाहरण माना जाता है। इस सम्मेलन के माध्यम से गुजरात सरकार ने विदेशी निवेशकों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आकर्षित करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है (Pant, 2016)।

इसी प्रकार तमिलनाडु सरकार द्वारा आयोजित "Global Investors Meet" भी विदेशी निवेश को आकर्षित करने के उद्देश्य से आयोजित किया जाता है। इन सम्मेलनों में विभिन्न देशों के निवेशक, उद्योगपति और सरकारी प्रतिनिधि भाग लेते हैं, जिससे राज्यों को वैश्विक आर्थिक नेटवर्क से जुड़ने का अवसर मिलता है।इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र, कर्नाटक, तेलंगाना और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों ने भी विदेशी निवेश आकर्षित करने के लिए रणनीतियाँ अपनाई हैं। कई राज्य सरकारों ने अंतरराष्ट्रीय

निवेश रोड-शो (Road-show) आयोजित किए हैं, जिनमें राज्य के प्रतिनिधिमंडल विभिन्न देशों की यात्रा कर निवेशकों के साथ संवाद स्थापित भी करते रहे हैं। इन यात्राओं के दौरान राज्य सरकारें विदेशी कंपनियों के साथ समझौता ज्ञापन (MoU) भी करती हैं, जिससे औद्योगिक विकास और रोजगार सृजन को बढ़ावा मिलता है (Patel, 2025)। हालांकि स्थानिक कूटनीति केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक, शैक्षिक और तकनीकी सहयोग के क्षेत्रों में भी दिखाई देती है। कई राज्य सरकारें विदेशी विश्वविद्यालयों और अनुसंधान संस्थानों के साथ सहयोग स्थापित कर रही हैं, जिससे शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय साझेदारी विकसित हो रही है। इस प्रकार भारत में स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) का विकास वैश्वीकरण (Globalisation) और आर्थिक उदारीकरण से गहराई से जुड़ा हुआ है।

केंद्र-राज्य संबंधों के बदलते आयाम

भारत में आर्थिक उदारीकरण 1990 के दशक में लागू की गई, जिसके उपरांत भारतीय संघवाद के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिले हैं। विशेष रूप से राज्यों की अंतरराष्ट्रीय आर्थिक गतिविधियों और स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) के उदय ने केंद्र-राज्य संबंधों के पारंपरिक सम्बन्धों को एक नए आयाम प्रदान किए हैं। भारतीय संविधान के अनुसार संघीय व्यवस्था में शक्तियों का विभाजन स्पष्ट रूप से निर्धारित किया गया है। विदेश नीति और अंतरराष्ट्रीय समझौते संघ सूची के अंतर्गत आते हैं, जिससे यह सुनिश्चित होता है कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारत की नीति एकीकृत और संगठित रहे। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए विदेश नीति में एकरूपता बनी रहे और विभिन्न राज्यों की नीतियों में असंगति न उत्पन्न हो। किंतु वैश्वीकरण के प्रभाव से यह पारंपरिक व्यवस्था धीरे-धीरे परिवर्तित हो रही है।

आर्थिक उदारीकरण ने भारतीय राजनीति मे एक नए दौर की शुरुआत की है जिसमें गठबंधन की राजनीति, क्षेत्रीय दलों के उदय तथा स्थानिक कूटनीति जैसी प्रवृत्तियों ने भारतीय संघवाद को अधिक सहकारी और बहुस्तरीय बनाया। आर्थिक उदारीकरण के बाद राज्यों की भूमिका आर्थिक विकास और निवेश आकर्षित करने में अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। अब राज्य सरकारें विदेशी निवेशकों को आकर्षित करने के लिए सक्रिय रूप से अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भाग लेती हैं, विदेशी कंपनियों के साथ समझौते करती हैं और अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक नेटवर्क से जुड़ने का प्रयास करती हैं। यह गतिविधियाँ मूलतः आर्थिक प्रकृति की होती हैं, लेकिन इनका प्रभाव अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर भी पड़ता है। परिणामस्वरूप राज्यों की अंतरराष्ट्रीय सक्रियता ने केंद्र-राज्य संबंधों के पारंपरिक स्वरूप को चुनौती दी है और इसे अधिक सहयोगात्मक तथा बहुस्तरीय बना दिया है (Nayyar, 2017)।

वर्ष 1990 के दशक के बाद से केंद्र में एकदलीय प्रभुत्व कमजोर हुआ तथा गठबंधन सरकारों का दौर शुरू हुआ। जिससे क्षेत्रीय दलों की भूमिका पहले से अधिक महत्वपूर्ण हो गई तथा राज्यों की मांगों को राष्ट्रीय नीति निर्माण में अधिक महत्व मिलने लगा। जिसके परिणामस्वरूप केंद्र को राज्यों के साथ सहमति बनाकर चलना पड़ा। इस प्रकार केंद्र-राज्य संबंधों के बदलते आयामों को समझने के लिए सहकारी संघवाद (Cooperative Federalism) और प्रतिस्पर्धी संघवाद (Competitive Federalism) की अवधारणाएँ महत्वपूर्ण हो गई। सहकारी संघवाद का तात्पर्य है कि केंद्र और राज्य सरकारें विकास और नीति निर्माण के विभिन्न क्षेत्रों में मिलकर कार्य करती हैं। वैश्वीकरण के दौर में यह सहयोग और भी आवश्यक हो गया है, क्योंकि अंतरराष्ट्रीय व्यापार, निवेश और तकनीकी सहयोग जैसे विषयों में केंद्र और राज्यों दोनों की भूमिकाएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई राज्य विदेशी निवेश आकर्षित करना चाहता है, तो उसे केंद्र सरकार की नीतियों, व्यापार समझौतों और विदेशी निवेश नियमों के अनुरूप कार्य करना पड़ता है (Yadav, 2022)।

इसके साथ ही प्रतिस्पर्धी संघवाद की प्रवृत्ति भी भारतीय संघवाद में स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। जब विभिन्न राज्य विदेशी निवेश, उद्योगों और आर्थिक अवसरों को आकर्षित करने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं। इस प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप राज्य सरकारें निवेश-अनुकूल नीतियाँ अपनाती हैं, अवसंरचना में सुधार करती हैं और प्रशासनिक प्रक्रियाओं को सरल बनाती हैं। यह प्रतिस्पर्धा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित कर सकती है, किंतु इसके साथ ही राज्यों के बीच असमान विकास की समस्या भी उत्पन्न हो सकती है। इसके अतिरिक्त राज्यों की बढ़ती अंतरराष्ट्रीय सक्रियता ने नीति निर्माण की प्रक्रिया में भी परिवर्तन लाया है। पहले विदेश नीति और अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संबंधों से संबंधित निर्णय मुख्य रूप से केंद्र सरकार द्वारा लिए जाते थे, लेकिन अब कई मामलों में राज्यों के हितों और आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा जाने लगा है। उदाहरण के लिए अंतरराष्ट्रीय व्यापार समझौतों या वैश्विक निवेश नीतियों के निर्माण के समय राज्यों के

आर्थिक हितों को भी ध्यान में रखा जाता है, क्योंकि इन नीतियों का प्रभाव सीधे राज्यों की अर्थव्यवस्था पर पड़ता है (Vikas, 2018)।

हालाँकि केंद्र-राज्य संबंधों में यह परिवर्तन कुछ चुनौतियाँ भी उत्पन्न करता है। यदि राज्यों की अंतरराष्ट्रीय गतिविधियाँ राष्ट्रीय विदेश नीति के साथ समन्वित न हों, तो इससे नीति में असंगति उत्पन्न हो सकती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों की क्षमताओं और संसाधनों में अंतर होने के कारण कुछ राज्य अंतरराष्ट्रीय अवसरों का अधिक लाभ उठा पाते हैं, जबकि अन्य राज्य पीछे रह जाते हैं। इसलिए इस प्रक्रिया में संतुलन और समन्वय बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है। अंततः यह कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण के दौर में केंद्र-राज्य संबंधों का स्वरूप अधिक गतिशील और बहुस्तरीय बन गया है। राज्यों की बढ़ती आर्थिक और अंतरराष्ट्रीय सक्रियता ने भारतीय संघवाद को नई दिशा प्रदान की है। स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) की प्रवृत्ति ने केंद्र और राज्यों के बीच सहयोग, समन्वय और प्रतिस्पर्धा के नए आयामों को जन्म दिया है। यदि इस प्रक्रिया को प्रभावी संस्थागत ढांचे और संतुलित नीति के माध्यम से संचालित किया जाए, तो यह भारतीय संघवाद को अधिक सशक्त और लचीला बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है की, वैश्वीकरण के युग में भारतीय संघवाद ने एक नए स्वरूप को ग्रहण किया है, जहाँ केंद्र और राज्यों के संबंध केवल प्रशासनिक सीमाओं तक सीमित नहीं रहे, बल्कि आर्थिक, राजनीतिक और अंतरराष्ट्रीय आयामों तक विस्तृत हो गए हैं। उदारीकरण और वैश्विक प्रतिस्पर्धा के बाद राज्यों की भूमिका विकास, निवेश आकर्षण तथा अंतरराष्ट्रीय सहयोग में अधिक महत्वपूर्ण हुई है। स्थानिक कूटनीति (Para-diplomacy) ने राज्यों को वैश्विक मंचों पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने का अवसर प्रदान किया, जिससे भारतीय संघवाद अधिक बहुआयामी और गतिशील बना। साथ ही, सहकारी एवं प्रतिस्पर्धी संघवाद की अवधारणाओं ने केंद्र-राज्य संबंधों को नई दिशा दिया है। हालांकि, वित्तीय असमानता, राजनीतिक टकराव तथा अधिकारों के वितरण जैसी चुनौतियाँ अब भी मौजूद हैं। इसके बावजूद, भारतीय संघवाद ने बदलती वैश्विक परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को अनुकूलित करते हुए लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण (Democratic decentralization) और राष्ट्रीय एकता के बीच संतुलन स्थापित करने का सफल प्रयास किया है।

संदर्भ सूची

Borah, H. O. (2014). Evolving dynamics of federalism and foreign policy: Engagement of Indian states in external affairs. *Indian Foreign Affairs Journal*.

Chatterjee, Shibashis & Maitra, Sreya. (2023). How Indian Foreign policy negotiates federalism: A case study of the role of the constituent states. *SMIR*. https://internationalrelations-publishing.org/articles/2-13

Choudhry, S., Khosla, M., & Mehta, P. B. (Eds.). (2016). *The Oxford handbook of the Indian Constitution*. Oxford University Press.

Choudhury, D. (2024). Impact of globalization on Indian federalism. *International Journal of Advance Legal Research*.

Kohli, A. (1989). Politics of economic liberalization in India. *World Development*.

Kumar, M. (2025). Federalism and center-state relations in contemporary India. *IJNRD*.

Maini, T. S. (2024). Para-diplomacy: How state governments complement India's foreign relations. *Global Asia*.

Mankama, S. T. (2021). The constitutional impact of globalization on the federal structure of India and the United States: A comparative study. *International Journal of Law, Management and Humanities*.

Nayyar, D. (2017). Economic liberalisation in India. *Economic and Political Weekly*. https://www.epw.in/25-years-economic-liberalisation

Pant, H. V. (2016). Paradiplomacy and India: Growing role of states in foreign policy. *Observer Research Foundation (ORF)*. https://www.orfonline.org/expert-speak/paradiplomacy-and-india

Pant, H. V., & Tewari, F. (2017, January 12). Paradiplomacy and India: The growing role of states in foreign policy. *South Asia, London School of Economics*. https://blogs.lse.ac.uk/southasia/2017/01/12/paradiplomacy-and-india-the-growing-role-of-states-in-foreign-policy/

Patel, M. (2025). State champions: How Maharashtra, Karnataka, and Tamil Nadu are leading foreign direct investment in India. *Bharat Economic Forum*. https://www.bharateconomicforum.org/post/state-champions-how-maharashtra-karnataka-and-tamil-nadu-are-leading-india-s-fdi-revolution

Rjiesh, R. (2018). Trade liberalisation, technology import and industrial productivity: Evidence from Indian manufacturing firms. *Institute for Studies in Industrial Development (ISID).* https://isid.org.in/wp-content/uploads/2019/05/WP203.pdf

Singh, N., & Srinivasan, T. N. (2002). *Indian federalism, economic reform and globalization*. Stanford University.

Vikas. (2018). Tension in center-state relations. *IJRAR*. https://www.ijrar.org/papers/IJRAR19D3526.pdf

Yadav, P. (2022). Cooperative federalism in India. *Indian Journal of Integrated Research in Law*. https://ijirl.com/wp-content/uploads/2022/11/COOPERATIVE-FEDERALISM-IN-INDIA.pdf

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 06.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

स्वातंत्र्योत्तर भारत की खादी नीति एवं समकालीन युवा समाज: चुनौतियाँ और संभावनाएँ

तरुण सिंह (Tarun Singh)*

tarunhistorydu1705@gmail.com

खादी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विरासत है, जो केवल वस्त्र नहीं बल्कि आत्मनिर्भरता, स्वदेशी चेतना, ग्रामीण विकास और राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। महात्मा गांधी ने इसे स्वतंत्रता संग्राम का प्रभावी साधन मानते हुए आर्थिक स्वराज और सामाजिक समानता से जोड़ा। उनका उद्देश्य ग्रामीण भारत को आत्मनिर्भर बनाना, रोजगार सृजन करना और आर्थिक संरचना को सुदृढ़ करना था। स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने खादी एवं ग्रामोद्योगों को ग्रामीण विकास और रोजगार का माध्यम मानते हुए खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग की स्थापना, पंचवर्षीय योजनाओं में प्रावधान तथा विभिन्न नीतियों के माध्यम से इसे संस्थागत समर्थन प्रदान किया। आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण के बाद बढ़ती प्रतिस्पर्धा ने खादी नीति में नवाचार की आवश्यकता उत्पन्न की। वर्तमान में समाज तीव्र सामाजिक, आर्थिक और तकनीकी परिवर्तन से गुजर रहा है, जिसमें युवा वर्ग प्रमुख भूमिका निभा रहा है। आज का युवा वैश्विक दृष्टिकोण, डिजिटल तकनीक और आधुनिक जीवनशैली से प्रभावित होने के साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण, सतत विकास और सांस्कृतिक पहचान के प्रति भी सजग है। ऐसे में खादी केवल पारंपरिक वस्त्र न रहकर सतत फैशन, नैतिक उपभोग और सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक बन रही है। हालांकि, उच्च लागत, आधुनिक प्रतिस्पर्धा, सीमित विपणन, जागरूकता की कमी और कारीगरों की समस्याएँ इसके सामने प्रमुख चुनौतियाँ हैं। वहीं डिजिटल विस्तार, पर्यावरणीय चेतना, युवा उद्यमिता और 'वोकल फॉर लोकल' जैसी पहलें इसके लिए नई संभावनाएँ भी प्रस्तुत करती हैं। यह शोध आलेख खादी नीति के विकास, उसके सामाजिक-आर्थिक महत्व, युवा समाज से संबंध, चुनौतियों और संभावनाओं का विश्लेषण करता है तथा यह समझने का प्रयास करता है कि बदलते परिवेश में खादी की प्रासंगिकता और युवा भागीदारी से इसके विकास को कैसे और सशक्त बनाया जा सकता है। भारत की स्वतंत्रता के बाद खादी को केवल एक वस्त्र के रूप में नहीं, बल्कि ग्रामीण विकास, रोजगार सृजन और आत्मनिर्भरता के महत्वपूर्ण साधन के रूप में देखा गया। महात्मा गांधी के स्वदेशी और ग्राम स्वराज के विचारों से प्रेरित होकर भारत सरकार ने खादी और ग्रामोद्योगों के विकास के लिए विभिन्न नीतियाँ और योजनाएँ लागू कीं। गांधीजी ने खादी को "ग्राम स्वराज की आत्मा" कहा था और उनका मानना था कि जब तक गाँव आत्मनिर्भर नहीं होंगे, तब तक वास्तविक स्वतंत्रता अधूरी रहेगी।[1] उनके इसी विचार ने स्वतंत्र भारत की खादी नीति की वैचारिक नींव तैयार की। इन प्रयासों का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ाना तथा स्थानीय संसाधनों पर आधारित आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना था। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम 1956 में खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग (KVIC) की स्थापना थी।[2]

[3]

आयोग को खादी और ग्रामोद्योगों के नियोजन, संगठन, विकास तथा प्रोत्साहन की जिम्मेदारी सौंपी गई। डॉ. राजेंद्र प्रसाद जैसे नेताओं ने भी खादी को ग्रामीण भारत की आर्थिक रीढ़ मानते हुए इसके विस्तार पर विशेष बल दिया। उनके अनुसार, खादी केवल उत्पादन का साधन नहीं बल्कि सामाजिक समानता और ग्रामीण सशक्तिकरण का माध्यम है।

---

* **Trainee (SAS), National Archives of India, Janpath, New Delhi-110001**

इसके माध्यम से कारीगरों को प्रशिक्षण, वित्तीय सहायता और विपणन सुविधाएँ उपलब्ध कराई गईं। भारत की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भी खादी क्षेत्र को विशेष महत्व दिया गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इसे ग्रामीण रोजगार और गरीबी उन्मूलन की दिशा में एक महत्वपूर्ण उपकरण माना, जबकि इंदिरा गांधी के कार्यकाल में ग्रामीण उद्योगों के आधुनिकीकरण और संस्थागत सहायता पर विशेष ध्यान दिया गया। सरकार ने खादी को संगठित क्षेत्र के रूप में विकसित करने की दिशा में निरंतर प्रयास किए, जिससे लाखों कारीगरों और बुनकरों को रोजगार मिला और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूती प्राप्त हुई। वर्ष 1991 में आर्थिक उदारीकरण के बाद भारतीय बाजार में प्रतिस्पर्धा बढ़ी और खादी क्षेत्र को नई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इस संदर्भ में डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा प्रारंभ की गई उदारीकरण नीति ने जहाँ भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक बाजार से जोड़ा, वहीं खादी उद्योग के लिए प्रतिस्पर्धा की नई स्थिति भी उत्पन्न की। इस परिस्थिति में सरकार ने खादी की गुणवत्ता सुधारने, आधुनिक डिजाइन अपनाने तथा विपणन व्यवस्था को मजबूत करने पर ध्यान दिया। खादी को पारंपरिक उत्पाद के साथ-साथ आधुनिक जीवनशैली और फैशन से जोड़ने का प्रयास किया गया।

हाल के वर्षों में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने खादी को "नए भारत की पहचान" और "आत्मनिर्भर भारत की शक्ति" के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके 'वोकल फॉर लोकल' और 'मेक इन इंडिया' जैसे अभियानों ने खादी को नई ऊर्जा प्रदान की है। डिजिटल तकनीक, ई-कॉमर्स और आधुनिक विपणन रणनीतियों के माध्यम से खादी को देश और विदेश के बाजारों तक पहुँचाने के प्रयास किए जा रहे हैं।[4] मोदी ने कई अवसरों पर यह भी कहा है कि खादी खरीदना केवल वस्त्र खरीदना नहीं, बल्कि भारत के कारीगरों और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को समर्थन देना है। इस प्रकार, स्वतंत्रता के बाद भारत की खादी नीति ने समय-समय पर बदलती आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को विकसित किया है। महात्मा गांधी के वैचारिक आधार से लेकर आधुनिक नेतृत्व की नीतियों तक, खादी आज भी ग्रामीण विकास, रोजगार सृजन और आत्मनिर्भरता के महत्वपूर्ण साधन के रूप में अपनी भूमिका निभा रही है।[5]

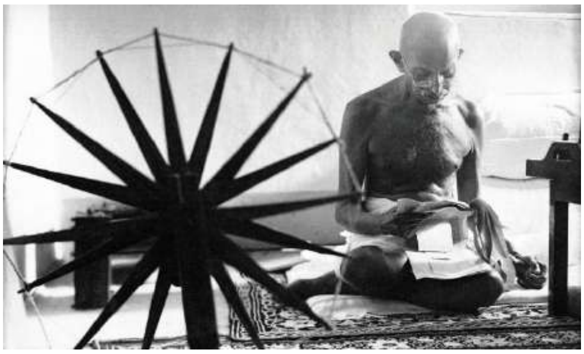

ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने में भी खादी की महत्वपूर्ण भूमिका है। डॉ. बी. आर. अंबेडकर ने सामाजिक न्याय के संदर्भ में यह विचार व्यक्त किया था कि "आर्थिक स्वतंत्रता के बिना सामाजिक स्वतंत्रता अधूरी है,"[6] और खादी जैसे ग्रामीण उद्योग इस आर्थिक स्वतंत्रता को साकार करने में सहायक हैं। खादी का उत्पादन मुख्यतः गांवों और छोटे कस्बों में किया जाता है, जिससे स्थानीय संसाधनों का उपयोग बढ़ता है और ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलता है। इससे न केवल ग्रामीण आय में वृद्धि होती है, बल्कि स्थानीय स्तर पर स्वरोजगार के अवसर भी विकसित होते हैं।

पर्यावरणीय दृष्टि से भी खादी का विशेष महत्व है। इसका उत्पादन अपेक्षाकृत कम ऊर्जा और संसाधनों की सहायता से किया जाता है तथा यह मुख्य रूप से प्राकृतिक रेशों से निर्मित होती है। इसलिए खादी को पर्यावरण-अनुकूल और टिकाऊ उत्पाद माना जाता है। आधुनिक पर्यावरण विशेषज्ञ भी यह स्वीकार करते हैं कि "हस्तनिर्मित और प्राकृतिक उत्पाद सतत विकास की आधारशिला हैं।" वर्तमान समय में जब सतत विकास और हरित अर्थव्यवस्था पर विशेष बल दिया जा रहा है, तब खादी की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ गई है।

इसके अतिरिक्त, खादी भारतीय संस्कृति, स्वदेशी भावना और राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक है। सरदार वल्लभभाई पटेल ने स्वदेशी विचार को मजबूत करते हुए यह कहा था कि "स्वदेशी अपनाना केवल आर्थिक नीति नहीं, बल्कि राष्ट्रीय कर्तव्य है," और खादी इस कर्तव्य का सबसे सशक्त प्रतीक बनकर उभरी। यह भारतीय हस्तशिल्प, पारंपरिक ज्ञान और कारीगरों के

कौशल को संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। खादी का उपयोग केवल आर्थिक गतिविधि तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारत की सांस्कृतिक पहचान और ऐतिहासिक विरासत को भी सशक्त बनाती है।

वर्तमान समय का युवा वर्ग तकनीकी रूप से उन्नत, वैश्विक दृष्टिकोण से युक्त तथा फैशन के प्रति जागरूक है। उसकी जीवनशैली, उपभोग की आदतों और सामाजिक दृष्टिकोण में निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे परिवर्तित सामाजिक परिदृश्य में खादी के प्रति युवाओं की सोच भी बदल रही है। जो खादी कभी केवल स्वतंत्रता आंदोलन, राजनीतिक नेतृत्व या पारंपरिक जीवनशैली का प्रतीक मानी जाती थी, वह आज आधुनिक फैशन और सतत जीवनशैली के महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में उभर रही है।

पूर्व में खादी को मुख्यतः राजनीतिक नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं और बुजुर्गों के परिधान के रूप में देखा जाता था। किंतु वर्तमान समय में युवाओं की मानसिकता में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। आज खादी केवल परंपरा का प्रतीक नहीं रह गई है, बल्कि यह आधुनिकता और भारतीयता के समन्वय का माध्यम बन रही है। युवा वर्ग खादी से निर्मित जैकेट, कुर्ते, शर्ट, ड्रेसेस, साड़ियाँ तथा अन्य परिधानों को अपनी दैनिक और औपचारिक जीवनशैली में अपनाने लगा है। खादी की लोकप्रियता बढ़ाने में भारतीय फैशन उद्योग की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विभिन्न फैशन डिजाइनरों और वस्त्र विशेषज्ञों ने खादी को आधुनिक डिजाइन, रंगों और शैलियों के साथ प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय फैशन मंचों पर खादी आधारित परिधानों की बढ़ती उपस्थिति ने युवाओं के बीच इसकी स्वीकार्यता को बढ़ाया है। परिणामस्वरूप खादी अब केवल परंपरागत वस्त्र न होकर एक फैशन स्टेटमेंट के रूप में भी देखी जाने लगी है।

इस संदर्भ में आधुनिक खादी विचारकों और चिंतकों ने भी खादी को नई दृष्टि से परिभाषित किया है। आधुनिक खादी आंदोलन से जुड़े विचारकों का मानना है कि खादी केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि भविष्य की टिकाऊ अर्थव्यवस्था का आधार है। Anand T. Hingorani जैसे विचारकों ने खादी को "सतत विकास और नैतिक अर्थव्यवस्था का साधन" बताते हुए यह तर्क दिया है कि खादी उत्पादन प्रणाली स्थानीय रोजगार और पर्यावरण संतुलन दोनों को साथ लेकर चलती है। इसी प्रकार समकालीन खादी अध्ययनकर्ताओं का मानना है कि खादी आज "slow fashion" और जिम्मेदार उपभोग (responsible consumption) का प्रतीक बन चुकी है, जो आधुनिक युवाओं की जीवनशैली के अनुरूप है।

डिजिटल युग ने खादी के प्रचार-प्रसार को नई दिशा प्रदान की है। सोशल मीडिया, ऑनलाइन विपणन और ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म के माध्यम से खादी उत्पादों की पहुँच पहले की तुलना में अधिक व्यापक हुई है। युवा वर्ग डिजिटल माध्यमों से खादी से संबंधित जानकारी प्राप्त कर रहा है तथा ऑनलाइन खरीदारी के माध्यम से इन उत्पादों का उपयोग भी बढ़ा रहा है। इससे खादी को नए उपभोक्ता वर्ग तक पहुँचने का अवसर मिला है। इस डिजिटल परिवर्तन को "आधुनिक खादी पुनर्जागरण" के रूप में भी देखा जाता है, जिसमें पारंपरिक हस्तकला को वैश्विक बाजार से जोड़ा जा रहा है।

इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास के प्रति बढ़ती जागरूकता ने भी युवाओं को खादी की ओर आकर्षित किया है। शिक्षित युवा वर्ग ऐसे उत्पादों को प्राथमिकता देने लगा है जो पर्यावरण के अनुकूल हों और टिकाऊ जीवनशैली को बढ़ावा दें। प्राकृतिक रेशों से निर्मित तथा अपेक्षाकृत कम संसाधनों में तैयार होने के कारण खादी को एक पर्यावरण-अनुकूल विकल्प के रूप में देखा जा रहा है। आधुनिक विचारक इसे "ethical fashion" की श्रेणी में रखते हैं, जिसमें उपभोग केवल आवश्यकता नहीं, बल्कि सामाजिक और पर्यावरणीय जिम्मेदारी के साथ जुड़ा होता है।

खादी के क्षेत्र में समय-समय पर अनेक सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं और युवाओं के बीच इसकी स्वीकार्यता भी बढ़ी है, फिर भी इसके विकास के मार्ग में कई महत्वपूर्ण चुनौतियाँ मौजूद हैं। इन चुनौतियों का समाधान किए बिना खादी को व्यापक स्तर पर लोकप्रिय बनाना कठिन हो सकता है। खादी के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती आधुनिक फैशन उद्योग और वैश्विक

ब्रांडों से मिलने वाली प्रतिस्पर्धा है। बाजार में मशीनों से निर्मित वस्त्र बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं, जो अपेक्षाकृत सस्ते और विविध डिजाइनों में होते हैं। ऐसे में अनेक उपभोक्ता, विशेषकर युवा वर्ग, खादी के स्थान पर अन्य विकल्पों को प्राथमिकता दे देते हैं। महात्मा गांधी ने खादी को केवल वस्त्र नहीं बल्कि स्वदेशी आंदोलन का प्रतीक माना था। उनके अनुसार, "खादी आत्मनिर्भरता और स्वदेशी अर्थव्यवस्था का प्रतीक है।"[7]

खादी उत्पादों की अपेक्षाकृत अधिक कीमत भी एक महत्वपूर्ण चुनौती है। चूँकि खादी का उत्पादन मुख्यतः हस्तनिर्मित प्रक्रिया द्वारा किया जाता है, इसलिए इसकी लागत मशीन निर्मित वस्त्रों की तुलना में अधिक होती है। मूल्य के प्रति संवेदनशील युवा उपभोक्ताओं के लिए यह कई बार खरीदारी में बाधा बन जाती है। "खादी उत्पादन में वृद्धि के बावजूद इसकी बाजार हिस्सेदारी अभी भी सीमित है, जिसका प्रमुख कारण मूल्य और ब्रांडिंग से जुड़ी चुनौतियाँ हैं।"[8]

[9]

युवाओं के बीच खादी के सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय महत्व के बारे में पर्याप्त जागरूकता का अभाव भी एक समस्या है। अनेक युवा खादी को केवल एक पारंपरिक वस्त्र के रूप में देखते हैं और इसके पीछे जुड़े रोजगार, ग्रामीण विकास तथा स्वदेशी अर्थव्यवस्था के योगदान से परिचित नहीं होते। अमर्त्य सेन के विकास संबंधी विचारों के अनुसार, "विकास केवल आर्थिक वृद्धि नहीं है, बल्कि यह लोगों की क्षमताओं और अवसरों का विस्तार है।"[10]

यह विचार खादी उद्योग पर भी लागू होता है, क्योंकि यह ग्रामीण कारीगरों की क्षमताओं को बढ़ाने और रोजगार सृजन में सहायक है। इसके अतिरिक्त, कुछ क्षेत्रों में डिजाइन, पैकेजिंग और उत्पाद विविधता की कमी भी देखी जाती है। आधुनिक उपभोक्ताओं की बदलती आवश्यकताओं और फैशन की प्रवृत्तियों के अनुरूप निरंतर नवाचार की आवश्यकता है। यदि खादी उत्पादों में आधुनिकता और उपयोगिता को और अधिक प्रभावी ढंग से शामिल किया जाए, तो युवाओं के बीच इसकी लोकप्रियता बढ़ सकती है। महात्मा गांधी ने भी इस बात पर जोर दिया था कि "खादी को जीवंत बनाए रखने के लिए उसमें निरंतर रचनात्मकता और उपयोगिता आवश्यक है।"[11]

विपणन से संबंधित चुनौतियाँ भी खादी क्षेत्र के विकास को प्रभावित करती हैं। यद्यपि डिजिटल प्लेटफॉर्म और ऑनलाइन बाजार का विस्तार हुआ है, फिर भी कई खादी संस्थान आधुनिक विपणन तकनीकों और ब्रांडिंग रणनीतियों का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। कारीगरों की समस्याएँ भी खादी क्षेत्र के समक्ष एक गंभीर चुनौती हैं। अनेक कारीगरों को पर्याप्त पारिश्रमिक, तकनीकी प्रशिक्षण और सामाजिक सुरक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो पातीं। इसके अतिरिक्त, नई पीढ़ी का पारंपरिक व्यवसायों से दूर होना भी चिंता का विषय है। डॉ. बी. आर. आंबेडकर के सामाजिक दृष्टिकोण के अनुसार, "किसी भी समाज की प्रगति तब तक संभव नहीं है जब तक उसके सबसे कमजोर वर्ग को समान अवसर न मिले।" यह विचार खादी कारीगरों की स्थिति को बेहतर बनाने की आवश्यकता को स्पष्ट करता है।

इस प्रकार, खादी के विकास और युवाओं के बीच उसकी व्यापक स्वीकार्यता के लिए इन चुनौतियों का समाधान आवश्यक है। प्रभावी नीतियों, नवाचार, जागरूकता अभियानों तथा आधुनिक विपणन रणनीतियों के माध्यम से खादी को भविष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप अधिक सशक्त बनाया जा सकता है।

वर्तमान समय में खादी केवल पारंपरिक वस्त्र उद्योग नहीं रह गई है, बल्कि यह आर्थिक विकास, उद्यमिता, रोजगार सृजन और सतत विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण संभावनाओं का क्षेत्र बन गई है। बदलती उपभोक्ता प्रवृत्तियों, पर्यावरणीय जागरूकता और डिजिटल तकनीकों के विस्तार ने इसके लिए नए अवसर उत्पन्न किए हैं, जहाँ युवा वर्ग परंपरा और आधुनिकता के समन्वय के साथ सक्रिय भूमिका निभा रहा है।

खादी आधारित उद्योग युवा उद्यमियों के लिए डिजाइन, ब्रांडिंग, ई-कॉमर्स, विपणन और निर्यात जैसे क्षेत्रों में व्यापक अवसर प्रदान करता है। इससे नए स्टार्टअप्स का विकास हो रहा है। सतत फैशन (Sustainable Fashion) की वैश्विक मांग ने खादी के महत्व को और बढ़ा दिया है, क्योंकि यह पर्यावरण-अनुकूल और प्राकृतिक रेशों पर आधारित है। यह भारत को वैश्विक फैशन उद्योग में विशिष्ट पहचान दिलाने की क्षमता रखती है।

खादी उद्योग रोजगार सृजन का भी महत्वपूर्ण स्रोत है, जिसमें वस्त्र उत्पादन के साथ-साथ फैशन डिजाइनिंग, डिजिटल मीडिया, लॉजिस्टिक्स, अनुसंधान और प्रबंधन जैसे क्षेत्रों में अवसर उपलब्ध हैं। यदि गुणवत्ता, डिजाइन और ब्रांडिंग पर ध्यान दिया जाए, तो खादी अंतरराष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्धी बन सकती है और निर्यात के नए अवसर उत्पन्न कर सकती है।

जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में खादी एक हरित और टिकाऊ विकल्प के रूप में उभर रही है। इसका उत्पादन कम ऊर्जा और संसाधनों में होता है, जिससे पर्यावरण पर कम प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण-संवेदनशील युवा वर्ग इसके उपयोग और प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

निष्कर्ष :

अंततः, खादी भारतीय सांस्कृतिक विरासत और स्वदेशी परंपरा से जुड़ी होने के कारण युवाओं में राष्ट्रीय पहचान और गौरव की भावना को मजबूत करती है तथा आधुनिकता और परंपरा के बीच एक सेतु का कार्य करती है। खादी के विकास और लोकप्रियता हेतु युवाओं को इसके सामाजिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय महत्व से जोड़ना आवश्यक है। इसके लिए शैक्षणिक संस्थानों में जागरूकता कार्यक्रम, कार्यशालाएँ और प्रदर्शनियाँ आयोजित की जानी चाहिए ताकि विद्यार्थियों में खादी के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित हो। फैशन एवं वस्त्र प्रौद्योगिकी संस्थानों को खादी आधारित नवाचार के लिए प्रोत्साहित कर आधुनिक डिजाइन, रंगों और शैलियों के माध्यम से इसे युवाओं की पसंद के अनुरूप बनाया जा सकता है। सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफॉर्म का उपयोग खादी के प्रचार-प्रसार में प्रभावी सिद्ध हो सकता है।

खादी उत्पादों में आधुनिक डिजाइन, आकर्षक पैकेजिंग और विविधता बढ़ाने की आवश्यकता है। युवा उद्यमियों को वित्तीय सहायता, प्रशिक्षण और तकनीकी मार्गदर्शन देकर खादी आधारित उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म पर इसकी मजबूत उपस्थिति से घरेलू और वैश्विक बाजारों तक पहुँच बढ़ेगी। कारीगरों को आधुनिक प्रशिक्षण, उचित पारिश्रमिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने से उत्पादन गुणवत्ता में सुधार होगा। साथ ही राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय फैशन मंचों पर खादी को बढ़ावा देकर इसे आधुनिक और प्रतिष्ठित फैशन उत्पाद के रूप में स्थापित किया जा सकता है।

संदर्भ

[1] Gandhi, M. K. (1962). *The Collected Works of Mahatma Gandhi* (Vol. 44). Publications Division, Government of India.

[2] Khadi and Village Industries Commission (KVIC). (2023). *Annual report 2022–23*. Government of India. . https://www.kviconline.gov.in

[3]https://commons.wikimedia.org/wiki/Category:Charkha?utm_source=chatgpt.com

[4] Government of India, Ministry of Commerce and Industry. (2021). *Aatmanirbhar Bharat and promotion of Khadi and village industries*.

[5]https://www.archedu.org/blog/khadi-future-of-sustainable-fashion/

[6] Ambedkar, B. R. (1950). *Speech in Constituent Assembly debates*. Government of India Records.

[7] Gandhi, M. K. *The Collected Works of Mahatma Gandhi*, Publications Division, Government of India.

[8] Khadi and Village Industries Commission (KVIC) Report, 2023.

[9] https://www.instagram.com/p/DXWA_WdjbLQ/

[10] Sen, Amartya. *Development as Freedom*, Oxford University Press, 1999.

[11] Ministry of Micro, Small and Medium Enterprises. (2023). *Annual report 2022–23*. Government of India.

अन्य संदर्भ ग्रंथ

Ambedkar, B. R. (2014). *Annihilation of caste* (S. Anand, Ed.). Navayana Publishing.

Gandhi, M. K. (1994). *The collected works of Mahatma Gandhi* (Vols. 1–98). Publications Division, Government of India.

Sen, A. (1999). *Development as freedom*. Oxford University Press.

Ministry of Micro, Small and Medium Enterprises. (2023). *Annual report 2022–23*. Government of India. https://msme.gov.in

Government of India. (2019). *Khadi and village industries policy framework*. Ministry of MSME.

Nehru, J. (1985). *Selected works of Jawaharlal Nehru*. Jawaharlal Nehru Memorial Fund.

Modi, N. (2015–2025). *Mann ki Baat (radio addresses)*. All India Radio / Press Information Bureau. https://pib.gov.in

Datt, G., & Sundharam, K. P. M. (2020). *Indian economy*. S. Chand Publishing.

Kumar, R. (2018). *Rural development in India*. New Century Publications.

Hingorani, A. T. (2017). *Sustainable fashion and ethical textiles*. Journal of Fashion Studies, 5(2), 45–60.

Tripathi, R. S. (2019). *Handloom and khadi industry in India: Challenges and prospects*. Indian Journal of Economics and Development, 15(3), 112–120.

Bhatt, V. (2021). *Digital marketing and rural industries in India*. International Journal of Business Studies, 8(1), 33–41.

Ministry of Textiles, Government of India. (2022). *Textile sector report*. https://texmin.nic.in

United Nations Environment Programme. (2020). *Sustainable fashion and textile industry report*. https://www.unep.org

Received: 07.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

डॉ. भीमराव अम्बेडकर : वंचित समाज के महानायक

सुशील कुमार*

susheel8894282347@gmail.com

शोध सारांश

डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा एक नई, जीवंत सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रासंगिक है, जो किसी व्यक्ति की गरिमा को बरकरार रखे, और उसे अज्ञानता, शर्म और अपमान के बंधनों से मुक्त करे। राष्ट्र-निर्माण की उनकी दृष्टि स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित है और उन्होंने वेदों की अचूकता को त्याग दिया और वर्ण व्यवस्था और श्रेणीबद्ध असमानता को खारिज कर दिया। मानवतावाद और तर्कसंगतता के प्रति उनका लगाव और गरीबों और दलितों के प्रति उनका लगाव इस बात का संकेत देता है कि अम्बेडकर एक महान राष्ट्र निर्माता थे। अपनी विभिन्न भूमिकाओं, कार्यों और अपने विपुल लेखन के माध्यम से उन्होंने सामाजिक परिवर्तन का नेतृत्व किया।

डॉ. अंबेडकर भारतीय इतिहास के उन नायकों में शुमार हैं, जिनके विचारों, दर्शन और कर्म का एक बड़ी आबादी पर व्यापक और त्वरित प्रभाव पड़ा। डॉ. अंबेडकर ने वंचित समुदाय के जीवन-संसार को बदल कर रख दिया। 'शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो' जैसे मंत्र ने हाशिए के समाज में एक नई चेतना का संचार किया। देश-दुनियाँ में डॉ. अंबेडकर के कार्यक्रमों को अलग-अलग चलाने वाले संगठन और संस्थाएं तो हैं लेकिन उनके समग्र दर्शन पर चलने वाले और विचारधारा का एक ढांचा तैयार करने वाले राजनीतिक संघर्ष का आकार लेना अभी बाकी है।

बीज शब्द :-

सामाजिक कुरीति,समानता, डॉ. भीमराव अम्बेडकर, सामाजिक विचार,सामाजिक चेतना, छुआछूत, भेदभाव।

शोध विस्तार

बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय सामाजिक इतिहास में एक बड़े मानवतावादी चिंतक और आन्दोलनकर्मी के रूप में विख्यात हैं। देश भर में वह दलितों के मुक्तिदाता के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने दलित, वंचित एवं महिलाओं के मानवीय अधिकारों के साथ समतामूलक समाज की स्थापना के लिए संघर्ष किया। उनके व्यक्तित्व में एक अर्थशास्त्री, राजनेता, दार्शनिक, शिक्षाविद्, कानूनविद समाहित है। भारतीय संविधान के वह निर्माता हैं। संविधान के द्वारा दलित-वंचित वर्गों के हितों के संरक्षण हेतु उन्होंने ऐतिहासिक कार्य किया। उन्होंने भारतीय समाज में शोषण की आधार-भूमि वर्ण-जाति-व्यवस्था को समूल नष्ट करने के लिए कठोर श्रम और संघर्ष किया।

बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर लोकतान्त्रिक आन्दोलनकर्मी के रूप में जाने जाते हैं। दलितों की मुक्ति के पर्याय के रूप में देश के कोने-कोने में मौजूद हैं। उन्होंने भारतीय समाज में दलित, वंचित एवं महिलाओं के लिए एक वैकल्पिक समाज की स्थापना का बीजारोपण किया। उनके व्यक्तित्व में एक अर्थशास्त्री, राजनेता, दार्शनिक, शिक्षाविद् , कानूनविद् है। उनमें संविधान निर्माता के साथ-साथ सक्रिय आन्दोलनकर्मी के भी गुण नजर आते हैं। उन्होंने भारतीय समाज में जड़ें जमाए शोषणकारी जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

* **शोधार्थी, अंत:विषय अध्ययन विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समर हिल, शिमला (हि.प्र.)**

बाबा साहेब का जन्म 14 अप्रैल 1891 को मध्य प्रदेश के मऊ में हुआ था। इसके बाद पिताजी को नौकरी के कारण इन्हें वहां से महाराष्ट्र में जाना पड़ा। बचपन से ही बाबा साहेब ने छुआछूत का क्रूर दंश झेला था। यही कारण था कि वे जाति व्यवस्था के विरोधी हो गए। इसलिए उनका मानना था कि जाति व्यवस्था इंसानियत के लिए कलंक है। यह एक बेहतर समाज निर्माण के लिए बाधक है। यह समतामूलक समाज के निर्माण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधक है। यह एक ऐसी चार मंजिली इमारत है जिसमें सीढ़ियां नहीं हैं। जाति व्यवस्था के बारे में उनका मानना था- आप किसी भी दिशा में मुड़ें, जाति का राक्षस रास्ता रोके खड़ा मिलेगा। उसे मारे बिना न तो आर्थिक विकास संभव है, न सामाजिक विकास और न ही मानसिक विकास। वे दलित, स्त्री एवं वंचित समुदाय के लिए शिक्षा को अनिवार्य मानते थे। इसलिए उन्होंने एक बार कहा भी था- 'शिक्षा शेरनी का दूध है।'

ज्ञान और दलित मुक्ति का स्वप्न: बाबा साहेब अंबेडकर दलित स्त्री एवं वंचित समुदाय में ज्ञान की ज्योति जलाना चाहते थे। वे मानते थे कि शिक्षा से ज्ञान आता है, जागरूकता आती है और उसी से शोषण और छुआछूत से मुक्ति मिल सकती हैं। इसलिए उन्होंने नारा दिया- 'शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो।' बाबा साहेब ने अपने तीन गुरू माने थे-1. गौतम बुद्ध 2. कबीर 3. महात्मा ज्योतिबा फुले। इनको गुरु मानने की कसौटी भी स्पष्ट है- गौतम बुद्ध ने पहली बार दलित, वंचित और स्त्रियों के लिए शिक्षा की शुरूआत की। ब्राह्मणों के शैक्षणिक संस्थान गुरुकुल पद्धति के समानान्तर बौद्ध विहार (शिक्षण संस्थान) की नींव डाली। कबीर ने ज्ञान पर अधिक बल दिया और समाज में फैले अंधविश्वास और पाखंडों के प्रतिकार के द्वारा ब्राह्मणवाद का तीव्र विरोध किया। महात्मा ज्योतिबा फुले ने भी दलितों और महिलाओं की शिक्षा पर बल दिया और महिलाओं के लिए अलग से स्कूल खोले। बुद्ध, कबीर, फुले तीनों ने ही अपने-अपने समय में जाति-व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार किया। जाति-व्यवस्था के गढ़ों-मठों के खिलाफ मुहिम चलाई और ज्ञान का जवाब ज्ञान से ही देने के लिए शैक्षणिक संस्थानों को दलित वंचित महिलाओं तक उपलब्ध कराया। इसलिए बाबा साहेब ने इन्हें अपना अग्रणी माना।

गांव दलितों के शोषण के कारखाने:

बाबा साहेब का मानना था कि भारत के गाँव दलितों के शोषण के कारखाने हैं। गांवों में दलितों के साथ सबसे ज्यादा भेदभाव, अन्याय और दमन होता है। इसीलिए उन्होंने दलितों को गांव से बाहर निकल कर शहरों की तरफ जाने की सलाह दी। उन्होंने देखा था कि गांव में दलित ही मरे जानवर उठाते हैं, मल-मूत्र उठाते हैं। उन्हें मन्दिरों में जाने नहीं दिया जाता, सार्वजनिक तालाबों और कुँओं से पानी नहीं लेने दिया जाता। स्कूलों में मास्टर पढ़ाई के बजाय दलित बच्चों से सफाई का काम कराते हैं। जबकि शहरों में ऐसा नहीं होता है। शहरों में कोई भी जबरदस्ती पुश्तैनी (पारंपरिक) काम धंधों से नहीं बंधा होता। वह अन्य कार्य कर सकता है। इसलिए उन्होंने मरे जानवर उठाना, मलमूत्र ढोना इत्यादि पुश्तैनी काम धंधो को छोड़ने की बात की।

डॉ. अंबेडकर के महत्वपूर्ण कार्य:

1923 में उन्होंने बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना की, जिसका मुख्य उद्देश्य था वंचित समुदाय के लिए शिक्षा और आर्थिक सुधार। इसके लिए उन्होंने वंचित समुदाय से विभिन्न संस्थानों को अपने हाथों में लेने पर जोर दिया। उन्होंने लोगों को अपने मानवीय अधिकारों के प्रति जागरूक करने के लिए समय-समय पर 'मूकनायक', 'जनता' और 'बहिष्कृत भारत' जैसे समाचार पत्रों का सम्पादन-प्रकाशन किया।

1927-28 में उन्होंने सीधे दलितों के लिए आन्दोलन के नेतृत्व की शुरूआत की, जिसे महाड़ आन्दोलन या महाड़ सत्याग्रह के नाम से जाना जाता है। महाड़ में चवदार तालाब पर दलितों को पानी लेने की मनाही थी। सरकार द्वारा एक कानून बनाकर उस तालाब से दलितों के पानी लेने के अधिकार को संरक्षित किया गया था। किन्तु कानून बनाने के बावजूद उच्च जाति के लोग चावदार तालाब से दलितों को पानी नहीं लेने देते थे। बाबा साहब अंबेडकर ने उन्हें यह अधिकार दिलाया। इसी समय में बाबा साहेब ने अन्य सार्वजनिक स्थानों में दलितों के प्रवेश के लिए भी लड़ाई लड़ी।

उन्होंने आर्थिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आज का रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया भी उन्हीं के विचारों पर आधारित है।

महिलाओं के विकास पर बलः

बाबा साहेब ने महिलाओं के विकास पर विशेष जोर दिया। उन्होंने कहा कि यदि किसी समाज की प्रगति देखनी हो तो यह देखो की उस समाज की महिलाओं ने कितनी प्रगति की है। वे समाज के विकास का पैमाना महिलाओं के विकास को मानते थे। उनका मानना था कि यदि एक पुरुष शिक्षित होता है तो सिर्फ एक व्यक्ति शिक्षित होता है किन्तु यदि एक महिला शिक्षित होती है तो पूरा परिवार शिक्षित होता है। उन्होंने महिलाओं के अधिकारों के लिए हिंदू कोड बिल को संसद में पास कराने का प्रयास किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने उस समय महिला सशक्तिकरण की आवाज उठाई, जब महिलाओं के अधिकारों की बात करने वाला कोई नहीं था।

इसी प्रकार उन्होंने दलितों के उद्धार की ही नहीं बल्कि दलितों की आजादी, समानता, न्याय और सम्मान के अधिकारों की बात की। यही वजह है कि आज भी दलितों के आत्मसम्मान का संघर्ष सीधे उनसे प्रेरणा पाता है। संक्षेप में कहा जाए तो बाबा साहब अंबेडकर ही हैं जिन्होंने भारत के सबसे ज्यादा दमित और अन्याय सहने वाले दलित एवं स्त्री समुदाय के सम्मान की रक्षा की और उसके लिए आजीवन संघर्ष किया।

डॉ. भीमराव अम्बेडकरद्वारा किया गया प्रथम कार्य(आन्दोलन) समाज सुधार से सम्बंधित था। उन्होंने 1920 में एक सामाजिक संगठन बनाने के लिए सभा का आयोजन किया। जिसकी अध्यक्षता स्वयं बाबा साहब डॉ.भीमराव अम्बेडकर जी ने की। इन्होंने हजारों अछुतों की उपस्थिति में अत्यंज्य संघष् नामक सामाजिक संगठन की स्थापना की। इस संगठन को चन्दा इकट्ठा करके बनाया गया था, जो असहाय बच्चों की सहायता करता था।[1]

डॉ. के अनुसार, ‘‘समाज सेवा राजनितिक से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है’’ क्योंकि समाज सेवा से व्यक्ति का चरित्र बनता है।[2]

समाजवाद के विषय में अम्बेडकर जी ने कहा था कि मानव समाज में व्याप्त दुख है, जिसे दूर किया जाना चाहिए ताकि लोग सुख से रह सकें। समाज और समाजवाद के संबंध में बातचीत करने से पहले लोगों को अज्ञान तथा निर्धनता के प्रति सद्भाव अपने दिलों-दिमाग में पैदा करना चाहिए। गरीबी एक सामाजिक बुराई है। समाजवादी प्रक्रिया केवल उसी समय सम्भव है, जब प्रशासक उसकी सफलता के लिए कार्य करें। राजनीतिक शक्ति ऐसे लोगों के हाथों में नहीं होनी चाहिए जो समाजवादी आदर्शों के खिलाफ हो। बाबा साहब ऐसे समाज के पक्षधर थे जिसमें अधिक से अधिक उत्पादन हो और धन पूंजीपतियों के हाथ में न जाकर धन का समान वितरण हो अर्थात पूंजीपति वर्ग ऐसे समाज के पक्ष में नहीं है। इस प्रकार बाबा साहब अच्छे समाज के पक्षधर थे।[3]

कीर धंनजय (1962)[4] ने अपनी पुस्तक ‘‘डॉ. अम्बेडकर लाईफ एंड मिशन’’ में लेखक ने अम्बेडकर के जीवन व कार्यों का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि किस तरह से अम्बेडकर ने एक अस्पृश्य समझी जाने वाली जाति में जन्म लेकर उच्च जातियों के द्वारा किए गए अत्याचारों को सहन किया तथा उनके विरूद्ध आवाज उठाकर दलितों में एकजुटता का संचार किया। इन्होंने दलितों के अधिकारों को प्राप्त करने में दिन-रात एक कर दी। अंत में उन अधिकारों को प्राप्त करने में सफलता भी प्राप्त की।

मेहता चेतन(1991)[6] द्वारा प्रकाशित पुस्तक ‘‘युग द्रष्टा डॉ. भीमराव अम्बेडकर’’ में लेखक ने बाबा साहब के जन्म, शिक्षा, दलितों के मसीहा, विधि शास्त्री, संविधान निर्माता, उनका धर्म परिवर्तन, उनकी अन्तिम यात्रा व भारत रत्न प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

लिमये मधु(1997)[7] ने अपनी पुस्तक ‘‘बाबा साहब अम्बेडकर एक चिन्तन’’ में बाबा साहब को एक सामाजिक क्रान्तिकारी के रूप में दर्शाया है। इसमें बताया गया है कि समाज में उन्होंने दलितों के उद्धार व अन्य प्रकार की सामाजिक बुराईयों को खत्म करने के लिए अथक प्रयास किये जिसमें काफी हद तक सफल रहे। इस पुस्तक में बाबा साहब एक जाति संस्था उन्मूलक बाबा साहब व गांधी जी के विचार-विमर्श के साथ-साथ उनकी भारत पाक सम्बन्धी भूमिका, उनके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धर्म परिवर्तन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन किया गया है।

रतु नानक चन्द (2005)[8] ने अपनी पुस्तक “बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर संस्मरण और स्मृतिया” में लेखक द्वारा बाबा साहब के बचपन, शिक्षा उनके द्वारा किए गए सन्देशों, आन्दोलनों बाबा साहब अम्बेडकर के साथ अपने अनुभव एंव स्मृतियों का वर्णन किया गया है।

बौद्व शीलप्रिय (2008)[9] ने अपनी पुस्तक “पूना पैक्ट क्यों,क्या और किसके लिए” में लेखक ने बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा दलितों की मांग, पूना पैक्ट, गांधी जी द्वारा आमरण अनशन व उसके बाद की स्थिति का बडा ही सुन्दर विवरण किया गया है।

वे हिन्दू समाज में छुआछूत, जातीय भेदभाव से अत्यन्त दुखी थे और किसी भी कीमत पर इस भेदभाव को समाज से मिटाना चाहते थे। उन्होंने दलित वर्गों के लोगों की स्थिति में सुधार लाने हेतु जाति व्यवस्था पर भी प्रहार किया। अछूत समझे जाने वाले लोगों को उन्होंने संगठित किया तथा उन्हें समानता का अधिकार दिलाने हेतु आन्दोलनों का नेतृत्व किया। सामाजिक क्षेत्र में डॉ. भीमराव के मतों तथा उनके कृत्यों का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।[10]

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद अस्पृश्यता निवारण आन्दोलनों के कर्मक्षेत्र में कूद पडे, जो उनके जीवन का एकमात्र ध्येय था। बाबा साहब महाराष्ट्र के रानाडे, भंडारकर, तिलक आदि की परंपरा के विद्वान थे। अस्पृश्य समाज में उनका नाम सर्वोच्च था। उस समय के समाज-सुधारकों में भी बाबा साहब का नाम शीर्ष के गिने-चुने व्यक्तियों में था। अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन हिन्दू समाज में महान क्रान्तिकारी आन्दोलन था। इस विचार को सर्वप्रथम महान समाज सुधारक ज्योतिबा फुले ने समझा और इसकी प्रगति के लिए उन्होंने यथाशक्तिकार्य किया। डॉ. अम्बेडकर ज्योतिबा फुले की परंपरा के क्रान्तिकारी समाज सुधारक थे। उनका अछूतोद्वार आन्दोलन में आगमन समाज क्रान्ति का प्रतीक था।[11]

21 मार्च ,1920 ई0 को डॉ अम्बेडकर ने कोल्हापुर राज्य के मानगांव में अछुतों के एक सम्मेलन की अध्यक्षता की। सम्मेलन में उपस्थित कोल्हापुर के साहू जी महाराज ने अछुतों को संबोधित करते हुए कहा था, “अब तुम्हारा नेतृत्व डॉ अम्बेडकर कर रहे है, जो तुम्हारे ही समाज से है। मई 1920 के अखिल भारतीय अछुत सम्मेलन में डॉ. अम्बेडकर ने जोरदार शब्दों में कहा था, “मैं मानता हूँ कि स्वर्ण हिन्दू अछुतों की भलाई के लिए कार्य कर रहे है, परन्तु उनकी व्यथा-कथा को वे नहीं जानते, उनका दुख-दर्द एक अछुत ही समझ सकता है, जो स्वयं उनके बीच जनमा हो।[12] जुलाई 1924 में बाबा साहब ने एक सामाजिक संगठन “बहिष्कृत हितकारिणी सभा” बनाई। इस सभा का उद्देश्य अछुत भाईयों को यह सन्देश देना था कि उन्हें उन्होंने के लिए अपने पैरों पर स्वयं खडा होना चाहिए। सन् 1925 में डॉ. अम्बेडकर ने रत्नागिरी जिले के मालाबार गांव में “बम्बई अस्पृश्यता परिषद्” की स्थापना की। इस परिषद् का उद्देश्य अछुतों में शिक्षा प्रसार, छात्रावास, वाचनालय खोलना, औधोगिक एंव कृषि विद्यालय, सामाजिक सुरक्षा और अस्पृश्यता उन्मूलन आन्दोलन को तेज करना था। अछुतों के उन्होंने के लिए बाबा साहब ने “बहिष्कृत भारत” नामक समाचार पत्र का प्रकाशन भी किया।[13]

डॉ अम्बेडकर ने अपने विचारों को व्यवहारिक रूप दिया। उन्होंने सन् 1927 में महाड सत्याग्रह के दौरान अछुत स्त्री-पुरुष को अपने अधिकारों की पूर्ति के लिए चैवदार तालाब के प्रयोग के लिए उत्साहित किया। स्वंय सत्याग्रही बन सर्वप्रथम तालाब से जल ग्रहण किया जहाँ सदियों से अछूतों पर प्रतिबन्ध लगा था। इसी तरह 1930 में उन्होंने नासिक में मन्दिर प्रवेश अभियान छेड़कर कालाराम मन्दिर में पूजा अर्चना करने के अधिकार को प्राप्त किया। इस अछूतोद्वार अभियान ने उस समय गम्भीर रूप धारण किया, जब असमानता, दमन और अन्याय के विचारों पर आधारित मनुस्मृति को 25 दिसम्बर, 1927 के दिन बाबा साहब ने जलाकर नये विधान की मांग की ताकि बहुसंख्यक लोगों का जीवन अनुसूचित किया जा सके।[14] बाबा साहब ने गोलमेल सम्मेलनों में भी उपेक्षित वर्ग के उद्धार को पक्ष दृढ़तापूर्वक रखा और उनकी मांगों के लिए अडिग रहे। आखिर ‘पूना समझौते’ के बाद अछूतों की समस्या को प्रमुखता मिल गई। अस्पृश्यता निवारण के लिए कांग्रेस का आन्दोलन व्यापकर रूप लेने लगा। इसी बीच गाँधी जी ने सितम्बर 1932 में ‘आखिल भारतीय छुआछूत निवारण संघ’ की स्थापना की। डॉ. अंबेडकर ने सुझाव दिया कि इस संघ की समितियों में अछूतों का बहुमत होना चाहिए जिनका उद्देश्य परिगणित जातियों के ही आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक उत्थान तक सीमित रहे।[15]

अम्बेडकर ने अगस्त, 1946 के प्रथम विधि मन्त्री पद की शपथ ली। 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ। कांग्रेस ने बाबा साहब के गुणों का सम्मान किया। 29 अगस्त, 1947 को संविधान प्रारूप समिति का गठन किया गया, जिसके अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर नियुक्त किए गए। अब अछूतों को समानता का पूरा हक दिलाने का अधिकार मानो कांग्रेस ने उन्हें सौंपा। जिस समानता के लिए बाबा साहब लड़ाई लड़ रहे थे उस कार्य को पूरा करने व अन्याय और समानता को दूर करने आ अवसर उन्हें मिला।[16] ''अस्पृश्यता विषयक अपराध'' विधेयक पर 6 सितम्बर, 1954 को राज्य सभा में बोलते हुए बाबा साहब ने कहा, ''अस्पृश्यता के प्रति अपराध करने वालों को सजा दिए बिना उन्मूलन नहीं होगा। सामाजिक बहिष्कार करने वालो को सजा देनी चाहिए क्योंकि वे अपनी अच्छी स्थिति के कारण देहातों में अस्पृश्यों का बहिष्कार करते हैं और अस्पृश्यों को संविधान से प्राप्त अधिकारों के उपयोग में द्वेष भावना कर सकते हैं।[17]

इसी कारण संविधान निर्माताओं ने 29 अप्रैल, 1947 को छुआछूत अपराध घोषित किया। संविधान समिति ने सारे विश्व को गरजकर बताया कि अस्पृश्यता की रूढ़ि बंद हो गई है। किसी भी रूप में वह अब शेष नहीं रहेगी। अस्पृश्यता के कारण व्यक्ति पर दुर्बलता लादी गई तो वह गुनाह माना जाएगा।[18]

अस्पृश्यता और छुआछूत जैसी बुरी कुरीति की तरह ही बाबा साहब जाति प्रथा व वर्ण व्यवस्था के भी घोर विरोधी थे। डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म में व्याप्त चार्तुवर्ण में अछुतों की स्थिति सबसे निचे होने के कारण काफी दुखी थे। गाँधी जी अछूतों के लिए कार्य करते हुए उनकी दयनीय स्थिति में कोई सुधार ना ला सके। इसका मुख्य दोष यही था कि वे हिन्दू धर्म में प्रचलित चातुर्वर्ण में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। इसका सबसे बड़ा सबूत गाँधी जी ने अछूतों को हिन्दू समाज का अभिन्न अंग मानकर इनको 'हरिजन' नाम दिया।[19]

डॉ. अम्बेडकर ने गीता व वैदिक वर्ण व्यवस्था को भी गुणकर्मानुसार माना है। गांधी जी के विचारानुसार ''बेटा बाप का ही धन्धा करें'' के विरूद्ध बाबा साहब ने कहा कि यह पैतृक व्यवस्था अनिश्चित रूप से जाति भेद का ही समर्थन करती है।[20] डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने हिन्दू कोड बिल के द्वारा भी सभी हिन्दुओं को एक ही कानून से शासित होने व अन्तर्जातीय विवाह व भोज की वकालत की थी ताकि भेदभाव को पूर्णतः समाप्त करने में एक नए समृद्ध समाज का निर्माण किया जा सके। बाबा साहब ने इसी भावना से सन् 1948 में एक ब्राहमण महिला 'सरिता कबीर' से शादी कर सामाजिक शिक्षा का प्रसार किया था। लेकिन वे जीवन के अन्त तक जाति-पाति के भेदभाव को पूर्णतः समाप्त करने में सफलता हासिल न कर सके। आज भी यह नासूर विकास की गति पर कलंक बनकर देश की एकता व अखण्डता की जड़ों को खोखला कर रहा है।[21]

भारतीय समाज में नारी, शिक्षा, समता और स्वतन्त्रता के प्रयास काफी समय से हो रहे थे। विभिन्न समाज सुधारकों द्वारा छेड़े गए क्रान्तिकारी आन्दोलनों को आगे बढ़ाने और उसे मूर्त रूप देने के लिए डॉ. अम्बेडकर ने सदियों से चले आ रहे नारी उत्पीड़न और शोषण को समाप्त करने तथा नारी को अन्धेरे से निकालकर प्रकाश की तरफ बढ़ाने का जो रास्ता दिखाया उसके लिए बाबा साहब अंबेडकर प्रशंसा के पात्र है।[22] बाबा साहब ने सन् 1942 में अखिल भारतीय दलित समाज का पहला अधिवेशन आयोजित करना तय किया। अधिवेशन में जनसभा को सम्बोधित करते हुए बाबा साहब ने बताया कि उन्होंने अछूतों के स्वतंत्र दल को मान्यता दिलवाने के लिए गोलमेल परिषद् से लेकर लम्बे समय तक कड़ी मेहनत करनी पड़ी। आयोजित अधिवेशन की तरफ से बाबा साहब को अभिनन्दन पत्र प्रदान किया गया। बाबा साहब ने इसी अधिवेशन में 'शिक्षित होइए', आन्दोलन कीजिए और 'संगठित होइए' का सन्देश दिया। उसी मण्डल में दलित वर्गीय महिला परिषद् भी आयोजित हुई। लगभग 75000 लोगों की भीड़ में 25000 महिलायें उपस्थित थी। डॉ. अम्बेडकर ने महिलाओं को भी सन्देश दिया कि मैं स्त्री समाज की उन्नति के आधार पर ही समाज की नापतोल करता हूं। महिलाओं को भी संगठित होना चाहिए, बहनों साफ सुथरी रहिए, बुरी बातों से दूर रहिए, लड़कियों को शिक्षा दीजिए। उनके मन में महत्वाकांक्षा पैदा होनी चाहिए। शादी जल्दी करने की कोशिश न करें।[23]

कानून मंत्री बनने पर डॉ. अम्बेडकर ने केवल दलित वर्ग के लिए नहीं बल्कि सभी वर्गों के उत्थान हेतु हिन्दू कोड बिल तैयार करवाया। हिन्दू कोड बिल के द्वारा पहली बार महिलाओं को पिताजी की जायदात में हिस्सा दिलाने की बात कही गई। हिन्दू कोड बिल के मुख्य बिन्दु निम्न हैः-

1. महिला का सम्पति में पूर्ण अधिकार।
2. पुत्रों का भी सम्पति में हिस्सा।
3. महिलाओं के लिए भी तलाक का प्रावधान।
4. केवल जन्म न कि योग्यता के आधार पर मिले अधिकारों की सम्पति।[24]

बाबा साहब की लगन व पहल के परिणामस्वरूप ही फरवरी,1994 में कोयला खदानों में कार्य करने वाली महिलाएं, मजदूर जो पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करती है, उन्हें पुरुष के समान पगार पाने का अधिकार मिल गया। मजदूरों की कमी को देखते हुए और इस समस्या के समाधान के लिए महिला श्रमिकों को खदान में कार्य करने पर लगा प्रतिबन्ध भी हट गया।[25]

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी मेहनत और संविधान द्वारा शिक्षा के द्वार सभी भारतीयों के लिए खुलवाए। उन्हीं की मेहनत से भारतीय संविधान में सभी बच्चों को चौदह वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क शिक्षा देने का उपबंध किया गया। इसके साथ ही यह उपबन्ध भी किया गया कि राज्य निधि से पूर्णतः किसी भी शिक्षा संस्थान में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।[26]

डॉ. अम्बेडकर भारत में फैली हिन्दू धर्मान्धिता से भी काफी परेशान थे। वे हिन्दू धर्म को ही समाज में फैली सभी कुरीतियों की जड़ मानते थे। बाबा साहब का मानना था कि हिन्दू धर्म ग्रन्थों ने ही जाति प्रथा, अशिक्षा, अस्पृश्यता और वर्ण-व्यवस्था को बढ़ावा दिया है। बाबा साहब का विचार था कि जब इन धर्मशास्त्रों में परिवर्तन हो जाएगा तब समाज में फैले विभिन्न धार्मिक मूल्यों और नियमों में परिवर्तन होना सम्भव है अन्यथा सब ज्यों का त्यों बना रहेगा।[27]

बाबा साहब का विश्वास था कि हिन्दू नेता व जनता किसी भी प्रकार से अछूतों का उद्धार नहीं चाहते अतः ऐसी स्थिति में हिंदु धर्म से चिपके रहना बेकार है। इसलिए बाबा साहब ने 1935 के येवला सम्मेलन में हिन्दुओं के अमानवीय अत्याचारों के विरूद्ध हिन्दू धर्म छोड़ने की घोषणा कर दी।[28]

डॉ. अम्बेडकर के धर्मान्तरण की घोषणा के बाद कांग्रेस के सभी नेताओं व गांधी जी ने घोर विरोध किया। गांधी जी ने धर्म को व्यक्तित्व के लिए आवश्यक बताकर ऐसा न करने का प्रस्ताव रखा। डॉ. अम्बेडकर ने प्रस्ताव पढ़कर कहा कि हमने अभी यह तय नहीं किया कि हम किस धर्म को ग्रहण करेंगे। लेकिन हिन्दू धर्म हमारी तरक्की में साधक नहीं बाधक है। बाबा साहब के विचार से अचंभित एक शिष्ट मण्डल बाबा साहब से मिलने गया। उन्होंने शिष्ट मण्डल से विचार-विमर्श कर दृढ़ता पूर्वक कहा--अस्पृश्यों के लिए धर्म परिवर्तन के सिवा दूसरा रास्ता नहीं है। डॉ. अम्बेडकर ने साथ ही लोगों को यह भी भरोसा दिलाया कि धर्म परिवर्तन से देश को कोई नुकसान नहीं होगा।[29] बाबा साहब की धर्म परिवर्तन की प्रतिज्ञा एक प्रकार की भविष्यवाणी सिद्ध हुई, क्योंकि अपने परिनिर्वाण से लगभग सात सप्ताह पहले 14 अक्तूबर, 1956 को उन्होंने नागपुर में बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। बाबा साहब जीवन में शुरू से ही हिन्दू धर्म के विमुख थे। उनकी धर्म-परिवर्तन की कट्टरता को हम उन्हीं के शब्दों से महसूस कर सकते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि ‘‘मैं हिन्दू धर्म में पैदा हो गया हूं, यह मेरे बस की बात नहीं थी, किन्तु मैं किन्तु मैं हिन्दू धर्म में रहकर नहीं मरूँगा, यह मेरे अपने वश की बात है।[30]

डॉ. अम्बेडकर द्वारा धर्मान्तरण का कार्य भी सामाजिक परिवर्तन की दिशा में उठाया गया कदम है। बाबा साहब ने सोच-विचार कर बौद्ध धर्म को स्वीकार किया ताकि उनको इस धर्म में समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व तथा सामाजिक न्याय मिलेगा। इसके साथ ही उन्होंने अपने लाखों बन्धुओं को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी।[31]

बाबा साहब द्वारा बड़ी मेहनत व लगन से तैयार किया गया हिन्दू कोड बिल सभा में पास न हो सका, लेकिन उसके कई भाग बनाकर संसद द्वारा पास करवाया गया। इनमें हिन्दू विवाह विधेयक 1955 व हिन्दू दतक ग्रहण व निर्वाह विधेयक 1956 में पास हुए। बाबा साहब ने जाति-पाति की दुर्भावना को खत्म करने के लिए सहभोज को नहीं बल्कि अन्तर्जातीय विवाह को साधक बनाया है।[32]

महान विद्वान डॉ. अम्बेडकर एक महान् समाजशास्त्री थे। उन्होंने देश को एक विस्तृत संविधान दिया। संविधान के द्वारा उन्होंने देश के हर वर्ग, नारी, श्रमिक, किसान आदि को कल्याणकारी सुरक्षा विधिवत रूप से प्रदान की। फिर भी कुछ लोगों द्वारा अम्बेडकर को केवल दलितों का मसीहा बताकर उनकी महानता को सीमित कर दिया जाता है। चूंकि देश का संविधान बनाने का गौरव भी डॉ. अम्बेडकर जी को ही मिला है। समानता, स्वतंत्रता और बन्धुता को विधिवत रूप से भारत में स्थापित करने वाले महान समाज सुधारक डॉ. अम्बेडकर के कार्यों व प्रयत्नों से आज भी भारतीय शिक्षित नर-नारी पूर्णतः परिचित नहीं है।

निष्कर्षः-

इस प्रकार हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर सुप्रसिद्ध समाज सुधारक थे। वे हिन्दू धर्म से नहीं बल्कि हिन्दू धर्म की रूढ़िवादी सोच से घृणा करते थे। वे समतावादी विचारधारा के थे तथा समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार दिलाना चाहते थे। डॉ. अम्बेडकर आजीवन दलितों के उत्थान के लिए लड़ते रहे। उन्होंने भारतीय संविधान में दलितों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की तथा समाज से अछूत शब्द को मिटाने के लिए छुआछूत को असंवैधानिक ठहराया। अनुसूचित जातियों को देश के सामाजिक ढ़ांचे में स्थान दिलाने के लिए अम्बेडकर ने रेम्से मैकडोनाल्ड सरकार के अधीन आयोजित तीसरे गोलमेल सम्मेलन 1931 में पृथक चुनाव प्रणाली के मुद्दे को उठाया, परन्तु गांधी के जीवन को बचाने के लिए उन्हें पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर करने पड़े तथा संयुक्त चुनाव प्रणाली को मजबूरी वश स्वीकार करना पड़ा। अम्बेडकर यह महसूस करते थे कि वर्ण व्यवस्था ही दलितों की दयनीय स्थिति का मूल कारण है। अम्बेडकर ने इसको दूर करने का अथक प्रयास किया। उन्होंने केवल ऐतिहासिक बातों का ही वर्णन नहीं किया बल्कि अछूत वर्गों का नेतृत्व भी किया तथा उन्होंने इस समस्या के कारणों का भी गहन विश्लेषण किया। अम्बेडकर ने 'जाति-व्यवस्था' को स्पष्ट करने की कोशिश की। उनके अनुसार पहले कोई जाति व्यवस्था नहीं थी बल्कि 'मनु' के बाद ही यह व्यवस्था अस्तित्व में आई। उन्होंने जाति व्यवस्था को श्रेणियों की असमानता कहा है।

डॉ. अम्बेडकर एक गतिमान विचार की तरह लोगों की निगाह में निरंतर बदलते जा रहे हैं और यही उनके जिंदा होने का सबूत है। उनकी संभावनाएं ही नहीं उनकी सीमाएं भी स्पष्ट होती जा रही हैं। उनके प्रशंसक भी बदलते जा रहे हैं और उनके आलोचक भी। जिंदगी का कोई ऐसा पहलू नहीं है जिसे डॉ. अंबेडकर के विचारों ने छुआ न हो। जिस तरह एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में विभिन्न प्रकार के प्रयोग करके अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन करता है उसी तरह डॉ. अंबेडकर ने भारतीय समाज रूपी प्रयोगशाला में अनूठे प्रयोग किए और नए विचारों का प्रतिपादन किया।

संदर्भ :-

1. सागर, एस. एल. (2000). *डॉ. अम्बेडकर: संक्षिप्त जीवन परिचय*. मैनपुरी: सागर प्रकाशन. पृ. 7.
2. सर्वेश. (2007). *अम्बेडकर के विचार*. नई दिल्ली: समता साहित्य सदन. पृ. 21.
3. त्रिपाठी, सूर्यनारायण. (2004). *भारत रत्न बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर*. नई दिल्ली: साधना पब्लिकेशन. पृ. 91.
4. कीर, धनंजय. (1962). *Dr. Ambedkar: Life and Mission*. बम्बई: Popular Prakashan.
5. मेहता, चेतन. (1991a). *युगद्रष्टा डॉ. भीमराव अम्बेडकर*. जयपुर: मलिक एंड कम्पनी.
6. लिमये, मधु. (1997). *बाबा साहब अम्बेडकर: एक चिन्तन*. दिल्ली: आत्माराम एंड संस.
7. रतू, नानक चन्द. (2005). *बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर: संस्मरण और स्मृतियाँ*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन.

8. बौद्ध, शीलप्रिय. (2008). *पूना-पैक्ट क्यों, क्या और किसके लिए*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन.
9. नेमा, जी. पी. (2007). *भारतीय राजनीतिक विचारक*. नई दिल्ली: यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन. पृ. 404.
10. पुजारी, विजय कुमार. (2008). *डॉ. अम्बेडकर: जीवन और दर्शन*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन. पृ. 54.
11. विद्रोही, एम. आर. (2004). *दलित दस्तावेज*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन. पृ. 148.
12. सागर, एस. एल. (2000). *डॉ. अम्बेडकर: संक्षिप्त जीवन परिचय*. मैनपुरी: सागर प्रकाशन. पृ. 6.
13. जाटव, देवीराम. (1996). *डॉ. अम्बेडकर के आलोचक*. जयपुर: समता साहित्य. पृ. 24.
14. कुबेर, डब्ल्यू. एन. (1995). *आधुनिक भारत के निर्माता डॉ. भीमराव अम्बेडकर*.
15. पोटोरिया, राजेन्द्र. (1996). *डॉ. अम्बेडकर: चित्रमय जीवनी*. पृ. 41.
16. कीर, धनंजय. (1996). *डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर: जीवन चरित्र*. नई दिल्ली: पापुलर प्रकाशन प्रा. लि. पृ. 434.
17. कीर, धनंजय. (1996). *डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर: जीवन चरित्र*. नई दिल्ली: पापुलर प्रकाशन प्रा. लि. पृ. 342.
18. शास्त्री, सोहन लाल. (1998). *बाबा साहब के सम्पर्क में 25 वर्ष*. नई दिल्ली: भारतीय बौद्ध महासभा, दिल्ली प्रदेश बुद्ध बिहार, अम्बेडकर भवन. पृ. 229–230.
19. पुजारी, विजय कुमार. (2008). *डॉ. अम्बेडकर: जीवन और दर्शन*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन. पृ. 87.
20. मेहता, चेतन. (1991b). *समता के समर्थन अम्बेडकर*. जालन्धर: मलिक एंड कम्पनी. पृ. 31.
21. मेघवाल, कुसुम. (2005). *भारतीय नारी के उद्धारक डॉ. भीमराव अम्बेडकर*. नई दिल्ली: सम्पर्क प्रकाशन. पृ. 139.
22. मून, बसन्त. (2001). *समता के समर्थक डॉ. अम्बेडकर*. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया. पृ. 77.
23. मेहता, चेतन. (1986). *युग द्रष्टा डॉ. भीमराव अम्बेडकर*. जालन्धर: मलिक एंड कम्पनी. पृ. 29.
24. बाली, लक्ष्मी नारायण. (1991). *डॉ. अम्बेडकर ने क्या किया*. जालन्धर: भीम पत्रिका. पृ. 182.
25. बाली, लक्ष्मी नारायण. (1991). *डॉ. अम्बेडकर ने क्या किया*. जालन्धर: भीम पत्रिका. पृ. 196.
26. आगवले, प्रदीप. (2005). *महान समाजशास्त्री बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन. पृ. 177.
27. सागर, एस. एल. (2000). *डॉ. अम्बेडकर: संक्षिप्त जीवन परिचय*. मैनपुरी: सागर प्रकाशन. पृ. 15.
28. मून, बसन्त. (1994). *राष्ट्रीय जीवन चरित: डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर*. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया. पृ. 98.
29. सागर, एस. एल. (2000). *डॉ. अम्बेडकर के सम्पर्क में 25 वर्ष*. पृ. 238. *(इस संदर्भ का मूल स्रोत सत्यापित किया जाना चाहिए।)*
30. पुजारी, विजय कुमार. (2008). *डॉ. अम्बेडकर: जीवन और दर्शन*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन. पृ. 114.
31. आगवले, प्रदीप. (2005). *महान समाजशास्त्री बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर*. नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन. पृ. 179.
32. मेघवाल, कुसुम. (2005). *भारतीय नारी के उद्धारक डॉ. भीमराव अम्बेडकर*. नई दिल्ली: सम्पर्क प्रकाशन. पृ. 78.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 08.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

FROM POLICY TO PEDAGOGY: THE ROLE OF TRANSLATION IN REALIZING NEP 2020

Dr. Jitendra*

jitendra@osou.ac.in; joshlyn.jeet@gmail.com

Abstract

The National Education Policy (NEP) 2020 envisions a paradigm shift in India's educational framework, emphasizing equity, multilingualism, and holistic learning. While the policy lays out an ambitious roadmap, its realization depends on the seamless movement from policy articulation to pedagogical execution. This paper investigates the often-overlooked but critical role of translation *in facilitating that transition. It argues that translation is not a mere auxiliary to implementation, but a fundamental mode of* linguistic mediation*, enabling knowledge to traverse India's diverse sociolinguistic landscape.*

Focusing on translation both as a literal and interpretative act, the study explores its impact on curriculum development, textbook production, teacher training, and digital education content. Drawing from translation studies, education policy analysis, and multilingual pedagogy, the paper highlights how translation operates at the nexus of access, quality, and inclusion. Through case studies and policy implementation reviews, it addresses challenges such as terminological equivalence, regional language prioritization, semantic fidelity, and the tension between localization and standardization.

The paper further emphasizes that translation must be seen as an epistemic bridge—one that not only transmits content but also reshapes it through cultural negotiation. In this light, it becomes a tool of empowerment, democratizing knowledge for learners across linguistic and regional boundaries. Importantly, the study acknowledges that successful implementation of NEP 2020 requires institutional readiness, translational competence, and a reconceptualization of language hierarchies in the classroom.

By mapping the translational challenges and opportunities inherent in NEP 2020, this paper proposes a multi-pronged framework where translation is positioned as a strategic, ethical, and pedagogical instrument. Ultimately, it argues that without a robust commitment to linguistic diversity through systematic translational engagement, the transformative promise of NEP 2020 risks remaining unrealized.

Introduction

The National Education Policy (NEP) 2020 marks a decisive shift in India's educational trajectory. It proposes a holistic framework that emphasizes competency-based learning, critical thinking,

* **Assistant Professor, Department of English, OSOU, Sambalpur, Odisha**

equity, and multilingualism. Among its most ambitious commitments is the promise of delivering foundational education in the mother tongue or regional language, supported by high-quality curricular resources across Indian languages. This emphasis on language is not incidental but central: NEP 2020 positions linguistic accessibility as a prerequisite for inclusion, learning outcomes, and knowledge democratization.

Yet policy pronouncements alone cannot bridge the gap between aspiration and practice. Translating curricular content, teacher training materials, and digital resources into multiple languages is not merely a technical task but a complex epistemic and pedagogical act. Translation mediates between global disciplinary discourses and local knowledge traditions, between official policy language and classroom realities. It determines what learners can access, how teachers transmit knowledge, and how regional epistemologies are integrated into national and global conversations.

This paper argues that translation must be recognized as the invisible infrastructure of NEP 2020. Without a systematic approach to pedagogical translation, policy objectives of equity and multilingual education risk remaining rhetorical. Drawing on functionalist theories such as Skopos, alongside postcolonial critiques of linguistic hegemony, the paper conceptualizes translation as both a practical tool and an epistemological bridge.

The discussion unfolds across three layers. First, it reviews theoretical perspectives that reposition translation as purposeful and context-sensitive rather than equivalence-driven. Second, it analyzes specific domains where translation directly shapes NEP implementation—curriculum design, textbook production, teacher training, and digital platforms—supported by case studies from NCERT, state-level initiatives, and digital repositories like DIKSHA. Finally, it outlines policy recommendations for institutional frameworks, quality assurance, and capacity building that can sustain a translation culture responsive to India's linguistic diversity.

The paper addresses two guiding questions:

1. How does translation operate as a mediating mechanism in the realization of NEP 2020?
2. What institutional measures are necessary to ensure quality, inclusivity, and sustainability in educational translation?

By bringing policy, pedagogy, and translation into one conversation, it highlights translation not as a secondary afterthought but as a primary driver of educational equity in multilingual India.

Literature Review

The role of translation in educational policy implementation has received limited attention in Indian scholarship, despite the country's deep linguistic diversity that makes translation indispensable in classrooms, curricula, and content delivery. To situate translation within the framework of the National Education Policy (NEP) 2020, this review considers three strands of scholarship: studies on NEP's educational vision, research on multilingual pedagogy, and theoretical contributions from translation studies. Together, they highlight both the promise and the lacunae in current debates, paving the way for a focused analysis of translation as a bridge between policy and pedagogy.

1. NEP 2020 and Its Educational Vision

Scholarship on NEP 2020 largely emphasizes structural reforms, equity goals, and pedagogical innovations. Researchers note the policy's prioritization of mother tongue or regional language instruction at the foundational stage, echoing evidence on the cognitive benefits of learning in the first language (Cummins, 2000; Kumar, 2021). Yet, most analyses discuss medium of instruction rather than the mechanisms of linguistic transfer. Critics also highlight ambiguities: although NEP calls for multilingual resources, it offers little clarity on institutional frameworks for their production. Without systematic translation planning, some argue (Annamalai, 2020; Mohanty, 2021), the policy risks privileging dominant regional languages and excluding marginalized ones.

2. Multilingual Pedagogy and Classroom Practice

Indian classrooms are characterized by diglossia, code-switching, and layered linguistic hierarchies (Pattanayak, 1981; Agnihotri, 2007). Pedagogical studies argue that embracing multilingual practices enhances comprehension and affirms learner identity (Garcia & Wei, 2014). Translanguaging research demonstrates that translation can bridge home and school languages, supporting inclusivity (Mohanty, 2019; Canagarajah, 2013). However, these studies typically frame translation as informal or ad hoc practice rather than an institutionalized mechanism aligned with policy frameworks such as NEP.

3. Translation Studies and Educational Contexts

Translation studies itself has shifted from narrow notions of equivalence to cultural and epistemic mediation. Postcolonial theorists (Niranjana, 1992; Bassnett & Trivedi, 1999) show how translation can reinforce power hierarchies by privileging dominant languages, while functionalist approaches like Skopos theory (Vermeer, 1989; Nord, 1997) stress that purpose and audience shape translation outcomes. Applied to education, this means translations should be judged by pedagogical clarity and accessibility rather than fidelity alone. Despite this theoretical richness, explicit connections between translation studies and education policy remain limited. Initiatives like the National Translation Mission mark progress, but systematic research on translation's role in NEP 2020 is scarce.

4. Identified Gaps

Three key gaps emerge:

- Policy-practice disjunction: NEP scholarship acknowledges multilingualism but seldom examines how translation operationalizes it.
- Pedagogical invisibility: Classroom translation is often viewed as incidental rather than as a deliberate tool of instruction.
- Institutional neglect: Few studies explore how translation can be embedded in curriculum, textbook production, or digital platforms.

This paper addresses these gaps by foregrounding translation as a strategic, pedagogical, and epistemic instrument—central to realizing NEP 2020's inclusive vision.

Methodology

This paper adopts a qualitative, documentary research approach. It synthesizes secondary sources, including government policy documents (NEP 2020, Nipun Bharat, NCERT guidelines), institutional reports, and scholarship on translation and education. Case studies were purposively selected to represent the main domains where translation intersects with NEP implementation: (i) NCERT's multilingual textbook initiatives, (ii) state-level teacher training programs, (iii) digital platforms such as DIKSHA, and (iv) comparative international experiences.

The analysis integrates Skopos theory, postcolonial translation perspectives, and functionalist pedagogy to develop a multi-layered framework. The study is limited by its reliance on secondary data and the absence of classroom-based ethnography. Future research should complement this approach with fieldwork involving teachers and learners.

Theoretical Framework

To analyze the role of translation in realizing the objectives of NEP 2020, it is essential to move beyond the conventional view of translation as the mechanical transfer of words from one language to another. The complexity of India's sociolinguistic environment demands a richer theoretical lens that situates translation as both a practical instrument and an epistemic act. This section brings together three complementary strands of translation theory—Skopos theory, postcolonial perspectives, and functionalist approaches—to provide a conceptual foundation for examining how translation mediates between policy and pedagogy. Each framework foregrounds distinct yet interconnected dimensions of translation: purpose, power, and pedagogy.

1. Skopos Theory: Translation as Purpose-Driven Action

Developed by Hans J. Vermeer in the late twentieth century, Skopos theory argues that the primary criterion for evaluating a translation is its purpose (skopos) rather than strict fidelity to the source text. In this framework, translation is judged by how effectively it fulfills the communicative needs of its target audience. Applied to education under NEP 2020, this perspective shifts attention from literal equivalence to pedagogical functionality.

For example, when a science textbook is translated into Odia, the goal is not merely to preserve exact terminological fidelity but to ensure that students comprehend and internalize scientific concepts in their linguistic and cultural frame. In this case, clarity, accessibility, and contextual relevance outweigh rigid adherence to the source. Similarly, digital learning content translated into regional languages on platforms like DIKSHA must prioritize usability and learner engagement.

Skopos theory thus legitimizes pedagogical adaptation—simplification of complex terminology, incorporation of culturally familiar examples, and reordering of content to match local cognitive schemas. By focusing on purpose, it also draws attention to the institutional mandate of translation under NEP 2020: the purpose is not simply communication, but the democratization of knowledge in a multilingual nation.

2. Postcolonial Perspectives: Translation and Power Relations

While Skopos theory highlights functionality, postcolonial translation theory foregrounds the politics of translation. Scholars such as Tejaswini Niranjana (1992) and Bassnett and Trivedi (1999)

have argued that translation in colonial and postcolonial contexts has historically functioned as a tool of domination, shaping what counts as legitimate knowledge and whose voices are represented.

In the Indian educational context, this insight is crucial. The dominance of English as the medium of higher education has long marginalized regional languages and created structural inequalities in access to knowledge. NEP 2020's emphasis on multilingualism and mother tongue instruction seeks to correct this imbalance, but translation will inevitably mediate this process. For instance, when scientific or philosophical concepts originally articulated in English are translated into Indian languages, decisions about terminology, equivalence, and standardization carry epistemic consequences. Will Sanskritized terms be preferred, privileging elite linguistic traditions, or will everyday vernacular expressions be used to maximize accessibility?

Postcolonial theory reminds us that translation is not neutral. It is implicated in power struggles between global and local discourses, between dominant and marginalized languages, and between standard and non-standard varieties. For NEP 2020 to succeed, translation must be approached as an ethical act—one that resists reproducing hierarchies and instead affirms linguistic diversity. This requires a deliberate policy of inclusivity, ensuring that translation does not simply replicate elite knowledge in dominant regional languages but democratizes access across the full spectrum of India's linguistic communities.

3. Functionalist Approaches: Translation as Pedagogical Mediation

Beyond purpose and politics, translation must also be understood in terms of its pedagogical function. Functionalist theories of translation, such as those advanced by Katharina Reiss and Christiane Nord, emphasize that translation is shaped by the communicative situation and the needs of the target audience. In educational settings, this perspective highlights the learner-centered role of translation.

Pedagogically, translation is not only about textual transfer but also about cognitive scaffolding. For learners navigating concepts in mathematics, science, or social studies, translation provides bridges between familiar linguistic repertoires and new disciplinary registers. Teacher-led translation in classrooms—whether through code-switching, paraphrasing, or interpreting technical terms—functions as a critical strategy of comprehension. This resonates with research on translanguaging pedagogy (García & Wei, 2014), which views translation as a resource for meaning-making rather than an obstacle.

In the NEP 2020 context, functionalist approaches suggest that translation must be embedded into curriculum design and teacher training, not treated as an afterthought. For example, preparing glossaries of technical terms in regional languages, training teachers in multilingual strategies, and producing culturally resonant examples all align with functionalist insights. Translation, in this sense, is pedagogical mediation—a deliberate structuring of linguistic and cognitive bridges that enable learners to access knowledge without being alienated by linguistic barriers.

4. Synthesizing the Frameworks

Taken together, these three theoretical perspectives provide a comprehensive lens for analyzing translation in NEP 2020 implementation:

- Skopos theory emphasizes that translations in education must serve pedagogical goals rather than rigid equivalence.
- Postcolonial perspectives remind us that translation is always entangled with power, and thus must be approached as an ethical and political act of inclusion.
- Functionalist approaches highlight the learner-centered, pedagogical role of translation as cognitive mediation and scaffolding.

By synthesizing these frameworks, we can conceptualize translation as strategic, ethical, and pedagogical—precisely the triadic role it must play to ensure the success of NEP 2020. This integrated lens also underscores that translation is not a peripheral auxiliary but a central epistemic mechanism in moving from policy to pedagogy.

Analysis: Translation, Pedagogy, and NEP 2020 in Practice

The National Education Policy (NEP) 2020 foregrounds multilingualism, cultural rootedness, and accessibility as guiding principles of Indian education. Its policy directives—such as the three-language formula, emphasis on mother tongue/home language instruction at least until Grade 5, curriculum restructuring, and promotion of digital learning—carry immense implications for translation as both a process and a metaphor. This section applies the combined framework of Skopos theory, postcolonial translation theory, and functionalist approaches to examine how these policy initiatives unfold in the domains of curriculum design, textbook development, teacher training, and digital education.

1 Curriculum Development and Translation as Cultural Mediation

Curriculum design under NEP 2020 seeks to balance global knowledge with local contexts, emphasizing the integration of Indian Knowledge Systems (IKS) and regional histories alongside science, mathematics, and global literature. From a Skopos perspective, the purpose of curriculum translation is to align pedagogical goals with learner needs while remaining faithful to socio-cultural contexts. Translating global concepts into local idioms, for instance, is not merely a linguistic task but a cultural negotiation.

Postcolonial translation theory highlights the risk of epistemic violence when curricula privilege Western frameworks while marginalizing indigenous knowledge. Historically, Indian curricula have often replicated Eurocentric models. NEP 2020 attempts to disrupt this by advocating for local authorship and curricular autonomy at the state and institutional levels. Yet, the challenge lies in the functional adequacy of such translations: whether curricular content in mathematics or history, once localized, still retains its accessibility and comparability at a national or global scale.

A case in point is the introduction of regional literatures in English curricula at the university level. Translating works of regional writers into English enables their circulation beyond linguistic boundaries, but if translations domesticate cultural markers too heavily, the distinctiveness of local voices is lost. Conversely, if left too foreignized, they risk alienating learners unfamiliar with the cultural milieu. Curriculum planners thus face the tension of balancing Skopos (educational aims), postcolonial imperatives (resisting dominance), and functionalist principles (ensuring usability).

2 Textbook Development: Negotiating Linguistic and Pedagogical Equivalence

Textbooks are the most visible site where policy aspirations materialize into tangible learning tools. The NEP 2020's stress on mother tongue instruction requires an unprecedented scale of textbook translation and adaptation. Translating science or social studies texts into twenty-two scheduled languages, and beyond, raises fundamental questions of equivalence. For instance, scientific terminology often lacks direct equivalents in regional languages, necessitating creative neologisms or hybrid borrowings.

From a Skopos lens, the goal of textbook translation is pedagogical clarity, not literal fidelity. For example, the Hindi translation of a biology text might replace Latin-rooted terms with simplified descriptions or analogies drawn from local contexts. Functionalist approaches support such adaptations as they prioritize learner comprehension. However, postcolonial theory warns that such domestication risks creating epistemological silos—where regional students encounter science through localized metaphors while being cut off from globally standardized vocabularies.

Textbook translation also intersects with socio-political debates: whose version of history gets translated and disseminated? For example, translating historical narratives into multiple Indian languages may amplify certain regional voices while silencing others. Here translation acts as a site of contestation, shaping collective memory and identity. Policies that fail to account for these dynamics risk perpetuating regional inequalities rather than mitigating them.

3 Teacher Training: Translators as Mediators of Knowledge

Teachers serve as de facto translators in multilingual classrooms, constantly mediating between policy prescriptions, curricular materials, and student needs. NEP 2020's vision of teacher training includes sensitization to multilingual pedagogy, where teachers must not only manage linguistic diversity but also contextualize knowledge for heterogeneous learners.

Applying Skopos theory, teachers' translational strategies are guided by the purpose of effective comprehension rather than fidelity to the textbook. For example, a teacher explaining Newton's laws in a rural Odia-medium classroom may resort to culturally familiar analogies (e.g., bullock carts, village fairs) to make abstract principles tangible. Functionalist frameworks validate such strategies as they fulfill the communicative function of education.

Yet, postcolonial translation theory cautions that this translational mediation risks reinforcing hierarchies: English often becomes the "gold standard" language of science and technology, while regional languages are relegated to simplified, "folk" versions of knowledge. Unless teacher training explicitly addresses these hierarchies, multilingual pedagogy may reproduce, rather than dismantle, linguistic inequalities.

Furthermore, teachers often lack adequate resources for multilingual mediation. NEP 2020 recommends continuous professional development and multilingual teaching aids, but the systemic infrastructure to support these remains underdeveloped. Thus, the burden of translation often falls disproportionately on teachers without institutional backing.

4 Digital Education: Translation at the Interface of Technology and Accessibility

Digital education, particularly through platforms like DIKSHA and SWAYAM, is central to NEP 2020's vision of equitable learning. Translation here extends beyond linguistic conversion to include multimodal adaptation: subtitling, dubbing, transliteration, and even gamification of educational content.

Skopos theory frames the purpose of digital translation as maximizing accessibility and inclusivity. For example, online lectures translated into sign language or subtitled in multiple Indian languages aim to broaden reach. Functionalist perspectives emphasize that translation must be user-oriented, taking into account not only language but also the digital literacy of learners.

Postcolonial theory, however, interrogates whether digital translation inadvertently creates new hierarchies of access. While urban, English-medium learners benefit from high-quality digital resources, rural learners may receive machine-translated or poorly localized versions, reinforcing digital divides. Moreover, AI-based machine translation often flattens cultural nuances, privileging literal equivalence over contextual richness.

A striking case is Google's machine translation of Indian vernaculars, where idioms and cultural expressions are frequently mistranslated. In digital pedagogy, such errors risk misinforming students and eroding trust in learning platforms. The challenge is to balance technological scalability with the humanistic nuance of translation.

5 Synthesis: Translation as Policy Praxis

Across curriculum, textbooks, teacher training, and digital education, translation emerges not as a peripheral activity but as the core mechanism of NEP 2020's implementation. The combined theoretical framework demonstrates that translation operates at multiple levels:

- Purpose-driven (Skopos): ensuring that translations serve educational aims effectively.
- Equivalence-oriented (Functionalist): adapting content to learner needs and contexts.
- Politically situated (Postcolonial): resisting linguistic imperialism and preserving indigenous epistemologies.

The tensions among these frameworks reflect the broader contradictions within NEP 2020: its aspiration to be both globally competitive and locally rooted, inclusive yet standardized, technologically advanced yet culturally sensitive. Translation thus becomes both the enabler and the site of struggle in realizing these goals.

Case Studies

Case studies allow us to move beyond theoretical assertions and examine how translation, policy, and pedagogy interact in lived contexts. They provide concrete evidence of how the National Education Policy (NEP) 2020 is reshaping educational structures through translation and multilingual strategies, while also revealing the challenges of implementation. This section explores four interrelated cases: (i) NCERT's multilingual textbook initiatives, (ii) state-level experiments in teacher training and language integration, (iii) digital platforms and translation technologies, and

(iv) comparative international experiences. Together, they highlight how translation functions both as a practical tool and as a philosophical underpinning of inclusive education.

Case Study 1: NCERT's Multilingual Textbook Initiatives

One of the most significant translation-driven efforts under NEP 2020 is the National Council of Educational Research and Training (NCERT) project to prepare foundational learning material in multiple Indian languages. The NCERT has developed the Nipun Bharat guidelines and has begun translating key textbooks into 22 scheduled languages to ensure inclusivity in early education.

The Skopos theory becomes evident here: the purpose of translation is not linguistic fidelity but functional accessibility. For example, mathematics textbooks for primary learners are being localized in regional idioms so that cultural relevance aids comprehension. Instead of mechanically transferring English terms, translators employ functional equivalence to preserve meaning across diverse contexts.

Yet, challenges persist. Reports suggest inconsistencies in translated terminology, leading to confusion among teachers and students. For instance, certain science terms translated into Hindi, Bengali, or Tamil vary between states, raising questions about standardization. Here, the postcolonial translation framework provides insight: such inconsistencies reflect deeper tensions between homogenization and linguistic plurality, a recurring theme in India's education.

This case underscores how translation shapes not only access to content but also the epistemological authority of languages in the education system. It demonstrates that translation is not simply about words but about negotiating cultural power and pedagogical effectiveness.

Case Study 2: State-Level Teacher Training and Pedagogical Translation

The NEP 2020's commitment to mother-tongue education up to Grade 5 has prompted states like Madhya Pradesh, Odisha, and Karnataka to invest in teacher training programs that incorporate translation as a pedagogical skill. Teachers are trained to "mediate" between English-language resources and regional classroom realities.

For instance, in Odisha, teacher manuals encourage bilingual explanation of STEM concepts, where the lesson begins in Odia but key English terms are gradually introduced. This reflects a functionalist approach, where translation is embedded in the act of teaching rather than treated as a separate practice.

However, teacher surveys indicate resistance. Some teachers, particularly in urban centers, believe English-only instruction enhances employability. Others struggle with insufficient training to balance bilingual delivery. These contradictions highlight what postcolonial critics like Ngũgĩ wa Thiong'o would call the colonial residue in education—the valorization of English as a language of power.

This case study reveals that translation in pedagogy is not merely technical but ideological. It requires reorienting teacher identities and professional practices towards a multilingual ethos, a task that NEP 2020 aspires to but struggles to actualize without systemic support.

Case Study 3: Digital Platforms and Translation Technologies

The NEP's digital push, particularly through DIKSHA (Digital Infrastructure for Knowledge Sharing) and SWAYAM (Study Webs of Active Learning for Young Aspiring Minds), demonstrates the role of technology in operationalizing translation. Content uploaded on DIKSHA is increasingly available in regional languages, often through machine translation combined with human editing.

Here, the Skopos principle once again applies: the aim is rapid scalability rather than linguistic perfection. Automated translations allow millions of students to access resources in their mother tongues. Yet, errors—such as mistranslations in scientific diagrams or culturally awkward phrases—undermine trust.

The functionalist framework helps us understand why hybrid strategies (human + machine) are emerging as the norm. Teachers and local experts act as validators, ensuring that translations meet classroom requirements. Furthermore, the postcolonial lens reveals how digital translation democratizes knowledge access, challenging the monopoly of English in online education.

International parallels, such as UNESCO's advocacy for Open Educational Resources (OERs) in multiple languages, show how India's digital translation initiatives resonate with global trends. Yet India's linguistic diversity amplifies the complexity, making it an important site for studying digital translation in education.

Case Study 4: Comparative International Experiences

To contextualize India's NEP 2020, it is useful to examine other multilingual societies.

- South Africa adopted multilingual policies post-apartheid, mandating the use of 11 official languages in schools. However, implementation faltered due to lack of resources and entrenched English dominance, paralleling India's challenges.
- Canada's bilingual education model (English-French) demonstrates how translation can sustain minority language rights, though it also reveals tensions where immigrant languages are sidelined.
- Spain's Catalonia region shows how translation is tied to identity politics, with Catalan promoted as the primary medium of instruction despite national-level pressures.

These cases reinforce the insight that translation in education is not a neutral exercise. It is shaped by historical inequalities, political will, and cultural aspirations. India's NEP 2020 is part of this larger global struggle to reconcile plurality with policy coherence.

Synthesis of Case Findings

- Across these case studies, three recurring patterns emerge:
- Translation as Accessibility: Whether in textbooks, teacher training, or digital platforms, translation is central to making education accessible to diverse learners.
- Translation as Ideology: The choice of what and how to translate reflects deep-seated cultural hierarchies, particularly the privileging of English over regional languages.
- Translation as Policy Practice: The success of translation initiatives depends not merely on linguistic accuracy but on systemic factors—teacher capacity, resource allocation, and technological infrastructure.

Together, the cases illustrate how NEP 2020's translation initiatives are simultaneously pragmatic tools and symbolic acts, bridging linguistic diversity while negotiating legacies of colonialism and global modernity.

Conclusion

The implementation of the National Education Policy (NEP) 2020 has created a fertile ground for rethinking the role of translation in Indian education. Translation is no longer an auxiliary activity but a constitutive mechanism through which knowledge, identity, and pedagogy are mediated across India's multilingual and multicultural context. By examining the intersections of translation studies with curriculum design, textbook development, teacher training, and digital learning, this paper has highlighted how translation can serve both as a functional tool and as a transformative pedagogical strategy.

From the Skopos perspective, translation in NEP 2020 can be understood as purpose-driven: it is meant not merely to transfer linguistic content but to align with the overarching goals of inclusivity, access, and equity in education. This reorientation requires translation to be evaluated not on fidelity to the source alone but on its contribution to learner comprehension and empowerment. For instance, textbooks translated into regional languages must prioritize cultural relevance and pedagogical clarity rather than literal transference.

From a functionalist perspective, translation is seen as a process of adaptation and contextualization. The NEP emphasizes the use of mother tongues and regional languages in foundational education, which entails not only translating materials but also reimagining knowledge systems in ways that resonate with local epistemologies. Such practices elevate translation to the level of curriculum design, ensuring that pedagogy is not alienating but rooted in students' lived experiences.

The postcolonial framework further deepens this understanding by revealing the politics embedded in translation. Historically, education in India has been shaped by colonial hierarchies privileging English over indigenous languages. NEP 2020 seeks to decentralize this dominance by promoting multilingual education and valuing local knowledge traditions. Yet, this shift is not without challenges: the risk of uneven implementation, the persistence of English as a global lingua franca, and the market-driven demand for English proficiency may reproduce linguistic inequalities unless translation is strategically deployed. Translation here becomes both a tool of resistance and negotiation, helping to decolonize education while keeping it globally connected.

The analysis of textbooks, teacher training, and digital education under NEP 2020 demonstrates that translation is not a singular act but a networked practice requiring policy support, institutional capacity, and professional expertise. Textbook translation demands collaboration between subject experts and translators to ensure conceptual accuracy and accessibility. Teacher training must integrate translation strategies into pedagogy, preparing teachers to navigate bilingual or multilingual classrooms with confidence. Digital platforms, through translation and localization, offer new opportunities for democratizing access to knowledge, but they also raise concerns about standardization, quality control, and the invisibility of translators' labor.

The findings suggest that translation in the context of NEP 2020 is best understood as a mediatory practice—one that balances global and local demands, linguistic plurality and pedagogical coherence, accessibility and critical depth. Future directions in this field should include:

- Institutionalizing translation studies within education faculties to train a new generation of teacher-translators.
- Developing national repositories of translated educational resources that are peer-reviewed and culturally sensitive.
- Harnessing digital technologies and AI translation tools while ensuring human oversight to maintain cultural and pedagogical nuance.
- Encouraging interdisciplinary collaborations among linguists, educators, and policymakers to embed translation into the very architecture of knowledge production.

In conclusion, NEP 2020 provides an unprecedented opportunity to rethink translation as central to educational reform in India. Translation, when theorized as both functional and political, emerges not only as a linguistic bridge but also as a cultural compass that orients education towards inclusivity, diversity, and critical engagement. The success of this vision depends on sustained investment in translation infrastructure, teacher empowerment, and a recognition of translation as a form of knowledge-making rather than a derivative activity. In this way, translation can transform from a background process to a foregrounded pedagogical strategy, shaping the future of Indian education in a multilingual, postcolonial, and globally interconnected world.

References

House, J. (2015). *Translation Quality Assessment: Past and Present.* Routledge.

Kumar, A. (2021). "Translation and Pedagogy in the Context of NEP 2020." *Indian Journal of Educational Studies,* 9(2), 45–61.

Mukherjee, S. (1994). *Translation as Discovery.* Orient Blackswan.

National Council of Educational Research and Training (NCERT). (2005). *National Curriculum Framework 2005.*

Niranjana, T. (1992). *Siting Translation: History, Post-Structuralism, and the Colonial Context.* University of California Press.

Nord, C. (1997). *Translating as a Purposeful Activity: Functionalist Approaches Explained.* St. Jerome Publishing.

Pandey, R. (2022). "Multilingual Education and Translation in NEP 2020." *Contemporary Education Dialogue,* 19(1), 73–89.

Pym, A. (2014). *Exploring Translation Theories.* Routledge.

Spivak, G. C. (1993). "The Politics of Translation." In *Outside in the Teaching Machine* (pp. 179–200). Routledge.

Trivedi, H. (2006). "Translating Culture vs. Cultural Translation." *Translation Studies,* 1(2), 182–195.

Vermeer, H. J. (1989). "Skopos and Commission in Translational Action." In A. Chesterman (Ed.), *Readings in Translation Theory.* Helsinki: Oy Finn Lectura Ab.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 09.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

रामानुज दर्शन में जीव : एक विश्लेषण

डॉ. विमलेश कुमार मिश्र*

vimleshm23@gmail.com

सारांश

यह शोध-पत्र विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य रामानुज द्वारा प्रतिपादित जीव-सिद्धान्त का दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें जीव के स्वरूप, उसकी नित्य सत्ता, चेतनता, अणुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा ईश्वर पर उसकी परतन्त्रता का विवेचन किया गया है। अध्ययन में जीव और ब्रह्म के मध्य शरीर-शरीरी भाव के सिद्धान्त को विश्लेषित करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि रामानुज के अनुसार जीव न तो ब्रह्म से पूर्णतः भिन्न है और न ही पूर्णतः अभिन्न, बल्कि वह परमात्मा पर आश्रित एक वास्तविक सत्ता है। शोध-पत्र में शंकराचार्य के अद्वैत तथा मध्वाचार्य के द्वैत दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विशिष्टाद्वैत की समन्वयात्मक दृष्टि को भी रेखांकित किया गया है। इसके अतिरिक्त जीवों के वर्गीकरण, भक्ति एवं प्रपत्ति के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति तथा मोक्षावस्था में जीव की स्थिति का भी विवेचन किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि रामानुज का जीव-सिद्धान्त भारतीय दर्शन में ईश्वर, जीव, भक्ति, नैतिकता एवं मोक्ष के मध्य संतुलित एवं व्यावहारिक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द

रामानुज, विशिष्टाद्वैत, जीव, ब्रह्म, शरीर-शरीरी भाव, परतन्त्रता, भक्ति, प्रपत्ति, मोक्ष, वेदान्त

प्रस्तावना

रामानुज दर्शन में जीव की प्रकृति, उसकी स्थिति तथा परमात्मा से उसके सम्बन्ध का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने जीव के स्वरूप की अलग-अलग व्याख्या की है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य रामानुज ने जीव को वास्तविक, चेतन तथा नित्य सत्ता माना है। उनके अनुसार जीव न तो परमात्मा से पूर्णतः भिन्न है और न ही पूर्णतः अभिन्न, बल्कि वह परमात्मा का अंश तथा उसका शरीर है। रामानुज का जीव-सिद्धान्त उनके सम्पूर्ण दर्शन का आधार है और मोक्ष, भक्ति तथा ईश्वरवाद की अवधारणाएँ इसी पर आधारित हैं।

शोध प्रविधि

यह शोध गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) पद्धति पर आधारित है। अध्ययन में रामानुज के मूल ग्रन्थों, उपनिषदों, भगवद्गीता तथा विशिष्टाद्वैत सम्बन्धी प्रामाणिक द्वितीयक स्रोतों का अध्ययन एवं तुलनात्मक दार्शनिक विश्लेषण किया गया है। साथ ही शंकर एवं मध्वाचार्य के जीव-सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा रामानुज के जीव-दर्शन की विशिष्टता को स्पष्ट किया गया है।

जीव का स्वरूप

रामानुज के अनुसार जीव (आत्मा) एक वास्तविक, चेतन और नित्य तत्त्व है। वह न तो शरीर है और न ही इन्द्रियाँ, बल्कि शरीर में निवास करने वाला चेतन तत्त्व है। जीव का मुख्य लक्षण चेतना है। वह ज्ञान का आश्रय है और अनुभव करने वाला (भोक्ता), जानने वाला (ज्ञाता) तथा कर्म करने वाला (कर्ता) है। जीव का अस्तित्व शाश्वत है। उसका न कभी जन्म होता है और न कभी विनाश। शरीर नष्ट हो सकता है, किन्तु जीव अविनाशी रहता है। यह विचार भगवद्गीता और उपनिषदों के सिद्धान्तों के अनुरूप है।

* **आयुर्वेद सेवाएँ, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश**

जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को समझाने के लिए रामानुज ने शरीर-शरीरी भाव का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सम्पूर्ण जगत और सभी जीव परमात्मा का शरीर हैं तथा परमात्मा उनका शरीरी (आत्मा) है। जिस प्रकार शरीर आत्मा पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार जीव भी परमात्मा पर आश्रित है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जीव का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जीव अपनी पृथक सत्ता बनाए रखता है, परन्तु उसका अस्तित्व परमात्मा पर निर्भर होता है। इसलिए रामानुज जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को भेदाभेद के रूप में स्वीकार करते हैं।

जीव की विशेषताएँ

रामानुज के अनुसार जीव की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. चेतनता (चैतन्य)

जीव एक चेतन सत्ता है। उसमें ज्ञान का गुण विद्यमान रहता है। चेतना ही उसे जड़ पदार्थों से भिन्न बनाती है।

2. नित्यत्व

जीव अनादि और अनन्त है। उसका अस्तित्व सदैव बना रहता है। जन्म और मृत्यु केवल शरीर के होते हैं, जीव के नहीं।

3. अणुत्व

रामानुज जीव को आकार की दृष्टि से अणु (सूक्ष्म) मानते हैं। यद्यपि जीव अणु है, फिर भी उसका ज्ञान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो सकता है। इस विशेषता को वे धर्मभूत ज्ञान के माध्यम से स्पष्ट करते हैं।

4. कर्तृत्व और भोक्तृत्व

जीव कर्म करता है तथा कर्मों के फल का अनुभव भी करता है। यही कारण है कि वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य और जन्म-मरण के चक्र से जुड़ा रहता है।

5. परतन्त्रता

जीव पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। वह ईश्वर पर आश्रित है और उसकी सत्ता ईश्वर द्वारा नियंत्रित होती है। इसीलिए रामानुज जीव को परतन्त्र सत्य कहते हैं।

शंकराचार्य, मध्वाचार्य और रामानुज के जीव-सिद्धान्त की संक्षिप्त तुलना

भारतीय वेदान्त परम्परा में जीव के स्वरूप को लेकर विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए हैं। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई वास्तविक भेद नहीं है। अज्ञान के कारण जीव स्वयं को ब्रह्म से भिन्न समझता है। ज्ञान प्राप्त होने पर यह भेद समाप्त हो जाता है और जीव ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करता है। इसके विपरीत मध्वाचार्य के द्वैत वेदान्त में जीव और ब्रह्म के बीच पूर्ण भेद स्वीकार किया गया है। जीव सदैव ईश्वर से पृथक रहता है और कभी भी ईश्वर के समान नहीं हो सकता। मध्वाचार्य जीवों के मध्य भी भिन्नता को वास्तविक मानते हैं।

रामानुज का मत इन दोनों के मध्य एक समन्वित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। वे जीव और ब्रह्म को न पूर्णतः अभिन्न मानते हैं और न पूर्णतः भिन्न। उनके अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है तथा उस पर आश्रित है, किन्तु उसका स्वतंत्र अस्तित्व भी बना रहता है। इसी कारण विशिष्टाद्वैत को भेद और अभेद के समन्वय का दर्शन कहा जाता है। यह दृष्टिकोण भक्ति और ईश्वर-सेवा की भावना को भी सुदृढ़ आधार प्रदान करता है।

जीवों का वर्गीकरण

रामानुज ने जीवों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया है—

1. बद्ध जीव

वे जीव जो कर्म-बन्धन में बँधे हुए हैं और संसार में जन्म-मरण का अनुभव करते हैं। सामान्य मनुष्य इसी श्रेणी में आते हैं।

2. मुक्त जीव

वे जीव जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है और भगवान के धाम में निवास करते हैं। वे कर्म और दुःख से पूर्णतः मुक्त होते हैं।

3. नित्य जीव

वे जीव जो कभी संसार बन्धन में नहीं आते। जैसे—गरुड़, विष्वक्सेन आदि दिव्य पार्षद, जो सदैव भगवान की सेवा में लगे रहते हैं।

भक्ति मार्ग में जीव की भूमिका

रामानुज दर्शन में भक्ति को मोक्ष का प्रमुख साधन माना गया है। भक्ति का आधार जीव और ईश्वर के बीच विद्यमान वास्तविक सम्बन्ध है। यदि जीव का अस्तित्व ईश्वर में पूर्णतः विलीन हो जाए, तो भक्ति, प्रेम और उपासना का कोई औचित्य नहीं रह जाता। इसलिए रामानुज जीव की पृथक सत्ता को स्वीकार करते हैं। जीव का परम कर्तव्य भगवान की भक्ति और सेवा करना है। भक्ति के माध्यम से जीव ईश्वर के प्रति प्रेम, श्रद्धा और समर्पण विकसित करता है। यह समर्पण उसे ईश्वर की कृपा का पात्र बनाता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है।

रामानुज ने प्रपत्ति (शरणागति) को भी जीव के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन माना है। जब जीव अपनी सीमाओं को स्वीकार करके पूर्ण विश्वास के साथ भगवान की शरण ग्रहण करता है, तब ईश्वर की कृपा से उसके समस्त बन्धन समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में जीव केवल दार्शनिक सत्ता नहीं है, बल्कि ईश्वर का भक्त, सेवक और प्रेमी भी है। यही उसकी सर्वोच्च आध्यात्मिक पहचान है।

जीव की परतन्त्रता का दार्शनिक महत्व

विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव की परतन्त्रता (Dependence) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। रामानुज के अनुसार जीव यद्यपि एक वास्तविक, चेतन तथा नित्य सत्ता है, तथापि वह पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। उसका अस्तित्व, उसकी शक्तियाँ तथा उसकी क्रियाएँ परमात्मा पर आश्रित हैं। परमात्मा ही जीव का आधार, नियन्ता तथा संरक्षक है। इस दृष्टि से जीव को परतन्त्र तथा ईश्वर को स्वतन्त्र सत्ता माना गया है।

जीव की परतन्त्रता का दार्शनिक महत्व इस तथ्य में निहित है कि यह जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को स्पष्ट करती है। यदि जीव को पूर्णतः स्वतंत्र मान लिया जाए, तो ईश्वर की सर्वोच्चता और सर्वशक्तिमत्ता प्रभावित होती है। दूसरी ओर यदि जीव का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही न माना जाए, तो भक्ति, उपासना तथा नैतिक उत्तरदायित्व का आधार समाप्त हो जाता है। रामानुज ने इन दोनों अतियों से बचते हुए जीव को वास्तविक किन्तु ईश्वर पर आश्रित सत्ता के रूप में स्वीकार किया है।

यह सिद्धान्त भक्ति की भावना को भी सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। जब जीव यह अनुभव करता है कि उसका अस्तित्व और कल्याण ईश्वर पर निर्भर है, तब उसके भीतर विनम्रता, समर्पण और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। यही भावना आगे चलकर भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) का रूप धारण करती है। इस प्रकार जीव की परतन्त्रता केवल एक दार्शनिक अवधारणा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक साधना का भी आधार है।

नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। जीव अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है, किन्तु वह ईश्वर की व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करता है। इससे एक ओर कर्म और उत्तरदायित्व की भावना बनी रहती है तथा दूसरी ओर ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास भी कायम रहता है। इस प्रकार जीव की परतन्त्रता का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत दर्शन में ईश्वर, जीव, भक्ति तथा नैतिकता के मध्य समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

मोक्ष में जीव की स्थिति

रामानुज के अनुसार मोक्ष प्राप्त होने पर भी जीव का पृथक अस्तित्व बना रहता है। वह ब्रह्म में विलीन नहीं होता। मोक्ष की अवस्था में जीव भगवान के सान्निध्य में रहकर दिव्य आनन्द और नित्य सेवा का अनुभव करता है। यहाँ रामानुज का

मत शंकराचार्य से भिन्न है। शंकर के अनुसार मोक्ष में जीव और ब्रह्म का पूर्ण अभेद हो जाता है, जबकि रामानुज के अनुसार जीव की व्यक्तिगत सत्ता बनी रहती है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

रामानुज का जीव-सिद्धान्त भारतीय दर्शन में एक महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने जीव की वास्तविकता और उसकी व्यक्तिगत पहचान को सुरक्षित रखा। उनका यह मत भक्तिमार्ग के लिए अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुआ क्योंकि यदि जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जाए तो भक्ति, प्रेम और ईश्वर-सेवा का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कुछ आलोचकों का मानना है कि जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को शरीर-शरीरी भाव द्वारा पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया जा सकता, फिर भी यह सिद्धान्त भेद और अभेद दोनों की व्याख्या करने में सक्षम माना जाता है।

उपसंहार

निष्कर्षतः रामानुज दर्शन में जीव एक नित्य, चेतन, वास्तविक और परमात्मा पर आश्रित सत्ता है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है तथा कर्मों के कारण संसार में बन्धन का अनुभव करता है। शरीर-शरीरी भाव के माध्यम से रामानुज ने जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को विशिष्ट रूप से स्पष्ट किया है। मोक्ष की अवस्था में भी जीव अपनी सत्ता बनाए रखता है और भगवान की नित्य सेवा तथा सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करता है। यही विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव के स्वरूप की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

संदर्भ

Dasgupta, Surendranath. (1991). *A History of Indian Philosophy* (Vol. III). Delhi, India: Motilal Banarsidass Publishers.

Radhakrishnan, Sarvepalli. (2008). *Indian Philosophy* (Vol. II). New Delhi, India: Oxford University Press.

Rāmānuja. (1956). *Vedārthasaṅgraha*. Madras, India: The Adyar Library and Research Centre.

Rāmānuja. (1968). *Śrībhāṣya* (Vols. 1–3). Madras, India: The Adyar Library and Research Centre.

Sharma, Chandradhar. (2013). *A Critical Survey of Indian Philosophy*. New Delhi, India: Motilal Banarsidass Publishers.

उपाध्याय, बलदेव. (2014). *भारतीय दर्शन*. वाराणसी: चौखम्बा ओरिएंटालिया.

दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ. (1975). *भारतीय दर्शन का इतिहास*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

मोतीलाल बनारसीदास. (2010). *सर्वदर्शनसंग्रह* (माधवाचार्य विरचित). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि.

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली. (2017). *भारतीय दर्शन*. नई दिल्ली: राजपाल एण्ड सन्स.

रामानुजाचार्य. (2007). *वेदार्थसंग्रह* (सम्पा. एवं अनुवाद: श्रीनिवास दास). वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस.

रामानुजाचार्य. (2008). *श्रीभाष्य (पुनर्मुद्रित संस्करण)*. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस.

Received: 10.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

'ग्राम साहित्य' के उन्नायक : पण्डित रामनरेश त्रिपाठी

डॉ. धर्म विजय सिंह*
singhraghu5220@gmail.com

सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध-पत्र में पंडित रामनरेश त्रिपाठी के ग्राम साहित्य संबंधी योगदान का विश्लेषण किया गया है। त्रिपाठी जी ने भारतीय लोकजीवन में प्रचलित ग्रामगीतों के संरक्षण, संकलन एवं मूल्यांकन का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने देशभर की विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों में प्रचलित हजारों ग्रामगीतों का संग्रह कर उन्हें साहित्यिक मान्यता प्रदान की। शोध-पत्र में ग्रामगीतों की प्रकृति, उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उपयोगिता तथा ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को अभिव्यक्त करने में उनकी भूमिका का विवेचन किया गया है। त्रिपाठी जी ने ग्रामगीतों को भारतीय संस्कृति, लोकमानस और राष्ट्रीय एकता का सशक्त माध्यम माना। उनके द्वारा संपादित कविता-कौमुदी का तृतीय भाग ग्रामगीतों का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसमें संस्कार, पर्व-त्योहार, ऋतु, जातीय एवं प्रांतीय गीतों का व्यापक संकलन मिलता है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम साहित्य को हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में प्रतिष्ठित करने तथा लोकसंस्कृति के संरक्षण में अमूल्य योगदान दिया।

मुख्य शब्द (Keywords)

रामनरेश त्रिपाठी, ग्राम साहित्य, ग्रामगीत, लोकसाहित्य, कविता-कौमुदी, लोकसंस्कृति, ग्रामीण जीवन, लोकगीत, हिंदी साहित्य, सांस्कृतिक विरासत

प्रस्तावना :

समाज निर्माण की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य सहजावस्था में था। सहज, सरल, स्वाभाविक जीवन के अपने आयाम थे। उस अवस्था में मानव किसी वाह्य प्रभाव से मुक्त था। मानव जीवन के आडम्बरहीन, निश्चिन्त जीवन में उत्सवधर्मिता अधिक थी। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन की सम्पूर्ण परिधि में दुख-सुख के विराट फलक पर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गीतों को माध्यम बनाया। समाज में भाषा के व्यवहार की कुशलता ने अभिव्यक्ति को सहज, सरल एवं स्वाभाविक बनाया। मानव में सामाजिकता का गुण उसे अन्य प्राणियों से भिन्न बनाता है अर्थात मनुष्य बनाता है। सामाजिक प्राणी मनुष्य ने अपनी जीवन यात्रा के प्रत्येक विश्राम स्थल पर भाषाओं का अनुसंधान किया और उसके माध्यम से समाज की सभ्यता और संस्कृति को समझने का उपक्रम किया। मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों का प्रकटन भाषाओं, बोलियो के माध्यम से गीतों, कहानियों, कहावतों में हुआ।

शोध उद्देश्य (Objectives)

1. पंडित रामनरेश त्रिपाठी के ग्राम साहित्य संबंधी योगदान का अध्ययन करना।
2. कविता-कौमुदी में संकलित ग्रामगीतों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का विश्लेषण करना।
3. हिंदी लोकसाहित्य के संरक्षण एवं संवर्धन में त्रिपाठी जी की भूमिका का मूल्यांकन करना।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

यह शोध गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) पद्धति पर आधारित है। अध्ययन हेतु पंडित रामनरेश त्रिपाठी की कविता-कौमुदी तथा उनसे संबंधित आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन किया गया है। शोध में वर्णनात्मक, तुलनात्मक एवं व्याख्यात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए ग्राम साहित्य के स्वरूप, महत्व तथा त्रिपाठी जी के योगदान का मूल्यांकन किया गया है।

---

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, संजय गाँधी पी. जी. कॉलेज चौकिया, सुल्तानपुर. उत्तर प्रदेश**

'ग्रामगीत' प्रकृत मनुष्य के सहज एवं स्वाभाविक भावों का उच्छलन हैं। प्रत्येक समाज ने जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के मार्मिक स्थलों पर अपने भावों का प्रकटन गीतों के माध्यम से किया। ये साहित्य प्रत्येक भाषा-भाषी समाज में समृद्ध विरासत के रूप में मौजूद हैं। ये गीत विविधरंगी हैं। इनमें विषय एवं पाठ की विविधता है परन्तु सम्पूर्ण मानव समाज की भावना के प्रतिनिधि हैं। चूँकि ग्राम साहित्य की सामग्री लिखित रूप में संरक्षित नहीं है फिर भी सदियों से यह जन-जन के कंठ से प्रचारित, प्रसारित, सुरक्षित होती रही है। ये गीत स्थानीय बोलियों में गाये जाते रहे हैं, इसलिए ये अधिक रसयुक्त और लोकजीवन से संपृक्त हैं। बोलियों की मधुरता भावनाओं का उद्रेक करने में अधिक प्रभावी होती है। यही कारण है कि जनमानस इन ग्रामगीतों को अधिक रुचि से सुनता है। मैथिलकोकिल विद्यापति देशी बोली को अधिक प्रभावशाली मानते हैं –'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' स्थानीय बोलियों में गाया जाने वाला ग्रामगीत लोककंठ में अपनी मधुरता और प्रभाव को सदियों से प्रसारित करता चला आ रहा है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने लोक कंठ में संरक्षित इस विपुल साहित्य को अथक परिश्रम से संग्रहीत करने का कार्य किया। उन्होंने 'कविता कौमुदी' में कहा है-'मैंने सन् 1925 ई. से 1930 तक लगातार देशभर में घूमकर, मासिक पत्रों में लेख लिखकर तथा डाक द्वारा पत्र भेजकर लगभग 15 हजार ग्राम गीतों का संग्रह किया था। सन् 1929 में मैंने उनमें से कुछ ग्रामगीत पुस्तकाकार प्रकाशित भी किये थे। इस पुस्तक में जो गीत दिये गये हैं, वे सब उसी संग्रह से लिये गये हैं। मैं अपने संग्रह को समुद्र की एक बूंद के बराबर भी नहीं मानता हूं। यद्यपि 1930 के बाद भी मेरा प्रयत्न अब तक जारी है, पर इसका कार्यक्षेत्र ऐसा असीम दिखाई पड़ा और सहायक इतने कम मिले कि अब मेरे उत्साह में शिथिलता आ गई है। अब अनुभव हो रहा है कि संग्रह का काम किसी एक व्यक्ति के बूते का नहीं है, बल्कि सरकार या अच्छी शक्तिशालिनी किसी संस्था के करने का है। त्रिपाठी जी के इस वक्तव्य से ग्रामगीतों की व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है। ग्रामगीतों के माध्यम से हम अपने देश की वैविध्यपूर्ण संस्कृति, सभ्यता एवं रीति-रिवाज से परिचित हो सकते हैं। ग्रामगीतों के सौन्दर्य, माधुर्य और उन्माद का जिक्र करते हुए त्रिपाठी जी लिखते हैं गीतों में जो कवित्व है, उसे ही मैं अपनी लेखनी रह गया है। खेद है, मैं उसे कलम की नोंक-द्वारा अपने पाठकों तक नहीं पहुंचा सका। विधाता ने स्त्रियों के कंठ में जो मिठास रख दी है, जो लचक भर दी है, उसे मै लोहे की लेखनी में कहाँ से ला सकता हूँ।

त्रिपाठी जी ने सन् 1925 में ही ग्रामगीत संकलन का संकल्प लेते हैं और अपने द्वारा संकलित 'जांत' के दो ग्रामगीत प्रकाशनार्थ 'सरस्वती' पत्रिका में भेजते हैं जो जनवरी 1925 में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित होते हैं। तत्पश्चात् वे 1926 सितम्बर 1926 से गीत-संकलन के अपने अभियान की विधिवत शुरुआत करते हैं। वे सिर्फ ग्रामीण संसार में दाखिल ही नहीं हुए, बल्कि ग्रामीण जीवन और ग्रामीण सृजन में रम भी गये। फलस्वरूप उन्होंने ग्रामीण जीवन सूत्रों और ग्रामगीतों का अभूतपूर्व भाष्य रचा। इतना ही नहीं, उहोंने भारत भर की अधिसंख्य बोलियों के गीतों का जैसा और जिस तरह से संकलन किया, यह अकल्पनीय सा लगता है। त्रिपाठी जी के इस अद्भुत संकलन और उसके भाष्य का अनुशीलन करने वाले उनके समकालीन रचनाकार मनस्वी व मनीषी चकित थे। सभी ने त्रिपाठी जी के इस रचनात्मक उपक्रम को अतुल व अनुपम बताया। इलाहाबाद की एक सभा में गाँधी जी ने 'कविता कौमुदी' का विक्रय कर पूरे देश का ध्यान ग्रामगीतों के संकलन और उसके महत्व की ओर आकर्षित किया।

'भारतीय गाँवों की अपनी यात्रा में त्रिपाठी जी ने ग्रामीण जीवन प्रवाह को पहचानने, परखने और समझने की कोशिश की है। ग्रामीण जीवन बहुस्तरीय है वहाँ जीवन के वैविध्य का बहुरंगी स्वरूप विद्यमान है और यह स्वरूप पूरी उत्सवधर्मिता के साथ प्रकट होता है। ग्रामीण जीवन में जहाँ समाज, प्रकृति, खेत-खलिहान, पशु पक्षी अर्थात, पूरा परिवेश जीवन्त रहता है। जहाँ एक ओर प्रेम, करुणा,सहयोग, आपसदारी, भाईचारा, परोपकार, मानवीयता है तो दूसरी ओर घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या, डाह, जलन जैसी दुर्भावनाएँ भी विद्यमान हैं। ग्रामीण जीवन की सदाशयता और साझापन त्रिपाठी जी को आकर्षित करता रहा। ग्रामगीतों की आंतरिक ध्वनि साझा प्रभाव, साझी संस्कृति और 'सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय' को अभिव्यक्त करती है। एक गीत का उदाहरण लिया जा सकता है जिसमें व्यक्ति अपने मन को धैर्यवान बनाने की कामना करता है और सभी के साथ अपने कल्याण को देखता है-

धै देत्यो राम- हमारे मन धिरजा।
सब के महलिया रामा जेवना बनतु है
हरि लेत्यो हमरी भूख।।
मंहगी के मारे बिरहा बिसरिगा भूलि गई कजरी कबीर।
देखि क गोरी क मोहिनी सुरति अब उठे करेजवा में पीर।।

कुंअवा खोदाये कवन फल हे मोरे साहेब।
झोंकवन भरैं पनिहारि तबै फल होइहैं।।
बगिया लगाये कवन फल हे मोरे साहेब।
राहे बाट अमवा जे खैहैं तबै फल होइहैं।

त्रिपाठी जी का विलक्षण चयन विवेक रहा है कि उन्होंने ऐसे ग्रामगीतों का संचयन किया है, जो ग्रामीण जीवन के साझापन को मजबूत करे। उसकी बिखरी हुई जनशक्ति को संगठित करे और किसी भी सार्वजनिक स्रोत पर निजी स्वामित्व स्थापित करने वाली वर्चस्ववादी शक्तियों के विरुद्ध प्रतिरोध के सामूहिक मन का सृजन कर सके।

'फोकलोर' शब्द का पहली बार प्रयोग सन् 1846 में डब्ल्यू. जे. थामस ने किया। हिन्दी में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसके लिए 'लोकवार्ता' शब्द का प्रयोग किया। अंग्रेजी के इस शब्द 'फोकलोर' के लिए 'लोकसाहित्य', 'लोकवार्ता', 'लोकगीत', 'ग्राम गीत' आदि अनेक शब्द मिलते हैं। पं. रामनरेश त्रिपाठी को इनमें सर्वाधिक सार्थक नाम 'ग्रामगीत'लगा। ग्रामगीत के स्थान पर लोकगीत शब्द का प्रयोग किया जाना त्रिपाठी जी को उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ग्रामग्रीत ग्रामीणों की पैतृक सम्पत्ति है, उनका गौरव उन्हीं के पास सुरक्षित रहने देने ही में सभ्य समाज का गौरव है। लोकगीत कहने से नगर निवासियों के सामाजिक जीवन के गीत भी सम्मिलित हो जाते हैं पर नगर निवासियों के गीत है ही क्या? त्रिपाठी जी का कहना है कि- ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं। इनमें अलंकार नहीं केवल रस है, छंद नहीं, केवल लय है, लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है। ग्रामगीतों का जन्म स्थान गाँव है। जिनकी वाणी में मस्तिष्क नहीं, हृदय है, जिनके विनय के परदे में छल नहीं पश्चाताप है, जिनकी मैत्री के फूल में स्वार्थ का कीट नहीं, प्रेम का परिमल है, जिनके मानव जगत में आनन्द है, सुख है, शांति है, प्रेम है, करुणा है, संतोष है, त्याग है, क्षमा है, विश्वास है, उन्हीं मनुष्यों के स्त्री- पुरुषों के बीच में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्रामगीत है। ग्रामगीत ही प्राकृतिक कविता है। ग्रामगीत की रचनाएँ प्रायः स्त्रियों और गाँव के, अशिक्षित पुरुष ही करते हैं, जिन पर किसी शिक्षित पुरुष- स्त्री के उपदेशों और पुस्तकों का प्रभाव नहीं पड़ा होता। आज हिन्दी या हिंदुस्तानी भाषा का जो रूप हमें दिखायी पड़ता है, वह गाँव की टकसाल का ढला हुआ है। हिंदी के आदि जन्मदाता गाँव वाले ही हैं। उन्होंने संस्कृत शब्दों को हिन्दी का रूप दिया है, विद्वानों और पंडितों ने नहीं। त्रिपाठी जी का यह भी मत है कि अन्य इकाइयों की ही भाँति ग्रामगीतों में भी लोकजीवन सर्वांग रूप में चित्रित हुआ है। प्रत्येक युग की सामाजिक उथल-पुथल, न्याय-व्यवस्था, नैतिक तथा आर्थिक पक्ष, जीवनयापन करने की कला, साधन सहयोगिता, विद्रोह और प्रतिशोध की भावना, रीति- रिवाज व्यावहारिकता तथा अन्य भावात्मक पक्ष सुरुचिपूर्ण तथा मार्मिक ढंग से व्यक्त होते हैं।

ग्रामगीतों की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए त्रिपाठी जी लिखते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु तक हिन्दुओं का समस्त सामाजिक जीवन काव्यमय है। उसके प्रत्येक मंगल कार्य में संगीत को मुख्य स्थान दिया गया है। शायद ही किसी हिन्दू का कण्ठ बचा हो जिससे कभी न कभी कोई गान न फूट निकला हो। उत्सवों में मनोरंजन के लिए हिन्दू जाति में संगीत तो मुख्य है ही, प्रत्येक परिश्रम के काम के साथ भी गीत लगा हुआ है। राह चलते हुए स्त्री-पुरुष गीत गा-गाकर थकान मिटाते चलते हैं, पालकी लिये हुए कहार गीत गा-गाकर रास्ता काटते हैं, चरवाहा सूनसान जंगल में अपने गीतों से पेड़- पत्तों तक को जगाता रहता है। रात में किसान कोल्हू चलाकर ईख का रस निकालने के साथ अपने सरल और सरस हृदय का मधुर रस भी निकालकर जीवन के, अनेक कष्टों से पीड़ित सहकर्मियों और दूर जाने वाले राहगीरों को बाँटता रहता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने अपने कामों में गीतों की सहायता अधिक ली है। संस्कार के अवसरों पर प्रायः कुलगीत स्त्रियां ही गाती हैं। आटा पीसने, धान रोपने, खेत निराने, खेत गोड़ने और काटने के समय गाँव की स्त्रियां जो गीत गाती हैं, उनमें गृहस्थी के सुख-दुख की बड़ी ही मार्मिक बातें भरी होती हैं। सम्भव है, गाँव के गीतों में नागरिक कवि की कविता का सा आनंद न मिले पर उन में आनन्द का अभाव नहीं होता, रुचि भेद से आनंद एक मिठास में अन्तर हो सकता है। ग्रामगीतों ने गाँव के अन्तः पुरों, चौपालों, बाग-बगीचों, खेतों और खलिहानों में कहीं श्रृंगार रस का, कहीं हास्य रस का और कहीं वीर-रस का स्रोत खोल दिया है। सहृदय नर नारी उसमें डुबकी ले रहे हैं, रसपान कर रहे हैं, मुग्ध हो रहे हैं और थोड़ी देर के लिए संसार के माया जाल से मुक्त होकर स्वर्गीय सुख का रसास्वादन कर रहे हैं।

प्रकृति ने गाँव के प्रत्येक समाज में कवि उत्पन्न किये हैं। अहीरों के लिये बिरहे तुलसी ने नहीं बनाये थे, न कहारों के लिए कहरवा सूरदास ने। 'धोबी, चमार, नाई, बारी, पासी और कुम्हारों में कबीर, बिहारी, केशव, भूषण, देव और पद्माकर नहीं पैदा हुए थे। पर इन जातियों में भी कविता किसी न किसी रूप में वर्तमान है और कहीं-कहीं तो वह नागरिक कवियों की कविता

से अधिक सरस है। गीत भारतवर्ष के प्रत्येक्त प्रांत में पाये जाते हैं और घर के भीतर गाये जाने वाले गीतों में सर्वत्र समानता मिलती है। जान पड़ता है, एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न भाषाओं में बोल रही है। यह हमारी एक संस्कृति का प्रभाव है और यही इस बात का भी एक प्रबल प्रमाण है कि सारा भारतवर्ष एक है।

'कविता- कौमुदी' के तीसरे भाग में इन ग्रामगीतों का संकलन त्रिपाठी जी ने किया है। ये गीत हिंदी- प्रदेश के ही नहीं अपितु नमूने के तौर पर अन्य अनेक भारतीय भाषाओं के भी हैं। इन ग्रामगीतों का वर्गीकरण त्रिपाठी जी ने निम्नवत किया है-

1- **संस्कारों के गीत-** सोहर, अन्नप्राशन, मुण्डन, जनेऊ, नहछू और विवाह गीत।

2. व्रतों और त्योहारों के गीत।

3. **ग्राम गाथायें** - आल्हा, शीतला माता के गीत, बारहमासा

4. **ग्राम कथायें**- चक्की पीसते समय, खेत में धान लगाते समय, निराते समय गाये जाने वाले जीत।

5. मन्दिरों में गाये जाने वाले पद।

6. राह के गीत

7. खेत के गीत

8. **जांत गीत**- गेहूँ पीसते समय गाया जाने वाला गीत।

9. भिखमंगों के गीत

10. **भिन्न-भिन्न जातियों के गीत**- अहीरों के गीत (बिरहा), कहारों के गीत, तेलियों के गीत, गडरियों के गीत, धोबियों के गीत, चमारों के गीत।

11- **ऋतुओं के गीत**- बसंत ऋतु के गीत चौताल, फगुआ, होली, चैती। वर्षा ऋतु में गाये जाने वाले निरवाही, हिंडोला और कजरी।

12. बच्चों के गीत, खेल और कहानियाँ।

13. मेले और तमाशों के गीत

14. गुड़ियों के गीत

15. नीति की कहावतें

16. स्वास्थ्य की कहावतें

17. खेती की कहावते

18. बुझौवल और ढकोसले

19. **प्रांतीय भाषाओं-** कश्मीरी, नेपाली, पंजाबी, सिंधी, राजस्थानी, मालवी, गुजराती, मलयाली, तमिल, तेलगू, उडिया, बुन्देली, मुन्डा, संथाली, बांग्ला, असमिया मैथिली भोजपुरी, ब्रजी के गीत।

इस प्रकार 'कविता कौमुदी' में संकलित ग्रामगीतों की विविधता को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कितना जटिल, श्रमसाध्य और अर्थसाध्य कार्य रहा होगा। स्वयं पंडित रामनरेश त्रिपाठी के कथनों से इसका अनुमान किया जा सकता है- 1925 से 1935 तक मैं ग्रामगीतों के संग्रह में लगा रहा और तीन बार समूचे भारतवर्ष में, प्रान्त- प्रान्त में गाँव-गाँव में भ्रमण करके भिन्न -भिन्न भाषाओं और बोलियों के ग्रामगीतों का अध्ययन और संग्रह किया- मैंने ग्रामगीतों का संग्रह करने में तीन बार सारे देश की यात्रा की। इसमें 10 वर्ष व्यतीत किये तथा 8 हजार रुपये व्यय हुए।

इस कार्य के लिए त्रिपाठी जी के परिश्रम, उनकी निष्ठा, लगन, समर्पणशीलता का बहुत कुछ अन्दाजा उनके द्वारा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी को भेजे गए एक पत्र से लगाया जा सकता है 'प्रिय चतुर्वेदी जी, प्रणाम। बलिया से लौटने के बाद मैंने आपको कई पत्र दिये पर उत्तर नहीं मिला। गीतों के लिए मैंने गुजरात और काठियावाड़ का बड़ा दौरा समाप्त कर लिया और सफलता भी खूब मिली। अब मैं राजपूताने और पंजाब में 15 दिन भ्रमण करके शीघ्र प्रयाग लौटूंगा। यदि बलिया में अभी कुछ काम न हुआ हो और आने की आवश्यकता हो तो मैं एक बार नहीं, दो चार बार आ सकता हूं। पर आपने कहा था कि मेरे आने की आवश्यकता नहीं, पत्र से ही काम चल सकता है। अस्तु बहुत अधिक गीत न संग्रहीत हुए हों तो थोड़े ही सही। जो कुछ हुए हों, कृपया शीघ्र भेज दीजिए। श्रीमान बाबू महादेव प्रसाद जी को भी मैंने पत्र लिखा है। आशा है आप इधर काफी ध्यान देंगे और मुझे फिर आने का अवसर नहीं देंगे।'

'कविता कौमुदी' की महत्ता और उससे जुड़े त्रिपाठी जी के परिश्रम को देश-विदेश के विद्वानों, लेखकों समीक्षकों तथा शोधकर्ताओं ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। इसके प्रकाशित होने पर महात्मा गाँधी जी ने अपना उद्गार व्यक्त किया था कि 'आपके ग्रामगीतों के संग्रह का जो कुछ परिचय कर सका हूँ उससे आपके परिश्रम का और राष्ट्रभाषा प्रेम का कुछ नाप मुझको मिलता है। संग्रह उत्तम लगा। मैं तो चाहता हूँ प्रत्येक हिन्दी-भाषा-प्रेमी आपके संग्रह का अध्ययन करे।' पं. महावीर प्रसाद हिवेदी का अभिमत है कि आपने साहित्य के इस अछूते अंश की पूर्ति करके बड़ा काम किया। बड़ी अच्छी पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरम्भिक कई सौ पृष्ठ तो अनमोल ही हैं। उनमें विषय की विवेचना और आपके साहित्य ज्ञान की रश्मियां भरी मिलीं।

निष्कर्ष :-

'कविता कौमुदी' के प्रदेय के विषय में स्पष्ट कहा जाय तो निःसन्देह त्रिपाठी जी के इस महान एवं उपयोगी कार्य के लिए हिन्दी साहित्य उनका सदैव ऋणी रहेगा। उन्होंने ग्रामग्रीतों के निर्माताओं को महान से महान कवियों की प्रतिद्वंदिता में लाकर खड़ा कर दिया। 'कविता कौमुदी' उनके परिश्रम, अध्यवसाय एवं लगन का स्पष्ट प्रमाण और उनकी कीर्ति का स्तम्भ है। ग्रामगीतों के क्षेत्र में त्रिपाठी जी की साधना, तपश्चर्या हिन्दी-जनपदों के गीतों को अविस्मरणीय बनाये रखेगी। 'कविता कौमुदी' के बिना हिंदी साहित्य का विपुल भण्डार रिक्त हो जायेगा।

संदर्भ

1. शुक्ल, रामचन्द्र. (2017). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन.
2. त्रिपाठी, पंडित रामनरेश. (2007). *कविता-कौमुदी* (भाग 3: ग्रामगीत). प्रयागराज: हिंदी मंदिर.
3. द्विवेदी, ओंकारनाथ (सम्पा.). (2015). *अभिदेशक* (पंडित रामनरेश त्रिपाठी विशेषांक). कानपुर: अभिदेशक प्रकाशन.
4. सिंह, बच्चन. (2011). *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
5. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. (2014). *हिंदी गद्य विन्यास*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन.

Received: 11.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

The Imperatives of Epistemic Delinking: Countering the Hegemonic Notion of Secularism

Nilofar Anjum Siddiqui*
nilofarsiddiqui02@gmail.com

Abstract

The idea of secularism, a gift of Christianity, has been built into the Western paradigm of modernisation and believed to have universal applicability and thus presented as requirements of modernisation elsewhere, and this must be questioned. There are different ways in which the idea of a community surfaces in the historical trajectories of the Western liberal democracies and in postcolonial democracies that had to go through the project of nation-building in the context of colonial subjugation. Modern politics is in crisis today as a consequence of its rationalist assumptions centered on reason without cultural attachments. Modernity, with its drive to create a homogeneous and rational public sphere, forces a split in the personality of the citizen, only a part of which is represented in politics, and religions are subjected to growing marginalisation. There is a need to go beyond the Eurocentric conception and to engage with the idea of secularism invested with its own meaning, with the notion of co-living and coexistence between religious communities. The study will further look towards South Asia and specifically India.

***Keywords**: Secularism, Western paradigm, Eurocentric, South Asia, India, Pluralism, Toleration.*

Introduction

Modern universalisms claim to be available to all straightforwardly and transparently. This claim is false, for it hides beneath its surface all privileges of the dominant culture. Counterclaims to this can be articulated in the language of cultural difference and subalternity. 'Secular principles' derived from Western experience raise the question of whether and to what extent these conceptions are adequate for describing or evaluating the problems of countries with different religious traditions and political problems. Global political theory has to expand beyond Eurocentrism to engage with other philosophies and histories. The right to an equal political voice can perhaps be then realised. Epistemic inequality might then be mitigated. The transferability of the idea of secularism to the countries of South Asia is beset with many difficulties. It should be put in place with proper meanings and expressions. The imported idea of secularism is increasingly impracticable with South Asian cultures.

Talal Asad argues that secularism is not a neutral or universal political entity that emerged from modern reason. He shows that what is called 'secular' developed within a Western Christian historical formation, where ideas about religion, law, authority, and self were reshaped through

* **CCPPT, School of International Studies, JNU, New Delhi, India**

European modernity. His work, therefore, challenges the assumption that secularism is a universal gift of modern civilisation, and it should be seen as a historically produced arrangement of power, discipline, and knowledge. Though it presents itself as inclusive, it actually establishes its own hierarchy of acceptable belief, public reason, and political legitimacy. What seems to be a neutral separation of religion and politics is already shaped by Western Christian assumptions about individuality, interior belief, and public order.

Alia Al Saji asserts that the Western idea of secularism, which claims the absence of religion, is a myth. French secularism was built on a history of Christianity; it has to accommodate and coexist with Catholicism. She says secular public space is not a generalized but a structured absence. The secular space, in fact holds traces of religious practices, i.e., this space is structured such that certain religious practices can coexist with it, even though they are no longer explicitly inscribed within it. The typical example is the French school, with time off on Wednesday, traditionally to accommodate students taking catechism classes; the week has been extended recently through part of Saturday and designates Sunday as the day of rest on the weekend.

The invisible structure of secular space means that cultural and religious practices are rendered differently visible when put into coexistence with it. Some signs and practices appear compatible with this space, and further signs conflict. In this manner, veiling was seen as opposed to French secular space, leading to the dichotomous construction of the 'other', a form of cultural racism. The image of Muslim women forms a kind of 'constitutive outside', explaining the exclusionary and silencing function played by Western representation of Muslim women, where veiling is constituted as equivalent of de-subjectifucation. Racialised bodies are only seen as naturally inferior; they cannot be seen otherwise.

Aditya Nigam explores 'secular nationalism' and its relationship with the two ideologies of modernity: secularism and nationalism. The liberal democracies in the West are suddenly faced with the emergence of the notion of 'other Europeans and other Americans' endangering the very idea of abstract citizenship. There is a divide between the masses of the majority and dominant cultures and those of the minority cultures. The most critical problems of modern subjectivity and the deeply problematic nature of the assumption that 'individuation' leads to the dissolution of community attachments and the emergence of the rational, autonomous subject.

European nations forged a national culture by annihilating other, local, non-literate cultures through an enunciation of a high culture of nationalism and assimilating the former into the latter. Minority cultures began to be perceived as a problem at the precise historical moment of transition from empires to modern nation-states, with their search for a homogeneous national culture. In countries like India, the nationalist elites were faced with a two-fold difficulty. On the one hand were linguistic cultures, and on the other hand, the fact of colonial subjugation, which demanded unity across all these cultural communities. Indian secular-nationalism had to opt for a different model. Secularism became, in this context, not merely the name of religious neutrality but also for enunciating an idea of India that stood above all differences of religion, language, caste, and community.

Ashis Nandy emphasised that 'communalism' was not really about religion; in fact, it was a new modern phenomenon and therefore a secular phenomenon about recasting and welding together

other political communities in the image of the nation-state. He distinguished between two types of secularism, the first being the Western idea of secularism as a separation of religion and politics. The second was Indianism, best embodied in the figure of Gandhi, who said he was secular but thought poorly of those who wanted to separate religion and politics, for they understood neither one nor the other. As per Nandy, it is the modernising elite that has to come to terms with difference. It is this elite, rather than religious believers, which is intolerant. It sees the believer as someone with an inferior consciousness. True secularism opts for equal respect for all religions. He then brings his second distinction between religion as faith and religion as ideology. Religion as ideology is a consequence of the forms of modern politics.

He does not deny that the Western conception of secularism has played a crucial role in South Asian societies, which has worked as a check against some forms of ethnic intolerance and violence and contributed to humane governance at certain times and places. However, it cannot cope with new kinds of fears and intolerances, and certainly not genocide justified in terms of the logic and ideology of the modern state. Nandy focuses on the feebleness of official secularism and deals with questions of toleration in everyday religion. This explains his insistence on the second meaning of secularism – simultaneously more tolerant and unhinged from the reasons of the state. While the domain of state and politics breeds intolerance, forcing communities to recast themselves in the image of the nation-state and assume a singular identity, the resources of religious toleration are to be found in the non-secular domain of lived religions.

T.N. Madan asserts that secularism in South Asia as a principle of life is impossible and impracticable for state action because Hindus, Buddhists, Muslims, or Sikhs simply do not know what it means to privatise religion. For them, it is the very basis of their being in this world. The distinction that these four religions do make between the religious and the 'secular' is structured in a hierarchical way where spiritual/religious is supreme and temporal/secular power is always subordinated. The secular is regarded as encompassed by religion. Madan agreed with Nandy that it is the marginalisation of religious faiths with the growth of the secularisation process that is responsible for the 'perversion of religion'. Secularism as a widely shared worldview has failed to make headway in India. The transferability of the idea of secularism to the countries of South Asia is beset with many difficulties. It should be put in place: not rejecting it per se, but finding proper means for its expression. In multi-religious societies like South Asia, secularism may not be restricted to rationalism, as it is compatible with faith, and the modern state can be differently constituted such that it runs on other principles than rationalist ones. The only way secularism in South Asia can work is to take both religion and secularism seriously and not reject the former as superstition and reduce the latter to a mask for secularism.

Rajeev Bhargava discusses the notion of secularism by opening up the possible meanings and possible models of secularism. He begins his exercise by distinguishing between two kinds of secularism – political and ethical. The minimalist secularism that keeps a principled distance of the state from religious institutions in order to secure an acceptable minimal standard of living for ordinary citizens – political secularism. The ethical secularism separates religions from politics for the sake of the ultimate ideal. By and large, he casts his vote for political secularism. Arguing on the secularist side of the divide, he bases his distinctions on the claim that separation need not to be an exclusion of religion from politics and state, in the manner of the US 'wall of separation'. In his

argument, he grounds the classification on a further distinction between what he calls the 'dominant church-state model of secularism', which has often been understood as the only model, and the 'religious strife model'. It is the second model that he finds more relevant to the contemporary Indian context. The dominant justification of the policies and practices of the Indian state was done by appealing to the contextual secularism of the principled-distance variety: exclude religion for some purposes and include it to achieve other objectives, but always out of non-sectarian considerations. The great deal of degeneration is because the Indian state has increasingly lost sight of its objectives and acted more and more on a sectarian basis. Bhargava says that modern secularism arose because the resources of tolerance within traditional religion have exhausted their possibility. Now that it appears to be faltering, we cannot return to resources with proven inadequacy. The alternative conception argues that this secularism is fully compatible with, indeed even dictates, a defence of differentiated citizenship and rights of religious groups.

The idea of secularism in Muslim countries has a different trajectory than it has in Europe, and that is due to different political experiences. Secularism has been perceived essentially as a politico-religious ideology. The Islamists develop Islamic ideology as a justification theory for the foundation of an Islamic state. They equated ideology with the concept of religion to argue that secularism is a threat to Islam. Mawdudi was opposed to the idea of nationalism and nation-states because they divide the Muslim Ummah. The Islamic state must be in accordance with the divine order revealed as Shari'ah. Islam and secularism stand opposed to each other; Islam is din, and secularism is la din (no religion).

There have been elements in Muslim thinking that have supported the idea of secularism. One such thinker is Muhammad Iqbal. Discussing the separation of religion and politics, Iqbal explains that "in Islam the spiritual and temporal are not two distinct domains…it is the same reality…which appears as church looked at from one point of view and state from another." Iqbal disagrees with the view that secularism maintains an absolute distinction between the temporal and spiritual; the distinction is not real; it appears only because of different perspectives. The ultimate reality, according to the Quran, is spiritual, and its life consists in its temporal activity. The spirit finds its opportunities in the natural, material, and secular. All that is sacred is therefore sacred in the root of its being. Thus, the secular is encompassed by the sacred.

Religious reforms by the state are justified because in Islam, the state is responsible for the dissemination of religious teachings. Iqbal's construction of secularism begins with an emphasis on the unity of religion and politics but with a focus on social, political, and legal reforms. Iqbal's construction of secularism means shifting the authority from the church to the state and from Ulama to the people, where communities differ in relation to interpretations and understandings, and ijma (consensus among communities) serves as an 'instrument of tolerance'. Emancipatory ijtihad (intellectual exertion – using mental faculties to the utmost) summons humans to engage with diversity and difference to the extent where the other is recognised for his/her otherness without prejudice and intolerance towards that which is different and other.

The idea of secularism, a gift of Christianity, has been built into the Western paradigm of modernisation and believed to have universal applicability and thus presented as requirements of modernisation elsewhere, and this must be questioned. There are different ways in which the idea of

a community surfaces in the historical trajectories of the Western liberal democracies and in postcolonial democracies that had to go through the project of nation-building in the context of colonial subjugation. Modern politics is in crisis today as a consequence of its rationalist assumptions centered on reason without cultural attachments. Modernity, with its drive to create a homogeneous and rational public sphere, forces a split in the personality of the citizen, only a part of which is represented in politics, and religions are subjected to growing marginalisation. The homogenizing desires make it ethnophobic, and this is naturally complicated by virtue of secularism's historical complicity with Western cultures, making it intolerant of non-Western cultures, which it sees as backward and irrational. There is a need to go beyond the Eurocentric conception and to engage with the idea of secularism invested with its own meaning, with the notion of co-living and coexistence between religious communities. The study will further look towards South Asia and specifically India and the crisis of secularism it's going through in contemporary times.

Between the 1950s and 1970s, India's secular model seemed to work reasonably well. Religious minorities, including Muslims, remained well-represented in the country's elected assemblies. Communal riots were relatively rare at this time to combat communalism. Nehru fought against all forms of communalism. It is evident from the fact that he never intended to separate politics and religion. Starting in the 1980s, Indian secularism came under more severe strain. The Congress party began opportunistically catering to one religious community, and Indian secularism was deeply damaged as a result. This enabled dominant narrative that the Congress party was indulging in pseudo-secularism. They began accusing it of playing vote bank politics with Muslims. The 1980s and 90s were a turning point in India's secularism. India has never returned to the balance of religious coexistence and compromise that prevailed in its first three decades of independence.

While the fundamentalists rant about minority religions, argue for the divine right of the majority faith to rule, and be silent in the face of violence unleashed on bodies and minds diminishes not only the target, but it also diminishes us as human beings with sensibilities based on mutual respect for fellow citizens and human beings. We become lesser beings stripped of all qualities that make us human. While major forces indulge in illegal actions, they are often viewed as the legitimate embodiment of majoritarian rule. The delicate balance of secularism in India can only be maintained if the rule of law prevails and enables every citizen to feel equal to others, irrespective of community. For that, a watchful judiciary without the taint of religious bias is required.

Indian democracy is facing deeper challenges because of the radicalisation of Indian society. For ages, radicals have carried out their share of atrocities against marginalised people and now, after they were successful in making a place, their outburst can be observed within the state and interstate. Mob violence intensified. This threatened the secularity of India. Radicalisation at the public level in India has been observed since pre-partition, but today has become a policy of mainstream politics. Preferential treatment is also being steered in institutions like government offices and universities. The discrimination that existed before but remained hidden is now open. India today is faced with flawed education; from science to history. The appropriation of the constitutional discourse and erosion of political representatives of marginalised people in the Parliament and various state legislative assemblies, represent a shift toward majoritarian politics in

contemporary India. At the center of these transformations of Indian democracy is the unprecedented crisis and diminishing value of secularism as an ideology and as a practice.

In the context of the growing religious polarization, the idea of secularism calls for a particular observation. Although the distortion of the idea by the divisive forces has turned secularism open to all kinds of misuse, the future of India still lies somewhere in recovering it. With its attributes of 'principled distance' and 'critical respect towards all religions', it stands apart from the predominantly Western notions of religious indifference. So any compromise with secularism in India will amount to tampering with the very idea of modern democracy. The biggest challenge for those who defend constitutional values is to rejuvenate the term with substantive meaning. A re-imagination of the republic in general and secularism in particular, keeping it anchored to the core foundations of the constitution, is the only way out to rescue India from sliding into the communal environment of the 30s and 40s. Secularism is the soul of India's constitution.

Indian secularism is not simply the invention of India's post-1947 political leaders; the concept has a longer, distinguished place in the history of Indian civilisation. Indian secularism is the by-product of a whole civilisation. Nayantara Sahgal remarked, "We are unique in the world in that we are enriched by so many cultures and religions. Now they want us to squash us into one.. We do not want to lose our richness. We do not want to lose anything…all that Islam has brought us, what Christianity has brought us, and what Sikhism has brought us. Why should we lose all this?... we are Hindustani." Despite the apparent ascendance, it may be premature to conclude that this has established undisputed hegemony over Indian politics and society. In the years ahead, caste politics may well gain momentum while the majority tries to keep its momentum and indirectly contribute to a more secular approach to politics.

Rajeev Bhargava further asserts that it is premature to pronounce the end of constitutional secularism; it has only suffered a setback and can be revived. Today, Indian constitutional secularism is swallowed by party political secularism (the doctrine practised by all political parties of having opportunistic distance but mainly opportunistic alliances with religious communities, particularly for the sake of immediate electoral benefit), with no help from the opposition, media, or judiciary. The two crucial moves to start the discourse and practice of secularism are (i) a shift of focus from a politically led project to a socially driven movement. (ii) a shift in emphasis from inter-religious to intra-religious issues. As the focus shifts from the other to oneself, it may allow deeper introspection within, multiple dissenting voices to resurface, create conditions to root out intra-religious injustices, and enable its members to be free and equal. Distance, freedom from mutual obsession, gives communities breathing space. Each can now explore resources within to construct new ways of living together. The demand for and restoration of secularism is imperative.

***Conclusion*:**

To accept the ideology of the hegemonic notion of secularism is to accept ideologies of progress and modernity as the new justification of domination and the use of violence to sustain that identity. Global political theory has to expand beyond Eurocentrism. The coexistence of secularism and politicised religion and religion as a form of politics differentiates the biography of Indian secularism from the European case. India's public sphere, unlike the European public sphere, was not stripped of religious vocabularies and imaginations in times of political modernity. Indian

secularism produced a range of insights that helps us to clarify issues pertaining to the relationships between secularism, religion, communalism, and modernity. The concept of pluralism challenges dominant beliefs and value systems. Pluralism tells us that there are other equally valid ways of organising a political community.

Indian democracy today is facing deep challenges because of the radicalisation of Indian society. It is depriving India of one its main assets, pluralism. We have to inhabit a state that ensures dignity and respect for each and every person. Unlike the West, which identifies secularism with the separation of politics from region, India follows a distinctive brand of secularism. Neera Chandhoke argues that Indian society is traditionally anchored in a policy of toleration, which is the basis of secularisation in modern India. Dialogue appears particularly appropriate for plural societies that are marked by a variety of perspectives, belief systems, and values. We have to relearn how to live together in civility. For this, we need to recognise the value of secularism. To defend and to fortify secularism will have to be fought by Indian people. Thus, the two values that might be able to restore civility to the body politic are the political virtues of secularism and the social virtues of tolerance.

References

Asad, Talal. (1993). Genealogies of religion: Discipline and reasons of power in Christianity and Islam. Baltimore, MD: Johns Hopkins University Press.

Asad, Talal. (2003). Formations of the secular: Christianity, Islam, modernity. Stanford, CA: Stanford University Press.

Al Saji, Alia. (2010). The racialization of Muslim veils: A philosophical analysis. Philosophy and Social Criticism, 36(8), 875–902.

Bhargava, Rajeev. (1998). What is secularism for? In Rajeev Bhargava (Ed.), Secularism and its Critics. New Delhi, India: Oxford University Press.

Bhargava, Rajeev. (2020, August 12). The future of Indian secularism. The Hindu.

Borah, Mondeep. (2022, July 13). Secularism in India has turned into a cliché. It needs revival. ThePrint.

Chandhoke, Neera. (2019). Rethinking pluralism, secularism and tolerance: Anxieties of coexistence. New Delhi, India: Sage Publications.

Jaffrelot, Christophe. (2011, May 15). A skewed secularism. Hindustan Times.

Jaffrelot, Christophe. (2019). The fate of secularism. In Milan Vaishnav (Ed.), The BJP in Power: Indian Democracy and Religious Nationalism. Washington, DC: Carnegie Endowment for International Peace.

Madan, Tirumalai Narasimhacharya. (1998). Secularism in its place. In Rajeev Bhargava (Ed.), Secularism and its Critics. New Delhi, India: Oxford University Press.

Mander, Harsh. (2019, May 21). Time to rebuild India's secularism. The Hindu.

Masud, Muhammad Khalid. (2005). The construction and deconstruction of secularism as an ideology in contemporary Muslim thought. Asian Journal of Social Science.

Nandy, Ashis. (1988). The politics of secularism and the recovery of religious tolerance. Alternatives, 13, 177–194.

Nigam, Aditya. (2006). The Insurrection of Little Selves: The Crisis of Secular Nationalism in India. New Delhi, India: Oxford University Press.

Received: 12.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

INFORMATION NEED AND IMPACT OF INFORMATION AND COMMUNICATION TECHNOLOGIES ON HEALTH

Dr. Preeti Singh* **preetiinghkhau@gmail.com**

Dr. Seema Rani† **Scientist**

Abstract

The study was conducted on a sample of 200 respondents comprising of 100 males and 100 females drawn from 4 villages of Hisar district.. The data were collected on structured interview schedule on eight ICTs viz, television, radio, newspaper, radio, magazine, telephone, mobile, computer and internet. It was revealed that mobile, computer and internet. It was revealed that information need seeking behavior of respondents for health of eight ICTs ranged from personal welfare, childrens' welfare, general awareness, better living standard, family welfare. Type of information included were respiratory illness, arthritis, water born disease, diet/ nutrition, snake bites, cancer, gynecology. As a far as impact of eight ICTs on information need seeking behavior is concerned data revealed that in case of male respondents television, newspaper and mobile had high impact in areas of health whereas computer had moderate impact on health followed by radio which as low impact of health. In case of female respondents television, newspaper and mobile had high impact in areas of health followed by computer which has moderate impact on health. Radio had low impact on health of people.

Key Words: *Information and communication technology, information need, impact*

Introduction

Information need refers to the identifying need for information in particular areas where they lack knowledge to solve a problem, make a decision, or understand a solution. Today's is the information era. Information can be defined as processed, organized and meaningful data which helps in understanding facts, ideas, events or concepts and decision making. Information need seeking behavior implies action and strategies which cover all the necessary aspects including identification, search, access, evaluate and use information to satisfy their information needs. It gives information regarding how, why, and where people look for information. Information need seeking behavior is

* **Assistant Professor, Dept. of BSc Home Science,**
Shri Vishwanath PG College Kalan Sultanpur, UP

† **Dept. of Extension Education and Communication Management,**
College of Home Science, CCS Haryana Agriculture, Hisar

significant as it full fills the needs of human beings in various areas viz. decision- making, learning and research, knowledge utilization, life long learning, increase efficiency etc.

Rao (2007) document that eradication of literacy can only be replaced through satellites for providing rural, adult, developmental and continuing education. Only then the large rural population of India, who are the soul of this country can meaningfully participate in development of the country.

Kesharamurthy (2007) observed that radio village caters the information needs of rural people realed with agriculture. Further it helps radio to plan need based programme, disseminate, agricultural information very easily.

Information and Communication Technologies play vital role in shaping and improving information seeking behavior. ICT ensures quick access to vast digital resources such as e-books, e-journals, multiple information sources, advance search techniques in rural and remote areas. ICTs had made significant significant contribution in information need seeking behavior by expanding information availability resulting in removing physical barriers to access to information. It enhances information literacy, encourages skills in searching and evaluation and using digital information. It fulfills the diverse user needs by covering people from all sections of society viz. students, teachers, professionals, farmers, businessman, women etc. ICTs act as a important tool in facilitating collaboration and communication by enabling sharing of information through emails, forums and other collaborative platforms. ICT led to improvement in quality of information retrieval by enabling access to authentic, updated and scholarly information sources. ICTs have positive impact in areas viz. faster and easier information access, increased user dependence, awareness about information resources, improved research productivity. Information need seeking behavior is required for effective knowledge acquisition and ICTs has played tremendous role in transforming this behavior by providing information accessible, faster and user oriented. The role of ICTs has transformed the whole society by enabling individuals to identify their information need and fulfill them efficiently.

Keeping these facts in mind the present study was planned with following specific objectives:

1. To identify need seeking behavior of rural clientele in health..
2. To study impact of ICTs in heath aspect of rural clientele

Methodology

The study was conducted in Hisar district of Haryana state. Two blocks viz. Hisar-I and Hisar- II were selected purposively from the blocks of Hisar district because of ready availability of ICTs in these blocks. A list of progressive ICT villages in two selected blocks was prepared in consultation with NICNET staff. The villages selected randomly from this were Gangwa and Kaimri from block Hisar-1 and Muklan and Ludas from block Hisar-II of Hisar district. List of progressive ICT families in selected villages was prepared after discussion with sarpanch, village elders and anganwadi workers. A matching sample of 25 male and 25 female respondents was selected randomly from each of four villages respectively. Thus the sample size was 200, comprising of 100

males and 100 females. A well structured interview schedule was developed for data collection. The interviews were conducted by the researcher personally. Based on the finding the inferences were drawn. Tabulation and quantification of data was done as per standard procedure by using statistical tools used viz. frequency, percentage and mean score.

Result and Discussion

Information need seeking behavior of rural clientele in terms of different ICTs

Information need seeking behaviour of the respondents for health revealed that in the case of television, the need for getting information on health by a majority of the respondents ranged across general awareness (80.00%), personal welfare (70.00%), followed closely by better living standards (66.00%), family welfare (65.00%), and children's welfare (42.00%). Regarding radio channels, it was evident from the data that a majority of the respondents (83.00%) actively sought information on health aspects to bolster general awareness and family welfare (68.00%), followed by better living standards (65.00%), personal welfare (65.00%), and children's welfare (35.00%).

Jhunjhunwala and Menon (2007) expressed that ICT can and need to be leveraged to fulfill the information needs related with education and training, health services, agriculture, rural BPOs (IT enabled services from rural India, It enabled outsourcing of production work, agro-industry and small industry.

Regarding print media choices, newspaper tracking showed that a notable portion of respondents (35.00%) reported a primary need for getting health information for general awareness, while extended indexes revealed significant baseline demands for better living standards (77.00%), personal welfare (67.00%), family welfare (65.00%), and children's welfare (33.00%). While for magazine channels, it was found that a major proportion of the respondents (82.00%) had highly concentrated information needs related to personal welfare, whereas 77.00 % of respondents had health information needs for family welfare, followed by general awareness (74.00%), better living standards (72.00%), and children's welfare (36.00%).

Regarding interpersonal and modern ICT nodes, telephone data highlighted that a majority of the respondents (87.00%) had a structural need for getting information with respect to family welfare, and 85.00 per cent of the respondents sought health information related to general awareness, followed by personal welfare (84.00%), better living standards (81.00%), and children's welfare (80.00%). As far as mobile connectivity was concerned, it is revealed that an overwhelming majority of the respondents (95.00%) had intense health information needs related to family welfare, and 89.00 % sought information for general awareness, followed by children's welfare (86.00%), personal welfare (85.00%), and better living standards (84.00%), respectively. While for computer/internet setups, it is evident from the data that a clear majority of the respondents (84.00%) had an underlying need for getting health information related to general awareness, followed by personal welfare (80.00%), better living standards (80.00%), family welfare (77.00%), and children's welfare (75.00%).

The qualitative classification regarding the specific type of health information sought is also presented comprehensively. It points to the fact that a majority of the respondents (77.00%) were

successfully getting information on gynecology, whereas 75.00 per cent of the respondents sought information for water-borne diseases, followed by diet/nutrition (64.00%), respiratory illness (62.00%), cancer (50.00%), snake bites (40.00%), and arthritis (10.00%) through television media. As far as radio was concerned, a majority of the respondents (82.00%) were getting info related to gynecology, whereas 80.00 per cent sought information related to diet/nutrition, followed by water-borne diseases (79.00%), respiratory illness (67.00%), snake bites (35.00%), cancer (30.00%), and arthritis (5.00%).

While for newspaper mediums, it is evident from the data that a majority of respondents were consistently getting information related to gynecology, whereas 77.00 per cent of respondents had information requirements related to water-borne diseases, followed by diet/nutrition (72.00%), respiratory illness (62.00%), cancer (47.00%), snake bites (25.00%), and arthritis (4.00%). Regarding magazine content, it was noticed that a majority of the respondents sought information related to diet/nutrition (84.00%), whereas 74.00 per cent of the respondents had info requests related to gynecology, followed by water-borne diseases (65.00%), respiratory illness (55.00%), cancer (45.00%), snake bites (18.00%), and arthritis (4.50%).

Further, for telephone mediums, it was found that a majority of the respondents (78.00%) had highly focused information requests related to water-borne diseases, whereas 77.00 per cent of the respondents had health information needs related to diet/nutrition and gynecology, followed by respiratory illness (64.00%), snake bites (34.00%), and arthritis (3.00%). As far as mobile channels are concerned, it was revealed that a majority of the respondents (80.00%) sought information related to water-borne diseases and diet/nutrition concurrently, with gynecology drawing 74.00 per cent, respiratory illness capturing 69.00 per cent, cancer standing at 62.00 per cent, snake bites at 37.00 per cent, and arthritis at 4.00 per cent. For computer/internet systems, it was found that a majority of the respondents prioritized info with respect to complex respiratory illness (75.00%), whereas 72.00 per cent of respondents sought information related to diet/nutrition and gynecology, followed by water-borne diseases (69.00%), cancer (11.00%), snake bites (7.00%), and arthritis (3.00%), respectively.

Table 1: Information need seeking behaviour of rural clientele for health

Sr. No.	Health information	Television (n=200)	Radio (n=110)	Newspaper (n=150)	Magazine (n=100)	Telephone (n=120)	Mobile (n=180)	Computer/ Internet (n=130)
A.	**Need for getting information**							
1	Personal welfare	70.00	65.00	67.00	82.00	84.00	85.00	80.00
2	Children's welfare	42.00	35.00	38.00	36.00	80.00	86.00	75.00
3	General	80.00	83.00	85.00	74.00	85.00	89.00	84.00

	awareness							
4	Better living standard	66.00	65.00	77.00	72.00	81.00	84.00	80.00
5	Family welfare	65.00	68.00	65.00	77.00	87.00	95.00	77.00
B.	**Type of information**							
1	Respiratory illness	62.00	67.00	62.00	55.00	64.00	69.00	75.00
2	Arthritis	10.00	5.00	4.00	4.50	3.00	4.00	3.00
3	Water born diseases	75.00	79.00	77.00	65.00	78.00	80.00	69.00
4	Diet/Nutrition	64.00	80.00	72.00	84.00	77.00	80.00	72.00
6	Snake bites	40.00	35.00	25.00	18.00	34.00	37.00	7.00
7	Cancer	50.00	30.00	47.00	45.00	52.00	62.00	11.00
9	Gynecology	77.00	82.00	78.00	74.00	77.00	74.00	72.00

Impact of ICTs in health aspect or rural clientele

Impact is defined as the change that occurred in various life quality parameters of rural clientele as a result of using different ICTs for different activities. Impact assessment of ICTs for empowerment of rural clientele in terms of health aspect of rural clientele has been incorporated in Table-2. Impact of television on health and political aspects of the respondents has been presented in the table-22. Regarding health, television had high impact on awareness about diet/nutrition (M.S-2.57), meditation/yoga (M.S-2.55) where as it had moderate impact on awareness about diseases (M.S-2.41), awareness about physical fitness (M.S-2.35) and awareness about medicines (M.S-2.28). Regarding female respondents, it was found that television had high impact on awareness about diet/nutrition (M.S-2.51), moderate impact on awareness about diseases (M.S-2.30) and awareness about medicines (M.S-1.97) followed by low impact of television in the areas of physical fitness (M.S 1.91).

Site et al (2010) reported that mobile phones contribute to reduce poverty and improve rural livelihoods by expanding and strengthening social networks, increase people’s ability to deal with emergencies, cut down travel cost, maximize the outcomes of necessary journeys and amplify efficiency of activities.

Impact of radio on health and political aspects of the respondents has been depicted in table-26. The data in the table revealed that in the area of health, radio had low impact on life of male respondents

in terms of awareness about physical fitness (M.S-1.40), awareness about diseases (M.S-1.38), awareness about diet/ nutrition (M.S- 1.33) and awareness about medicines (M.S-1.33) and meditation/yoga (M.S-1.29). Regarding female respondents, it was found that radio had low impact in the areas of awareness about physical fitness (M.S-1.42), awareness about medicines (M.S-1.38), awareness about diseases (M.S-1.37), awareness about diet/nutrition (M.S-1.33) and meditation/yoga (M.S-1.29).

Impact of news paper on health aspects of the respondents has been presented in Table- 2. It is revealed from the table that newspaper had high impact in the areas of awareness about diet / nutrition (M.S- 2.83), awareness about diseases (M.S-2.68) and awareness of medicines (M.S-2.66), awareness about physical fitness (M.S- 2.64) and meditation /Yoga (M.S- 2.55). Regarding female respondents, it was found that newspaper had high impact in the areas of awareness about diet/nutrition (M.S-2.74), awareness about medicines (M.S- 2.56), awareness about physical fitness (M.S-2.54), awareness about diseases (M.S-2.50) and meditation/yoga (M.S- 2.13).

Impact of magazine on health and political aspects of the respondents has been presented in Table-2. It is evident from the table that magazine had low impact on life of male respondents on health aspects including awareness about diet / nutrition (M.S- 1.57), awareness about diseases (M.S-1.57), awareness about physical fitness (M.S- 1.44), awareness about medicines (M.S-1.35) and meditation / yoga (M.S-1.35). Regarding female respondents, it was highlighted from the table that magazine had low impact on health aspects including awareness about physical fitness (M.S- 1.66), awareness about diseases (M.S-1.54), awareness about diet / nutrition (M.S-1.4), meditation / yoga (M.S-1.49) and awareness about medicines (M.S-1.40).

It is clearly evident from the table that mobile had high impact in the areas like awareness about diet/nutrition (M.S-3.15), awareness about disease (M.S-2.93), awareness about physical fitness (M.S-2.82), awareness about medicines (M.S-2.72) followed by physical exercise (M.S-2.21) and meditation and yoga (M.S-1.88) where mobile had moderate and low impact on life of the male respondents respectively. Regarding female respondents, it was noticed that mobile had moderate impact in the areas including awareness about disease (M.S-2.41), physical fitness (M.S-2.39), awareness about diet/ nutrition (M.S- 2.34), physical exercise (M.S- 1.32), awareness about medicines (M.S-1.31) and meditation/ yoga (M.S-1.30).

It is indicated from the table that telephone had high impact on the life of male respondents in the areas of awareness about diseases (M.S. 2.60), awareness about medicines (M.S. 2.56) and moderate impact on awareness about physical fitness (M.S. 2.41), where as in case of female respondents telephone had high impact in the areas of awareness about physical fitness (M.S-2.60, Rank-I), awareness about disease (M.S- 2.52) and moderate impact on awareness about medicines (M.S-2.48).

It was depicted from the table that computer / internet had moderately influenced the life of male respondents in areas of awareness about physical fitness (M.S- 2.28), awareness about diet/ nutrition (M.S-2.15), physical exercise (M.S-2.09), awareness about disease (M.S-2.01) and meditation/ yoga (M.S- 1.96), respectively. Regarding impact on life of female respondents, it was found that computer/ internet had moderate impact on health issues related with awareness about

physical fitness (M.S-2.22), awareness about disease (M.S-2.17), meditation/ yoga (M.S- 2.15), awareness about diet/ nutrition (M.S- 2.00) and physical exercise (M.S-2.00).

Table -2 Impact of ICTS on health aspect of rural clientele

S. No.	Aspects of ICTs	Rural Male							Rural Female						
		Television	Radio	News paper	Magazine	Mobile	Telephone	Computer / Internet	Television	Radio	News paper	Magazine	Mobile	Telephone	Computer / Internet
		MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS	MS
1.	Awareness about health / nitrition	2.57	1.33	2.83	1.57	3.15	-	2.15	2.51	1.33	2.74	1.49	2.34	-	2.00
2.	Awareness about disease	2.41	1.38	2.68	1..57	2.93	-	2.01	2.30	1.37	2.50	1.54	2.41	2.52	2.17
3.	Awareness about physical fitnes	2.35	1.40	2.64	1.44	2.82	2.41	2.28	1.91	1.42	2.54	1.66	2.39	2.60	2.22
4.	Awareness about medicine	2.28	1.33	2.66	1.35	2.72	2.56	-	1.97	1.38	2.56	1.40	1.31	2.48	-
5.	Meditation / Yoga	2.55	1.29	2.55	1.35	1.88	-	1.96	-	1.29	2.13	1.49	1.30	-	2.15

Conclusion

Regarding information need seeking behavior of respondents it was found that majority of respondents were using ICTs for seeking information related to personal welfare, childrens' welfare, general awareness, better living standard and family welfare. Variety of information accessed by

respondents in health included respiratory illness, arthritis, water born disease, diet/ nutrition, snake bites, cancer, gynecology.

As a far as impact of eight ICTs on information need seeking behavior is concerned data revealed that in case of male respondents television, newspaper and mobile had high impact in areas of health whereas computer had moderate impact on health followed by radio which as low impact on health. In case of female respondents television, newspaper and mobile had high impact in areas of health followed by computer which has moderate impact on health. Radio had low impact on health of people.

References

Jhunjhunwala, Ashok and Menon, Roshini (2007). ICT to empower rural India. *Yojana* 51(8): 77-80.

Keshavmurthy, N . (2007). Radio village. *Yojana*. 51(3) 73-74.

Rao, UR (2007). Role of spaced technology in social transformation. Yojana. 51 (1): 78-79.

Sife, A. S, Kiondo, E., and Macha, J. C. L. (2010). Contribution of mobile phones to rural livelihoods and poverty reduction in Morogoro region, Tanazania. *EJISDC*, 42(3):1-15.

Received: 13.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

Effect of climate change on development and reproduction of *Nephus regularis* (Sicard)

Sweetee Kumari* **sweeteekmr106@gmail.com**

Sachin S. Suroshe† **sachinsuroshe@gmail.com**

ABSTRACT

The small coccinellid Nephus regularis (Sicard) (Coleoptera: Coccinellidae) has a high searching capacity and is an important biological control agent of the cotton mealybug, Phenacoccus solenopsis (Tinsley) (Hemiptera: Pseudococcidae). This mealybug has been described as a serious and invasive pest of cotton in Pakistan and India. Keeping this in view, the present study was carried out to observe the role of different temperatures on development and reproduction of different life stages of N. regularis. The development, reproduction and life table parameters of the predator N. regularis, the most important predator of the P. solenopsis were studied at four constant temperatures (25, 30, 35 and 40 ± 1°C, 65 ± 5% RH and a photoperiod of 16L:8D). The duration of different developmental life stages was found to decrease with increase in temperature from 50.6 days at 25°C to 13.3 days at 40°C. The oviposition period lasted 59, 46.33, 56, and 27 days at 25, 30, 35 and 40°C, respectively, with females laying an average of 148, 316.1, 230.3 and 114.2 eggs, respectively, at these four temperatures. Rate of mortality was minimum between the temperature range of 30-35ºC and maximum at upper and lower threshold temperatures. These results indicate that N. regularis can successfully survive and reproduce at temperatures of around 30°C and has the potential to be an effective biological control agent of P. solenopsis and other mealybugs in temperate regions.

Keywords:

Biological control, Coleoptera, Coccinellidae, Nephus regularis, Homiptera, Pseudococcidae, Cotton mealybug, Phenacoccus solenopsis (Tinsley), Temperature, Life table.

1. Introduction:

Global warming is one of the main factors responsible for the climate change, which may influence predator insect's development, reproduction and its population dynamics. *N. regularis* (Coleoptera: Coccinellidae) is an important biological control agent performing well for the control of soft bodied insects. This small coccinellid has a high searching capacity and is considered to be local predators for the control of the cotton mealybug, *P. solenopsis* (Hemiptera: Pseudococcidae). This

* **Assistant Professor, Depat. of Zoology, Shri Vishwanath PG College, Kalan, Sultanpur, U.P.**

† **Biocontrol Laboratory, Division of Entomology, ICAR-IARI, Pusa, New Delhi-110012, India**

mealybug has been described as a serious and invasive pest of cotton in Pakistan and India (Hodgson et al., 2008).

Being a polyphagous pest, the *P. solenopsis* has been recorded to feed on a number of cultivated crops including weeds (Patel et al. 2009). According to the recent information provided (Prishanthini and Vinobaba, 2011) *P.solenopsis* has been reported from 28 host plant species comprising 10 families in Sri Lanka. This cotton mealybug is one of the invasive species recently introduced and nowadays it is wide spread among various parts of the country. The mealybug *P. solenopsis* has a wide geographical distribution with its origin in Central America (Fuchs et al., 1991;Williams and Granara de Willink, 1992) followed by reports of the Caribbean and Ecuador (Ben-Dov,1994), Chile (Larrain, 2002), Argentina (Granara de Willink, 2003), Brazil (Mark and Gullan, 2005).

P.solenopsis has also been described as a serious and invasive pest of cotton in Pakistan and India (Hodgson *et al*., 2008) and on *Hibiscus rosa sinensis* in Nigeria (Akintola and Ande, 2008). Latest report on the invasiveness of *P. solenopsis* has been reported from the Eastern region of Sri Lanka (Prishanthini and Vinobaba, 2009) on ornamentals, vegetable crops, and weeds, and in China (Wang et al. 2009; Wu and Zhang, 2009) on shoe flower. A detailed comparative study of few species of *Phenacoccus* including the Indian and Pakistan species, and details on the existence of seasonal morphological variations in *P.solenopsis* were provided by Hodgson et al. (2008).

In spite of its occurrence as a pest of several agricultural and horticultural crops since last few years, the information regarding the effect of different temperatures on its biology was scanty. Therefore, the present study was carried out in the laboratory, to observe the role of different temperatures on reproduction and development of adult female and fourth instar of *N. regularis* so that the information generated may be used to formulate the management strategy of the pest.

2. Materials and Methods

2.1. Rearing of *N. regularis*

Male and female pairs of *N. regularis* were collected from the cotton fields infested with cotton mealybug*, P. solenopsis* at IARI, PUSA, New Delhi. All these pairs were reared in plastic jars having sprouted potatoes infested with cotton mealybug. Blotting sheet was put at the bottom of the jar for soaking moisture and honey dew. The mouth of a jar was covered with muslin cloth and tied with rubber band. Adult mating, egg laying and emergence of first instar grub were allowed in the same jar. After molting of first instar grubs, second instar grubs were separated from that jar to avoid cannibalism. Each second instar grub was transferred with camel hair brush into the individual Petri dish (200×20 mm) containing cotton leaf substrate provided with sufficient mixed population of cotton mealybug as food. Fresh cotton leaves were collected from the cotton fields and the base of petiole was cut. The cut end was inserted into the Petri dish (200 ×20 mm) having the solidified agar solution (2%) to keep the leaves fresh and tender for longer time. Every day, fresh mealybugs were added in the Petri dish till the emergence of adults from the grubs. The newly emerged adults were transferred in the jars having sprouted potatoes infested with cotton mealybug. The culture of *N. regularis* was maintained at controlled conditions as given above.

2.2. Rearing of *P. solenopsis*

Gravid females of cotton mealybug, *P. solenopsis* were collected from the cotton fields of Indian Agricultural Research Institute, PUSA, New Delhi. All these mealybugs were kept in a jar containing sprouted potatoes in the laboratory. The mouth of the jar was covered with muslin cloth and tied with rubber band. The culture of *P. solenopsis* was maintained at 25 ± 1°C temp, 65 ± 5% RH and a photoperiod of 16:8 (L: D) hours. This population was maintained as stock culture throughout the experimental study.

2.3 Experimental study

This study was conducted in the Biological Control Laboratory, Division of Entomology, ICAR-IARI, at controlled laboratory conditions (25 ± 1°C temp, 60 ± 5% RH and photoperiod of 16L: 8D). The experiment regarding the biology and life table parameters was performed at 4 constant temperatures: 25, 30, 35 and 40± 1°C. Five paired *N. regularis* were obtained from the stock population kept at four constant temperatures (25, 30, 35 and 40 ± 1°C) and were released into a colony of cotton mealybugs in a cylindrical container. Eight hours later, 100 eggs were removed and placed in Petri dishes, individually in order to avoid cannibalism, and were maintained under the same conditions in which they were laid. Newly emerged larvae were transferred to individual plastic containers having 1.5% agar in which a piece of sprouted potato infested with *P. solenopsis* that had been placed upside down in the middle of the container. Observations were made daily. Larval development and mortality were assessed at every 24 hours. After the emergence of adults, males and females were paired and checked daily to record their survival and fecundity.

2.4. Statistical analysis

3. Results

The duration of total pre-adult stage was found to decrease with increase in temperature from 50.6 days at 25°C to 13.3 days at 40°C. The oviposition period lasted 59, 46.33, 56, and 27 days at 25, 30, 35 and 40°C, respectively, with females laying an average of 167.33, 417.66, 662.66 and 140.33 eggs, respectively, at these four temperatures. Life table data were analyzed using an age-stage, two-sex life table.

Table 1: Impact of four different constant temperatures on developmental time and pre-adult mortality of Ladybird beetle, *N. regularis* (Sicard) fed on cotton mealybug, *P. solenopsis* (Tinsley)

Parameters	**Temperature**			
Developmental time (days)	25°C	30°C	35°C	40°C
Egg	10.3± 0.1 a	5.2± 0.1 b	3.1 ± 0.0 c	2.4 ± 0.1 c
1st instar	5.2±0.1 a	3.8± 0.0 b	2.2 ±0.0 c	1.8 ± 0.2 d
2nd instar	4.3±0.1 a	2.6± 0.0 b	1.3 ±0.0 c	1.2 ± 0.1c
3rd instar	5.4±0.1 a	2.8 ± 0.1 b	1.5 ±0.0 c	1.5 ±0.1 c
4th instar	9.3± 0.2 a	3.7 ± 0.2 b	2.2± 0.1 c	1.7 ±0.1 c
Pre-pupa	4.1± 0.1 a	2.1± 0.3 b	1.0± 0.2 c	1.1 ±0.1 c
Pupa	12± 0.5 a	6.2± 0.1 b	4.1 ± 0.1 c	2.6 ±0.1 d
Total pre-adult	50.6± 0.4 a	26.4 ± 0.1 b	15.4 ± 0.1 c	13.3 ± 0.5
Total pre-adult mortality	58± 0.2% a	32.6± 0.1% b	23± 0.5% c	55± 0.2% a

Table 2: Impact of four different constant temperatures on pre-oviposition period (APOP), total preoviposition period (TPOP), oviposition period, adult longevity and fecundity of Lady bird beetle, *N. regularis* (Sicard)fed on cotton mealybug, *P. solenopsis* (Tinsley)

Parameters	Temperature			
Adult longevity (days)	**25°C**	**30°C**	**35°C**	**40°C**
Female	158	94.33	120	45.333
Male	148	125	88.333	45.66
Adult pre-oviposition (days)				
APOP	14	6.33	4.33	4
TPOP	71	36	22	19.66
Oviposition	59	46.33	56	27
Fecundity (egg/female)	167.33	417.66	662.66	140.33
Maximum daily fecundity	13	24	30	21

*Given values are the means of three replication.

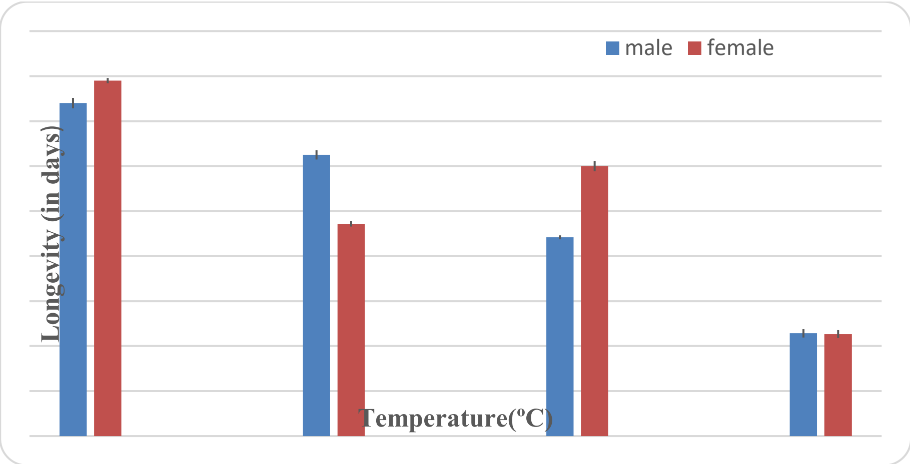

Fig. 1. Longevity of adult male and female *N. regularis* fed on *P. solenopsis.*

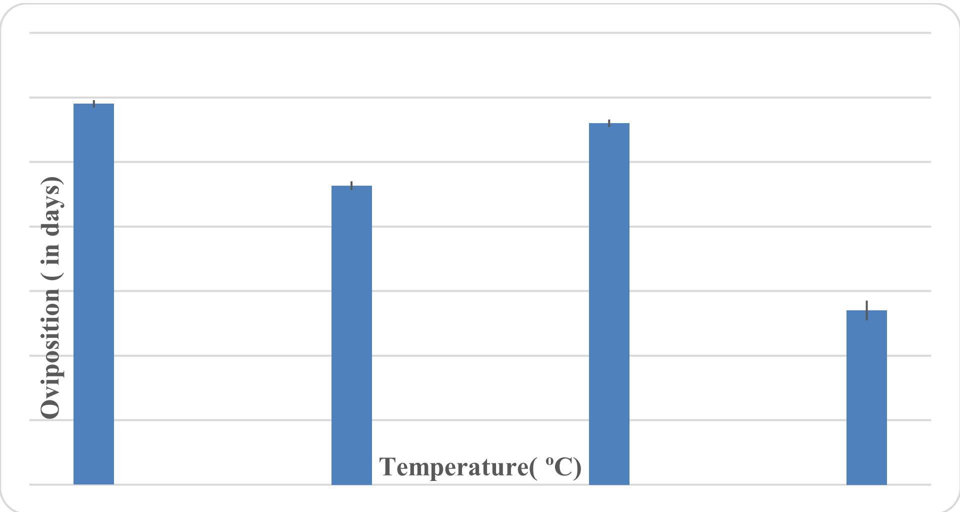

Fig. 1. Oviposition of adult female *N. regularis* fed on *P. solenopsis.*

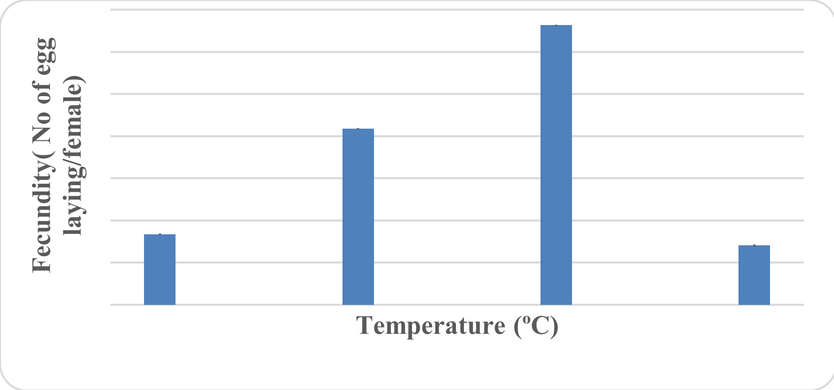

Fig. 1. Fecundity of adult female *N. regularis* fed on *P. solenopsis.*

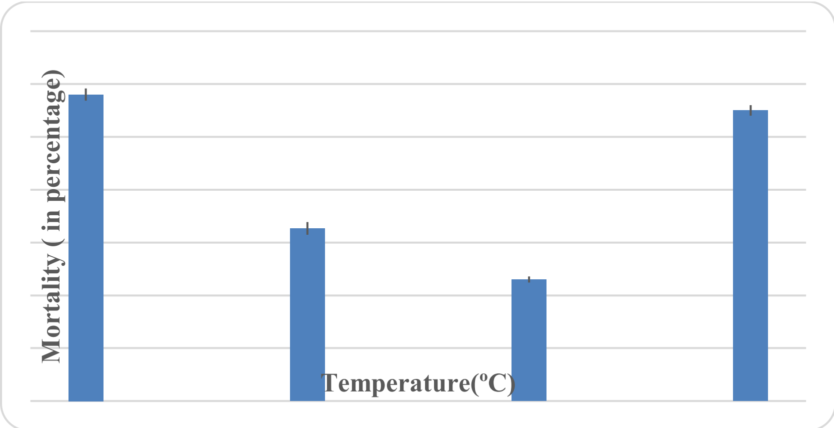

Fig. 1. Mortality of adult *N. regularis* fed on *P. solenopsis.*

Discussion:

The main abiotic factor regulating physiology, rate of development, life span and reproductive potential of poikilothermic organisms such as insects (Bale et al., 2002) is temperature. In the context of global warming, knowledge on the thermal thresholds of natural enemies is essential to predict their efficacy in the field, and to build climate-resilient Integrated Pest Management (IPM) frameworks. The present study indicates the profound effect of temperature on life history traits and survival of *N. regularis* feeding on the invasive cotton mealybug, *P. solenopsis*.

Our study revealed the classic inverse relationship between temperature and development time. The total pre-adult development period of *N. regularis* was significantly reduced from 50.6 days at 25°C to 13.3 days at 40°C. This rapid development of immaturity is a normal physiological response mediated by the upregulation of metabolic pathways up to the optimum threshold of the organism (Roy et al., 2002). Similar sharp drops in the duration of development at higher temperatures have been reported in other coccinellid predators like *S. syriacus* and *Cryptolaemus montrouzieri* reared on sap sucking hemipteran prey (Skouras et al., 2021).

Development rates increased continuously up to 40 °C, whereas pre-adult mortality exhibited a U-shaped response curve. Immature mortality was lowest at 35°C (23.0%). This suggests that *N. regularis* has a remarkably high thermal optimum compared to many other temperate and subtropical coccinellids. However, mortality rose sharply to 58.0% at 25°C and 55.0% at 40°C as temperature approached the extreme limits.

High juvenile mortality at 25°C suggests that the cooler temperatures act as a developmental bottleneck, perhaps delaying the population buildup in early spring. On the other hand, the high mortality rate at 40°C and the drastic reduction of the adult longevity (to ~45 days for both sexes) indicate the beginning of strong thermal stress. At 40°C, cellular damage, enzyme denaturation and metabolic exhaustion generally take over, resulting in the loss of the acceleration of development as this temperature approaches the upper lethal thermal threshold for the species (Neven, 2000).

Demographic parameters like adult pre-oviposition period (APOP), total pre-oviposition period (TPOP) and fecundity are good indicators of demographic fitness of a predator. In our study, APOP and TPOP were gradually shortened with the increase of temperature, which allowed females to switch to active reproduction much faster at higher temperature.

Importantly, the reproductive output peaked at 35°C, where the highest fecundity (662.66 eggs) and maximum daily fecundity (30 eggs/day) were observed in females. The large reproductive spike at 35°C, coupled with the lowest juvenile mortality rate, clearly shows that 35°C is the physiologically "sweet spot" for *N. regularis*. Total fecundity fell to 140.33 eggs/female when temperatures surpass this threshold to reach 40°C. This sharp drop-off provides further confirmation that excessive heat inhibits oogenesis and costs energy through increased metabolic maintenance requirements (Amarasekare & Savage, 2012).

The cotton mealybug, *P. solenopsis*, is a highly polyphagous and invasive pest that causes extensive economic damage across Pakistan, India, and Sri Lanka (Hodgson et al., 2008; Prishanthini & Vinobaba, 2011). Because *P. solenopsis* thrives and multiplies rapidly in warm, arid environments, effective biological control agents must match or exceed the pest's heat tolerance.

The findings that *N. regularis* performs optimally between 30°C and 35°C carries significant ecological weight. It implies that this predator is uniquely adapted to survive and aggressively propagate during hot summer months, which coincide with peak outbreaks of *P. solenopsis* in cotton-growing regions like New Delhi. While climate change and rising seasonal temperatures pose a threat to many sensitive natural enemies, *N. regularis* demonstrates an inherent thermal resilience that will allow it to persist and function effectively as a localized biocontrol agent even under moderate global warming scenarios.

Conclusion

The results showed that due to drastic increase in temperature, rate of egg laying, egg development and developmental period of each successive instar was down regulated as compared with normal temperature. Our study proves that congenial temperature is the best for its maximum activity and growth. These results indicate that *N. regularis* can successfully survive and reproduce at normal temperature and has the potential to be an effective biological control agent of *P. solenopsis* and other mealybugs in temperate region.

Acknowledgements

The financial help received from DST-SERB, GOI is gratefully acknowledged. We are grateful to the Director, ICAR-IARI and Head, Division of Entomology, ICAR-IARI for providing all the required facilities during the research work.

References

Akintola, A.J. and Ande, A.T., 2008. First record of Phenacoccus solenopsis Tinsley (Hemiptera: Pseudococcidae) on Hibiscus rosa-sinensis in Nigeria. Agricultural Journal (Medwell Journals,

Pakistan), 3(1), 1-3.

Amarasekare, P. and Savage, V., 2012. A framework for elucidating the temperature dependence of fitness. The American Naturalist, 179(2), 178-191.

Ben-Dov, Y., 1994. A systematic catalogue of the mealybugs of the world (Insecta: Homoptera: Coccoidea: Pseudococcidae and Putoidae) with data on geographical distribution, host plants, biology and economic importance. Intercept Limited, Andover, UK, 686.

Culik, M.P., dos Santos Martins, D. and Gullan, P.J., 2006. First record of two mealybug species in Brazil and new potential pests of papaya and coffee. Journal of Insect Science, 6(1), 23.

Fuchs, T.W., Stewart, J.W. Minzenmayer, R. and Rose, M., 1991. First record of Phenacoccus solenopsis Tinsley in cultivated cotton in the United States. South western Entomologist 16(3), 215-221.

Hodgson, C., Abbas, G., Arif, M.J., Saeed, S. and Karar, H., 2008. Phenacoccus solenopsis Tinsley (Sternorrhyncha: Coccoidea: Pseudococcidae), an invasive mealybug damaging cotton in Pakistan and India, with a discussion on seasonal morphological variation. Zootaxa, 1913. Larrain SP., 2002. Insect and mite pes incidence on sweet pepinos Solanum muricatum (Ait.) cultivated in the IV Region, Chile. Agricultura-Tecnica 62(1), 15-26.

Margaritopoulos, J.T., Kati, A.N., Voudouris, C.C., Skouras, P.J. and Tsitsipis, J.A., 2021. Long-term studies on the evolution of resistance of Myzus persicae (Hemiptera: Aphididae) to insecticides in Greece. Bulletin of Entomological Research, 111(1), 1-16.

Neven, L.G., 2000. Physiological responses of insects to heat. Postharvest Biology and Technology, 21(1), 103-111.

Patel, H.P., Patel, A.D. and Bhatt, N.A., 2009. Record of coccinellids predating on mealy bug, Phenacoccus solenopsis Tinsley (Homoptera: Pseudococcidae) in Gujarat. Insect Environ, 14(4), 179.

Prishanthini, M. and Vinobaba, M., 2011. A survey of mealybugs and their natural enemies in home gardens of Batticaloa, Sri Lanka. Proceedings of 10th Annual Research Session, Eastern University, Sri Lanka, 1-2.

Roy, D.P., Lewis, P.E. and Justice, C.O., 2002. Burned area mapping using multi-temporal moderate spatial resolution data- A bi-directional reflectance model-based expectation approach. Remote sensing of environment, 83(1-2), 263-286.

Walker, A., Hoy, M. and Meyerdirk, D., 2005. Papaya Mealybug, Paracoccus Marginatus Williams and Granara De Willink (Insecta: Hemiptera: Pseudococcidae): EENY-302/IN579, 8/2003.

Wang, Z., Gerstein, M. and Snyder, M., 2009. RNA-Seq: a revolutionary tool for transcriptomics. Nature reviews genetics, 10(1), 57-63.

Williams, D.J. and Granara de Willink, M.C., 1992. Mealybugs of Central and South America. CAB Internatonal, 635.

Wu, L., Zhang, Q., Zhou, H., Ni, F., Wu, X. and Qi, Y., 2009. Rice microRNA effector complexes and targets. The Plant Cell, 21(11), 3421-3435.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 14.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

राजस्थान एवं दिल्ली में दो वर्षीय बी.एड. इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की तुलनात्मक स्थिति: एक बहु-अभिधारक विश्लेषण

A Comparative Status of the Implementation of the Two-Year B.Ed. Internship Programme in Rajasthan and Delhi: A Multi-Stakeholder Analysis

प्रियंका मीना[*]
pinkumeena1111@gmail.com

डॉ. खीमाराम काक[†]
शोध मार्गदर्शक

सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य राजस्थान एवं दिल्ली में संचालित दो वर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम के अंतर्गत इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की तुलनात्मक स्थिति का बहु-अभिधारक दृष्टिकोण से विश्लेषण करना है। इंटर्नशिप कार्यक्रम शिक्षक-शिक्षा का एक केंद्रीय घटक है, जहाँ सैद्धांतिक ज्ञान का रूपांतरण व्यावहारिक दक्षताओं में होता है। अतः इसके कार्यान्वयन की वास्तविक स्थिति का परीक्षण शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता को समझने के लिए आवश्यक है। अध्ययन वर्णनात्मक एवं तुलनात्मक सर्वेक्षण पद्धति पर आधारित है। शोध में छात्राध्यापक, शिक्षक एवं प्राचार्य—तीनों अभिधारकों को सम्मिलित किया गया। छात्राध्यापकों ($N = 320$) एवं शिक्षकों ($N = 160$) से प्रश्नावली के माध्यम से दत्त संकलित किए गए, जबकि प्राचार्यों ($N = 32$) से अर्ध-संरचित साक्षात्कार के द्वारा गुणात्मक दत्त प्राप्त किए गए। मात्रात्मक दत्तों का विश्लेषण मध्यमान, मानक विचलन एवं स्वतंत्र न्यादर्श t-परीक्षण के माध्यम से किया गया, जबकि प्राचार्य-साक्षात्कारों का विश्लेषण थीमेटिक पद्धति से किया गया। परिणामों से स्पष्ट हुआ कि इंटर्नशिप कार्यक्रम का कार्यान्वयन दोनों राज्यों में औसत से ऊपर की स्थिति में है, तथापि राज्यवार अंतर सांख्यिकीय रूप से सार्थक पाया गया। छात्राध्यापक स्तर ($t = 10.40$, $p < 0.01$) तथा शिक्षक स्तर ($t = 6.03$, $p < 0.01$) पर दिल्ली की स्थिति राजस्थान की तुलना में अधिक सुदृढ़ पाई गई। प्राचार्य-आधारित गुणात्मक विश्लेषण से भी योजना की औपचारिकता, विद्यालय–महाविद्यालय समन्वय तथा संसाधनों की उपलब्धता में राज्यवार भिन्नता परिलक्षित हुई। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यद्यपि दोनों राज्यों में इंटर्नशिप कार्यक्रम संरचनात्मक रूप से लागू है, तथापि उसके संगठनात्मक नियंत्रण, प्रशासनिक स्पष्टता एवं कार्यान्वयन की एकरूपता में अंतर विद्यमान है। यह अध्ययन शिक्षक-शिक्षा कार्यक्रमों की गुणवत्ता-सुधार की दिशा में नीतिगत एवं व्यावहारिक संकेत प्रदान करता है।

कुंजी शब्द (Keywords): *बी.एड. इंटर्नशिप, कार्यान्वयन, तुलनात्मक अध्ययन, बहु-अभिधारक विश्लेषण, शिक्षक-शिक्षा*

1. प्रस्तावना

शिक्षक-शिक्षा कार्यक्रमों में इंटर्नशिप वह चरण है जहाँ प्रशिक्षणार्थी को वास्तविक विद्यालयी परिवेश में कार्य करने का अवसर मिलता है। दो वर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम में इंटर्नशिप को केवल औपचारिक आवश्यकता के रूप में नहीं, बल्कि व्यावसायिक दक्षताओं के विकास की अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में स्थापित किया गया है। कक्षा-शिक्षण, पाठ-योजना निर्माण, विद्यार्थियों से संवाद, विद्यालयी अनुशासन, अभिलेख-निर्माण तथा मूल्यांकन जैसी गतिविधियाँ प्रशिक्षणार्थी को शिक्षक की

[*] **शोधार्थी, शिक्षा संकाय, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)**

[†] **असिस्टेंट प्रोफेसर, विद्या भवन जी.एस. शिक्षक महाविद्यालय, उदयपुर**

वास्तविक भूमिका से परिचित कराती हैं। इस प्रकार इंटर्नशिप शिक्षक-शिक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आयामों के बीच सेतु का कार्य करती है।

यद्यपि इंटर्नशिप कार्यक्रम की संरचना राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित मानकों के अनुरूप होती है, तथापि उसके कार्यान्वयन की गुणवत्ता प्रायः राज्यवार एवं संस्थानवार भिन्न पाई जाती है। संसाधनों की उपलब्धता, विद्यालय–महाविद्यालय समन्वय, पर्यवेक्षण की नियमितता, दस्तावेज़ीकरण की प्रक्रिया तथा मूल्यांकन की स्पष्टता जैसे कारक कार्यक्रम की प्रभावशीलता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। इस संदर्भ में राजस्थान एवं दिल्ली जैसे दो भिन्न शैक्षिक परिवेशों में संचालित बी.एड. इंटर्नशिप कार्यक्रम की तुलनात्मक समीक्षा प्रासंगिक हो जाती है।

पूर्ववर्ती अध्ययनों में इंटर्नशिप के महत्व, चुनौतियों एवं अभिधारकों के प्रत्यक्षणों पर चर्चा की गई है, किंतु कार्यान्वयन की वास्तविक स्थिति का बहु-अभिधारक दृष्टिकोण से तुलनात्मक विश्लेषण अपेक्षाकृत सीमित रहा है। प्रस्तुत शोध पत्र इसी अंतर को संबोधित करता है। इसमें छात्राध्यापक, शिक्षक एवं प्राचार्य—तीनों स्तरों से प्राप्त दत्तों के आधार पर यह विश्लेषण किया गया है कि दोनों राज्यों में इंटर्नशिप कार्यक्रम का कार्यान्वयन किस सीमा तक प्रभावी, संगठित एवं संतुलित है।

इस अध्ययन का मूल प्रश्न यह है कि क्या राजस्थान एवं दिल्ली में इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति समान है, अथवा उसमें कोई सार्थक अंतर परिलक्षित होता है। इस प्रश्न का उत्तर न केवल तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता, नीति-निर्माण तथा संस्थागत समन्वय के लिए भी उपयोगी संकेत प्रदान करता है।

2. अध्ययन के उद्देश्य एवं परिकल्पना

2.1 अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य राजस्थान एवं दिल्ली में संचालित दो वर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम के अंतर्गत इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति का तुलनात्मक विश्लेषण करना है। इस व्यापक उद्देश्य को स्पष्ट करने हेतु निम्नलिखित विशिष्ट उद्देश्य निर्धारित किए गए—

1. छात्राध्यापकों के दृष्टिकोण से इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति का अध्ययन करना।
2. शिक्षकों के दृष्टिकोण से इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति का विश्लेषण करना।
3. प्राचार्यों के दृष्टिकोण से इंटर्नशिप कार्यक्रम के प्रशासनिक एवं संस्थागत कार्यान्वयन की स्थिति को समझना।
4. राजस्थान एवं दिल्ली में इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति का तुलनात्मक परीक्षण करना।

2.2 शून्य परिकल्पना

अध्ययन के तुलनात्मक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित शून्य परिकल्पना का परीक्षण किया गया—

H_{01}: "राजस्थान एवं दिल्ली में संचालित दो वर्षीय बी.एड. इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया जाता है।"

3. शोध-विधि

3.1 शोध की प्रकृति एवं रूपरेखा

प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक एवं तुलनात्मक सर्वेक्षण विधि पर आधारित है। इसका उद्देश्य राजस्थान एवं दिल्ली में संचालित दो वर्षीय बी.एड. इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करना तथा दोनों राज्यों के बीच विद्यमान अंतर की जाँच करना था।

अध्ययन में मात्रात्मक एवं गुणात्मक — दोनों प्रकार के दत्तों का उपयोग किया गया। छात्राध्यापक एवं शिक्षक स्तर पर प्रश्नावली आधारित दत्तों का सांख्यिकीय विश्लेषण किया गया, जबकि प्राचार्य स्तर पर अर्ध-संरचित साक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त प्रतिक्रियाओं का थीमेटिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार अध्ययन की रूपरेखा बहु-अभिधारक एवं मिश्रित प्रविधि पर आधारित रही।

3.2 न्यादर्श

अध्ययन में राजस्थान एवं दिल्ली के छात्राध्यापक, शिक्षक तथा प्राचार्य — तीनों अभिधारकों को सम्मिलित किया गया। तुलनात्मक विश्लेषण की दृष्टि से दोनों राज्यों से संतुलित न्यादर्श का चयन किया गया। न्यादर्श का वितरण निम्न सारणी में प्रस्तुत है—

सारणी 1

न्यादर्श का राज्यवार एवं अभिधारकवार वितरण

अभिधारक	राजस्थान	दिल्ली	कुल
छात्राध्यापक	160	160	320
शिक्षक	80	80	60
प्राचार्य	16	16	32
कुल	**256**	**256**	**512**

सारणी से स्पष्ट है कि अध्ययन में कुल 512 अभिधारकों को सम्मिलित किया गया, जिनमें दोनों राज्यों का समान प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया गया। इस संतुलित संरचना के कारण राज्यवार तुलनात्मक विश्लेषण अधिक विश्वसनीय रूप में संभव हुआ।

3.3 उपकरण

अध्ययन में स्वनिर्मित उपकरणों का उपयोग किया गया—

1. **छात्राध्यापक प्रश्नावली**: इसमें इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन से संबंधित प्रमुख क्षेत्रों— प्री-इंटर्नशिप तैयारी, शिक्षण-अभ्यास, विद्यालयी गतिविधियाँ, पर्यवेक्षण एवं मार्गदर्शन, दस्तावेज़ीकरण तथा मूल्यांकन को सम्मिलित किया गया।
2. **शिक्षक प्रश्नावली**: इसमें विद्यालय समन्वय, छात्राध्यापकों की तैयारी, निरीक्षण प्रक्रिया, दस्तावेज़ीकरण एवं प्रशासनिक सहयोग से संबंधित कथन सम्मिलित किए गए।
3. **प्राचार्य अर्ध-संरचित साक्षात्कार अनुसूची**: इसके माध्यम से योजना, समन्वय, संसाधन-उपलब्धता, प्रशासनिक प्रवृत्तियाँ एवं कार्यान्वयन से संबंधित अनुभव संकलित किए गए।

प्रश्नावलियों में पाँच-बिंदु लिकर्ट प्रकार का मानक प्रयुक्त किया गया।

3.4 दत्त विश्लेषण की प्रविधियाँ

मात्रात्मक दत्तों के विश्लेषण हेतु निम्न प्रविधियों का उपयोग किया गया— प्रतिशत, मध्यमान, मानक विचलन, स्वतंत्र न्यादर्श t-परीक्षण

गुणात्मक दत्तों का विश्लेषण थीमेटिक विश्लेषण पद्धति द्वारा किया गया, जिसके अंतर्गत समान प्रकृति के विचारों को समूहित कर प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान की गई।

4. परिणाम

4.1 कार्यान्वयन की स्थिति का स्तर निर्धारण

इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की वास्तविक स्थिति को केवल राज्यवार अंतर के आधार पर नहीं, बल्कि उसके गुणात्मक स्तर (निम्न, मध्यम अथवा उच्च) के आधार पर भी समझना आवश्यक था। इस उद्देश्य से छात्राध्यापक एवं शिक्षक प्रश्नावलियों के समग्र स्कोर के लिए संभावित न्यूनतम एवं अधिकतम स्कोर निर्धारित कर उन्हें तीन स्तरों में वर्गीकृत किया गया।

सारणी 2

इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति निर्धारण हेतु स्कोर-रेंज की व्याख्या

अभिधारक	कुल कथन	न्यूनतम स्कोर	अधिकतम स्कोर	निम्न स्तर	मध्यम स्तर	उच्च स्तर
छात्राध्यापक	22	22	110	22–51	52–81	82–110
शिक्षक	15	15	75	15–35	36–55	56–75

(क) छात्राध्यापक स्तर : राजस्थान का समग्र मध्यमान स्कोर 68.9 तथा दिल्ली का 78.5 पाया गया। दोनों स्कोर 52–81 की सीमा में आते हैं, अतः दोनों राज्यों में कार्यान्वयन की स्थिति **मध्यम स्तर** पर पाई गई। हालाँकि दिल्ली का मध्यमान राजस्थान से अधिक है, किंतु स्तर निर्धारण के आधार पर दोनों राज्यों को समान श्रेणी में रखा गया।

(ख) शिक्षक स्तर : राजस्थान का समग्र मध्यमान 50.5 तथा दिल्ली का 57.9 पाया गया। ये दोनों स्कोर 56–75 की सीमा में आते हैं, अतः शिक्षक दृष्टिकोण से भी दोनों राज्यों में कार्यान्वयन की स्थिति **उच्च स्तर** पर पाई गई। इससे यह संकेत मिलता है कि विद्यालयीय दृष्टि से कार्यक्रम को दिल्ली में अधिक संगठित एवं प्रभावी माना गया, जबकि राजस्थान में यह संतोषजनक (मध्यम) स्थिति में पाया गया।

(ग) प्राचार्य स्तर : प्राचार्य साक्षात्कार से प्राप्त दत्तों का विश्लेषण प्रतिशत-आधारित थीमेटिक वर्गीकरण द्वारा किया गया। अधिकांश प्रमुख थीमों (योजना, समन्वय, संसाधन, प्रशासनिक नियंत्रण) में 60 प्रतिशत से अधिक सकारात्मक प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुईं।

अतः प्राचार्य दृष्टिकोण से दोनों राज्यों में कार्यान्वयन की स्थिति को **मध्यम से उच्च स्तर के बीच** स्थित पाया गया। दिल्ली में औपचारिकता एवं प्रशासनिक संरचना अधिक स्पष्ट रही, जबकि राजस्थान में परिस्थितिजन्य लचीलापन प्रमुख विशेषता के रूप में सामने आया।

4.2 राज्यवार तुलनात्मक परीक्षण

स्थिति-स्तर निर्धारण के पश्चात यह जाँचा गया कि राजस्थान एवं दिल्ली के बीच प्राप्त अंतर सांख्यिकीय रूप से सार्थक है या नहीं।

सारणी 3

समग्र स्कोर का राज्यवार मध्यमान, मानक विचलन एवं t-परीक्षण परिणाम

अभिधारक	राज्य	N	मध्यमान	मानक विचलन	df	t-मान	निष्कर्ष
छात्राध्यापक	राजस्थान	160	68.9	8.6	318	10.40	सार्थक अंतर
	दिल्ली	160	78.5	7.9			
शिक्षक	राजस्थान	80	50.5	8.1	158	6.03	सार्थक अंतर
	दिल्ली	80	57.9	7.4			

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि:

- छात्राध्यापक स्तर पर t-मान 10.40 पाया गया, जो 0.01 स्तर पर सार्थक है। शिक्षक स्तर पर t-मान 6.03 पाया गया, जो भी 0.01 स्तर पर सार्थक है।
- अतः दोनों स्तरों पर राज्यवार अंतर सांख्यिकीय रूप से सार्थक सिद्ध हुआ।
- प्राचार्य स्तर पर गुणात्मक तुलनात्मक विश्लेषण से भी योजना की औपचारिकता, समन्वय की नियमितता तथा संसाधन-संगठन में प्रवृत्तिगत अंतर स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ।

समेकित परिणाम

समग्र विश्लेषण से निम्न प्रमुख निष्कर्ष सामने आए—

1. छात्राध्यापक दृष्टिकोण से दोनों राज्यों में कार्यान्वयन की स्थिति मध्यम स्तर पर पाई गई।
2. शिक्षक दृष्टिकोण से दिल्ली में स्थिति उच्च स्तर पर पाई गई, जबकि राजस्थान में स्थिति मध्यम स्तर पर पाई गई।
3. प्राचार्य दृष्टिकोण से स्थिति मध्यम से उच्च के मध्य स्थित पाई गई।
4. यद्यपि स्तर निर्धारण के आधार पर दोनों राज्य कई मामलों में समान श्रेणी में आते हैं, तथापि तुलनात्मक परीक्षण से यह स्पष्ट हुआ कि दिल्ली की स्थिति सांख्यिकीय रूप से राजस्थान की तुलना में अधिक सुदृढ़ पाई गई।
5. शून्य परिकल्पना अस्वीकृत हुई।

5. चर्चा

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य राजस्थान एवं दिल्ली में संचालित दो वर्षीय बी.एड. इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति का बहु-अभिधारक दृष्टिकोण से विश्लेषण करना तथा दोनों राज्यों के मध्य तुलनात्मक अंतर का परीक्षण करना था। परिणामों से यह स्पष्ट हुआ कि दोनों राज्यों में इंटर्नशिप कार्यक्रम का कार्यान्वयन समग्र रूप से संतोषजनक से उच्च स्तर के मध्य स्थित है, किंतु संरचनात्मक सुदृढ़ता, प्रशासनिक स्पष्टता एवं समन्वय की नियमितता के संदर्भ में राज्यवार अंतर विद्यमान है।

छात्राध्यापक दृष्टिकोण से प्राप्त मध्यम स्तर यह संकेत करता है कि कार्यक्रम के प्रमुख घटक — प्री-इंटर्नशिप तैयारी, शिक्षण-अभ्यास, पर्यवेक्षण, दस्तावेज़ीकरण एवं मूल्यांकन कार्यशील अवस्था में हैं, किंतु उनमें परिष्करण की संभावनाएँ भी विद्यमान हैं। विशेष रूप से समय-प्रबंधन, दस्तावेज़ीकरण भार तथा फीडबैक की स्पष्टता जैसे आयामों में सुधार की आवश्यकता परिलक्षित हुई। इससे यह स्पष्ट होता है कि कार्यक्रम का ढाँचा स्थापित है, परन्तु उसकी क्रियान्वयन-गुणवत्ता को और व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

शिक्षक दृष्टिकोण से प्राप्त उच्च स्तर इस तथ्य की पुष्टि करता है कि विद्यालयीय प्रणाली इंटर्नशिप को एक संरचित शैक्षिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार कर चुकी है। निरीक्षण, मार्गदर्शन एवं विद्यालय-समन्वय को अपेक्षाकृत सकारात्मक रूप में अनुभव किया गया। यह इंगित करता है कि विद्यालय स्तर पर कार्यक्रम का संस्थानीकरण अपेक्षाकृत सुदृढ़ है।

प्राचार्य स्तर पर उभरी प्रवृत्तियाँ इस विश्लेषण को एक प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करती हैं। दिल्ली में योजना की औपचारिकता, संप्रेषण की नियमितता तथा संसाधनों की उपलब्धता अधिक संगठित रूप में सामने आई, जबकि राजस्थान में परिस्थितिजन्य लचीलापन प्रमुख विशेषता के रूप में उभरा। यह अंतर मात्र संख्यात्मक नहीं, बल्कि संरचनात्मक एवं प्रक्रियात्मक प्रकृति का है।

सांख्यिकीय परीक्षणों द्वारा प्राप्त सार्थक t-मान यह संकेत करते हैं कि राज्यवार अंतर केवल अनुभवजन्य नहीं, बल्कि विश्लेषणात्मक रूप से पुष्ट है। तथापि यह भी ध्यान देने योग्य है कि दोनों राज्यों में स्थिति निम्न स्तर पर नहीं, बल्कि मध्यम से उच्च स्तर के बीच स्थित है। अतः यह अध्ययन सुधार की आवश्यकता का संकेत देता है, न कि विफलता का।

समेकित रूप से देखा जाए तो इंटर्नशिप कार्यक्रम दोनों राज्यों में क्रियाशील एवं संरचनात्मक रूप से स्थापित है, परन्तु प्रशासनिक एकरूपता, संसाधन-समता तथा समन्वय की निरंतरता के आयामों में राज्यवार भिन्नता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यही भिन्नता तुलनात्मक सार्थकता का आधार बनती है।

6. शैक्षिक निहितार्थ

प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्ष केवल तुलनात्मक अंतर को रेखांकित नहीं करते, बल्कि शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता उन्नयन हेतु व्यावहारिक संकेत भी प्रदान करते हैं। इंटर्नशिप कार्यक्रम शिक्षक-शिक्षा का केन्द्रीय घटक है; अतः इसके कार्यान्वयन की गुणवत्ता सीधे भावी शिक्षकों की व्यावसायिक दक्षता को प्रभावित करती है। इस अध्ययन से निम्नलिखित प्रमुख शैक्षिक निहितार्थ उभरकर सामने आते हैं—

6.1 पूर्व-इंटर्नशिप तैयारी का संस्थानीकरण : प्री-इंटर्नशिप तैयारी को केवल औपचारिक ओरिएंटेशन तक सीमित न रखकर उसे संरचित, गतिविधि-आधारित एवं परिणामोन्मुख बनाया जाना चाहिए। स्पष्ट अपेक्षाएँ, भूमिकाओं का लिखित निर्धारण तथा मूल्यांकन मानदंडों की पूर्व जानकारी छात्राध्यापकों की तैयारी को अधिक सुदृढ़ कर सकती है।

6.2 विद्यालय–महाविद्यालय समन्वय की संरचनात्मक सुदृढ़ता : अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि समन्वय की नियमितता कार्यक्रम की गुणवत्ता को प्रभावित करती है। अतः एक औपचारिक समन्वय तंत्र विकसित किया जाना चाहिए, जिसमें— पूर्व-निर्धारित समय-सारिणी, स्पष्ट संप्रेषण चैनल, भूमिका-निर्धारण दस्तावेज़, समस्या-निवारण तंत्र

इत्यादि सम्मिलित हों।

6.3 पर्यवेक्षण एवं मार्गदर्शन की गुणवत्ता में सुधार : नियमित निरीक्षण मात्र पर्याप्त नहीं है; उसकी गुणवत्ता एवं व्यवहारिक उपयोगिता भी महत्वपूर्ण है। मेंटर-शिक्षकों एवं पर्यवेक्षकों को प्रशिक्षण प्रदान कर उन्हें सहयोगात्मक मार्गदर्शक की भूमिका में सुदृढ़ किया जाना चाहिए। फीडबैक को संरचित, समयबद्ध एवं सुधारात्मक स्वरूप में विकसित किया जाना चाहिए।

6.4 दस्तावेज़ीकरण एवं शिक्षण-अभ्यास के बीच संतुलन : अध्ययन संकेत करता है कि अत्यधिक अभिलेखीय कार्य शिक्षण-अभ्यास की गुणवत्ता को प्रभावित कर सकता है। अतः दस्तावेज़ीकरण को यथार्थपरक, उद्देश्यपरक एवं संक्षिप्त बनाया जाना चाहिए, ताकि छात्राध्यापक का ध्यान वास्तविक शिक्षण अनुभव पर केंद्रित रह सके।

6.5 मूल्यांकन प्रक्रिया की पारदर्शिता एवं एकरूपता : मूल्यांकन मानदंडों की स्पष्टता और एकरूपता कार्यक्रम की विश्वसनीयता को सुदृढ़ करती है। राज्य स्तर पर एक मानकीकृत मूल्यांकन रूपरेखा विकसित कर उसे सभी संबद्ध संस्थानों में समान रूप से लागू किया जाना उपयुक्त होगा।

6.6 प्रशासनिक संरचना एवं संसाधन-समता : संसाधनों की समान उपलब्धता एवं प्रशासनिक स्पष्टता कार्यक्रम की स्थिरता को प्रभावित करती है। राज्यवार भिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए संसाधन-वितरण एवं निगरानी तंत्र को अधिक संतुलित एवं पारदर्शी बनाया जाना चाहिए।

समग्र रूप से यह अध्ययन संकेत देता है कि इंटर्नशिप कार्यक्रम की मूल संरचना सुदृढ़ है, किंतु उसकी प्रभावशीलता को और उन्नत करने के लिए संरचनात्मक स्पष्टता, समन्वय की नियमितता तथा मार्गदर्शन की गुणवत्ता पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि इन निहितार्थों को नीति एवं व्यवहार स्तर पर रूपांतरित किया जाए, तो शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता में दीर्घकालिक सुधार संभव है।

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य राजस्थान एवं दिल्ली में संचालित दो वर्षीय बी.एड. इंटर्नशिप कार्यक्रम के कार्यान्वयन की स्थिति का बहु-अभिधारक दृष्टिकोण से विश्लेषण एवं तुलनात्मक परीक्षण करना था। छात्राध्यापक, शिक्षक तथा प्राचार्य—तीनों स्तरों से प्राप्त दत्तों के समेकित विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि दोनों राज्यों में इंटर्नशिप कार्यक्रम संरचनात्मक रूप से स्थापित एवं कार्यशील है तथा इसे शिक्षक-शिक्षा का अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण घटक माना जाता है। प्री-इंटर्नशिप तैयारी, शिक्षण-अभ्यास, विद्यालयीय सहभागिता, पर्यवेक्षण, दस्तावेज़ीकरण तथा मूल्यांकन—सभी आयामों में कार्यक्रम की स्थिति औसत से ऊपर पाई गई।

तथापि, तुलनात्मक परीक्षण से यह स्थापित हुआ कि कार्यान्वयन की गुणवत्ता, प्रशासनिक संरचना, समन्वय की नियमितता तथा संसाधनों की उपलब्धता के संदर्भ में दोनों राज्यों के बीच सार्थक अंतर विद्यमान है। छात्राध्यापक एवं शिक्षक—दोनों स्तरों पर समग्र मध्यमान स्कोरों में अंतर सांख्यिकीय रूप से सार्थक पाया गया, जबकि प्राचार्य-आधारित थीमेटिक विश्लेषण ने भी प्रक्रियात्मक भिन्नताओं की पुष्टि की। दिल्ली में कार्यान्वयन अपेक्षाकृत अधिक संरचित, समयबद्ध एवं प्रशासनिक रूप से नियंत्रित परिलक्षित हुआ, जबकि राजस्थान में परिस्थितिजन्य लचीलेपन की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रही।

इस प्रकार, अध्ययन यह संकेत देता है कि इंटर्नशिप कार्यक्रम की मूल रूपरेखा प्रभावी है, परंतु उसकी कार्यान्वयन गुणवत्ता राज्यीय संदर्भों से प्रभावित होती है। अतः शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता सुदृढ़ करने हेतु समन्वित नीति, स्पष्ट मानदंड एवं संतुलित संसाधन-वितरण की आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्ययन बहु-अभिधारक दृष्टिकोण के माध्यम से इंटर्नशिप कार्यक्रम की वस्तुस्थिति को प्रमाणित करता है तथा तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में इसके सुधार की दिशा स्पष्ट करता है।

संदर्भ

Choudhary. (2022). Institutional implementation challenges in teacher education internship. *Indian Journal of Educational Administration, 14*(2), 55–70.

Government of India. (2012). *Report of the high-powered commission on teacher education (Justice J. S. Verma Commission Report)*. Ministry of Human Resource Development.

Government of India. (2020). *National education policy 2020*. Ministry of Education. https://www.education.gov.in/nep2020

Jargar, & Hussain. (2023). Stakeholders' perception towards B.Ed. internship programme. *Indian Journal of Teacher Education, 9*(1), 67–79.

Jha. (2021). Quality dimensions of teacher internship under NCTE framework. *Educational Review Quarterly, 28*(3), 112–126.

Kumar, & Thapa. (2018). Evaluation practices in teacher internship programmes. *Educational Perspectives, 22*(1), 41–56.

Longchar. (2022). Institutional coordination and internship effectiveness in teacher education. *Journal of Educational Planning and Administration, 36*(1), 89–104.

Ministry of Education. (2023). *All India survey on higher education 2021–22*. Government of India. http://aishe.gov.in

National Council for Educational Research and Training. (2005). *National curriculum framework 2005*. NCERT.

National Council for Educational Research and Training. (2008). *Implementation of two-year B.Ed. programme in Regional Institutes of Education*. NCERT.

National Council for Teacher Education. (2009). *National curriculum framework for teacher education*. NCTE.

National Council for Teacher Education. (2014). *Norms and standards for bachelor of education programme*. NCTE.

National Council for Teacher Education. (2016). *School internship: Framework and guidelines*. https://ncte-india.org

Thomas. (2012). Role of supervision in enhancing teaching practice. *Teaching and Teacher Education Review, 18*(4), 233–247.

University of Wisconsin–Madison. (n.d.). *Internship definition*. http://www.wisc.edu

Received: 15.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

सैन समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता और उर्ध्वगामी गतिशीलता

प्रमोद कुमार* **प्रो. पुष्पा चौधरी†**

pramodharshwal@gmail.com **pushpachaudhary0594@gmail.com**

शोध सार

यह शोध अध्ययन सैन (नाई) समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता के निर्माण और उर्ध्वगामी गतिशीलता के प्रयासों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक रूप से 'अशुद्ध' व्यवसाय (हजामत/बाल-कर्तन) से जुड़े इस समुदाय को जातीय पदानुक्रम में निम्न स्थान प्राप्त था। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा सुधारने हेतु सैन समाज ने तीन प्रमुख रणनीतियाँ अपनाईं (क) संस्कृतिकरण (ब्रिटिश काल की जनगणनाओं में स्वयं को ठाकुर, ब्राह्मण एवं नाई-ब्राह्मण घोषित करना), (ख) 'सैनिकरण' (भक्ति संत भगत सैन को प्रतीक बनाकर सांस्कृतिक पूँजी का सृजन), एवं (ग) आधुनिकीकरण (शिक्षा, आधुनिक रोजगार एवं अन्य पिछड़ा वर्ग आरक्षण)।

अध्ययन का सैद्धांतिक ढाँचा एम.एन. श्रीनिवास के संस्कृतिकरण एवं पाश्चात्यीकरण की अवधारणाओं पर आधारित है, तथा 'सैनिकरण' को प्रतीकात्मक पूँजी के सृजन के रूप में विश्लेषित करता है। 'सैनिकरण' पारंपरिक संस्कृतिकरण से इस मायने में भिन्न है कि यह उच्च जातियों के प्रतीकों को अपनाने के स्थान पर स्वयं नए सांस्कृतिक प्रतीकों (भगत सैन, सैनाचार्य, अखिल भारतीय सैन भक्तिपीठ ट्रस्ट) का सृजन करता है, जो समुदाय को सांस्कृतिक स्वायत्तता एवं गौरव प्रदान करता है।

शोध गतिशीलता का विश्लेषण तीन स्तरों व्यक्तिगत (प्रतिभाशाली व्यक्तियों की उन्नति), पारिवारिक (भूमि एवं शिक्षा में निवेश), एवं सामूहिक ('सैनिकरण' एवं अन्य पिछड़ा वर्ग आंदोलन) पर करता है। तथापि, आलोचनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि ये सभी प्रयास जातीय पदानुक्रम की संरचना को चुनौती देने के स्थान पर उसमें स्थान-परिवर्तन मात्र लाते हैं। अर्थात, सैन समाज ने 'जाति-प्रथा' को समाप्त नहीं किया, वरन् उसमें ऊपर उठने का प्रयास किया यही इस अध्ययन का सबसे बड़ा विरोधाभास है।

अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि सैन समाज की गतिशीलता ने सांस्कृतिक आत्मविश्वास एवं सामाजिक-आर्थिक अवसर तो उत्पन्न किए हैं, किंतु जाति-आधारित भेदभाव की मूल संरचना को समाप्त नहीं किया है। यह शोध भारतीय जाति गतिशीलता, सामाजिक गतिशीलता एवं सांस्कृतिक अस्मिता की जटिल प्रक्रियाओं को समझने में योगदान देता है। भविष्य के शोध हेतु क्षेत्रीय अनुभवजन्य अध्ययन, अन्य अन्य पिछड़ा वर्ग समुदायों से तुलनात्मक विश्लेषण, एवं लैंगिक परिप्रेक्ष्य को शामिल करने के सुझाव दिए गए हैं।

बीज शब्द:- सैनिकरण, पाश्चात्यीकरण, सांस्कृतिक अस्मिता,जातीय पदानुक्रम, उर्ध्वगामी गतिशीलता।

प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक व्यवस्था, अपनी जटिल जातीय संरचना के कारण, सदैव से समाजशास्त्रियों के लिए अध्ययन का एक केन्द्रीय विषय रही है। इस बहुस्तरीय व्यवस्था में विभिन्न जातियाँ एवं समुदाय अपनी स्थिति, प्रतिष्ठा एवं पहचान को

* **राजनीति विज्ञान विभाग, पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय, सीकर**

† **प्रचार्य, राजकीय महाविद्यालय, लोसल (सीकर), राजस्थान**

लेकर निरंतर गतिशील रहते हैं। ऐसे ही एक समुदाय का नाम है सैन समाज, जिसे पारंपरिक रूप से 'नाई' जाति के नाम से जाना जाता है। यह अध्ययन इसी समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता के निर्माण और उर्ध्वगामी गतिशीलता के प्रयासों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

सैन समाज का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। पारंपरिक रूप से यह समुदाय नाई-कार्य (हजामत) से जुड़ा रहा है, जिसे हिंदू जाति व्यवस्था में अपेक्षाकृत निम्न स्थान प्राप्त था। 'अशुद्धि' की धारणा से जुड़ा यह व्यवसाय उन्हें जातीय पदानुक्रम के निचले पायदान पर रखता था। तथापि, इस समाज ने अपनी स्थिति को चुनौती देते हुए सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान के लिए अनेक प्रयास किए हैं। यह अध्ययन उन्हीं प्रयासों जिनमें संस्कृतिकरण, पाश्चात्यीकरण और 'सैनिकरण' जैसी प्रक्रियाएँ शामिल हैं का विश्लेषणात्मक विवेचन करता है।

इस शोध का केन्द्रीय बिन्दु 'सैनिकरण' की अवधारणा है एक ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया जिसके माध्यम से सैन समाज ने भक्ति काल के संत भगत सैन को अपना प्रतीक बनाकर अपनी अस्मिता का पुनर्निर्माण किया है। 1992 में अखिल भारतीय सैन भक्तिपीठ ट्रस्ट की स्थापना एवं 'सैनाचार्य' की संस्था इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। यह प्रक्रिया एम.एन. श्रीनिवास के संस्कृतिकरण के सिद्धांत की नई व्याख्या प्रस्तुत करती है, जहाँ कोई समुदाय अपने लिए न केवल उच्च जातीय प्रतीकों को अपनाता है, वरन् स्वयं नए सांस्कृतिक प्रतीकों का सृजन करता है।

उर्ध्वगामी गतिशीलता के संदर्भ में यह अध्ययन तीन स्तरों व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामूहिक पर सैन समाज की प्रगति का मूल्यांकन करता है। ऐतिहासिक रूप से, ब्रिटिश काल की जनगणनाओं में इस समाज ने स्वयं को 'ठाकुर', 'ब्राह्मण' एवं 'नाई ब्राह्मण' घोषित करने के प्रयास किए, जो संस्कृतिकरण के शास्त्रीय उदाहरण हैं। वर्तमान में, शिक्षा एवं आधुनिक रोजगार के माध्यम से यह समाज पारंपरिक व्यवसाय से बाहर निकलकर सामाजिक-आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर है। अन्य पिछड़ा वर्ग का दर्जा उन्हें राजनीतिक एवं सामाजिक पहचान प्रदान करता है, जो गतिशीलता का एक नया आयाम है।

तथापि, यह अध्ययन कुछ जटिल प्रश्नों को भी उठाता है क्या 'सैनिकरण' और संस्कृतिकरण जैसी प्रक्रियाएँ वास्तविक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाती हैं, अथवा वे केवल प्रतीकात्मक पहचान-परिवर्तन मात्र हैं? क्या ये प्रयास जातीय पदानुक्रम की मूल संरचना को चुनौती देते हैं, अथवा उसे स्वीकार करते हुए उसमें ऊपर उठने का प्रयास मात्र हैं? ये प्रश्न इस अध्ययन को न केवल एक ऐतिहासिक-वर्णनात्मक अध्ययन बनाते हैं, वरन् एक आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय विवेचन का रूप भी प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन सैन समाज की यात्रा को एक निम्न-स्तरीय व्यावसायिक जाति से लेकर एक सांस्कृतिक रूप से जागरूक एवं आर्थिक रूप से गतिशील समुदाय तक विभिन्न समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के आलोक में विश्लेषित करता है। यह न केवल सैन समाज की अस्मिता एवं गतिशीलता को समझने का प्रयास है, वरन् भारतीय सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता को समझने का एक व्यापक प्रयास भी है।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

इस अध्ययन का सैद्धांतिक आधार मुख्यतः एम.एन. श्रीनिवास के द्वारा प्रतिपादित संस्कृतिकरण एवं पाश्चात्यीकरण की अवधारणाओं पर आधारित है, किंतु यह उनसे अग्रसर होकर 'सैनिकरण' जैसी अनोखी सांस्कृतिक रणनीति का भी विश्लेषण करता है।श्रीनिवास के अनुसार, "संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न जाति या जनजाति, उच्च जाति (प्रायः द्विजों) की रीति-रिवाजों, विचारधारा, आहार-व्यवहार एवं जीवन-शैली को ग्रहण करके अपनी सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने का प्रयास करती है।" सैन समाज ने ब्रिटिश काल की जनगणनाओं (1921 में ठाकुर, 1931 में ब्राह्मण, 1941 में नाई-ब्राह्मण) में इसी प्रक्रिया को अपनाया है।

तथापि, श्रीनिवास ने यह भी स्पष्ट किया कि संस्कृतिकरण संरचनात्मक परिवर्तन न लाकर केवल स्थानीय परिवर्तन लाता है अर्थात, जातियाँ पदानुक्रम में ऊपर-नीचे हो सकती हैं, किंतु पदानुक्रम की संरचना अपरिवर्तित रहती है। यही वह बिन्दु है जहाँ यह अध्ययन आलोचनात्मक दिशा लेता है और प्रश्न उठाता है क्या 'सैनिकरण' वास्तव में जातीय वर्चस्व को चुनौती देता है, अथवा वह उसी व्यवस्था को स्वीकार कर उसमें ऊपर उठने का एक नया रास्ता मात्र है?

'सैनिकरण' की अवधारणा इस शोध की केन्द्रीय नवीनता है। यह कोई पारंपरिक संस्कृतिकरण नहीं, वरन् प्रतीकात्मक पूँजी का सृजन है, जहाँ समुदाय भक्ति काल के संत भगत सैन (जिन्होंने जाति-व्यवस्था के वर्चस्ववादी मूल्यों को चुनौती दी) को अपना आदर्श बनाकर एक नई सांस्कृतिक अस्मिता गढ़ता है। 1992 में अखिल भारतीय सैन भक्तिपीठ ट्रस्ट की स्थापना एवं 'सैनाचार्य' पद का सृजन इस रणनीति का संस्थागत स्वरूप है।

इसके अतिरिक्त, पाश्चात्यीकरण का सिद्धांत भी इस अध्ययन के लिए प्रासंगिक है, क्योंकि आधुनिक शिक्षा, सेना, नौकरशाही एवं अन्य संस्थाओं ने सैन समाज को पारंपरिक व्यवसाय से बाहर निकलकर नए अवसर प्रदान किए हैं। बी.आर. अम्बेडकर का यह कथन भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है "शिक्षा, संगठन और संघर्ष ये तीन शक्तियाँ ही किसी समुदाय को उत्थान की ओर ले जा सकती हैं।"

शोध-प्रश्न

इस सैद्धांतिक ढाँचे के आधार पर, अध्ययन निम्नलिखित चार केन्द्रीय शोध प्रश्नों पर आधारित है

1. सैन समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता का निर्माण किन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ है?
2. 'सैनिकरण' की अवधारणा सैन समाज के लिए किस प्रकार सांस्कृतिक पूँजी का कार्य करती है ?
3. सैन समाज की उर्ध्वगामी गतिशीलता के प्रयास संस्कृतिकरण, पाश्चात्यीकरण एवं आधुनिकीकरण—किस सीमा तक सफल हुए हैं?
4. क्या ये गतिशीलता के प्रयास जातीय पदानुक्रम की संरचना को चुनौती देते हैं, अथवा वे केवल उसी पदानुक्रम को स्वीकार कर उसमें ऊपर उठने की कोशिश मात्र हैं?

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सैन समाज, जिसे संस्कृत में 'नापित' और हिंदी-उर्दू में 'नाई' कहा जाता है, भारतीय जाति व्यवस्था के उन समुदायों में सम्मिलित है जिनका पारंपरिक व्यवसाय बाल-कर्तन (हजामत), नाखून काटना और शारीरिक शुद्धि से जुड़ी सेवाएँ प्रदान करना रहा है। मनुस्मृति एवं अन्य धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में इस व्यवसाय को 'अशुद्ध' माना गया, क्योंकि यह मृत त्वचा, बाल एवं अन्य शारीरिक अपशिष्ट पदार्थों से संबंधित था। परिणामस्वरूप, सैन समाज को जातीय पदानुक्रम में शूद्र के अंतर्गत रखा गया, जो सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से निम्न स्थान को दर्शाता है।

तथापि, सैन समाज की भूमिका केवल नाई-कार्य तक सीमित नहीं थी। ग्रामीण समाज में उनकी एक महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका भी थी। वे विवाह, मुंडन, यज्ञोपवीत जैसे संस्कारों में संदेशवाहक का कार्य करते थे। कई क्षेत्रों में वे शादी-विवाह के गवैये और लोक-गाथाओं के वाचक भी होते थे। इस प्रकार, उनकी पारंपरिक अस्मिता दोहरी थी—एक ओर वे 'अशुद्ध' व्यवसाय से जुड़े निम्न जाति के लोग थे, तो दूसरी ओर वे ग्रामीण सामाजिक-धार्मिक जीवन के अभिन्न अंग थे।

सैन समाज में पौराणिक आख्यान भी प्रचलित हैं, जो उनकी उत्पत्ति को राजा नभि (इक्ष्वाकु वंश) से जोड़ते हैं। यह आख्यान उनके लिए प्रतीकात्मक पूँजी का कार्य करता है, जो उन्हें क्षत्रिय परंपरा से जोड़कर उनकी प्रतिष्ठा को उन्नत करने का प्रयास करता है। ऐसे आख्यान भारतीय जाति व्यवस्था में सामान्य हैं, जहाँ निम्न जातियाँ अपने लिए गौरवशाली अतीत का निर्माण करती हैं। यही वह सांस्कृतिक आधार है, जिस पर बाद में 'सैनिकरण' एवं संस्कृतिकरण जैसी प्रक्रियाएँ विकसित हुईं।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट होता है कि सैन समाज की अस्मिता व्यवसाय-केन्द्रित थी, जो उन्हें निम्न स्थान पर रखती थी, किंतु साथ ही उनकी सांस्कृतिक भूमिका उन्हें ग्रामीण जीवन में एक विशेष स्थान भी प्रदान करती थी। यही द्वंद्व उनके उर्ध्वगामी गतिशीलता के प्रयासों का आधार बना—एक ओर वे अपने निम्न स्थान से मुक्ति चाहते थे, तो दूसरी ओर वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखना चाहते थे।

सैनिकरण

'सैनिकरण' सैन समाज की वह अनोखी सांस्कृतिक रणनीति है, जिसके माध्यम से उन्होंने अपनी अस्मिता को पुनःपरिभाषित किया है। यह प्रक्रिया भक्ति काल के संत एवं कवि भगत सैन को केन्द्र में रखकर विकसित हुई है। भगत सैन, जो संत कबीर के समकालीन थे, ने अपनी वाणी में जाति-पाँति, ऊँच-नीच और वर्चस्ववादी मूल्यों को तीखी चुनौती दी थी। कबीर यह कथन "जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान" सैन समाज के लिए आदर्श वाक्य बन गया।

'सैनिकरण' की प्रक्रिया को तीन स्तरों पर समझा जा सकता है

प्रतीक-निर्माण का स्तर: समाज ने भगत सैन को 'देवत्व' प्रदान किया और उन्हें अपना 'आराध्य' घोषित किया। यह केवल धार्मिक श्रद्धा नहीं, वरन् एक सांस्कृतिक प्रतीक की स्थापना थी, जो पूरे समुदाय को एक सूत्र में बाँधता था। इस प्रतीक के माध्यम से सैन समाज ने अपने लिए एक गौरवशाली आध्यात्मिक विरासत का निर्माण किया, जो उनके पारंपरिक व्यावसायिक व्यवसाय से कहीं ऊपर की पहचान थी।

संस्थागत ढाँचे का स्तर: 1992 में अखिल भारतीय सैन भक्तिपीठ ट्रस्ट की स्थापना इस प्रक्रिया को संस्थागत रूप प्रदान करने वाला महत्वपूर्ण कदम था। उज्जैन के महाकुंभ में इस ट्रस्ट की स्थापना ने सैन समाज को एक राष्ट्रीय मंच प्रदान किया। 'सैनाचार्य' पद का सृजन एवं प्रथम सैनाचार्य के रूप में आचलानंदजी महाराज की नियुक्ति ने इस प्रक्रिया को धार्मिक-सांस्कृतिक वैधता प्रदान की।

सांस्कृतिक स्वायत्तता का स्तर: 'सैनिकरण' ने सैन समाज को सांस्कृतिक स्वायत्तता प्रदान की अर्थात, वे अब अपनी अस्मिता के लिए उच्च जातियों पर आश्रित नहीं थे। उन्होंने स्वयं अपने पवित्र ग्रंथों, तीर्थस्थलों और परंपराओं का निर्माण किया। यह श्रीनिवास के संस्कृतिकरण से एक महत्वपूर्ण भिन्नता है, क्योंकि संस्कृतिकरण में निम्न जातियाँ उच्च जातियों के प्रतीकों को अपनाती हैं, जबकि 'सैनिकरण' में समाज स्वयं नए प्रतीकों का सृजन करता है।

संस्कृतिकरण

सैन समाज की उर्ध्वगामी गतिशीलता का सबसे प्रारंभिक एवं व्यवस्थित प्रयास ब्रिटिश काल की जनगणनाओं के माध्यम से देखने को मिलता है। यह वह दौर था जब जातियाँ अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए जनगणना में स्वयं को उच्च वर्णों से जोड़ने का प्रयास करती थीं। एम.एन. श्रीनिवास ने इसी प्रक्रिया को 'संस्कृतिकरण का नाम दिया जिसके अंतर्गत निम्न जातियाँ उच्च जातियों (प्रायः द्विजों) की रीति-रिवाजों, विचारधारा, आहार-व्यवहार एवं जीवन-शैली को अपनाकर अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने का प्रयास करती हैं। सैन समाज ने इस प्रक्रिया को तीन चरणों में अपनाया

1. 1921 की जनगणना : इस वर्ष सैन समाज ने स्वयं को 'ठाकुर' घोषित करने का प्रयास किया, जो क्षत्रिय वर्ण से जुड़ी एक प्रतिष्ठित उपाधि है।

2. 1931 की जनगणना : इस बार उन्होंने एक कदम और आगे बढ़ते हुए स्वयं को 'ब्राह्मण' घोषित करने का दावा किया, जो जातीय पदानुक्रम का सर्वोच्च स्थान है।

3. 1941 की जनगणना : अब उन्होंने एक समझौतापूर्ण रास्ता अपनाते हुए 'नाई ब्राह्मण' नाम की मांग की, जो उनके पारंपरिक व्यवसाय (नाई) एवं आकांक्षी वर्ण (ब्राह्मण) का एक संकर रूप था।

ये दावे केवल नाम-परिवर्तन मात्र नहीं थे, वरन् इसके साथ ही सैन समाज ने उच्च जातियों की जीवन-शैली, रीति-रिवाज, भोजन-व्यवस्था एवं विवाह-संबंधी प्रथाओं को भी अपनाने का प्रयास किया। यह संस्कृतिकरण की शास्त्रीय प्रक्रिया का पूर्ण रूप से पालन था।

तथापि, श्रीनिवास ने स्पष्ट किया कि संस्कृतिकरण संरचनात्मक परिवर्तन नहीं, वरन् स्थानीय परिवर्तन लाता है। अर्थात, जातियाँ पदानुक्रम में ऊपर-नीचे हो सकती हैं, किंतु पदानुक्रम की संरचना अपरिवर्तित रहती है ऊँच-नीच का भेदभाव यथावत बना रहता है। इस दृष्टि से सैन समाज के ये प्रयास प्रतीकात्मक गतिशीलता थे, जिनका वास्तविक सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर सीमित प्रभाव पड़ा। फिर भी, इन प्रयासों ने समुदाय में सांस्कृतिक चेतना एवं संगठन की भावना को जन्म दिया, जो बाद में 'सैनिकरण' एवं आधुनिक गतिशीलता की नींव बनी।

आधुनिक गतिशीलता की स्थिति

यदि संस्कृतिकरण सैन समाज की गतिशीलता की पारंपरिक रणनीति थी, तो शिक्षा, आधुनिक रोजगार एवं अन्य पिछड़ा वर्ग का दर्जा इसकी आधुनिक रणनीति है। एम.एन. श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को 'पाश्चात्यीकरण' की संज्ञा दी जो ब्रिटिश शासन के 150 वर्षों के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में आए परिवर्तनों की समग्र प्रक्रिया है। इसमें शिक्षा, सेना, नौकरशाही, कानून, परिवहन एवं संचार के नए साधन सम्मिलित हैं, जिन्होंने जन्म-आधारित स्थिति के स्थान पर योग्यता-आधारित गतिशीलता के अवसर प्रदान किए। सैन समाज के लिए यह परिवर्तन अत्यंत सार्थक रहा है

शिक्षा: समुदाय के शिक्षित वर्ग ने पारंपरिक नाई-कार्य से हटकर शिक्षण, प्रशासनिक सेवाएँ, इंजीनियरिंग, चिकित्सा एवं अन्य पेशेवर क्षेत्रों में प्रवेश किया। शिक्षा उनके लिए 'सामाजिक गतिशीलता का पासपोर्ट' बन गई, जैसा कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों में सामान्यतः देखा जाता है।

आधुनिक रोजगार: सेना, पुलिस, रेलवे, बैंक एवं अन्य सरकारी एवं गैर-सरकारी क्षेत्रों में सैन समाज के लोगों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। यह पीढ़ीगत गतिशीलता का उदाहरण है, जहाँ एक पीढ़ी पारंपरिक व्यवसाय छोड़कर अगली पीढ़ी को शिक्षित एवं आधुनिक रोजगार-योग्य बनाती है।

अन्य पिछड़ा वर्ग की स्थिति: भारत सरकार द्वारा सैन समाज को अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल किया गया है। यह कानूनी पहचान उन्हें शिक्षा एवं नौकरियों में आरक्षण का लाभ प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त, यह उन्हें एक सामूहिक राजनीतिक पहचान भी देती है, जिसके माध्यम से वे अपने अधिकारों एवं हितों के लिए संगठित हो सकते हैं।

तथापि, यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अन्य पिछड़ा वर्ग का दर्जा एक दोहरी तलवार है एक ओर यह आरक्षण का लाभ देता है, तो दूसरी ओर यह 'पिछड़ेपन' का लेबल भी चिपकाता है, जो सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए चुनौतीपूर्ण हो सकता है। फिर भी, कुल मिलाकर ये आधुनिक रणनीतियाँ सैन समाज के लिए पारंपरिक संस्कृतिकरण की तुलना में अधिक ठोस एवं यथार्थ गतिशीलता लाई हैं।

आलोचनात्मक विश्लेषण

सैन समाज की अस्मिता एवं गतिशीलता के इस अध्ययन में कुछ जटिल प्रश्न एवं विरोधाभास उभरकर आते हैं, जिन्हें समाजशास्त्रीय दृष्टि से अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह आलोचनात्मक विश्लेषण अध्ययन को केवल वर्णनात्मक से ऊपर उठाकर विवेचनात्मक बनाता है।

'सैनिकरण' एक ओर भक्ति संत भगत सैन के माध्यम से जाति व्यवस्था के वर्चस्ववादी मूल्यों को चुनौती देता है, क्योंकि भगत सैन ने ऊँच-नीच, आडंबर एवं ब्राह्मणवादी दमन का विरोध किया। दूसरी ओर, यही प्रक्रिया सांस्कृतिक प्रतीकों के निर्माण के माध्यम से उसी पदानुक्रम में ऊपर उठने का प्रयास करती है। यह एक द्वंद्व है समाज एक साथ परिवर्तन की आकांक्षा करता है और परंपरा को स्वीकार भी करता है। क्या यह वास्तविक मुक्ति है, अथवा उसी जंजीर को सोने का रंग देने का प्रयास?

श्रीनिवास ने स्पष्ट किया कि संस्कृतिकरण संरचनात्मक परिवर्तन न लाकर केवल स्थानीय परिवर्तन लाता है। अर्थात, जातियाँ पदानुक्रम में ऊपर-नीचे हो सकती हैं, किंतु 'जाति-प्रथा' की संरचना जहाँ कुछ जातियाँ श्रेष्ठ एवं कुछ निम्न मानी जाती हैं अपरिवर्तित रहती है। सैन समाज के प्रयासों ने क्या जाति-प्रथा को समाप्त किया? नहीं, उन्होंने केवल अपना स्थान बदलने का प्रयास किया।

अन्य पिछड़ा वर्ग आरक्षण ने सैन समाज को शिक्षा एवं रोजगार में अवसर तो प्रदान किए, किंतु साथ ही 'पिछड़ेपन' का लेबल भी चिपका दिया। यह पहचान की दोहरी तलवार है एक ओर यह संसाधन देती है, तो दूसरी ओर यह सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए बाधक बन सकती है, विशेषकर जब समुदाय अपनी 'ब्राह्मण' या 'क्षत्रिय' होने की दावेदारी कर चुका हो।

अध्ययन से स्पष्ट है कि जिनके पास भूमि एवं आर्थिक पूँजी थी, वे शिक्षा में अधिक निवेश कर पाए। सैन समाज के भीतर उप-जातियाँ एवं आर्थिक स्तर हैं। क्या यह गतिशीलता समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँची है, अथवा केवल उच्च-शिक्षित एवं समृद्ध वर्ग तक सीमित रही? यह एक अनुत्तरित प्रश्न है, जिसके लिए क्षेत्रीय अनुभवजन्य अध्ययन की आवश्यकता है।

गतिशीलता के स्तर:

सैन समाज की उर्ध्वगामी गतिशीलता को समझने के लिए उसे तीन स्तरों में विभाजित करना आवश्यक है व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामूहिक। यह विभाजन हमें यह समझने में सहायता करता है कि गतिशीलता कहाँ वास्तविक है, कहाँ प्रतीकात्मक, और कहाँ संरचनात्मक।

1. **व्यक्तिगत स्तर :** सैन समाज के कुछ प्रतिभाशाली एवं महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने अपनी योग्यता, ईमानदारी एवं कड़ी मेहनत के बल पर महत्वपूर्ण व्यक्तिगत गतिशीलता प्राप्त की है। ये वे लोग हैं जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की, प्रतिष्ठित सेवाओं (IAS, IPS, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर) में प्रवेश किया, और सामाजिक-आर्थिक रूप से ऊपर उठे। तथापि, यह गतिशीलता व्यक्ति-केन्द्रित है और पूरे समुदाय की प्रतिष्ठा पर इसका सीधा प्रभाव सीमित होता है। जैसा कि समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह ने कहा "व्यक्तिगत गतिशीलता जाति की गतिशीलता नहीं है; यह उस जाति के कुछ सदस्यों की गतिशीलता है।"
2. पारिवारिक स्तर : कुछ सैन परिवारों ने भूमि-अधिग्रहण, शिक्षा में निवेश एवं उच्च जातियों की जीवन-शैली को अपनाकर अपनी स्थिति में सुधार किया है। यह क्षैतिज गतिशीलता का उदाहरण है, जहाँ एक परिवार अपनी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारता है, किंतु पूरे समुदाय की स्थिति अपरिवर्तित रहती है। यह गतिशीलता प्रायः अंतर्विवाह और सामाजिक नेटवर्किंग के माध्यम से भी सुदृढ़ होती है।
3. **सामूहिक/समूह स्तर :** यह गतिशीलता का सबसे महत्वपूर्ण एवं व्यापक स्तर है। 'सैनिकरण', 'नाई ब्राह्मण' का दावा, अखिल भारतीय सैन भक्तिपीठ ट्रस्ट की स्थापना, और अन्य पिछड़ा वर्ग के रूप में संगठित राजनीतिक माँग ये सभी सामूहिक गतिशीलता के उदाहरण हैं। इस स्तर पर पूरा समुदाय अपनी प्रतिष्ठा, पहचान एवं स्थिति को उन्नत करने के लिए एकजुट होता है। यह गतिशीलता का सबसे गहरा स्तर है, क्योंकि यह समुदाय की सामूहिक चेतना, संगठन क्षमता एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को दर्शाता है।

तथापि, यहाँ एक महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है तीनों स्तरों पर गतिशीलता परस्पर विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं। व्यक्तिगत एवं पारिवारिक गतिशीलता सामूहिक गतिशीलता को बल प्रदान करती है, और सामूहिक गतिशीलता व्यक्तियों एवं परिवारों के लिए नए अवसर खोलती है।

निष्कर्ष:

सैन समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता एवं उर्ध्वगामी गतिशीलता का यह समाजशास्त्रीय अध्ययन हमें भारतीय जाति व्यवस्था की गतिशील प्रकृति से अवगत कराता है। यह दर्शाता है कि जाति केवल एक स्थिर पदानुक्रम नहीं, वरन् एक निरंतर संघर्षशील एवं स्वयं को पुनःपरिभाषित करने वाली सामाजिक संरचना है। सैन समाज की अस्मिता त्रिस्तरीय है :-

(क) पारंपरिक व्यावसायिक पहचान (नाई-कार्य),

(ख) धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान (भगत सैन एवं सिख परंपरा), एवं

(ग) आधुनिक सामाजिक-कानूनी पहचान (अन्य पिछड़ा वर्ग)।

यह त्रिस्तरीय अस्मिता समाज को एक जटिल एवं बहुआयामी स्वरूप प्रदान करती है।

'सैनिकरण' इस समाज की सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक रणनीति है, जो संस्कृतिकरण से भिन्न है, क्योंकि यह उच्च जातियों के प्रतीकों को अपनाने के स्थान पर स्वयं नए प्रतीकों का सृजन करता है। यह सांस्कृतिक प्रतिरोध और स्वायत्तता की दिशा में एक सार्थक कदम है।

सैन समाज की गतिशीलता ने जातीय पदानुक्रम की संरचना को चुनौती नहीं दी है, वरन् उसी संरचना के भीतर स्थान-परिवर्तन का प्रयास किया है। अर्थात, उन्होंने 'जाति-प्रथा' को समाप्त नहीं किया, वरन् उसमें ऊपर उठने का प्रयास किया। यही इस अध्ययन का सबसे बड़ा विरोधाभास एवं ज्वलंत प्रश्न है क्या यह गतिशीलता वास्तविक मुक्ति है, अथवा उसी जंजीर को सोने का रंग?

संदर्भ :-

Béteille, A. (1969). Castes: Old and new Essays in social structure and social stratification. Asia Publishing House.

Gupta, D. (2000). Interrogating caste: Understanding hierarchy and difference in Indian society. Penguin Books.

Kumari, A., & Tiwari, M. (2026). The enduring legacy of M.N. Srinivas in Indian sociology: Bridging academia and public discourse. Sociological Forum, 41(1), 55–59. https://doi.org/10.1111/socf.70010

Omvedt, G. (2003). Dalit visions: The anti-caste movement and the construction of an Indian identity. Orient Longman.

Pondicherry University. (n.d.). BASO1925: Pioneers of Indian sociology (DDE Study Material). https://dde.pondiuni.edu.in/files/StudyMaterials/UG/BA-Sociology/2year/BASO1925PioneersofIndianSociology.pdf

Sharma, C. K. (n.d.). *Understanding modernity in India*. In e-Adhyayan (SOC P4). INFLIBNET. https://ebooks.inflibnet.ac.in/socp4/chapter/understanding-modernity-in-india/

Shodhganga. (n.d.-a). Social stratification and change in India (Chapter 3). INFLIBNET. https://shodhganga.inflibnet.ac.in

Shodhganga. (n.d.-b). Social mobility of Dalit in West Bengal (Chapter 6). INFLIBNET. https://shodhganga.inflibnet.ac.in

Singh, Y. (1973). Modernization of Indian tradition. Thomson Press.

Srinivas, M. N. (1952). *Religion and society among the Coorgs of South India*. Oxford University Press.

Srinivas, M. N. (1966). *Social change in modern India*. University of California Press. (Reprinted 1977, Orient Blackswan, 2013)

Thomas, S. (2026, April 21). Caste and the architecture of schooling in India. Centre for Economic Data and Analysis (CEDA), Ashoka University. https://ceda.ashoka.edu.in/caste-and-the-architecture-of-schooling-in-india/

Received: 16.03.2026 | Accepted: 15.04.2026 | Published: 30.05.2026

आधुनिक हिंदी काव्य में प्रकृति-चित्रण और पर्यावरणीय चेतना

डॉ. रीना* **डॉ. मनीष पंवार†**

reenasingh7529@gmail. Com **manish.historydu@gmail.com**

सारांश

आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति का चित्रण मात्र सौन्दर्य वर्णन तक ही सीमित नहीं रह गया है। वर्तमान समय में प्रकृति का चित्रण गहन चिंतन और संवेदनशीलता का अंग के रूप में वर्णित है।काव्य में प्रकृति चित्रण मात्र सौंदर्य काल्पनिक, मनोरंजक या रोमांटिक भावनाओं के चित्रण के रूप में नहीं देखता है। अपितु पर्यावरण संकट, प्राकृतिक असंतुलन और प्रकृति के प्रति लोगों के प्रतिकूल व्यवहार के बारे में चेतावनी भी प्रस्तुत। आधुनिक कवि पर्यावरण संकट, प्राकृतिक असंतुलन और प्रकृति के प्रति लोगों के प्रतिकूल व्यवहार के बारे में चेतावनी भी अपने काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करता है। आधुनिक कवियों की कविताओं में 'प्रकृति' प्रतीक के रूप में चित्रित होने के साथ- साथ स्वतंत्र रूप में भी प्रस्तुत होती है। प्रकृति के साथ कैसा बुरा व्यवहार किया जा रहा है, औद्योगिक प्रदुषण के परिणामस्वरूप से समाज में कैसी विपरीत परिस्तिथि उत्पन्न हो गयी है। इसी भाव को कवि नागार्जुन के शब्दों में कहें तो 'धरती चुप है, पर उसके घाव बोलते हैं' से स्पष्ट देख जा सकता है।

मुख्य शब्द- *आधुनिक हिंदी कविता, प्रकृति चित्रण, सौंदर्य, प्रतीक, पर्यावरणीय चिंतन*

प्रस्तावना

आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति का चित्रण मात्र सौन्दर्य वर्णन तक ही सीमित नहीं रह गया है। वर्तमान समय में प्रकृति का चित्रण गहन चिंतन और संवेदनशीलता का अंग के रूप में वर्णित है। प्रस्तुत शोध लेख में, "आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण और पर्यावरणीय चेतना का उभरता स्वरूप", यह देखने का प्रयास किया है कि आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति कैसे पारंपरिक सौंदर्य वर्णन से मुक्त होकर जागरूक, संवेदनशील और सामाजिक विषयों से संबंधित इकाई के रूप में दृष्टिगत होती है। आधुनिक जीवन में तेज गति से हो रही औद्योगिक प्रगति, शहर विस्तार, तकनीकी विकास और प्राकृतिक संसाधनों का दोहन ने रचनाकारों के चिंतन प्रभावित किया। परिणामस्वरूप प्रकृति काव्य में पृष्ठभूमि मात्र नहीं रह गई, अपितु वह मानव जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों के साक्ष्य के रूप में चित्रित कि जाने लगी। इसी भाव को कवि रघुवीर सहाय की पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं- "सब कुछ बदल जाएगा, पर क्या यह धरती बचेगी?"[1] प्रस्तुत शोध लेख में बताने का प्रयास किया गया है कि वर्तमान हिंदी काव्य प्रकृति को केवल सौंदर्य काल्पनिक, सुंदरता या रोमांटिक भावनाओं के चित्रण के रूप में नहीं देखता है। अपितु पर्यावरण संकट, प्राकृतिक असंतुलन और प्रकृति के प्रति लोगों के प्रतिकूल व्यवहार के बारे में चेतावनी भी प्रस्तुत करता है। आधुनिक कवियों की कविताओं में प्रकृति प्रतीक है। "धरती चुप है, पर उसके घाव बोलते हैं" (नागार्जुन, 1975)[2] यह चित्रित करता है कि प्रकृति के साथ कैसा बुरा व्यवहार किया जा रहा है, औद्योगिक प्रदुषण के वजह से समाज में किसी विकट परिस्तिथि उत्पन्न हो गयी है; लेख में हिंदी कविता में पर्यावरण के प्रति जागरूकता जैसे महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा के साथ प्रकृति की रक्षा, विभिन्न प्रकार के जीव- जंतुओं के जीवन, पृथ्वी पर संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता को प्रमुखता से देखा गया है। परिणामस्वरूप हिंदी कविता में प्रकृति का चित्रण मात्र सौंदर्य प्रदर्शन के लिए न होकर, चिंतन और सामाजिक जिम्मेदारी में भागीदार बना कर पाठकों को पर्यावरण के प्रति संवेदनशील और जागरूक बनने के लिए प्रेरित करना है।

* **नॉन कॉलेजिएट वुमेंस एजुकेशन बोर्ड, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - 110007**

† **सहायक प्राध्यापक, हिंदू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली- 110007**

आधुनिक हिंदी काव्य में प्रकृति का बदलता स्वरूप

आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति का चित्रण नवीन युगबोध के साथ विकसित हो रहा है। प्रकृति अब मात्र सौंदर्य-उपभोग या मनोरंजन का साधन मात्र न रह कर मानव जीवन की जटिल परिस्थितियों, संवेदनाओं तथा सामाजिक यथार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम बन चुकी है। प्रस्तुत शोध- लेख "आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण और पर्यावरणीय चेतना" के आलोक में यह स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है कि समकालीन हिंदी कविता में प्रकृति का स्वरूप गहन रूप से रूपांतरित हुआ है, प्रकृति चित्रण अधिक संवेदनशील, प्रतीकात्मक एवं विचार-समृद्ध हो गया है। "धरती की साँसें थम रही हैं, और हम विकास का गीत गा रहे हैं"[3] आधुनिक कविता में प्रकृति को एक सजीव और चेतन सत्ता के रूप में देखा जा सकता है, जो कि मानव जीवन से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है और उसके सुख-दुख की सहभागी प्रतीत होती है। "पेड़ कटते गए, और हवा बोझिल होती गई" (पर्यावरण कविता संग्रह, 2015)[4] पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा में जहाँ प्रकृति का चित्रण मुख्यतः सौंदर्य-बोध तक सीमित था। जैसे पुष्पों, नदियों, पर्वतों एवं ऋतुओं का रमणीय वर्णन, वहीं आधुनिक हिंदी काव्य में यह दृष्टि अधिक व्यापक एवं गहन प्रतीत होती है। कवि अब प्रकृति को मात्र दृष्टिगत विषय न मानकर उसे अनुभूति और संवेदना की जीवंत इकाई के रूप में आत्मसात करते हैं। "नदियाँ सूख जाएँगी, अगर हम लालच नहीं रोक पाए" (समकालीन हिंदी काव्य, 2020)[5] औद्योगीकरण, शहरीकरण एवं तीव्र तकनीकी प्रगति ने प्राकृतिक संतुलन को उसके केंद्र तक प्रभावित किया है, जिसका सशक्त प्रतिबिंब आधुनिक कवियों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। प्रदूषण, वनों का क्षरण, जल-संकट तथा पर्यावरणीय असंतुलन जैसे गंभीर प्रश्न कविता के केंद्रीय सरोकार बनकर उभरे हैं। इस प्रकार प्रकृति-चित्रण अब मात्र सौंदर्यात्मकता का विषय न रहकर सामाजिक एवं पर्यावरणीय चेतना का प्रभावी माध्यम बन गया है। समकालीन हिंदी कविता में प्रकृति का यह बहुआयामी रूप मानवीय भावनाओं एवं सामाजिक स्थितियों का भी प्रतीक बनता जा रहा है। कभी वह संघर्ष एवं पीड़ा की अभिव्यक्ति करती है, तो कभी जीवन की सरलता एवं संतुलन की ओर संकेत करती है। इस प्रकार प्रकृति-चित्रण की यह परंपरा अत्यंत व्यापक, गहन एवं अर्थगर्भित रूप धारण कर लेती है, जो पाठक को भावनात्मक स्तर के साथ-साथ वैचारिक चिंतन के लिए भी प्रेरित करती है।

प्रकृति-चित्रण में सामाजिक और औद्योगिक प्रभाव

आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति का चित्रण दृष्टिकोण से किया जा रहा है, जहाँ प्रकृति केवल सुंदरता या कल्पना का विषय नहीं रह गई है, बल्कि मानव द्वारा पैदा की गई समस्याओं और परिवर्तनों की गवाह बन गई है। "आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति का चित्रण और पर्यावरणीय जागरूकता" पर यह शोध आलेख इस बात को स्पष्ट करता है कि समकालीन कविता में प्रकृति का चित्रण सामाजिक सच्चाई और औद्योगिक विकास की जटिलताओं से गहराई से जुड़ा हुआ है।"पर्यावरण की समस्या केवल प्राकृतिक संतुलन के बिगड़ने की समस्या नहीं है, बल्कि इसका संबंध आदमी की पूरी सोच से है।"[6] आधुनिक समय में शहरों का विकास, फैक्ट्रियों का बढ़ना और तकनीक की तेज़ प्रगति ने प्रकृति के संतुलन को बहुत प्रभावित किया है। "शहर बढ़ते गए, और जंगल पीछे छूटते गए।"[7] हिंदी कवियों ने अपनी कविताओं में इन मुद्दों को बड़ी संवेदनशीलता के साथ उठाया है। बड़े कारखाने, शहरों का विस्तार और संसाधनों का बेतहाशा उपयोग प्रकृति को लगातार बदल रहा है, जो कविता में चिंता और सावधानी के रूप में दिखता है। प्रदूषण, पेड़ों की कटाई, पानी की कमी और जमीन का क्षरण जैसे मुद्दे आज की हिंदी कविता में मुख्य विषय बन गए हैं। कवि इन समस्याओं को सिर्फ़ बताने के बजाय, उनके पीछे के सामाजिक और मानवीय कारणों पर भी प्रकाश डालते हैं। "धुआँ फैलता गया और आसमान धुंधला होता गया।"[8] इस प्रकार प्रकृति-चित्रण अब एक सामाजिक टिप्पणी का रूप ले लेता है, जिसमें मानव की विकास-लालसा और प्रकृति के शोषण के बीच बढ़ते असंतुलन को दिखाया जाता है। इसके साथ ही, आधुनिक कविता में औद्योगिक प्रभावों के कारण प्रकृति की सुंदरता और शुद्धता के नुकसान को भी गहराई से दिखाया गया है। मशीनों का बढ़ता प्रभाव, शहरी जीवन की भागदौड़ और प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक उपयोग कविता में एक गंभीर चेतना पैदा करता है।

पर्यावरणीय चेतना का उभरता स्वरूप

आधुनिक हिंदी कविता में पर्यावरणीय चेतना एक अत्यंत महत्वपूर्ण और समकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई है। यहाँ कविता भावनाओं, कल्पना या सौंदर्य की अभिव्यक्ति तक सीमित न रहकर सामाजिक उत्तरदायित्व और वैश्विक सरोकारों की सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम बन बन उभरी है। "धरती मेरे भीतर भी बची रहेगी"[9] प्रस्तुत शोध-आलेख "आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण और पर्यावरणीय जागरूकता का उभरता स्वरूप" के संदर्भ में यह स्पष्ट होता है कि

समकालीन हिंदी कविता में पर्यावरण संरक्षण की भावना एक सुदृढ़ वैचारिक आधार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। आधुनिक कवि प्रकृति संरक्षण, जैव विविधता के संतुलन तथा पृथ्वी के पारिस्थितिक तंत्र की सुरक्षा को अत्यंत आवश्यक मानते हैं। "धरती चुप है, पर उसके घाव बोलते हैं"[10] उनकी रचनाओं में यह चिंता गहराई से व्यक्त होती है कि यदि प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित दोहन निरंतर चलता रहा, तो मानव सभ्यता गंभीर संकटों की ओर अग्रसर हो सकती है। इस प्रकार कविता एक चेतावनीात्मक स्वर ग्रहण करती है, जो समाज को जागरूक और संवेदनशील बनाने का कार्य करती है। पर्यावरणीय चेतना का यह स्वरूप केवल प्राकृतिक सौंदर्य की रक्षा तक सीमित नहीं है, अपितु यह मानव और प्रकृति के बीच संतुलित एवं सह-अस्तित्वपूर्ण संबंध स्थापित करने की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है। इस विचार को अज्ञेय की प्रकृति-दृष्टि में देखा जा सकता है। "मैं नदियों को भीतर से बहते देखता हूँ"[11] कवि यह संदेश देते हैं कि प्रकृति केवल उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि जीवन का मूल आधार है, जिसके बिना मानव अस्तित्व की कल्पना भी संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त आधुनिक हिंदी कविता में प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई और जैव विविधता की क्षति जैसे गंभीर पर्यावरणीय संकटों को भी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इन विषयों के माध्यम से कवि न केवल यथार्थ को उजागर करते हैं, बल्कि पाठकों में संवेदनशीलता, उत्तरदायित्व और जागरूकता की भावना भी विकसित करते हैं। इस प्रकार आधुनिक हिंदी कविता में पर्यावरणीय चेतना का उभरता स्वरूप साहित्यिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ एक सामाजिक और नैतिक आंदोलन का भी रूप ग्रहण करता है।

प्रकृति का प्रतीकात्मक और वैचारिक प्रयोग

आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति का प्रयोग एक अत्यंत महत्वपूर्ण और बहुआयामी साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुआ है। यहाँ प्रकृति केवल दृश्य सौंदर्य या मनोरंजन का साधन न रहकर गहन अर्थों, विचारों और मानवीय अनुभवों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गई है।"मैं नदियों को भीतर से बहते देखता हूँ"[12] प्रस्तुत शोध-आलेख "आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण और पर्यावरणीय चेतना का उभरता स्वरूप" के संदर्भ में यह स्पष्ट होता है कि समकालीन कविता में प्रकृति का प्रयोग अनेक स्तरों पर किया जा रहा है, जो उसकी साहित्यिक और वैचारिक गहराई को और अधिक विस्तृत करता है। "धरती मेरे भीतर भी बची रहेगी"[13] आधुनिक कवि प्रकृति के विविध तत्वों जैसे सूर्य, चंद्रमा, नदी, पर्वत, वर्षा और वन को प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करते हैं, जिनके माध्यम से वे मानवीय संवेदनाओं, सामाजिक संघर्षों तथा अस्तित्वगत प्रश्नों की अभिव्यक्ति करते हैं।[14]

निष्कर्ष :

इस प्रकार प्रकृति केवल बाह्य जगत का चित्रण न रहकर मानव के आंतरिक भावलोक और वैचारिक चिंतन का भी प्रभावी माध्यम बन जाती है। समकालीन कविता में प्रकृति का यह प्रतीकात्मक प्रयोग सामाजिक यथार्थ, प्रदूषण, शहरीकरण और नैतिक पतन जैसी समस्याओं को गहराई से उजागर करता है, जिससे कविता का अर्थ और अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली हो जाता है। औद्योगीकरण, शहरी विस्तार और तकनीकी विकास के कारण उत्पन्न पर्यावरणीय संकट जैसे प्रदूषण, वनों की कटाई और जल संकट ने आधुनिक हिंदी कविता की संवेदना को और अधिक तीव्र किया है। कवि इन स्थितियों के माध्यम से प्रकृति और मानव के संबंधों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रकृति के प्रति यह दृष्टि केवल सौंदर्य-बोध तक सीमित न रहकर नैतिक और दार्शनिक प्रश्नों को भी जन्म देती है, जो जीवन और अस्तित्व के गहरे अर्थों को समझने में सहायक होती है। इसके अतिरिक्त पर्यावरणीय चेतना के माध्यम से कवि प्रकृति संरक्षण, संतुलन और सह-अस्तित्व का संदेश देते हैं। यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण अब केवल सौंदर्य या भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं रहा, बल्कि यह सामाजिक उत्तरदायित्व और पर्यावरणीय जागरूकता का सशक्त माध्यम बन चुका है, जो समाज को अधिक संवेदनशील और जिम्मेदार बनने की प्रेरणा देता है।

संदर्भ

[1] सहाय, रघुवीर, कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980

[2] नागार्जुन, कविताएँ, प्रकाशन संस्थान, पटना, 1975

[3] अज्ञात, समकालीन कविता संकलन, साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018

[4] अज्ञात, पर्यावरण कविता संग्रह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

[5] अज्ञात, समकालीन हिंदी काव्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020

[6] सिंह, केदारनाथ, *बाघ*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1996

[7] नागार्जुन, *कविताएँ*, प्रकाशन संस्थान, पटना, 1975

[8] अज्ञेय, *प्रतिनिधि कविताएँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983

[9] सिंह, केदारनाथ, *बाघ*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1996

[10] नागार्जुन, *कविताएँ*, प्रकाशन संस्थान, पटना, 1975

[11] अज्ञेय, *प्रतिनिधि कविताएँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983

[12] सिंह, केदारनाथ, *बाघ*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1996

[13] नागार्जुन, *कविताएँ*, प्रकाशन संस्थान, पटना, 1975

[14] अज्ञेय, *प्रतिनिधि कविताएँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983

अन्य सहायक संदर्भ :

अज्ञेय, *आंगन के पार द्वार*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990

केदारनाथ सिंह, *उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

चौधरी, विजयदेव नारायण, *कविता का समाजशास्त्र*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

तिवारी, भोलानाथ, *अनुवाद विज्ञान*, किताब महल, नई दिल्ली, 1972

त्रिपाठी, रामचंद्र, *आधुनिक हिंदी काव्य धारा*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002

त्रिपाठी, सुषमा, *पर्यावरणीय अध्ययन और साहित्य*, ज्ञान गंगा, लखनऊ, 2016

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य की भूमिका*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

नागार्जुन, *युगधारा*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1980

पांडेय, राजेंद्र, *हिंदी साहित्य में प्रकृति चित्रण*, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2011

पाठक, मनोज, *समकालीन हिंदी काव्य विमर्श*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020

मिश्र, नंदकिशोर, *पर्यावरण और साहित्य*, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

मिश्रा, अरुण, *आधुनिकता और हिंदी कविता*, लोकभारती प्रकाशन, 2013

वर्मा, डॉ. राम, *पर्यावरणीय चेतना और साहित्य*, शिव प्रकाशन, 2018

वर्मा, नामवर सिंह, *कविता के नए प्रतिमान*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

शर्मा, शिवकुमार, *आधुनिक हिंदी कविता*, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 2012

शुक्ल, देवीप्रसाद, *हिंदी आलोचना के सिद्धांत*, भारतीय ज्ञानपीठ, 2004

शुक्ल, रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2009

सिंह, अशोक वाजपेयी, *समकालीन हिंदी कविता*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

सिंह, केदारनाथ, *तालस्ताय और साइकिल*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

सिंह, विद्यानिवास, *हिंदी आलोचना की परंपरा*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 17.03.2026 | Accepted: 20.04.2026 | Published: 30.05.2026

आलोक चक्रवाल कृत 'काशी : एक नगर का महाकाव्य' में काशी का सांस्कृतिक, भाषिक और जीवन-दर्शनात्मक विन्यास्

डॉ. अनुपमा कुमारी[*]

anu.media.jk@gmail.com

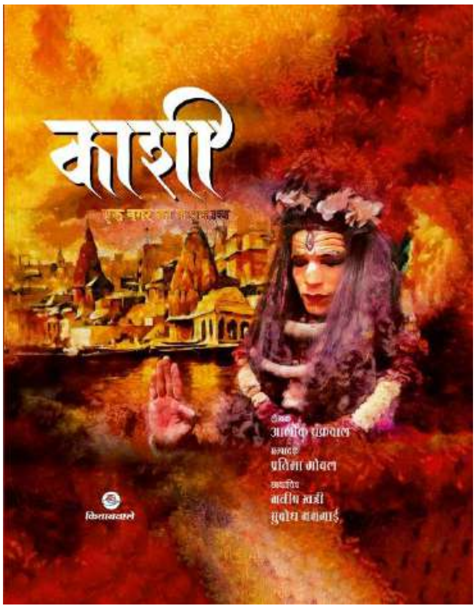

सारांश

आलोक चक्रवाल की काव्य-कृति 'काशी : एक नगर का महाकाव्य' काशी को केवल एक नगर के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी जीवित सभ्यता के रूप में प्रस्तुत करती है जिसमें इतिहास, आस्था, लोक, भाषा, श्रम, पर्व, शिल्प, जीवन्तता और मृत्यु-बोध एक साथ सक्रिय हैं। यह कृति काशी की बहुलता को उसकी सबसे बड़ी शक्ति मानती है और काशी नगर के भीतर उपस्थित विरोधों को एक सृजनात्मक समन्वय में बदलती है। प्रस्तुत शोध-पत्र में इस काव्य-ग्रंथ के सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषिक, ऐतिहासिक और जीवन-दर्शनात्मक आयामों का विश्लेषण किया गया है। साथ ही यह भी देखा गया है कि कवि ने काशी को एक भौगोलिक इकाई के बजाय एक जीवन-प्रणाली, एक सामूहिक स्मृति और एक सांस्कृतिक चेतना के रूप में किस तरह रूपायित किया है।

कूट-शब्द:

काशी, बनारस, वाराणसी, लोक-संस्कृति, बहुलता, नगर-बोध, आलोक चक्रवाल, हिन्दी काव्य

भूमिका

भारतीय साहित्य में नगर केवल स्थान नहीं होते, वे संस्कृति, स्मृति और जीवन-दृष्टि के केंद्र भी होते हैं। काशी इस दृष्टि से भारत की सबसे जटिल, सबसे समृद्ध और सबसे बहुपरतीय सांस्कृतिक संरचनाओं में से एक है। यह नगर एक साथ श्रद्धा, विडंबना, मस्ती, तपस्या, मृत्यु-बोध और जीवन-उत्सव का ऐसा लोक रचता है जहाँ परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्व भी स्वाभाविक रूप से एक साथ विद्यमान रहते हैं। काशी के बारे में कहा जा सकता है कि वह केवल नगर नहीं है, बल्कि भारतीयता की एक जीवित शैली है।

आलोक चक्रवाल की रचना 'काशी : एक नगर का महाकाव्य' इसी जीवित शैली को काव्यात्मक रूप देती है। यह कृति काशी को बाहरी पर्यटक-दृष्टि से नहीं, बल्कि भीतरी अनुभूति और आत्मीय संलग्नता की दृष्टि से देखती है। कवि का काशी-बोध वस्तुतः नगर के भौगोलिक स्वरूप, उसके धार्मिक विस्तार, उसकी भाषिक विविधता, उसके लोक-रस और उसकी श्रम-संस्कृति को एक समग्र रूप में सामने लाता है। इस शोध-पत्र का उद्देश्य इसी समग्रता का विश्लेषण करना है। यह अध्ययन मूलतः पाठ-आधारित आलोचनात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें कृति के भीतर उपस्थित काव्य-खंडों, प्रतीकों, सामाजिक संकेतों, लोक-भाषिक प्रयोगों और सांस्कृतिक बिंबों का अध्ययन किया गया है। **रामचरितमानस में तुलसीदास** जी ने कहा है- "***कलिकालहुँ मघ पाइयहिं काशी, जहँ मरत होई अबिनासी।***" (अर्थात: कलियुग में भी काशी की महिमा

---

[*] ***सहायक प्राध्यापक, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)***

वैसी ही है, जहाँ प्राण त्यागने मात्र से जीव अविनाशी हो जाता है। वहीँ प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक **मार्क ट्वेन** का कथन है- ***"बनारस इतिहास से भी पुराना है, परंपराओं से पुराना है, किंवदंतियों से भी पुराना है और जब इन सबको एक साथ मिला दिया जाए, तो यह उस संयुक्त संग्रह से भी दोगुना पुराना है।"***

काशी : नगर से अधिक एक चेतना

आलोक चक्रवाल की कृति का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि काशी कोई सामान्य नगर नहीं है। वह एक ऐसी चेतना है जिसमें जीवन और मृत्यु, भोग और वैराग्य, व्यवस्था और अराजकता, शास्त्र और लोक, परंपरा और आधुनिकता एक साथ उपस्थित हैं। यह नगर किसी एक रूप में स्थिर नहीं रहता; वह निरंतर बहता, बदलता और अपने भीतर नए अर्थ रचता रहता है। कवि की दृष्टि में काशी एक "मिजाज" है, एक ऐसा जीवन-स्वभाव जो बाहरी मानकों से नहीं, भीतर के सांस्कृतिक ताप से समझा जा सकता है। यह नगर अपनी संरचना में ही दार्शनिक है। यह एक अलग ही मिजाज का शहर है। *और तब अनायास ही कवि के हृदय से यह उदगार निकलता है* - **नित गंगा आरती होती है, हर दिन अलबेली काशी है/काशी तो रब की बस्ती है, चढ़ जाती सबको मस्ती है**.

यह शहर हर मनुष्य को हर क्षण स्मरण कराता है कि जीवन सीधा नहीं, बल्कि अनेक स्तरों, अनेक लयों और अनेक विरोधों से बना है। कवि का यह दृष्टिकोण काशी को किसी पर्यटक-चित्र की तरह नहीं, बल्कि एक गहरी सभ्यतागत उपस्थिति की तरह स्थापित करता है। यहाँ नगर-जीवन केवल सड़क, घाट, मंदिर, श्मशान या बाजार का जोड़ नहीं है; वह मनुष्य की संपूर्ण अस्तित्वगत अनुभूति है। विद्वान एवं राजनेता डॉ. संपूर्णानंद ने भी कहा था - "काशी केवल पत्थरों और मंदिरों का शहर नहीं है, यह एक विचार है, एक चेतना है जो भारत की आत्मा में बसती है।" इसी आत्मा को कवि अपने शब्दों में कहते हैं -

दुनिया के झंझट मिट जाएँ, उस शहर को कहते बनारस हैं/

जहां जात-पात और गोत्र नहीं, उस शहर को कहते बनारस हैं/

कोई सपनों में इसे जीता है, कोई अपनों में इसे जीता है/

जब बात बात में रजा कहें , तब समझो सहर बनारस है/

विरुद्धों का सामंजस्य

काशी की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता इसका विरोधों से भरा संसार है। आलोक चक्रवाल ने इस विरोधाभासी संरचना को अत्यंत सूक्ष्मता से पकड़ा है। यहाँ मृत्यु भी उत्सव की तरह उपस्थित है और जीवन भी एक साधना की तरह है। एक ओर घाटों पर तप, जप, स्नान और मुक्ति की आकांक्षा है, तो दूसरी ओर गलियों में शोर, व्यापार, भोजन, हँसी, ठहाके और लोक-चपलता है। यही विरुद्धों का सामंजस्य काशी की आत्मा है। कवि के यहाँ यह सामंजस्य केवल वैचारिक स्तर पर नहीं, बल्कि अनुभवजन्य स्तर पर उपस्थित है। वह काशी की गलियों, घाटों, मौसमों, पर्वों, भोजन-पद्धतियों और सामाजिक व्यवहारों के माध्यम से इस जटिलता को मूर्त करते हैं। उनका काशी-बोध इस बात का साक्ष्य है कि भारतीय नगर केवल सुव्यवस्थित नहीं होते; वे कई बार अपनी जटिलता से ही जीवंत होते हैं। काशी इस जीवंतता का चरम रूप है। यहाँ संपन्नता और दरिद्रता, शास्त्र और लोक, मंदिर और श्मशान, भक्ति और हास्य, कठोरता और करुणा — सब एक साथ हैं। उसे समझने के लिए उसकी सांस्कृतिक बहुलता को स्वीकार करना आवश्यक है।

कहीं तिराहा कहीं चौराहा,/ कहीं बंद गली भी है काशी।

कोई रात को अलख जगाता है, कोई चिता में ढूंढे है काशी।

कुछ औघड़ भी मिल जाते हैं, कोई चिलम में पीता है काशी,

स्पंदन दिल का है काशी, मस्तक का तिलक बना काशी ।

बहुलता और सह-अस्तित्व

आलोक चक्रवाल की रचना काशी को भारत की बहुलता का एक सजीव उदाहरण मानती है। यहाँ अनेक धर्म, अनेक मत, अनेक भाषाएँ, अनेक परंपराएँ और अनेक जीवन-पद्धतियाँ साथ-साथ निवास करती हैं। यह केवल सह-अस्तित्व

नहीं, बल्कि एक ऐसी सांस्कृतिक साझेदारी है जिसमें विविधताएँ एक-दूसरे को चुनौती भी देती हैं और समृद्ध भी करती हैं। कवि कहते हैं –

काशी की महिमा अद्भुत है, यहाँ बुढवा मंगल होता है।

क्या हिन्दू है क्या मुस्लिम है, इस पर्व पे खालिस इंसां हैं।

जब मंद पड़ा था नवाब सूत, बुढवा मंगल ने बचाया था।

`दूसरी जगह फिर लिखते हैं-

काशी का प्रेम बड़ा दुर्लभ, है प्रेम की नगरी यह काशी।

काशी अपनों की नगरी है, हर मानस अपना लगता है।

काशी में उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम, सभी दिशाओं के लोग बसते हैं। अलग-अलग प्रांतीय, धार्मिक और भाषिक समुदाय इस नगर को एक जीवित संगम में बदल देते हैं। यही संगम-भाव काशी को विशिष्ट बनाता है। यहाँ विविधता किसी राजनीतिक नारे की तरह नहीं, बल्कि रोज़मर्रा के जीवन की सहज सच्चाई की तरह उपस्थित है। कवि यह भी दिखाते हैं कि इस बहुलता का आधार केवल सहनशीलता नहीं, बल्कि आत्मीयता है। लोग एक-दूसरे के साथ रहते ही नहीं, बल्कि एक साझा नगर-संस्कृति का निर्माण करते हैं। यह साझापन ही काशी की असली शक्ति है।

क्या मलय देश, क्या यवन देश/ क्या चीन कोरिया, श्रीलंका।...

हर देश का मंदिर मिलता है, तिब्बत की नगरी है काशी।

लोक-जीवन और उत्सव

काशी का लोक-जीवन इस कृति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष है। पर्व, मेले, होली, खिचड़ी, लोलार्क छठ, अन्नकूट, पतंगबाजी, भांग, लस्सी, मिठाइयाँ और गलियों की गूंज — ये सब मिलकर काशी को एक जीवंत लोक-लोकतंत्र में बदल देते हैं। यहाँ उत्सव केवल धार्मिक अनुशासन नहीं, बल्कि सामाजिक उल्लास की एक साझा भाषा है। कवि की खासियत यह है कि वह इन लोक-तत्त्वों को केवल सूचीबद्ध नहीं करते, बल्कि उन्हें काव्यात्मक संवेदना में ढालते हैं। उदाहरणतः फागुन, होली, हवा, मौसम और रंगों के प्रसंग काशी की उस मस्ती को रचते हैं जो बाहरी प्रदर्शन नहीं, बल्कि भीतरी ताप है। इसी तरह खिचड़ी और पतंगबाजी के विवरण इस नगर के सामुदायिक आनंद को गहराई देते हैं। काशी का लोक-जीवन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह शास्त्र से अलग नहीं, बल्कि उसके समानांतर बहता है। यह नगर अभिजात्य और लोक, दोनों का सहचर है।

कोई कुछ भी कहे यह अद्भुत है, रंगों से हर कोई अभिभूत है।

काशी के रंग अतुलनीय हैं, इन रंगों में जीवन रस है।

कोई देह को रंग लगता है, कोई अन्दर तक रंग जाता है।

भाषा, बोली और बनारसी लहजा

इस कृति की एक बड़ी विशेषता इसकी भाषिक संरचना है। आलोक चक्रवाल भोजपुरी, अवधी, खड़ी बोली और बनारसी टोन को एक साथ साधते हैं। इससे रचना में स्थानीयता, प्रामाणिकता और जीवन्तता आ जाती है। भाषा यहाँ केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि संस्कृति की ध्वनि बन जाती है। काशी की भाषा खरी भी है और मस्ती भरी भी। वह सीधेपन को भी जानती है और व्यंग्य को भी। उसमें गंगा-जमुनी तहज़ीब की सहजता है, तो बनारसी ठिठोली की चपलता भी। कवि स्थानीय बोलियों को किसी सजावटी उपकरण की तरह नहीं, बल्कि काव्य-संवेदना के अंग की तरह उपयोग करते हैं। यह भाषिक मिश्रण काशी के सामाजिक सच को भी व्यक्त करता है। यहाँ भाषा अलग-अलग समुदायों और जीवन-स्थितियों

के बीच सेतु की तरह काम करती है। यही कारण है कि काशी की बोली केवल बोली नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक संकेत-प्रणाली है।

हिंदी के विद्वान् विश्वनाथ मुखर्जी कहते हैं कि 'बनारसियों की अपनी अदा है । दूसरों का उसमें मिल सकना उतना ही कठिन है जितना तेल और पानी. आप लंदंवी , न्यूयार्की, बम्बइया, कलकतिया बन सकते हैं, पर बनारसी बनना कठिन होगा.' सचमुच बनारसियों में जो जीवन का रस है वह कुछ अलग ही है। यहाँ जीवन्तता है, सामंजस्य है. प्रेम है,अपनानापन है। इसलिए कवि कहते हैं-

अईसन बोली अईली गईली, कहाँ और नाही तोहके मिली/

हिंदी का मजा ई बनारस हौ, भोजपुरी के मजा भी बनारस हौ/

हर मर्ज की दवा बेचै कोई, तब समझो शहर बनारस हौ/

श्रृंगार, भोजन और दैनिक जीवन

काशी की विशेषता यह भी है कि यहाँ उच्च आध्यात्मिकता और बहुत साधारण जीवन-रस साथ-साथ चलते हैं। एक ओर मोक्ष, मृत्यु और वैराग्य का संसार है, तो दूसरी ओर भोजन, मस्ती, गली, दुकान, चाय, लस्सी, भांग, मिठाई और गोलगप्पों का संसार। कवि इस दैनिक जीवन को बहुत आत्मीयता से रचते हैं। काशी में हर चीज का अपना स्वाद है । एक ही नगर में अलग-अलग स्थानों पर व्यंजनों का स्वाद बदल जाता है, और यही स्थानीयता को गहराई देती है। यह केवल भोजन नहीं, सांस्कृतिक पहचान है।

भोजन की यह परंपरा काशी की जीवन-ऊर्जा को रेखांकित करती है। कवि इसे इस रूप में कहते हैं -

कोई सुबह बनारस जीता है, कोई जम कर ताड़ी पीता है/

कोई मंदिर भांग में डूब रहा, कोई ठंढई पीता है काशी/

कोई खैनी खाकर मस्त भया, कोई फूंक रहा बीड़ी काशी।...

है पान यहाँ जीवन शैली, इस पर निभती सबकी बोली/

श्रृंगार का पक्ष भी यहाँ केवल सौंदर्य-प्रदर्शन नहीं, बल्कि जीवन के प्रति रसिक दृष्टि है। फागुन की बयार, बसंती हवा, गुनगुनी धूप और बरसात के दृश्य काशी को केवल मौसम नहीं, संवेदनात्मक अनुभव बनाते हैं।

कोई मंजिल नहीं यहाँ दुर्लभ, हर काम बनाती है काशी/

जो मन में है उसे ठान लो बस, हर इच्छा फलती है काशी/

जो मांग लिया दिल से तुमने, हर मांग दिलाती है काशी/

श्रम, शिल्प और अर्थ-व्यवस्था

आलोक चक्रवाल की कृति काशी के श्रमशील पक्ष को भी महत्त्व देती है। हथकरघा, ज़रदोज़ी, कमख़ाब, पच्चीकारी और बनारसी साड़ी जैसी परंपराएँ इस नगर की अर्थव्यवस्था और संस्कृति, दोनों की रीढ़ हैं। इससे स्पष्ट होता है कि काशी केवल तीर्थ नहीं, बल्कि शिल्प का भी नगर है। यह पक्ष इसलिए विशेष है क्योंकि अक्सर काशी को केवल आध्यात्मिक या पौराणिक दृष्टि से देखा जाता है। लेकिन इस कृति में नगर का उत्पादन-आधारित, श्रम-आधारित और कारीगरी-आधारित रूप भी दिखाई देता है। यह दृष्टि काशी को अधिक यथार्थवादी और अधिक समग्र बनाती है। कवि की संवेदना इस श्रम को आदर देती है। वे शिल्प को संस्कृति से अलग नहीं मानते, बल्कि उसका अभिन्न अंग मानते हैं। यही बात कृति को सामाजिक गहराई प्रदान करती है। वे लिखते हैं-

साड़ी से सजता बनारस है, करघे में इसकी महारत है/

बुनकर बसते इस नगरी में, काशी मलमल की चाहत है/

इतिहास और स्वतंत्रता-स्मृति

काशी केवल सांस्कृतिक नगर नहीं, ऐतिहासिक नगर भी है। कवि स्वतंत्रता-संग्राम और ऐतिहासिक स्मृतियों को भी रचना में स्थान देते हैं। यह काशी को समय के प्रवाह में स्थित एक सक्रिय नगर बनाता है, न कि केवल अतीत में बंद स्मारक। इतिहास यहाँ निष्क्रिय स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान की चेतना है। कवि इस नगर के इतिहास को गर्व, संघर्ष और सांस्कृतिक उत्तराधिकार के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि उनकी कविता में इतिहास केवल घटना नहीं, बल्कि नगर-चरित्र की भूमि बन जाता है। इस संदर्भ में काशी का वह रूप उभरता है जिसमें वह राष्ट्र-निर्माण की स्मृति, सांस्कृतिक उत्तरदायित्व और जन-जीवन की निरंतरता का प्रतीक बनती है।

यहाँ रास बिहारी आये थे, नवक्रांति ज्योति जलाये थे/

काशी ने दी अच्छी टक्कर, भागे अंग्रेज थे इधर-उधर/

चोलापुर में जो शहीद हुए, कशी ने ऐसे सपूत दिए/

चन्द्रशेखर ने जो धरती चुनी, उसे काशी नगरी कहते हैं/

मृत्यु और जीवन का दर्शन

काशी का सबसे प्रखर दार्शनिक आयाम मृत्यु और जीवन के संबंध में दिखाई देता है। यह नगर मृत्यु को भय नहीं, बल्कि एक अस्तित्वगत सत्य की तरह स्वीकार करता है। श्मशान, घाट, स्नान, अंतिम संस्कार, मुक्ति-आकांक्षा और आध्यात्मिक शांति — ये सब काशी के दार्शनिक रूप को निर्मित करते हैं। लेकिन कवि का महत्त्व यह है कि वह मृत्यु को जीवन-विरोधी नहीं, बल्कि जीवन के भीतर उपस्थित एक अनिवार्य सत्य के रूप में दिखाते हैं। इसीलिए काशी में शोक भी है और मुस्कान भी। यहाँ अंतिमता भी उत्सव में बदल जाती है। यह दृष्टि भारतीय दर्शन के उस व्यापक भाव से जुड़ती है जिसमें मृत्यु अंत नहीं, परिवर्तन है। कृति की यही विशेषता उसे अन्य नगर-काव्यों से अलग करती है। यह नगर मृत्यु के भय को नहीं, मृत्यु के ज्ञान को रचता है।

काशी में भय नहीं मृत्यु का / निर्भय मन जोर धड़कता है/

जीवन का उत्सव निरंतर है/ मृत्यु हर बार पराजित है।

समकालीन अर्थ

आज जब नगर तेज़ी से बाजार, उपभोग, यातायात और यांत्रिकता के दबाव में बदल रहे हैं, तब 'काशी : एक नगर का महाकाव्य' एक सांस्कृतिक प्रतिरोध के रूप में भी पढ़ी जा सकती है। यह कृति बताती है कि किसी नगर की आत्मा केवल उसकी इमारतों से नहीं, उसकी स्मृति, भाषा, लोक और मानवीय संबंधों से बनती है। आलोक चक्रवाल ने काशी को लिखकर केवल एक नगर का चित्रण नहीं किया, बल्कि एक सांस्कृतिक विरासत को शब्दों में सुरक्षित किया है। यह प्रयास इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह आधुनिकता के एकरूपकारी दबाव के विरुद्ध स्थानीय जीवन की बहुलता को संरक्षित करता है। इस अर्थ में यह कृति अतीत की प्रशंसा भर नहीं, बल्कि वर्तमान के लिए एक सांस्कृतिक चेतावनी भी है। कवि कहते हैं –

कुछ मुर्ख यहाँ भी मिलते हैं , बुड़बक सी बातें करते हैं/

पर ज्ञान का कोई जोर नहीं, हर घर में ग्यानी मिलते हैं/

किस्से जुड़ते हैं रोज नए, नित बनते हैं प्रतिमान नये/

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'काशी : एक नगर का महाकाव्य' काशी को नगर नहीं, बल्कि एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में प्रस्तुत करती है। यह एक ऐसी रचना है जिसमें बहुलता, लोक, भाषा, श्रम, भोजन, पर्व, इतिहास, मृत्यु-बोध और आध्यात्मिकता एक साथ सक्रिय हैं। आलोक चक्रवाल की दृष्टि काशी को बाहरी वर्णन का विषय नहीं, बल्कि भीतर से जीए गए सांस्कृतिक अनुभव के रूप में सामने लाती है। यह कृति इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यह नगर को स्मृति, पहचान और जीवंत सभ्यता के रूप में समझने का आग्रह करती है। काशी यहाँ शास्त्र और लोक, तप और मस्ती, मृत्यु और जीवन, शोर और शांति, संघर्ष और उत्सव - सबका संगम है। राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी ने कहा था –"बनारस के दर्शन करके मुझे ऐसा लगा कि हमारी प्राचीन सभ्यता यहाँ आज भी जीवित और जागृत है। यह भारत की संस्कृति का सच्चा प्रतीक है।" इस दृष्टि से यह काव्य-ग्रंथ केवल एक रचना नहीं है, बल्कि एक सांस्कृतिक दस्तावेज है। यह रचना एक कालजयी रचना के रूप में जानी जाएगी।

सन्दर्भ :

चक्रवाल, आ. (2023). *काशी: एक नगर का महाकाव्य*. किताबवाले. ISBN 978-93-95472-58-6.

Desai, M. (2017). *Banaras reconstructed: Architecture and sacred space in a Hindu holy city*. University of Washington Press.

Eck, D. L. (1982). *Banaras: City of Light*. Columbia University Press.

Eck, D. L. (2012). *India: A sacred geography*. Harmony Books.

https://anuradhagoyal-com.translate.goog/banaras-city-of-light-diana-l-eck/?_x_tr_sl=en&_x_tr_tl=hi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc

Kramrisch, S. (1946). *The Hindu temple* (Vols. 1–2). University of Calcutta.

Singh, R. P. B. (1993). *The holy city of India: Essays on Banaras*. Shubhi Publications.

Singh, R. P. B. (Ed.). (2009). *Varanasi at the Crossroads*. Shubhi Publications.

मिश्र, वि. (विभिन्न संस्करण). *काशी: संस्कृति और साहित्य*. भारतीय ज्ञानपीठ.

सिंह, क. (2004). *काशी का अस्सी*. राजकमल प्रकाशन.

Received: 18.03.2026 | Accepted: 20.04.2026 | Published: 30.05.2026

उधमपुर: समृद्ध संस्कृति की पहचान

डॉ. इन्दु दत्ता*

indu.dutta@pgdav.du.ac.in

सारांश

उधमपुर जम्मू-कश्मीर का एक महत्वपूर्ण जिला है, जो अपनी समृद्ध डोगरा संस्कृति, प्राकृतिक सौंदर्य, धार्मिक आस्था तथा बहुसांस्कृतिक सामाजिक संरचना के कारण विशिष्ट पहचान रखता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में उधमपुर की सांस्कृतिक विरासत का समग्र अध्ययन किया गया है। इसमें क्षेत्र के ऐतिहासिक विकास, भौगोलिक विशेषताओं, सामाजिक जीवन, डोगरा संस्कृति, लोकभाषा, लोकसाहित्य, लोकगीत, लोकनृत्य, पारंपरिक वेशभूषा, खान-पान, धार्मिक आस्थाओं, मेलों, त्योहारों तथा हस्तशिल्प का विस्तृत विवेचन किया गया है। साथ ही गुर्जर, बकरवाल, पहाड़ी एवं अन्य समुदायों के सांस्कृतिक योगदान को भी रेखांकित किया गया है। शोध-पत्र आधुनिकता, वैश्वीकरण, शहरीकरण तथा तकनीकी विकास के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करता है कि उधमपुर की सांस्कृतिक पहचान आज भी अपनी मूल परंपराओं से जुड़ी हुई है। डोगरी भाषा, लोककलाओं और सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि विकास और परंपरा का संतुलित समन्वय ही उधमपुर की सांस्कृतिक अस्मिता को भविष्य में भी सुरक्षित रख सकता है। यह शोध-पत्र भारतीय सांस्कृतिक विविधता, राष्ट्रीय एकता तथा स्थानीय लोक-संस्कृति के संरक्षण के संदर्भ में महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द

उधमपुर, डोगरा संस्कृति, लोकसंस्कृति, डोगरी भाषा, लोकसाहित्य, लोकनृत्य, लोकगीत, सांस्कृतिक विरासत, गुर्जर-बकरवाल, धार्मिक आस्था, पारंपरिक जीवन-शैली, जम्मू-कश्मीर, सांस्कृतिक अस्मिता, राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक संरक्षण।

प्रस्तावना :

संस्कृति किसी भी समाज की आत्मा होती है। यह केवल कला, संगीत, साहित्य या धर्म तक सीमित नहीं रहती बल्कि मनुष्य के जीवन जीने के तरीके, उसके व्यवहार, रीति-रिवाजों, खान-पान, वेशभूषा, सामाजिक संबंधों और नैतिक मूल्यों का भी समग्र रूप होती है। भारत की सांस्कृतिक विशेषता उसकी विविधता में निहित है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है। भारत विविधताओं का देश है जहां प्रत्येक क्षेत्र अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक परंपराओं और जीवन-पद्धति के कारण अलग स्थान रखता है। इन्हीं क्षेत्रों में एक है जम्मू कश्मीर का उधमपुर जिला। अपने प्राकृतिक सौंदर्य, धार्मिक आस्था, डोगरा संस्कृति, लोक-कलाओं और सामुदायिक जीवन, मेले, पर्व, धार्मिक स्थल, पारंपरिक व्यंजन और लोक-विश्वास आदि के कारण सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध माना जाता है।

उधमपुर की जीवन-शैली पर्वतीय जीवन की सरलता, श्रमशीलता और सामुदायिक भावना का परिचय देती है। इनमें परंपरा और आधुनिकता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। एक ओर ग्रामीण समाज आज भी लोकरीति, संयुक्त परिवार, लोकभाषा और पारंपरिक कृषि व्यवस्था से जुड़ा हुआ है वहीं दूसरी ओर शिक्षा, सूचना प्रौद्योगिकी, पर्यटन और सैन्य

* **पी.जी.डी.ए.वी. महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली विश्वविद्यालय, नेहरू नगर, नई दिल्ली**

गतिविधियों ने आधुनिक जीवन-मूल्यों को भी सशक्त बनाया है। उधमपुर केवल प्रशासनिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि यह जम्मू क्षेत्र की सांस्कृतिक आत्मा का प्रतिनिधित्व भी करता है। डोगरा समुदाय के साथ-साथ गूर्जर, बकरवाल, पहाड़ी, पंजाबी तथा अन्य समुदायों ने इसकी सांस्कृतिक संरचना को बहुरंगी बनाया है।

इस क्षेत्र का इतिहास डुग्गर प्रदेश की ऐतिहासिक परंपराओं से जुड़ा हुआ है। माना जाता है कि इस नगर की स्थापना डोगरा शासक राजा उदय सिंह ने की थी जिनके नाम पर इसका नाम 'उधमपुर' पड़ा। डोगरा शासन के दौरान यह प्रशासनिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केंद्र रहा। 1846 की अमृतसर संधि के बाद जम्मू-कश्मीर रियासत की स्थापना हुई और डोगरा शासकों ने उधमपुर सहित पूरे क्षेत्र में सड़क, सिंचाई और प्रशासनिक ढांचे का विस्तार किया। स्वतंत्रता के बाद उधमपुर का महत्व और बढ़ा जिसका मुख्य कारण था यहां भारतीय सेना की उत्तरी कमान का मुख्यालय बनना। आज उधमपुर केवल एक जिला मुख्यालय नहीं बल्कि राष्ट्रीय सुरक्षा और सांस्कृतिक समन्वय का भी प्रमुख केंद्र है।

उधमपुर जम्मू संभाग के मध्यवर्ती भाग में स्थित है। इसकी ऊंचाई लगभग 750-800 मीटर है जिसके कारण यहां की जलवायु मैदानी क्षेत्रों की तुलना में अधिक सुहावनी रहती है। यह जिला पर्वतों, वनों, नदियों और घाटियों से घिरा हुआ है। यहां देवदार, चीड़ तथा अन्य वनस्पतियां प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। तवी नदी और उसकी सहायक धाराएं कृषि तथा पेयजल की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्राकृतिक संपदा ने यहां के लोगों को गहराई से प्रभावित किया है। लकड़ी, औषधीय पौधे, फल तथा वन-उत्पाद स्थानीय अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण भाग हैं।

यह एक बहुसांस्कृतिक जिला है। यहां डोगरा, गुर्जर, बकरवाल, पहाड़ी, कश्मीरी तथा अन्य समुदाय निवास करते हैं। सभी समुदायों के बीच सामाजिक सौहार्द और पारस्परिक सहयोग की भावना देखने को मिलती है। विवाह, धार्मिक उत्सव तथा सामुदायिक कार्यक्रमों में लोग एक-दूसरे की सहभागिता को महत्व देते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में संयुक्त परिवारों की परंपरा अभी भी विद्यमान है जबकि नगर क्षेत्रों में एकल परिवारों की संख्या बढ़ रही है। यहां की सांस्कृतिक पहचान मुख्य रूप से डोगरा संस्कृति से निर्मित हुई है। डोगरा संस्कृति वीरता, श्रम, धार्मिक आस्था और अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध है। डोगरा समाज में परिवार को सर्वोच्च सामाजिक संस्था माना जाता है। परिवार के बड़े-बुजुर्गों का सम्मान, सामूहिक निर्णय, सामाजिक सहयोग तथा धार्मिक विश्वास इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं। डोगरा संस्कृति में लोकगीतों, लोकनृत्यों तथा लोककथाओं की समृद्ध परंपरा है। विवाह, जन्म, फसल कटाई तथा धार्मिक अवसरों पर विशेष लोकगीत गाए जाते हैं। अतिथि का स्वागत पूरे सम्मान और आत्मीयता से कना डोगरा समाज की विशिष्ट पहचान है। यही कारण है कि 'अतिथि देवो भव' की भारतीय परंपरा यहां आज भी जीवित दिखाई देती है।

उधमपुर के समाज में परिवार केवल आर्थिक इकाई नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक शिक्षा का केंद्र भी है। बच्चों को बचपन से ही बड़ों का सम्मान, ईमानदारी, परिश्रम, सहयोग और धार्मिक आस्था के संस्कार दिए जाते हैं। महिलाएं परिवार की सांस्कृतिक परंपराओं को आग बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वे केवल गृहिणी ही नहीं बल्कि कृषि, पशुपालन, शिक्षा तथा सामाजिक कार्यों में भी सक्रिय रहती हैं।

इस क्षेत्र की प्रमुख भाषा डोगरी है जिसे भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी, गोजरी, पहाड़ी और पंजाबी भी यहाँ बोली जाती है। डोगरी भाषा का साहित्य अत्यंत समृद्ध है। लोकगीत, लोककथाएं, कहावतें और लोकगाथाएं इसकी पहचान हैं। आधुनिक डोगरी साहित्य में कवियों और लेखकों ने सामाजिक परिवर्तन, स्त्री-अस्मिता, ग्रामीण जीवन तथा मानवीय मूल्यों को प्रमुख विषय बनाया है।

यहां का जनजीवन प्राकृतिक परिवेश के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। यहां के अधिकांश ग्रामीण परिवार कृषि, पशुपालन और छोटे व्यवसायों पर निर्भर हैं। पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण लोगों का जीवन परिश्रम, आत्मनिर्भरता और सामुदायिक सहयोग पर आधारित है। प्रातःकाल से ही लोग अपने दैनिक कार्यों में लग जाते हैं। खेतों में काम करना, पशुओं की देखभाल, घर के पारंपरिक कार्य तथा स्थानीय बाजारों में व्यापार करना यहां की सामान्य दिनचर्या का हिस्सा है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी पारंपरिक मकान देखने को मिलते हैं जिनमें पत्थर, लकड़ी और मिट्टी का उपयोग किया जाता है। आधुनिक

समय में सीमेंट और कंक्रीट के मकानों का निर्माण बढ़ा है फिर भी अनेक गांवों में पारंपरिक स्थापत्य शैली सुरक्षित है। यहां के लोग सादगी, विनम्रता और अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध हैं। किसी भी सामाजिक अवसर पर पूरा गांव एक परिवार की तरह सहयोग करता है। विवाह, जन्म, मृत्यु, धार्मिक अनुष्ठान और त्योहार सामूहिक रूप से मनाए जाते हैं जिससे सामाजिक एकता और भाईचारे की भावना सुदृढ़ होती है।

उधमपुर की सांस्कृतिक विविधता में गूर्जर और बकरवाल समुदाय का विशेष योगदान है। ये समुदाय अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति, लोकपरंपराओं और पशुपालन आधारित अर्थव्यवस्था के लिए जाने जाते हैं। गूर्जर समुदाय मुख्यतः दुग्ध उत्पादन, पशुपालन और कृषि से जुड़ा है। उनके सामाजिक जीवन में परिवार और समुदाय की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। बकरवाल समुदाय पारंपरिक रूप से अर्ध घुमंतू जीवन जीता है। वे मौसम के अनुसार अपने पशुओं विशेष रूप से भेड़ों और बकरियों को लेकर ऊंचे पर्वतीय क्षेत्रों और मैदानी इलाकों के बीच आवागमन करते हैं। इस जीवन पद्धति ने उन्हें प्रकृति के साथ गहरा संबंध स्थापित करने में सहायता की है। इन समुदायों में लोकगीत, लोककथाएं, पशु आधारित लोकविश्वास और पारंपरिक चिकित्सा ज्ञान आज भी जीवित है।

इस क्षेत्र की प्रमुख भाषा डोगरी है किंतु गोजरी, पहाड़ी, हिंदी, उर्दू और पंजाबी का भी व्यापक प्रयोग यहां दिखाई देता है। अत्यंत समृद्ध डोगरी लोकसाहित्य में वीरगाथाएं, प्रेमगीत, विवाहगीत, देवी-देवताओं की कथाएं तथा लोककथाएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से संचारित होती रही हैं। लोककथाओं में सत्य, साहस, न्याय, परिश्रम और नैतिकता का संदेश मिलता है। दादी-नानी द्वारा बच्चों को सुनाई जाने वाली कहानियां केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं सांस्कृतिक शिक्षा का माध्यम भी है। डोगरी साहित्य की प्रसिद्ध कवयित्री पद्मा सचदेव ने डोगरी भाषा को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया। वे मानती हैं कि ''डोगरी केवल भाषा नहीं बल्कि डुग्गर की आत्मा है।'' उनके साहित्य में डोगरा समाज, स्त्री जीवन, प्रकृति, लोकसंस्कृति आदि का सुंदर चित्रण मिलता है।

उधमपुर के लोकगीत यहां के जीवन के प्रत्येक अवसर से जुड़े हैं। विवाह के अवसर पर मंगल गीत, सुहाग गीत और विदाई गीत गाए जाते हैं। कृषि कार्यों के समय श्रमगीत तथा धार्मिक अवसरों पर भक्ति गीत गाए जाते हैं। कुड्डु, फुम्मनियां, हारण यहां के प्रमुख लोकनृत्य हैं। कुड्डु डोगरा समाज का अत्यंत लोकप्रिय नृत्य है। इसे विशेष रूप से धार्मिक मेलों तथा सामुदायिक उत्सवों में प्रस्तुत किया जाता है। ढोल की ताल पर सामूहिक रूप से किया जाने वाला यह नृत्य उत्साह और सामूहिकता का प्रतीक है। फुम्मनियां महिलाओं का पारंपरिक लोकनृत्य है जिसमें वे समूह बनाकर गीतों के साथ नृत्य करती हैं। हारण लोकनाट्य और लोकनृत्य का मिश्रित रूप है जिसमें सामाजिक व्यंग्य और मनोरंजन दोनों का समावेश होता है। लोकसंगीत में ढोल, नगाड़ा, बांसुरी, शहनाई और चिमटा जैसे वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

यहां की वेशभूषा जलवायु तथा सांस्कृतिक परंपराओं के अनुरूप विकसित हुई है। पुरुष प्रायः कुर्ता-पायजामा, पगड़ी, कमरबंद तथा सर्दियों में ऊनी कोट या शॉल पहनते हैं। महिलाएं सलवार कमीज़, दुपट्टा तथा रंग-बिरंगे परिधान पहनती हैं। विशेष अवसरों पर पारंपरिक कढ़ाई वाले वस्त्र धारण किए जाते हैं। आभूषणों में चांदी और सोने के गहनों का विशेष महत्व है। नथ, झुमके, हार, चूड़ियां और पायल अनिवार्य रूप से पारंपरकि श्रृंगार का हिस्सा हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में ऊनी शॉल और हस्तनिर्मित वस्त्र स्थानीय हस्तकला का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

उधमपुर का भोजन स्थानीय कृषि, जलवायु और सांस्कृतिक परंराओं से प्रीाावित है। यहां का भोजन पौष्टिक, सरल और स्वादिष्ट होता है। मुख्य व्यंजनों में राजमा-चावल, कलाड़ी (स्थानीय दूध से बना उत्पाद), अंबल, मक्के की रोटी, सरसों का साग, दालें, घी, दही इत्यादि है। विशेष अवसरों पर अनेक पारंपरिक व्यंजन बनाए जाते हैं। विवाह समारोहों में डोगरी भोजन की विशेष व्यवस्था की जाती है। कलाड़ी आज जम्मू क्षेत्र की सांस्कृतिक पहचान बन चुकी है और उधमपुर सहित पूरे डुग्गर क्षेत्र में अत्यंत लोकप्रिय है।

धार्मिक-सांस्कृतिक त्योहार उधमपुर में बहुत उत्साह के साथ मनाए जाते हैं। इनमें लोहड़ी, मकर संक्रांति, महाशिवरात्रि, होली, रामनवमी, बैसाखी, जन्माष्टमी, दिवाली, गुरुपर्व आदि हैं। नवरात्रि के अवसर पर माता वैष्णो देवी जाने

वाले लाखों श्रद्धालु इस क्षेत्र से होकर गुजरते हैं जिससे धार्मिक वातावरण और भी अधिक जीवंत हो जाता है। स्थानीय मेलों में लोकनृत्य, लोकसंगीत, हस्तशिल्प प्रदर्शनी तथा पारंपरिक खेलों का आयोजन होता है।

धार्मिक आस्था और तीर्थस्थलों की दृष्टि से देखें तो उधमपुर का जवाब नहीं। 'सुध महादेव मंदिर' यहां का प्राचीन शिव मंदिर है जो अत्यधिक श्रद्धा का केंद्र है। यहां प्रतिवर्ष विशाल मेला आयोजित होता है। मानतलाई स्थान धार्मिक तथा प्राकृतिक सौंदर्य दोनों के लिए प्रसिद्ध है। 'देविका नदी' को छोटी गंगा कहा जाता है। धार्मिक मान्यताओं के अनुसार इसमें स्नान करना पुण्यदायक माना जाता है। 'क्रिमची मंदिर' प्राचीन मंदिर है जो स्थापत्य कला और इतिहास का महत्वपूर्ण उदाहरण है। इन धार्मिक स्थलों पर प्रतिवर्ष देश-विदेश से हज़ारों श्रद्धालु और पर्यटकों का आना-जाना लगा रहता है।

हस्तशिल्प और लोक कलाओं की बात करें तो हस्तनिर्मित वस्त्र, ऊनी शॉल, लकड़ी की नक्काशी, बांस तथा बेंत से निर्मित वस्तुएं यहां की स्थानीय कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। ग्रामीण महिलाएं कढ़ाई, सिलाई और हस्तशिल्प के माध्यम से पारंपरिक कला को जीवित रखे हुए हैं। कई स्वयं सहायता समूहों ने भी इन कलाओं को आर्थिक दृष्टि से सशक्त बनाया है।

उधमपुर प्राकृतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पर्यटन का महत्वपूर्ण केंद्र है। हरी-भरी पर्वत श्रृंखलाएं, वन, झरने और ऐतिहासिक स्थल पर्यटकों को आकर्षित करते हैं। पर्यटन से स्थानीय लोगों को रोजगार प्राप्त होता है तथा पारंपरिक हस्तशिल्प और स्थानीय व्यंजनों को बढ़ावा भी मिलता है। पर्यटन के विकास के साथ-साथ स्थानीय संस्कृति का संरक्षण करना भी आवश्यक हो जाता है ताकि आधुनिकता के प्रभाव में पारंपरिक पहचान कमजोर न पड़ने पाए। यहां की अर्थव्यवस्था का आधार मुख्यतः कृषि, पशुपालन, बागवानी, लघु व्यापार, पर्यटन तथा सरकारी सेवाएं हैं। पर्वतीय भू-भाग होने के कारण यहां सीढ़ीनुमा खेतों में खेती की जाती है। कृषि केवल आर्थिक गतिविधि नहीं है बल्कि स्थानीय जीवन शैली का अभिन्न अंग भी है। यहां की मुख्य फसलों में गेहूं, धान, मक्का, जौ, दलहन, सरसों आदि है। पिछले कुछ वर्षों से बागवानी का महत्व भी बढ़ा हैं आम, अमरूद, नींबू, अनार, लीची तथा मौसमी फलों का उत्पादन स्थानीय आय का महत्वपूर्ण स्रोत बना है। ग्रामीण परिवार दुग्ध उत्पादन, मधुमक्खी पालन तथा पोल्ट्री पालन से भी अतिरिक्त आय अर्जित करते हैं। यहां स्वयं सहायता समूह और सरकारी योजनाओं ने महिलाओं तथा युवाओं को स्वरोजगार की दिशा में प्रेरित किया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् उधमपुर में शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। आज जिले में सरकारी एवं निजी विद्यालयों, महाविद्यालयों और व्यावसायिक प्रशिक्षण संस्थानों की संख्या बढ़ी है। डिजिटल शिक्षा, पुस्तकालयों तथा कौशल विकास कार्यक्रमों ने नई पीढ़ी को व्यापक अवसर उपलब्ध करवाए हैं। सड़क, रेल और संचार सुविधाओं के विस्तार ने उधमपुर को देश के अन्य भागों से अधिक सुदृढ़ रूप से जोड़ा हैं राष्ट्रीय राजमार्ग तथा रेलवे परियोजनाओं ने आर्थिक और सामाजिक विकास को नई गति दी है। यहां की महिलाएं केवल परिवार की देखभाल तक सीमित नहीं हैं बल्कि कृषि, पशुपालन, शिक्षा, स्वास्थ्य, हस्तशिल्प और स्थानीय प्रशासन में भी सक्रिय योगदान दे रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाएं खेतों में पुरुषों के साथ कार्य करती हैं। वे बीज बोने, फसल काटने, पशु देखभाल व दुग्ध उत्पादन में महती भूमिका निभा रही हैं। आज शिक्षा के प्रसार के कारण महिलाएं शिक्षक, चिकित्सक, प्रशासनिक अधिकारी, उद्यमी तथा सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में भी अपनी पहचान बना रही हैं।

भारतीय सेना की उत्तरी कमांड के मुख्यालय के कारण उधमपुर का नाम पूरे देश में जाना जाता है। यह केवल सैन्य दृष्टि से ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक समन्वय का भी प्रतीक है। देश के विभिन्न राज्यों से आने वाले सैनिक और अधिकारी यहां रहते हैं। उनके माध्यम से विभिन्न भारतीय संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रदान होता है। इससे स्थानीय समाज में राष्ट्रीय एकता, अनुशासन और विविधता के प्रति सम्मान की भावना मजबूत होती है। सेना की उपस्थिति ने स्थानीय अर्थव्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और आधारभूत संरचना के विकास में भी सकारात्मक योगदान दिया है।

वैश्वीकरण, शिक्षा, इंटरनेट और सोशल मीडिया ने उधमपुर की जीव-शैली में अनेक परिवर्तन किए हैं। युवा पीढ़ी आधुनिक शिक्षा, तकनीकी ज्ञान और नए रोजगार के अवसरों की ओर अग्रसर है। पर इसके साथ-साथ पारंपरिक लोक

संस्कृति के सामने कुछ चुनौतियां भी उत्पन्न हुई हैं। डोगरी भाषा का दैनिक प्रयोग कुछ शहरी परिवारों में कम होता जा रहा है। लोकगीतों और लोकनृत्यों की जगह आधुनिक मनोरंजन के साधनों का प्रभाव बढ़ा है। पारंपरिक वेशभूषा अब मुख्यतः त्योहारों और विवाह अवसरों तक ही सीमित होती जा रही है। फिर भी अनेक सांस्कृतिक संस्थाएं, साहित्यकार और सामाजिक संगठन डोगरी भाषा, लोककला और परंपराओं के संरक्षण हेतु निरंतर कार्य कर रहे हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से नई पीढ़ी को अपनी विरासत से जोड़ने का प्रयास किया जा रहा है।

आज उधमपुर की सांस्कृतिक विरासत संरक्षण के समक्ष कई चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है जैसे शहरीकरण के कारण पारंपरिक जीवन-पद्धति में परिवर्तन, डोगरी और अन्य स्थानीय बोलियों का घटता प्रयोग, लोककलाओं और लोकशिल्प के संरक्षण के लिए सीमित संसाधन, पारंपरिक कृषि पर जलवायु परिवर्तन का प्रभाव, युवाओं का महानगरों की ओर पलायन, आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति का बढ़ता प्रभाव आदि। इन चुनौतियों का समाधान केवल सरकारी प्रयासों से नहीं बल्कि समाज की सक्रिय भागीदारी से ही संभव होने की आशा है। हां, उधमपुर की सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण हेतु कुछ प्रयास अवश्य रूप से किए जाने चाहिए जैसे डोगरी भाषा का विद्यालयों और महाविद्यालयों में अधिक प्रचार-प्रसार होना, लोकलाओं और हस्तशिल्प को आर्थिक सहायता प्रदान करना या करवाना, सांस्कृतिक मेलों और लोक उत्सवों का नियमित आयोजन होना, पारंपरिक व्यंजनों और लोकसंगीत को पर्यटन से जोड़ना, स्थनीय इतिहास और संस्कृति पर शोध को प्रोत्साहन देना, युवाओं को सांस्कृतिक विरासत से जोड़ने के लिए डिजिटल अभिलेखागार का निर्माण करवाना, पर्यावरण संरक्षण और पर्यटन को बढ़ावा देना आदि।

निष्कर्ष :

उधमपुर केवल जम्मू कश्मीर का एक जिला नहीं बल्कि डोगरा संस्कृति, भारतीय बहुलता और राष्ट्रीय एकता का सजीव उदाहरण है। यहां की जीवन-शैली सरल, श्रमशील और सामुदायिक है। लोकगीत, लोकनृत्य, भाषा, भोजन, धार्मिक परंपराएं और सामाजिक मूल्य इसकी विशिष्ट पहचान हैं। आधुनिकता के प्रभाव के बावजूद यहां के लोगों ने अपनी सांस्कृतिक जड़ों को पूरी तरह नहीं छोड़ा है। यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यदि स्थानीय भाषा, लोककलाओं हस्तशिल्प और सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण पर निरंतर ध्यान दिया जाए तो यह क्षेत्र भविष्य में भी भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में अपनी पहचान बनाए रखेगा। उधमपुर की जीवन-शैली और संस्कृति हमें यह संदेश देती है कि विकास और परंपरा परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं। निर्मल वर्मा जी भी मानते हैं कि ''परंपरा अतीत का बोझ नहीं बल्कि वर्तमान की चेतना है।'' अतः कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक अस्मिता को सुरक्षित रखते हुए आधुनिक विकास की ओर बढ़ना ही उधमपुर क्षेत्र की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

संदर्भ -

1. चौहान, शिवदान सिंह. *कश्मीर देश व संस्कृति*. राजपाल एंड सन्स, 1956.
2. कुकरेती, हेमंत. *भारत की लोक संस्कृति*. प्रभात प्रकाशन, 2022.
3. मोहत्रा, कुलभूषण. *प्रजा परिषद का इतिहास (जम्मू-कश्मीर)*. प्रभात प्रकाशन, 2024.
4. सक्सेना, शंकर सहाय. *काश्मीर देश व संस्कृति*. हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, 1968.
5. Khan, M. Saleem. *The History of Jammu and Kashmir*. Gulshan Books, 2005.
6. Charak, Sukhdev Singh. *History and Culture of Himalayan States*. 1st ed., Light and Life Publishers, 1978.
7. Jeratha, Ashoka. *Dogra Legends of Art and Culture*. Indus Publishing Company, 1998.
8. Sharma, Shiv Chander. *Antiquities, History, Culture and Shrines of Jammu*. Vinod Publishers Distributors, 1997.

Received: 19.03.2026 | Accepted: 20.04.2026 | Published: 30.05.2026

भूमि, ब्राह्मणत्व और पहचान : औपनिवेशिक बिहार में भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन (1870–1947)

ज्योति पाँचाल*
jyotisingh2511967@gmail.com

अंकित कुमार†
ankitkumarbali0@gmail.com

शोध-सार

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक बिहार का सामाजिक परिदृश्य तीव्र परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा था। औपनिवेशिक शासन, आधुनिक शिक्षा, भूमि-राजस्व व्यवस्थाओं, जनगणनाओं तथा उभरती राजनीतिक चेतना ने पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं को नई दिशा प्रदान की। इन परिवर्तनों के बीच कुछ समुदायों ने अपनी सामाजिक स्थिति, सांस्कृतिक वैधता और सार्वजनिक पहचान को पुनर्परिभाषित करने का संगठित प्रयास किया। प्रस्तुत अध्ययन इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का विश्लेषण करता है। यह शोध दर्शाता है कि आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण और सामाजिक प्रतिष्ठा के मध्य गहरा अंतर्संबंध विद्यमान था। ग्रामीण सत्ता-संरचना में प्रभावशाली उपस्थिति रखने वाले भूमिहार समुदाय ने आधुनिक संस्थाओं, जातीय संगठनों, शिक्षा, मुद्रण संस्कृति और इतिहास-लेखन का उपयोग करते हुए स्वयं को एक नई सामाजिक पहचान प्रदान करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में औपनिवेशिक जनगणनाओं, प्रशासनिक वर्गीकरणों और सार्वजनिक विमर्शों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि पहचान का निर्माण किसी स्थिर ऐतिहासिक विरासत का परिणाम नहीं था, बल्कि वह सामाजिक प्रतिस्पर्धा, सांस्कृतिक पुनर्व्याख्या और राजनीतिक आकांक्षाओं से निर्मित एक गतिशील प्रक्रिया थी। शोध के दौरान यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक पुनर्गठन केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयास नहीं था, बल्कि उसने शिक्षा, राजनीतिक भागीदारी, किसान चेतना और सार्वजनिक नेतृत्व के नए आयामों को जन्म दिया। इस प्रकार यह अध्ययन औपनिवेशिक भारत में जाति, शक्ति, भूमि और सांस्कृतिक वैधता के जटिल अंतर्संबंधों को समझने का एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द :

भूमिहार, सामाजिक पुनर्गठन, औपनिवेशिक बिहार, भूमि-स्वामित्व, जनगणना, सांस्कृतिक वैधता, जातीय संगठन, स्वामी सहजानंद सरस्वती, सामाजिक इतिहास, पहचान-निर्माण।

मूल आलेख

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से भारतीय स्वतंत्रता के मध्य तक का काल भारतीय समाज के इतिहास में गहन सामाजिक पुनर्संरचना का युग था। औपनिवेशिक शासन द्वारा स्थापित नई प्रशासनिक व्यवस्थाओं, जनगणनाओं, आधुनिक शिक्षा और राजनीतिक संस्थाओं ने पारंपरिक सामाजिक समूहों को अपनी स्थिति और पहचान का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए प्रेरित किया। बिहार का भूमिहार समुदाय इस परिवर्तनशील प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। यद्यपि भूमिहार लंबे समय से बिहार के विभिन्न क्षेत्रों में कृषक, भू-स्वामी तथा स्थानीय प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में उपस्थित थे,

* **शोधार्थी - इतिहास विभाग, दिगंबर जैन कॉलेज, बड़ौत, बागपत, उ. प्र.**

† **शोधार्थी - इतिहास विभाग, रघुनाथ गर्ल्स पी. जी. कॉलेज, मेरठ, उ. प्र.**

तथापि औपनिवेशिक काल में उनकी सामाजिक पहचान को लेकर व्यापक बहस प्रारंभ हुई। यह बहस केवल जातीय प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं थी, बल्कि भूमि, सत्ता, शिक्षा और सामाजिक वैधता से भी गहराई से जुड़ी हुई थी।

औपनिवेशिक बिहार में भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन एक बहुआयामी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। एक ओर समुदाय का एक बड़ा वर्ग पर्याप्त भूमि-स्वामित्व और आर्थिक संसाधनों के कारण ग्रामीण सत्ता संरचना में प्रभावशाली स्थिति रखता था, वहीं दूसरी ओर उसे पारंपरिक ब्राह्मण समुदायों द्वारा पूर्ण धार्मिक मान्यता प्राप्त नहीं थी। परिणामस्वरूप भूमिहारों के भीतर अपनी सामाजिक स्थिति को पुनर्परिभाषित करने तथा स्वयं को *'भूमिहार ब्राह्मण'* के रूप में स्थापित करने का एक संगठित प्रयास विकसित हुआ। यह प्रयास केवल सांस्कृतिक नहीं था, बल्कि इसके पीछे राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षिक कारक भी सक्रिय थे।

1870 से 1947 के बीच भूमिहार समुदाय द्वारा स्थापित सभाएँ, सम्मेलन, शैक्षिक संस्थान तथा सामाजिक सुधार कार्यक्रम इस व्यापक पुनर्गठन के महत्वपूर्ण साधन बने। औपनिवेशिक जनगणनाओं ने भी इस प्रक्रिया को नई दिशा प्रदान की, क्योंकि पहली बार समुदायों को राज्य द्वारा वर्गीकृत और परिभाषित किया जा रहा था। परिणामस्वरूप जातीय पहचान एक सार्वजनिक और राजनीतिक प्रश्न बन गई। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य औपनिवेशिक बिहार में भूमिहार समुदाय के सामाजिक पुनर्गठन की प्रक्रिया का विश्लेषण करना है। विशेष रूप से यह अध्ययन भूमि-स्वामित्व, ब्राह्मणत्व की अवधारणा, जातीय संगठनों, औपनिवेशिक जनगणनाओं तथा राष्ट्रवादी राजनीति के परस्पर संबंधों को समझने का प्रयास करता है।

औपनिवेशिक बिहार की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का बिहार भारतीय उपमहाद्वीप के उन क्षेत्रों में था जहाँ औपनिवेशिक शासन, कृषि अर्थव्यवस्था और जातिगत संरचना एक-दूसरे से गहराई से जुड़ी हुई थीं। 1793 के *स्थायी बंदोबस्त* (Permanent Settlement) के दीर्घकालिक प्रभावों ने बिहार की ग्रामीण संरचना को इस प्रकार रूपांतरित किया कि भूमि केवल उत्पादन का साधन न रहकर सामाजिक प्रतिष्ठा, राजनीतिक प्रभाव और जातीय प्रभुत्व का प्रमुख आधार बन गई। परिणामस्वरूप, भूमि-स्वामित्व और सामाजिक स्थिति के बीच एक प्रत्यक्ष संबंध विकसित हुआ, जिसने आगे चलकर अनेक समुदायों की पहचान-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित किया।

औपनिवेशिक प्रशासनिक अभिलेखों तथा जिला गजेटियरों से स्पष्ट होता है कि *शाहाबाद, पटना, गया, मुंगेर और सारण* जैसे जिलों में भूमिहार, राजपूत, कायस्थ तथा अन्य प्रभुत्वशाली कृषक समुदाय ग्रामीण सत्ता-संरचना में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। इनमें भूमिहार समुदाय की स्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय थी, क्योंकि समुदाय का एक बड़ा वर्ग कृषि भूमि पर नियंत्रण रखता था तथा स्थानीय स्तर पर राजस्व संग्रह, पंचायत नेतृत्व और सामाजिक निर्णयों में प्रभावशाली भूमिका निभाता था।

1901 और 1911 की जनगणना रिपोर्टों से यह संकेत मिलता है कि बिहार में जातीय वर्गीकरण केवल सामाजिक पहचान का प्रश्न नहीं था, बल्कि प्रशासनिक और राजनीतिक महत्व भी रखता था। औपनिवेशिक राज्य ने भारतीय समाज को विभिन्न जातीय श्रेणियों में विभाजित कर उन्हें व्यवस्थित करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया ने अनेक समुदायों को अपनी सामाजिक स्थिति पुनः परिभाषित करने के लिए प्रेरित किया। भूमिहार समुदाय भी इसी व्यापक परिवर्तन का हिस्सा था।

आर्थिक दृष्टि से बिहार की कृषि व्यवस्था गहरे असंतुलन से ग्रस्त थी। एक ओर बड़े भू-स्वामी वर्ग थे, जबकि दूसरी ओर भूमिहीन कृषक और बटाईदार किसान बड़ी संख्या में मौजूद थे। कृषि उत्पादन का अधिकांश भाग मानसूनी परिस्थितियों पर निर्भर था। अकाल, ऋणग्रस्तता तथा महाजनी शोषण जैसी समस्याएँ ग्रामीण जीवन का अभिन्न हिस्सा थीं। यद्यपि भूमिहार समुदाय का एक प्रभावशाली वर्ग भूमि-स्वामी था, तथापि सम्पूर्ण समुदाय को एकसमान आर्थिक श्रेणी में रखना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। अनेक छोटे कृषक भूमिहार परिवार भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था की अनिश्चितताओं से प्रभावित थे।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह काल *'जातीय पुनर्संरचना' का युग* था। आधुनिक शिक्षा, मुद्रण संस्कृति, समाचार-पत्रों और जातीय संगठनों के प्रसार ने विभिन्न समुदायों में आत्मचेतना को बढ़ावा दिया। बिहार में भी जातीय सभाओं का उदय इसी पृष्ठभूमि में हुआ। इन संगठनों ने इतिहास-लेखन, वंशावली निर्माण और सामाजिक सुधार कार्यक्रमों के माध्यम से

समुदायों की सामूहिक पहचान को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। भूमिहार समुदाय में भी इसी काल में संगठित सामाजिक जागरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई।

ब्रिटिश इतिहासकार बर्नार्ड कोहन का मत है कि औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज को ‘गणना योग्य’ और ‘वर्गीकृत’ समाज में परिवर्तित कर दिया। बिहार के संदर्भ में यह टिप्पणी विशेष रूप से प्रासंगिक प्रतीत होती है, क्योंकि जनगणना और प्रशासनिक वर्गीकरण ने जातीय पहचान को सार्वजनिक विमर्श का विषय बना दिया। भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन इसी ऐतिहासिक संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

भूमिहार समुदाय की उत्पत्ति और ऐतिहासिक विमर्श

भूमिहारों की उत्पत्ति को लेकर इतिहासकारों के बीच एकमत दृष्टिकोण नहीं मिलता। औपनिवेशिक प्रशासनिक अभिलेखों, जनगणना रिपोर्टों तथा जातीय साहित्य में इनके संबंध में भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। कुछ विद्वानों ने भूमिहारों को उन ब्राह्मण समूहों का वंशज माना जिन्होंने समय के साथ पुरोहिती कर्म का त्याग कर कृषि और भूमि-प्रबंधन को अपना प्रमुख व्यवसाय बना लिया। इसके विपरीत कुछ औपनिवेशिक जाति-विशेषज्ञों ने उन्हें मूलतः एक शक्तिशाली कृषक-भूस्वामी समुदाय माना, जिसने बाद के काल में ब्राह्मण पहचान को अपनाने का प्रयास किया।

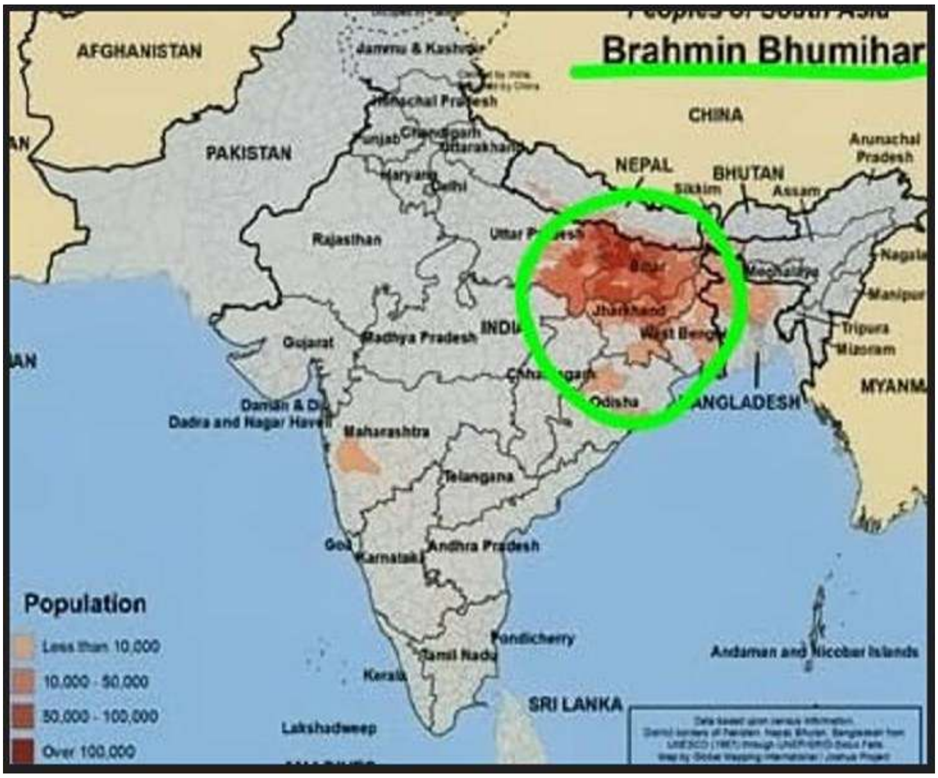

अनुराग शर्मा ने उल्लेख किया है कि ‘भूमिहार’ पूर्वी भारत का एक प्रमुख *"अयाचक" ब्राह्मण समुदाय* है। ये मुख्य रूप से बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश (पूर्वांचल), झारखंड, मध्य प्रदेश के बुंदेलखंड क्षेत्र और नेपाल के तराई क्षेत्र में पाए जाते हैं। **फ्रांसिस बुकानन** द्वारा भूमिहारों को *"मिलिट्री ब्राह्मण"* (सैनिक ब्राह्मण) और 1883 में **विलियम एडम** द्वारा *"मगध ब्राह्मण"* कहा गया था। **विलियम क्रुक** ने अपनी पुस्तक, *"ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ द नॉर्थ-वेस्टर्न प्रोविंस एंड अवध"* में **"भुइंहार"** का उल्लेख पूर्वी जिलों में जमींदारों और कृषकों की एक महत्वपूर्ण जनजाति के रूप में किया है और बताया है कि उन्हें बाभन, जमींदार ब्राह्मण, गृहस्थ ब्राह्मण, या पश्चिमा या 'पश्चिमी' ब्राह्मण के रूप में भी जाना जाता है।

1901 की जनगणना के आयुक्त H. H. Risley ने जातियों को सामाजिक वंशक्रम के आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में भूमिहारों की स्थिति एक विवादास्पद प्रश्न बन गई। **रिस्ले** ने अनेक स्थानों पर भूमिहारों को **'कल्टीवेटिंग ब्रहमिंस'** अर्थात् *कृषि-आधारित ब्राह्मण* कहा, जबकि अन्य प्रशासकों ने उन्हें स्वतंत्र भू-स्वामी कृषक जाति माना। परिणामस्वरूप औपनिवेशिक वर्गीकरण स्वयं जातीय राजनीति का क्षेत्र बन गया। भूमिहार ब्राह्मण महासभा द्वारा प्रस्तुत ज्ञापनों और प्रतिवेदनों का एक प्रमुख उद्देश्य यही था कि राज्य द्वारा उन्हें ब्राह्मण श्रेणी में वैधानिक स्वीकृति प्राप्त हो। इस प्रकार जनगणना केवल सांख्यिकीय अभ्यास नहीं रही; वह सामाजिक प्रतिष्ठा के संघर्ष का राजनीतिक मंच बन गई।

समाजशास्त्री **पियरे बोरदियू** की *'सांस्कृतिक पूँजी'* (Cultural Capital) की अवधारणा इस प्रक्रिया को समझने में अत्यंत उपयोगी प्रतीत होती है। यदि भूमिहारों के पास भूमि और संसाधनों के रूप में आर्थिक पूँजी थी, तो ब्राह्मणत्व का दावा उन्हें सांस्कृतिक पूँजी प्रदान कर सकता था। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों से समुदाय के शिक्षित वर्ग ने अपने इतिहास, वंशावली और धार्मिक परंपराओं की पुनर्व्याख्या आरम्भ की।

इस संदर्भ में *भूमिहार ब्राह्मण महासभा* और अन्य जातीय संगठनों की भूमिका विशेष उल्लेखनीय थी। इन संगठनों ने *सम्मेलनों, पत्र-पत्रिकाओं, स्मारिकाओं तथा ऐतिहासिक* ग्रंथों के माध्यम से यह स्थापित करने का प्रयास किया कि भूमिहार कोई साधारण कृषक समुदाय नहीं, बल्कि वैदिक परंपरा से सम्बद्ध एक विशिष्ट ब्राह्मण शाखा हैं। इस वैचारिक नैरेटिव को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने *'भगवान परशुराम'* को अपने सर्वोच्च आदर्श और गौरव के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया। परशुराम जी के **'शास्त्र और शस्त्र'** (ज्ञान और भूमि-अधिकार) के समन्वय को इस समुदाय ने अपनी विशिष्ट पहचान का मूल आधार माना। यह प्रक्रिया केवल अतीत की खोज नहीं थी; बल्कि वर्तमान सामाजिक संरचना में सम्मानजनक स्थान अर्जित करने की एक वैचारिक परियोजना थी।

इतिहासकार **निकोलस डिर्क्स** ने औपनिवेशिक भारत के संदर्भ में लिखा है कि जातियाँ केवल परंपरा की उपज नहीं थीं, बल्कि औपनिवेशिक शासन की प्रशासनिक और ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं द्वारा भी पुनर्गठित की गईं। भूमिहार समुदाय का अनुभव इस तर्क की पुष्टि करता है। जनगणना, भूमि-अभिलेख, शिक्षा और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे औपनिवेशिक उपकरणों ने जातीय पहचान को नए अर्थ प्रदान किए। इस प्रकार भूमिहारों की पहचान किसी स्थिर ऐतिहासिक तथ्य का परिणाम नहीं थी, बल्कि औपनिवेशिक आधुनिकता और स्थानीय सामाजिक आकांक्षाओं के अंतःक्रिया से निर्मित एक गतिशील प्रक्रिया थी।

अतः भूमिहार समुदाय की उत्पत्ति का प्रश्न केवल इस बात तक सीमित नहीं है कि वे वास्तव में ब्राह्मण थे या नहीं। इतिहासकार के लिए अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि किन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने उन्हें स्वयं को *'भूमिहार ब्राह्मण'* के रूप में परिभाषित करने के लिए प्रेरित किया। वस्तुतः यही प्रक्रिया औपनिवेशिक बिहार में उनके सामाजिक पुनर्गठन और नई सामुदायिक पहचान के निर्माण का आधार बनी।

भूमि-स्वामित्व, जमींदारी और ग्रामीण सत्ता संरचना : सामाजिक प्रतिष्ठा का आर्थिक आधार

औपनिवेशिक बिहार में भूमिहार समुदाय की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए केवल जातीय विमर्शों या ब्राह्मणत्व के दावों का अध्ययन पर्याप्त नहीं है। इसके लिए उस आर्थिक आधार की भी पड़ताल आवश्यक है, जिस पर समुदाय की सामाजिक शक्ति निर्मित हुई। वस्तुतः भूमि-स्वामित्व ही वह केंद्रीय तत्व था जिसने भूमिहार समुदाय को ग्रामीण समाज में प्रभाव, प्रतिष्ठा और नेतृत्व प्रदान किया। इसी आर्थिक शक्ति ने आगे चलकर सांस्कृतिक वैधता और जातीय पुनर्परिभाषा की प्रक्रिया को भी प्रेरित किया।

1793 के स्थायी बंदोबस्त ने बिहार की ग्रामीण संरचना में एक गहरा परिवर्तन उत्पन्न किया। **लॉर्ड कॉर्नवालिस** द्वारा लागू इस व्यवस्था का उद्देश्य राजस्व संग्रह को स्थिर बनाना था, किन्तु इसके परिणामस्वरूप भूमि-स्वामित्व कुछ प्रभावशाली वर्गों के हाथों में केंद्रित होता गया। बिहार के शाहाबाद, गया, पटना, मुंगेर और सारण जैसे क्षेत्रों में भूमिहार, राजपूत तथा अन्य प्रभुत्वशाली जातियों के बड़े भू-स्वामी वर्ग उभरकर सामने आए। भूमि अब केवल उत्पादन का साधन नहीं रही; वह सामाजिक प्रतिष्ठा, राजनीतिक प्रभाव और प्रशासनिक पहुँच का प्रमुख स्रोत बन गई।

बिहार एवं उड़ीसा गजेटियरों तथा औपनिवेशिक राजस्व अभिलेखों से संकेत मिलता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक बिहार के अनेक हिस्सों में भूमिहार समुदाय स्थानीय जमींदारी संरचना का महत्वपूर्ण अंग बन चुका था। यद्यपि सम्पूर्ण समुदाय को जमींदार कहना ऐतिहासिक रूप से अनुचित होगा, तथापि यह सत्य है कि समुदाय का शिक्षित और प्रभावशाली वर्ग भूमि-संपत्ति पर पर्याप्त नियंत्रण रखता था। ग्रामीण समाज में यह नियंत्रण केवल आर्थिक नहीं था; यह सामाजिक संबंधों, पंचायतों, स्थानीय न्याय और राजनीतिक प्रतिनिधित्व तक विस्तृत था। यहीं से एक महत्वपूर्ण *ऐतिहासिक प्रश्न उभरता है*—क्या भूमिहारों का ब्राह्मणत्व केवल धार्मिक दावा था, अथवा वह आर्थिक शक्ति से उत्पन्न सामाजिक आत्मविश्वास का परिणाम था?

इस प्रश्न का उत्तर खोजने पर स्पष्ट होता है कि भूमिहार पहचान के पुनर्गठन में भूमि की भूमिका अत्यंत निर्णायक थी। परंपरागत भारतीय समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा मुख्यतः धार्मिक और सांस्कृतिक पूँजी पर आधारित थी। इसके विपरीत भूमिहार समुदाय के पास व्यापक भूमि-संपत्ति और ग्रामीण प्रभाव तो था, किन्तु धार्मिक वैधता को लेकर विवाद बना हुआ था। फलतः समुदाय के भीतर यह भावना विकसित हुई कि आर्थिक प्रभुत्व को सामाजिक सम्मान में रूपांतरित किए बिना उनकी स्थिति अधूरी रहेगी। दूसरे शब्दों में, भूमि ने उन्हें शक्ति प्रदान की, जबकि ब्राह्मणत्व की खोज ने उस शक्ति को वैधता प्रदान करने का प्रयास किया।

इस प्रक्रिया को समझने के लिए **शाहाबाद** (वर्तमान भोजपुर-बक्सर क्षेत्र) का उदाहरण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह क्षेत्र बिहार के सर्वाधिक समृद्ध कृषि क्षेत्रों में गिना जाता था। यहाँ भूमिहार भू-स्वामियों का प्रभाव स्थानीय प्रशासन और ग्रामीण राजनीति में स्पष्ट दिखाई देता था। अनेक स्थानों पर पंचायत नेतृत्व, राजस्व प्रबंधन तथा शैक्षिक संस्थानों के संरक्षण में उनकी प्रमुख भूमिका थी। परिणामस्वरूप आर्थिक प्रभुत्व ने सामाजिक नेतृत्व को जन्म दिया, और सामाजिक नेतृत्व ने जातीय संगठन को।

इस दृष्टि से भूमिहार समुदाय को केवल एक प्रभुत्वशाली जमींदार वर्ग के रूप में देखना ऐतिहासिक सरलीकरण होगा। वास्तव में यह समुदाय औपनिवेशिक बिहार की उस जटिल सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करता था जिसमें भूमि, जाति, शिक्षा और सत्ता एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए थे। भूमि-स्वामित्व ने उन्हें आर्थिक शक्ति प्रदान की, परंतु उसी शक्ति ने सामाजिक वैधता और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा की नई आकांक्षाओं को भी जन्म दिया। यही आकांक्षाएँ आगे चलकर ब्राह्मणत्व, जातीय संगठन और पहचान-निर्माण की व्यापक प्रक्रिया में रूपांतरित हुईं।

ब्राह्मणत्व की खोज : जातीय संगठन, शिक्षा और वैचारिक पुनर्निर्माण

औपनिवेशिक भारत में जाति केवल जन्माधारित पहचान नहीं रह गई थी; वह प्रतिनिधित्व, शिक्षा, नौकरियों और सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ा राजनीतिक प्रश्न बन चुकी थी। जनगणना, प्रशासनिक वर्गीकरण और आधुनिक शिक्षा ने विभिन्न समुदायों को अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति अधिक सजग बनाया। ऐसे वातावरण में भूमिहार समुदाय के शिक्षित वर्ग ने यह अनुभव किया कि भूमि और आर्थिक शक्ति के बावजूद उनकी सामाजिक स्थिति अस्पष्ट बनी हुई है। परिणामस्वरूप समुदाय के भीतर एक वैचारिक आंदोलन विकसित हुआ जिसका उद्देश्य स्वयं को वैदिक परंपरा से सम्बद्ध ब्राह्मण समुदाय के रूप में स्थापित करना था।

इस प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण संस्थागत माध्यम *भूमिहार ब्राह्मण महासभा* बनी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में स्थापित यह संगठन केवल जातीय एकता का मंच नहीं था, बल्कि पहचान-निर्माण की प्रयोगशाला के रूप में कार्य कर रहा था। महासभा के सम्मेलनों, प्रस्तावों और प्रकाशनों में बार-बार यह प्रतिपादित किया गया कि भूमिहारों की ऐतिहासिक जड़ें ब्राह्मण परंपरा में निहित हैं और कृषि-कार्य अपनाने के कारण उनकी धार्मिक स्थिति को कमतर नहीं आँका जा सकता।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि ब्राह्मणत्व की यह खोज केवल धार्मिक आग्रह नहीं थी। इसके पीछे सामाजिक सम्मान प्राप्त करने की एक गहरी आकांक्षा कार्य कर रही थी। समाजशास्त्री **पियरे बोरदियू** के अनुसार किसी भी समाज में विभिन्न प्रकार की पूँजियाँ—आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक—परस्पर रूपांतरणीय होती हैं। भूमिहार समुदाय का अनुभव इस सिद्धांत का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। भूमि-स्वामित्व ने आर्थिक पूँजी प्रदान की, जबकि ब्राह्मणत्व की अवधारणा उस आर्थिक शक्ति को सांस्कृतिक वैधता में परिवर्तित करने का माध्यम बनी।

इस आंदोलन में शिक्षा ने अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भूमिहार समुदाय के अनेक संपन्न परिवारों ने आधुनिक शिक्षा के महत्व को समझ लिया था। विद्यालयों, छात्रावासों और शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना में उनका योगदान बढ़ने लगा। शिक्षा ने केवल रोजगार के अवसर नहीं खोले, बल्कि एक ऐसे मध्यवर्ग का निर्माण किया जिसने समुदाय के *इतिहास, वंशावली और सांस्कृतिक विरासत* को नए सिरे से परिभाषित करने का प्रयास किया। यही शिक्षित वर्ग आगे चलकर जातीय पत्र-पत्रिकाओं, सम्मेलनों और सामाजिक सुधार आंदोलनों का नेतृत्व करने लगा।

इस काल में जातीय इतिहास-लेखन भी एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में उभरा। विभिन्न पुस्तिकाओं, स्मारिकाओं और वंशावलियों में भूमिहारों की उत्पत्ति को वैदिक ऋषियों, प्राचीन ब्राह्मण परंपराओं और क्षेत्रीय ऐतिहासिक परंपराओं से जोड़ने का प्रयास किया गया। आधुनिक इतिहासलेखन की दृष्टि से इन दावों की तथ्यात्मकता पर प्रश्न उठाए जा सकते हैं, किंतु उनका वास्तविक महत्व उनके ऐतिहासिक सत्य में नहीं, बल्कि उस सामाजिक उद्देश्य में निहित है जिसकी पूर्ति वे कर रहे थे। वे समुदाय को एक साझा अतीत, साझा गौरव और साझा पहचान प्रदान कर रहे थे।

फिर भी इस प्रक्रिया को केवल *'ब्राह्मणीकरण' या 'संस्कृतिकरण'* कहकर सीमित कर देना पर्याप्त नहीं होगा। भूमिहार समुदाय का पुनर्गठन अन्य अनेक जातीय आंदोलनों से भिन्न था, क्योंकि उसके पास पहले से ही पर्याप्त आर्थिक संसाधन और स्थानीय प्रभाव मौजूद था। इसलिए यहाँ संघर्ष मुख्यतः आर्थिक शक्ति प्राप्त करने का नहीं, बल्कि उस शक्ति को वैध सामाजिक प्रतिष्ठा में रूपांतरित करने का था। यही कारण है कि जातीय संगठन, शिक्षा और ऐतिहासिक पुनर्व्याख्या इस आंदोलन के प्रमुख उपकरण बने।

औपनिवेशिक जनगणना, ज्ञान-निर्माण और भूमिहार पहचान का संस्थानीकरण

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज को समझने, वर्गीकृत करने और नियंत्रित करने के उद्देश्य से *जनगणना, गजेटियर, सर्वेक्षण तथा नृवंशशास्त्रीय अध्ययनों* का व्यापक तंत्र विकसित किया। प्रथम दृष्टया यह प्रक्रिया प्रशासनिक प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में इसने भारतीय समाज की जातीय संरचनाओं को गहराई से प्रभावित किया। बिहार के भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन इस व्यापक औपनिवेशिक ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया से पृथक नहीं था। वस्तुतः भूमिहार पहचान के संस्थानीकरण में औपनिवेशिक जनगणना ने एक निर्णायक भूमिका निभाई।

इतिहासकार **बर्नार्ड कोहन और निकोलस डिर्क्स** ने यह तर्क दिया है कि औपनिवेशिक राज्य केवल राजनीतिक शासन नहीं करता था, बल्कि वह ज्ञान के माध्यम से समाज को परिभाषित भी करता था। जनगणना इसी प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण उपकरण थी। जब राज्य किसी समुदाय को एक निश्चित श्रेणी में दर्ज करता है, तो वह केवल उसकी गणना नहीं करता, बल्कि उसकी सामाजिक स्थिति को भी वैधानिक स्वरूप प्रदान करता है।

भूमिहार समुदाय के संदर्भ में यह प्रक्रिया विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तक भूमिहारों की सामाजिक स्थिति को लेकर व्यापक मतभेद मौजूद थे। कुछ क्षेत्रों में उन्हें ब्राह्मण माना जाता था, जबकि अन्य क्षेत्रों में उन्हें पृथक कृषक जाति के रूप में देखा जाता था। इस अस्पष्टता के कारण समुदाय के भीतर अपनी पहचान को लेकर एक प्रकार की असुरक्षा भी विद्यमान थी। औपनिवेशिक जनगणना ने इस प्रश्न को सार्वजनिक बहस का विषय बना दिया।

1901 की जनगणना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जनगणना आयुक्त **हर्बर्ट होप रिस्ले** ने भारतीय जातियों को सामाजिक वंशक्रम और कथित नस्ली विशेषताओं के आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास किया। रिस्ले द्वारा प्रयुक्त वर्गीकरण पद्धति आज आलोचना का विषय है, किंतु उस समय उसने विभिन्न समुदायों की सामाजिक स्थिति को लेकर व्यापक चर्चा को जन्म दिया। भूमिहारों को लेकर भी प्रशासनिक और बौद्धिक स्तर पर मतभेद दिखाई देते हैं। कुछ रिपोर्टों में उन्हें कृषि-आधारित ब्राह्मण कहा गया, जबकि अन्य अभिलेखों में उन्हें पृथक भू-स्वामी कृषक समुदाय के रूप में वर्णित किया गया।

यहीं से भूमिहार समुदाय का संगठित हस्तक्षेप आरम्भ होता है। विभिन्न जातीय संगठनों, विशेषकर भूमिहार ब्राह्मण महासभा ने जनगणना अधिकारियों को ज्ञापन प्रस्तुत किए, ऐतिहासिक प्रमाण संकलित किए तथा समुदाय की ब्राह्मणीय उत्पत्ति के समर्थन में तर्क दिए। यह केवल सामाजिक सम्मान प्राप्त करने का प्रयास नहीं था; इसके पीछे आधुनिक राजनीति और प्रशासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की आकांक्षा भी निहित थी। औपनिवेशिक भारत में जातीय वर्गीकरण का प्रभाव शिक्षा, सरकारी सेवाओं और सार्वजनिक जीवन तक पहुँचने के अवसरों पर भी पड़ता था।

भूमिहार पहचान के संस्थानीकरण में जातीय पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशनों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। विभिन्न सामुदायिक संगठनों द्वारा प्रकाशित साहित्य में बार-बार यह प्रतिपादित किया गया कि भूमिहार केवल भूमि-स्वामी कृषक नहीं हैं, बल्कि एक विशिष्ट ब्राह्मण परंपरा के उत्तराधिकारी हैं। इस प्रकार *मुद्रण संस्कृति* (Print Culture) ने भी पहचान-निर्माण की प्रक्रिया को गति प्रदान की। आधुनिक संचार माध्यमों के माध्यम से समुदाय की साझा चेतना का विस्तार हुआ और स्थानीय पहचान एक व्यापक क्षेत्रीय पहचान में परिवर्तित होने लगी।

हालाँकि इस पूरी प्रक्रिया की आलोचनात्मक समीक्षा भी आवश्यक है। औपनिवेशिक जनगणना द्वारा निर्मित श्रेणियाँ हमेशा ऐतिहासिक वास्तविकताओं को प्रतिबिंबित नहीं करती थीं। अनेक बार वे जटिल सामाजिक संबंधों को कठोर और स्थिर वर्गों में बाँध देती थीं। परिणामस्वरूप जातीय पहचानें अधिक राजनीतिक और प्रतिस्पर्धात्मक स्वरूप ग्रहण करने लगीं। भूमिहार समुदाय का अनुभव भी इसी व्यापक प्रवृत्ति का हिस्सा था। यहाँ पहचान केवल अतीत की विरासत नहीं रही, बल्कि आधुनिक परिस्थितियों में निर्मित और पुनर्निर्मित होने वाली सामाजिक परियोजना बन गई।

सामाजिक पुनर्गठन के परिणाम : शिक्षा, राजनीति, किसान आंदोलन और नई भूमिहार पहचान

भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन केवल जातीय सम्मान अथवा ब्राह्मणत्व की मान्यता प्राप्त करने तक सीमित नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ हुई यह प्रक्रिया बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक आते-आते शिक्षा, राजनीति, किसान आंदोलनों और सार्वजनिक जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित करने लगी। वास्तव में, यह पुनर्गठन केवल पहचान का परिवर्तन नहीं था, बल्कि एक नए सामाजिक वर्ग के उदय की कहानी भी था, जिसने औपनिवेशिक बिहार के राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य को गहराई से प्रभावित किया।

यदि भूमि-स्वामित्व ने समुदाय को आर्थिक शक्ति प्रदान की और ब्राह्मणत्व के विमर्श ने सांस्कृतिक वैधता, तो शिक्षा ने उसे आधुनिक नेतृत्व क्षमता प्रदान की। औपनिवेशिक काल में अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिक संस्थानों के प्रसार ने बिहार के अनेक समुदायों को नए अवसर उपलब्ध कराए। भूमिहार समुदाय के संपन्न वर्गों ने अपेक्षाकृत शीघ्र ही शिक्षा के महत्व को समझा। परिणामस्वरूप समुदाय के भीतर एक शिक्षित मध्यवर्ग का उदय हुआ, जिसने प्रशासन, कानून, पत्रकारिता और राजनीति के क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य है कि शिक्षा केवल रोजगार प्राप्त करने का साधन नहीं बनी; उसने समुदाय को स्वयं के इतिहास और सामाजिक स्थिति के प्रति अधिक जागरूक बनाया। शिक्षित वर्ग ने जातीय संगठनों का नेतृत्व किया, पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया और सामाजिक सुधार के प्रश्नों को सार्वजनिक बहस का विषय बनाया। इस प्रकार शिक्षा सामाजिक गतिशीलता का प्रमुख माध्यम बन गई।

राजनीतिक क्षेत्र में भी इस पुनर्गठन के प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में जब राष्ट्रीय आंदोलन ने गति पकड़ी, तब भूमिहार समुदाय के अनेक शिक्षित नेता सार्वजनिक जीवन में सक्रिय हुए। इनमें विशेष रूप से **श्री कृष्ण सिन्हा** का नाम उल्लेखनीय है, जिन्हें आधुनिक बिहार के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान के लिए स्मरण किया जाता है। स्वतंत्रता आंदोलन और प्रांतीय राजनीति में उनकी सक्रिय भूमिका इस तथ्य को रेखांकित करती है कि समुदाय का पुनर्गठन केवल सामाजिक स्तर पर नहीं, बल्कि राजनीतिक स्तर पर भी प्रभावी हो चुका था।

हालाँकि, इस प्रक्रिया का सबसे रोचक और ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण पक्ष किसान आंदोलनों से जुड़ा हुआ है। पहली दृष्टि में यह विरोधाभासी प्रतीत हो सकता है कि जिस समुदाय का एक प्रभावशाली वर्ग भूमि-स्वामी और जमींदार था, उसी समुदाय से भारत के सबसे महत्वपूर्ण किसान नेता का उदय हुआ। किंतु यही विरोधाभास भूमिहार समाज की आंतरिक जटिलताओं को उजागर करता है।

इस संदर्भ में **स्वामी सहजानंद सरस्वती** का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। सहजानंद सरस्वती स्वयं भूमिहार पृष्ठभूमि से थे, किंतु उन्होंने किसानों और कृषक समाज की समस्याओं को जातीय सीमाओं से ऊपर उठकर देखा। 1929 में *"बिहार प्रांतीय किसान सभा"* और बाद में *अखिल भारतीय किसान सभा* के माध्यम से उन्होंने जमींदारी शोषण, लगान की ऊँची दरों और कृषकों की दयनीय स्थिति के विरुद्ध व्यापक आंदोलन चलाया।

यहाँ एक गहरा ऐतिहासिक अंतर्विरोध सामने आता है। एक ओर भूमिहार समुदाय का एक वर्ग जमींदारी संरचना से लाभान्वित हो रहा था, जबकि दूसरी ओर उसी समुदाय से उत्पन्न नेता उस संरचना की आलोचना कर रहे थे। यह तथ्य दर्शाता है कि किसी भी जाति को एकरूप (Homogeneous) इकाई के रूप में नहीं देखा जा सकता। भूमिहार समुदाय के भीतर भी वर्गीय विभाजन, आर्थिक असमानताएँ और राजनीतिक मतभेद मौजूद थे।

भूमिहारों का सामाजिक पुनर्गठन केवल एक जाति के उत्थान की कहानी नहीं है। यह औपनिवेशिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, आधुनिक शिक्षा, राजनीतिक जागरण और वर्गीय अंतर्विरोधों के जटिल अंतर्संबंधों को समझने का माध्यम भी है। इस प्रक्रिया ने एक ऐसी नई भूमिहार पहचान को जन्म दिया जो भूमि-स्वामित्व की पारंपरिक सीमाओं से आगे बढ़कर शिक्षा, राजनीति, किसान चेतना और सार्वजनिक नेतृत्व के क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति स्थापित कर रही थी। वास्तव में यही वह चरण था जहाँ भूमिहार समुदाय की पहचान स्थानीय ग्रामीण संरचना से निकलकर प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर की ऐतिहासिक प्रक्रिया का हिस्सा बन गई।

ऐतिहासिक मूल्यांकन

औपनिवेशिक बिहार में भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन भारतीय समाज के इतिहास में घटित उन प्रक्रियाओं में से एक है, जिन्हें केवल जातीय उत्थान अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा की खोज तक सीमित करके नहीं समझा जा सकता। यह घटना वस्तुतः उस व्यापक परिवर्तन का हिस्सा थी, जिसमें औपनिवेशिक शासन, आधुनिक शिक्षा, जनगणना, भूमि-स्वामित्व और उभरती राजनीतिक चेतना ने मिलकर भारतीय समाज की पारंपरिक संरचनाओं को नए रूप प्रदान किए। इसलिए भूमिहार समुदाय का इतिहास केवल एक समुदाय की कथा नहीं, बल्कि औपनिवेशिक आधुनिकता और सामाजिक परिवर्तन के अंतर्संबंधों को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भूमिहार समुदाय का पुनर्गठन भारतीय समाज में घटित उस परिवर्तन का प्रतीक है, जिसमें पारंपरिक पहचानें आधुनिक संस्थाओं के संपर्क में आकर नए रूप ग्रहण करती हैं। शिक्षा, संगठन, मुद्रण संस्कृति, राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक आंदोलन—इन सभी ने मिलकर एक नई सामुदायिक चेतना को जन्म दिया। यह चेतना केवल अतीत की स्मृतियों पर आधारित नहीं थी, बल्कि आधुनिक अवसरों और चुनौतियों के प्रति प्रतिक्रिया भी थी।

स्पष्ट है कि *"भूमि, ब्राह्मणत्व और पहचान"*—ये तीनों तत्व स्वतंत्र नहीं थे, बल्कि एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए थे। भूमि ने शक्ति दी, ब्राह्मणत्व ने वैधता दी और पहचान ने उस शक्ति एवं वैधता को सामुदायिक स्वरूप प्रदान किया। इसलिए औपनिवेशिक बिहार में भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन केवल जातीय इतिहास का अध्याय नहीं है; यह भारतीय समाज में शक्ति, प्रतिष्ठा और पहचान के निर्माण की जटिल ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

अतएव,

औपनिवेशिक बिहार (1870–1947) में भूमिहार समुदाय का सामाजिक पुनर्गठन पारंपरिक सामाजिक प्रस्थिति और आधुनिक औपनिवेशिक संरचनाओं के मध्य उपजे जटिल द्वंद्व का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उदाहरण है। 1793 के स्थायी बंदोबस्त द्वारा निर्मित नए कृषि ढांचे ने जब भूमि को मात्र उत्पादन के साधन से ऊपर उठाकर सामाजिक शक्ति, ग्रामीण प्रभुत्व और वैधानिक प्रतिष्ठा का केंद्रीय माध्यम बना दिया, तब भूमिहार समुदाय के भीतर अपनी सामाजिक पहचान को लेकर एक अभूतपूर्व आत्मचेतना का संचार हुआ। क्षेत्रीय स्तर पर व्यापक भूमि-स्वामित्व और सुदृढ़ आर्थिक पूँजी होने के बावजूद, पारंपरिक धार्मिक सोपानक्रम में पूर्ण ब्राह्मणत्व की मान्यता का अभाव एक ऐसा सामाजिक अंतर्विरोध था जिसने इस समुदाय को अपनी अस्मिता के पुनर्मूल्यांकन के लिए विवश किया।

इसी पृष्ठभूमि में 'भूमिहार ब्राह्मण महासभा' जैसे संस्थागत माध्यमों और उदीयमान मुद्रण संस्कृति का उदय हुआ, जिसने बौद्धिक इतिहास-लेखन तथा वंशावलियों के पुनर्निवेश द्वारा समुदाय के आर्थिक प्रभाव को सुदृढ़ सांस्कृतिक वैधता में रूपांतरित करने का एक सुनियोजित वैचारिक प्रयास किया। अंत: यह शोध प्रतिपादित करता है *कि "भूमि, ब्राह्मणत्व और पहचान"* स्वतंत्र विमर्श नहीं थे, बल्कि एक गतिशील त्रिकोण थे—जहाँ भूमि ने समुदाय को भौतिक सत्ता दी, ब्राह्मणत्व की खोज ने उस सत्ता को सांस्कृतिक वैधता प्रदान की, और आधुनिक सांगठनिक चेतना ने उसे औपनिवेशिक भारत के प्रांतीय व राष्ट्रीय इतिहास का एक अत्यंत निर्णायक और परिवर्तनकारी अध्याय बना दिया।

सन्दर्भ

1. विलियम आर. पिंच, *पीजेंट्स एंड मोन्क्स इन ब्रिटिश इंडिया,* यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, कैलिफोर्निया,1996.
2. अनुराग शर्मा, *ब्रहमिंस हु रिफ्यूजड टू बेग: ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ़ भूमिहार " अयाचक" ब्रहमिन्स ऑफ़ ईस्ट इंडिया*, नोशन प्रेस, 2022.
3. अश्वनी कुमार, *कम्युनिटी वारियर्स: स्टेट, पीजेन्ट्स एंड कास्ट आर्मी इन बिहार,* एंथम प्रेस, न्यू दिल्ली, 2008.
4. निकोलस बी. डिर्क्स, *कास्ट्स ऑफ माइंड: कलोनियलिज्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया,* प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, अमेरिका, 2001.
5. अरविन्द. एन . दास, *अग्ररियन मूवमेंट्स इन इंडिया: स्टडीज ऑन 20th सेंचुरी बिहार*, फ्रैंक कास एंड कंपनी, लन्दन, 1982.
6. रोमा मित्रा, *कास्ट पोलाराइजैसन एंड पॉलिटिक्स,* सिंडिकेट पब्लिकेशन, भारत, 1992.
7. हितेंद्र पटेल, *कम्युनलिज्म,* एंड द इंटेलिजेंसिया इन बिहार *1870 -1930,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, न्यू दिल्ली, 2011.
8. जी. के .घोष, एस .घोष, *लीजेंड्स ऑफ़ ओरिजिन ऑफ़* द *कास्ट्स एंड ट्राइब्स ऑफ़ ईस्टर्न इंडिया*, फिर्मा के .एल . ऍम, 2000.
9. आनंद ए. यांग, द *लिमिटेड राज: अग्रेरियन रिलेशंस इन कलोनियल इंडिया, सारण डिस्ट्रिक्ट 1793-1920,* यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, 2023.
10. हर्बर्ट होप रिस्ले, द *ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ बंगाल: एथनोग्राफिक ग्लॉसरी (वॉल्यूम 1 और 2),* बंगाल सेक्रेटेरिएट प्रेस, कलकत्ता, 1891.
11. स्वामी सहजानंद सरस्वती, *महारुद्र का महातांडव,* किसान सभा प्रकाशन, पटना, 1940.
12. एम. एन. श्रीनिवास, *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया,* ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली,1977.
13. मदन मोहन शर्मा, *भूमिहार ब्राह्मण महासभा: रजत जयंती विशेषांक (1899-1924),* महासभा कार्यालय, पटना, 1925.
14. रामचंद्र प्रधान (संपादक), द *स्ट्रगल ऑफ़ माय लाइफ* (आत्मकथा : स्वामी सहजानंद सरस्वती), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 2018.

Received: 20.03.2026 | Accepted: 20.04.2026 | Published: 30.05.2026

भारतीय शिक्षा : भूत, वर्तमान और भविष्य

अनिकेत गौतम*
gautamaniket687@gmail.com

सार :

शिक्षा हमेशा परिवर्तनशील होती है, और समय की मांग के अनुसार अपने में बदलाव चाहती है और बदलाव किया भी जाना जरुरी है। अगर शिक्षा में बदलाव नहीं किया गया, तो वह मूल्यहीन बन जाती है। भारतीय शिक्षा – व्यवस्था की बात करें, तो भारतीय शिक्षा में भी भूत और वर्तमान की शिक्षा व्यवस्था में बदलाव हुई है और भविष्य के लिए बदलाव की आवश्यकता को देखते हुए, बदलाव की बात की जा रही है। प्रस्तुत शोधलेख में भारतीय शिक्षा की भूत, वर्तमान और भविष्य पर चर्चा की गई है।

मुख्य शब्द : *भारत, शिक्षा, संस्कृति, मूल्य, भाषा,*

शोधलेख :

शिक्षा की बात जब कहीं होती है, तो उसमें भारत का नाम सबसे पहले आता है क्योंकि ज्यादात्तर लोग इस बात से सहमत हैं कि शिक्षा का उदय सबसे पहले भारत में हुई थी। जिसके सम्बन्ध में एक अंगेजी विद्वान 'एफ.डब्लू.थॉमस' लिखते हैं "ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ ज्ञान के प्रति प्रेम इतने प्राचीन समय में आरंभ हुआ हो जितना भारत में या जिसने इतना स्थायी और शक्तिशाली प्रभाव उत्पन्न किया हो जितना भारत ने"। अर्थात् अगर प्राचीन समय में सबसे ज्यादा शिक्षा का विकास किसी देश में हुई थी, तो वह भारत ही था। भारतीय शिक्षा व्यवस्था में प्राचीन की शिक्षा पर बात करते हैं, तो उसमें सबसे पहले वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था का नाम आता है, जिसकी समय सीमा 2500 ई.पू. से 500 ई.पू. निर्धारित की गई है। वैदिक कालीन शिक्षा की बात करें, तो उस काल में भी राष्ट्रीय कर्तव्यों का बोध, संस्कृति का संरक्षण, चारित्रिक विकास, अध्यात्मिक शिक्षा और कला - कौशल की शिक्षा दिया जाता था। जिसके सम्बन्ध में 'डॉ अल्तेकर' लिखते हैं कि "ईश्वर भक्ति तथा धार्मिकता की भावना, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार, प्राचीन भारत में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य और आदर्श थे।"[2]

अर्थात् वैदिक कालीन शिक्षा में भी उन सभी बिन्दुओं को चाहे वह पाठ्यक्रम का विषय हो या शिक्षण विधियाँ इन सभी को ध्यान में रखकर शिक्षा दिया जाता था, जिसकी चर्चा वर्तमान समय में की जा रही है। इस तरह से वैदिक कालीन की शिक्षा पद्यति थी, इस काल के बाद बौद्ध शिक्षा, मुस्लिम शिक्षा और अंग्रेजी शिक्षा का विकास हुआ। बौद्ध काल का समय 500 ई.पू. से 1200 ई.पू. है। बौद्ध काल की शिक्षा पद्यति भी कुछ अर्थो में वैदिक काल के सामान थी, तो कुछ अर्थो में भिन्न थी। बौद्ध काल के बाद मुस्लिम काल का समय आता है, जिसकी समय सीमा 1200 से 1700 ई. तक है। मुस्लिम काल के समय से ही भारतीय शिक्षा में बदलाव होना शुरू हो गया था, जो सपनी धर्मं और संस्कृति का प्रचार करने के लिए अपनी धर्म और संस्कृति के अनुसार शिक्षा प्रणाली का विकास करना प्रारंभ किया। यही से भारतीय शिक्षा का पतन होना शुरू हुआ, जो की आगे भी ब्रिटिश काल में चलता रहा और फिर अंगेजी शिक्षा हावी हुई। इसके सम्बन्ध में 'डॉ जहाँगीर भाभा' अपनी पुस्तक (Colonial Nonsense) में लिखते हैं कि "भारत ने हमेशा बाहर से आनेवालों का स्वागत किया है, किन्तु इन आक्रान्ताओं ने भारत की आध्यात्मिक, वैचारिक तथा प्राकृतिक संपदा के प्रति साजिश की हद तक चुप्पी साधी, कभी भी इसका खुलेपन से सम्मान नहीं किया, जबकि वे इसकी वृद्धता से भलिभांति परिचित थे, वस्तुतः भारतीय संस्कृति व सोच

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद, तेलंगाना-500046**

पहली बन गई। भाषिक व सांस्कृतिक स्तर पर जिस अवमूल्यन को देख रहे हैं, उसके पीछे आक्रान्ताओं के इन नकारात्मक हस्तक्षेपों को भी देखना होगा।"[3] यानि भारतीय संस्कृति और सोच के अवमूल्यन का सबसे बड़ा कारण आक्रान्ताओं द्वारा भारतीय संस्कृति, सोच, भाषिक स्तर को सम्मान न करना था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में भारत की शिक्षा में भारतीय की कमी के रूप में देख सकते हैं। यहाँ तक की 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2000' में भी कहा गया है कि "कितनी बड़ी बिडम्बना है कि हमारे बच्चे न्यूटन के बारे में तो जानते हैं लेकिन वे आर्यभट्ट के बारे में कुछ नहीं जानते। वे कंप्यूटर के बारे में जानते हैं लेकिन शून्य की अवधारणा के उद्भव और दशमलव प्रणाली के विकास के बारे में कुछ नहीं जानते। योग और योगिक क्रियाओं/अभ्यासों के साथ – साथ भारतीय चिकित्सा पद्धति, जैसे आयुर्वेद और यूनानी पद्धति , जो कि अब सारी दुनिया में मान्य होकर अपनाई जा रही है, का भी उल्लेख करना होगा। देश की पाठ्यचर्या में इस प्रकार की कमियों के असंतुलन को ठीक करना ही पड़ेगा।"[4] यानि भारतीय शिक्षा में जो भारतीयता की कमी है और इसको ठीक करने की बात की गई है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में भारतीयता की कमी प्रत्यक्ष रूप से देखने को मिलती है। (जैसे – भारतीय भाषाओँ में शिक्षा न मिलना, भारतीय वैज्ञानिकों के बारें में कम जानकारी, भारतीय संस्कृति और दर्शन की विशेषता की कम जानकारी इत्यादि) ।

भारतीय शिक्षा में बदलाव करने के इस कमी को दूर करना होगा। इसके संबंध में विचारक 'अमिलकर कैब्रल' ने कहा है की [1] "जब भारत ने अपनी स्वतंत्रता हासिल कर ली तो भारतीय गणराज्य के सामने मुख्य चुनौती एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के माध्यम से अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को विकसित करना था, जो कि उपनिवेशवादी भारतीय दिमाग और उसकी पहचान को ध्वस्त करने के लिए आवश्यक थी।" इस तरह से देखते हैं कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अभी भी बहुत – सी कमियाँ दिखाई देती है। (जैसे – 21वीं सदी के अनुसार शिक्षा पद्यति का न होना, भाषायी विकास की कमी इत्यादि) अगर भारत को भविष्य की शिक्षा को 21 वीं सदी के अनुसार शिक्षा व्यवस्था को बनाना है और शिक्षा में भारतीयता को बढ़ाना है, तो राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अनुसार बदलाव करना होगा तभी भारतीयता को बढ़ावा मिलेगी। जिसकी कमी भारतीय शिक्षा में बहुत पहले से महसूस की जा रही थी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 प्राचीन और सनातन भारतीय ज्ञान और विचार की समृद्ध परम्परा के आलोक में यह नीति तैयार की गई है। यह नीति प्रत्येक व्यक्ति में निहित रचनात्मक क्षमताओं के विकास पर जोर देने के साथ-साथ उच्चत्तर स्तर की तार्किक और समस्या-समाधान और संज्ञानात्मक क्षमता के विकास पर जोर देती है। यह भारत की पहली शिक्षा नीति है, जो 21वीं सदी के अनुसार शिक्षा की बात करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के सम्बन्ध में रमेश पोखरियाल 'निशंक' (NEP2020 के स्वीकृति के समय भारत के शिक्षा मंत्री) अपनी पुस्तक 'शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र – निर्माण, नई शिक्षा नीति – 2020' में लिखते हैं कि [2] "राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भारत के प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और आधुनिक दुनिया के ज्ञान – विज्ञान का एक अनूठा संगम है।"

अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारत की प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों को, तो महत्व देती ही है। साथ – साथ आधुनिक दुनिया के ज्ञान की बात भी करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के सम्बन्ध में 'श्री ए. विनोद' लिखते हैं कि [3] "यह नीति शिक्षा के प्रत्येक घटक – कक्षा शिक्षण, पाठ्यचर्या, गवर्नेंस आदि को 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुरूप बदलना चाहती है। इस नीति का ध्येय भारतीय पम्परा और मूल्यों के अनुरूप 21वीं सदी के भारत को विकसित करना है आत्मनिर्भर भारत के लक्ष्य के पूर्ति के लिए भावी पीढ़ी को तैयार करना है।" अर्थात् यह नीति प्रत्येक घटक में बदलाव की बात भी करती है, जिसकी जरूरत है। और वह भी भारतीय परम्परा और मूल्यों के अनुरूप और आत्मनिर्भर भारत बनाने का जो लक्ष्य निर्धारित की गई है, उसकी पूर्ति के लिए भावी पीढ़ी को तैयार करने की बात भी करती है। इसी क्रम में आगे 'डॉ प्रकाश सी. बरतूनिया' लिखते हैं कि [4] "राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भारत राष्ट्र एवं भारतीय संस्कृति पर बल दिया गया है। इसका ध्येय है हम विचारों से भारतीय हो, हम अपने कर्मों से भारतीय हो और हम अपनी बौद्धिकता से भारतीय हो।" अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भारतीय होने पर बल दिया गया है।

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा भूतकाल में जब वैदिक और बौद्ध कालीन शिक्षा थी, उस समय अपनी संस्कृति और भाषा का विकास कर रहे थे, लेकिन जब भारत पर बाहरी आक्रान्ताओं ने जब आक्रमण के बाद से अपने अनुसार शिक्षा देना शुरू किया तब, से वर्तमान समय तक की शिक्षा पद्धति में भारतीय संस्कृति और प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा और यहाँ की विशेषता की कमी देखी गई और इसका नुकसान भी भारतीय शिक्षा को उठाना पड़ा। लेकिन भविष्य की बेहतर शिक्षा, आत्मनिर्भर भारत बनाने और खोई भारतीय संस्कृति परम्परा को वापस लाने का प्रयास राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के जरिए किया जा रहा है, जिसकी चर्चा इस शोधा-लेख में की गई है।

निष्कर्ष:

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा में भूत की शिक्षा कुछ समय तक बहुत अच्छी रही और भारतीय संस्कृति और परम्परा पूरी दुनिया में अपनी ख्याति बनाई थी, लेकिन भारत पर जैसे – जैसे आक्रमणकारियों का असर बढ़ता गया। वैसे – वैसे शिक्षा पद्धति, भारतीय संस्कृति और परम्परा का अवमूल्यन होता गया, लेकिन जब भविष्य की शिक्षा की बात आती है। तो भविष्य की शिक्षा में उन सभी बातों को ध्यान में रखा गया है। (जैसे - भारत की खोई संस्कृति, परम्परा और पहचान) और उन सभी को वापस लाने का प्रयास राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के जरिए किया जा रहा है।

संदर्भ :-

[1] पोखरियाल, रमेश 'निशंक'. (2020). *शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र-निर्माण : नई शिक्षा नीति–2020*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 39

[2] पोखरियाल, रमेश 'निशंक'. (2020). *शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र-निर्माण : नई शिक्षा नीति–2020*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन. पृ. 18

[3] विनोद, ए. (2022). "सर्वांगीण विकास और सामाजिक बदलाव के लिए विद्यालयी शिक्षा." In अतुल कोठारी (संपा.), *राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 : भारतीयता का पुनरुत्थान*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. पृ. 41.

[4] बरतूनिया, प्रकाश सी. (2022). "राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 : सर्वसमावेशी एवं समरसतापूर्ण समाज का ध्येय." In अतुल कोठारी (संपा.), *राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 : भारतीयता का पुनरुत्थान*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. पृ. 139.

अन्य सन्दर्भ ग्रन्थ

लाल, रमन बिहारी, & शर्मा, कृष्णा कान्त. (2010). *भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ*. मेरठ: आर. लाल बुक डिपो. ISBN: 978-81-910554-8-1. पृ. 1, 3.

पाण्डेय, राजकमल, & शर्मा, वीना (संपा.). (2008). *हिंदी शिक्षण : नए भविष्य की तलाश (भारतीय हिंदी शिक्षण सम्मेलन–2008 के लेख और वक्तव्य)*. आगरा: केन्द्रीय हिंदी संस्थान. (भारती शुक्ला, "हिंदी शिक्षण : वर्तमान दशा–दिशा : एक अवधारणात्मक विमर्श"), पृ. 137.

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्. (2000). *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा*. नई दिल्ली: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्. पृ. 13.

कोठारी, अतुल (संपा.). (2022). *राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 : भारतीयता का पुनरुत्थान*. प्रथम संस्करण. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. ISBN: 978-93-90923-88-5. पृ. 41, 139.

भारत सरकार, मानव संसाधन विकास मंत्रालय. (2020). *राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020*. नई दिल्ली: भारत सरकार. पृ. 4.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 21.03.2026 | Accepted: 20.04.2026 | Published: 30.05.2026

राष्ट्रभाषा हिंदी और डॉ. अंबेडकर

प्रो. विवेकानंद तिवारी*

vivek_tiwari1097@rediffmail.com

सारांश

बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर के लिए भाषा का प्रश्न भी राष्ट्रीय महत्व का था। उनकी मातृभाषा मराठी थी। अपनी मातृभाषा पर उनका जितना अधिकार था, वैसा ही अधिकार अंग्रेजी पर भी था। इसके अलावा बाबा साहेब संस्कृत, हिंदी, पर्शियन, पाली, गुजराती, जर्मन, फारसी और फ्रेंच भाषाओं के भी विद्वान थे। मराठी भाषी होने के बाद भी बाबा साहेब जब राष्ट्रीय भाषा के संबंध में विचार करते थे, तब वे सहज ही हिन्दी और संस्कृत के समर्थन में खड़े हो जाते थे। महाराष्ट्र के वंचित समुदाय के बंधुओं से संवाद करना था, तब उन्होंने मराठी भाषा में समाचारपत्रों का प्रकाशन किया, जबकि उस समय के ज्यादातर बड़े नेता अपने समाचारपत्र अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित कर रहे थे। बाबा साहेब भी अंग्रेजी में समाचारपत्र प्रकाशित कर सकते थे, अंग्रेजी में उनकी अद्भुत दक्षता थी। परंतु, भारतीय भाषाओं के प्रति सम्मान और अपने लोगों से अपनी भाषा में संवाद करने के विचार ने उन्हें मराठी में समाचारपत्र प्रकाशित करने के लिए प्रेरित किया होगा।

एक प्रसंग है। राष्ट्रभाषा पर केन्द्रीय कक्ष में विविध समूहों में चर्चा चल रही थी, तब लोगों को यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि चर्चा के समय डॉ. अम्बेडकर एवं लक्ष्मीकान्त मैत्र आपस में त्रुटिहीन संस्कृत में चर्चा कर रहे थे। डॉ. अम्बेडकर की इच्छा थी कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने के विषय में शे. का. फेडरेशन के कार्यकारी मण्डल में 10 सितम्बर, 1949 को प्रस्ताव पारित किया जाना चाहिए, परन्तु बीपी मौर्य जैसे कुछ तरुण सदस्यों के विरोध के कारण वह सम्भव न हो सका।

संस्कृत के अलावा बाबा साहेब ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राज्य के व्यवहार की भाषा बनाने के लिए प्रयास किया। इस संबंध में 2 जून, 1956 को प्रकाशित 'जनता' के अंक में उनके विचारों को प्रकाशित किया गया है। बाबा साहेब को चिंता थी कि कहीं भाषा के आधार पर बने राज्य एक-दूसरे के विरुद्ध न खड़े हो जाएं? पुनरुत्थान विद्यापीठ से प्रकाशित पुस्तक 'डॉ. भीमराव अम्बेडकर : पत्रकारिता एवं विचार' में तथ्य उल्लेखित हैं कि भारत में भावनात्मक एकता और राष्ट्रीय एकात्मता हिन्दी द्वारा ही संभव है। दरअसल, बाबा साहेब भाषा के प्रश्न को केवल भावुकता की दृष्टि से नहीं देखते थे, बल्कि उनके लिए भाषा को देखने का राष्ट्रीय दृष्टिकोण था। संस्कृत हो या फिर हिन्दी, दोनों भाषाओं के प्रति उनकी धारणा थी कि ये भाषाएं भारत को एकसूत्र में बांध कर संगठित रख सकती हैं और किसी भी प्रकार के भाषायी विवाद से बचा सकती हैं।

हिंदी को राष्ट्रीय एकता का माध्यम मानते थे और उन्होंने हिंदी को भारत की आधिकारिक भाषा (राजभाषा) के रूप में पुरजोर समर्थन दिया। वे भाषाई आधार पर राज्यों के गठन के समर्थक थे, लेकिन साथ ही राष्ट्रीय अखंडता के लिए एक साझा भाषा के रूप में हिंदी और संस्कृति के लिए संस्कृत को अनिवार्य मानते थे। अंबेडकर का मानना था कि एक साझा भाषा ही देश को एकजुट रख सकती है। उन्होंने कहा था कि जो हिंदी को स्वीकार नहीं करता, उसे भारतीय होने का अधिकार नहीं है। वे हिंदी को भारत के लिए एकमात्र व्यावहारिक राजभाषा मानते थे क्योंकि यह अधिकांश लोगों द्वारा समझी जाती थी।

बीज शब्द : *भाषा का प्रश्न, मातृभाषा, भाषाई समाचार, राष्ट्रभाषा, भावनात्मक एकता*

शोध विस्तार

भाषाई विवाद के निपटारे की दिशा में गठित जे.वी.पी. समिति, जिसके सदस्य जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और पट्टाभि सीतारमैया थे, ने पुनर्गठन संबंधी अपना मत कुछ इस प्रकार दिया "भाषा महज एक जोड़ने वाली शक्ति नहीं बल्कि एक दूसरे से अलग करने वाली ताकत भी है।"[1]

* **अध्यक्ष, बी. आर. आम्बेडकर पीठ एचपीयू, शिमला**

आजादी के बाद राजनीतिक स्तर पर भाषाई विवाद का मसला संविधान सभा की बहस से शुरु हुआ। संविधान के निर्माण के लिए गठित प्रारूप समिति, जिसके अध्यक्ष डॉ. अंबेडकर थे, ने जब अथक परिश्रम के बाद अपना संविधान, संविधान सभा के सामने रखा, तब बहस से पूर्व ही सेठ गोविंद दास, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अलग्राय शास्त्री, आर.वी. धुलेकर, सुरेशचंद्र मजूमदार ने विधान की भाषा पर सवाल उठाया। और विशेषकर उक्त में से प्रथम तीन ने भाषा यानी राष्ट्रभाषा के सवाल पर सबसे पहले बहस करने की माँग की। यद्यपि सजभाषा पर बहस पहले से ही 99 क्रम में निर्धारित था। इस माँग को संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने यह कहकर खारिज कर दिया कि इससे भाषाई कटुता में वृद्धि होगी और महत्वपूर्ण मुद्दों का उचित तरीके से निपटारा नहीं हो सकेगा। अलगू राय शास्त्री ने संविधान की भाषा की तीखी आलोचना करते हुए कहा "एक ऐसा देश जिसकी अपनी आषा है, वह एक विदेशी भाषा में अपना पहला, स्वतंत्रता का, विधान बनाए, यह एक बहुत ही लज्जाजनक बात होगी।"[2] यह बहस 4 नवंबर 1948 को संविधान सभा में हुई थी।

डॉ. अंबेडकर राजभाषा विवाद के मसले पर सीधे हिंदी का पक्ष लेने वालों के साथ नहीं थे। उन्होंने भाषावार रूप से प्रांतों के गठन के संदर्भ में आनुषंगिक रूप से राजभाषा हिंदी पर अपने विचार रखे। 1948 में उन्होंने भाषावार प्रांत आयोग के समक्ष महाराष्ट्र के संबंध में अपना वक्तव्य दिया। अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा "भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के बाद भी ऐसी व्यवस्था करनी होगी, ताकि भारत की एकता खंडित न होने पाए। इसलिए इस समस्या के समाधान हेतु मेरा सुझाव है कि भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन की माँग को स्वीकार कर लेने पर भी ऐसी संवैधानिक व्यवस्था हो कि केंद्र सरकार की जो राजभाषा हो, वही भाषा सभी प्रातों की राजभाषा मानी जाए। केवल इसी आधार पर मैं भाषावार प्रांतों की माँग को मानने के लिए तैयार हूँ।"[3] यहाँ स्पष्ट है कि डॉ. अंबेडकर राजभाषा के मसले को राष्ट्रीय अखंडता से जोड़कर देख रहे थे। समूचे आजादी के आंदोलन के दौरान यद्यपि जनता को एकजुट करने के लिए हिंदी का प्रचार बहुत किया गया लेकिन आजादी के बाद उसे अमल में नहीं लाया गया बल्कि भाषावार प्रांत रचना की नीति ने भाषाई अलगाव को अत्यंत तीखा कर दिया था। डॉ. अंबेडकर इस आसन्न खतरे को देख रहे थे इसलिए उन्होंने आगे कहा - "भाषावार प्रांतों की योजना में वहाँ की भाषा की भूमिका अनिवार्यतः महत्वपूर्ण है। किंतु यह भूमिका पात के निर्माण तक ही सीमित रखी जा सकती है अर्थात इसका उपयोग उस प्रांत की सीमाओं के रेखांकन तक ही किया जाना चाहिए। भाषावार प्रांतों की योजना में ऐसी कोई दो-टूक अनिवार्यता नहीं है, जो हमारे लिए उस प्रांतीय भाषा को वहाँ की राजभाषा भी बनाने के लिए बाध्यकारी हो।[4] प्रांतों की भाषाओं को वहाँ की राजभाषा के रूप में स्वीकृत करने का सीधा अर्थ उनकी नजर में प्रातों को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में विकसित होने का न्योता देने'[5] जैसा था।

आयोग के समक्ष प्रस्तुत वक्तव्य में यह स्पष्टतः दिखाई पड़ता है कि डॉ. अंबेडकर भाषावाद के घोर विरोधी थे और भाषा को समूचे राष्ट्र को जोड़ने के एक महत्त्वपूर्ण सूत्र के रूप में देखते थे। इस संबंध में उनकी राय लोकप्रिय राजनीति से सर्वथा भिन्न थी। अपनी राय को और अधिक स्पष्टता से लोगों के सामने रखने के लिए उन्होंने 'द टाइम्स ऑफ इंडिया' में 23 अप्रैल 1953 को लेख लिख कर अपनी राय रखी। उक्त लेख में भी उन्होंने कहा कि 'भाषावार प्रांत रचना का कारण और इतिहास चाहे जो रहा हो, उसका निपटारा वर्तमान और भविष्य की जरूरतों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।'[6]

यहाँ तक के विश्लेषण से यह साफ दिखाई पड़ता है कि डॉ. अंबेडकर त्रिभाषी सूत्र के समर्थक नहीं थे। राजभाषा के संबंध में हिंदी का समर्थन उन्होंने 1955 में प्रकाशित अपनी पुस्तिका में किया। यह पुस्तक भी वस्तुतः भाषावार प्रांतों के गठन में उपजी समस्याओं पर केंद्रित थी लेकिन इसमें उन्होंने दो बातें स्पष्ट तौर पर कहीं। पहला, भारत जैसे बहुभाषी राज्य को 'एक राज्य एक भाषा' के सूत्र पर विश्वास करना चाहिए। और दूसरा, यह भाषा हिंदी के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा हो ही नहीं सकती। उन्होंने उन्नत देशों का हवाला देते हुए कहा कि 'एक राज्य एक भाषा' विकास का सूत्र है। बहुभाषी राष्ट्र की संकल्पना अंततः विघटन की ओर ले जाती है।[7] मिश्रित भाषावार राज्यों के खतरों का जिक्र करते हुए उन्होंने साफ तौर पर कहा था कि 'इस खतरे से तभी निपटा जा सकता है, जब संविधान में क्षेत्रीय भाषा किसी भी राज्य की राजभाषा नहीं होगी। राज्य की राजभाषा हिंदी रहेगी और जब तक भारत इस प्रयोजन के योग्य नहीं हो जाता, अँग्रेजी बनी रहेगी।'[8]

यहाँ यह ध्यान में रखा जाना आवश्यक है कि सन 1952 में आंध्र प्रदेश को स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिए जाने की माँग को लेकर श्रीरामुलु के आत्मदाह के पश्चात् राजभाषा और प्रांतों के गठन का मुद्दा अत्यंत संवेदनशील बन चुका था। ऐसे में लोकप्रिय राजनीति के दबाव में आकर जहाँ बड़े-बड़े राजनेता समर्पण करते हुए-से दिखाई पड़ते हैं वहीं राजभाषा के मुद्दे पर डॉ. अंबेडकर अत्यंत साहस के साथ अपना पक्ष रखते हैं और क्षेत्रीयता के आगे समर्पण नहीं करते। वे भाषाई मुद्दे को

भावनात्मक अधिकार की तरह नहीं बल्कि राष्ट्रीय चरित्र और कर्तव्य के रूप में परिभाषित करते हैं "भाषा संस्कृति की संजीवनी होती है। चूँकि भारतवासी एकता चाहते हैं और एक समान संस्कृति विकसित करने के इच्छुक हैं इसलिए सभी भारतीयों का यह भारी कर्तव्य है कि वे हिंदी को अपनी भाषा के रूप में अपनाएँ। कोई भी भारतीय, जो इस प्रस्ताव को भाषावार राज्य के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार नहीं करता, भारतीय कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।" [9]

राष्ट्रीय एकता के लिए हिंदी और संस्कृत :

अंबेडकर ने राष्ट्रीय एकता और साझा संस्कृति के विकास के लिए भारतीयों को हिंदी के रूप में अपनाने की सलाह दी। उन्होंने कहा, "चूंकि भारतीय एकजुट होना चाहते हैं और एक साझा संस्कृति विकसित करना चाहते हैं, यह सभी भारतीयों का कर्तव्य है कि वे हिंदी को अपनी भाषा के रूप में स्वीकार करें।" इसके अलावा, उन्होंने भारत की आधिकारिक भाषा को संस्कृत के रूप में प्रस्तावित किया, क्योंकि यह किसी भी क्षेत्रीय भाषा को छोड़कर एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत के रूप में काम कर सकती थी।

विभाजन और चेतावनी :

अर्थशास्त्री ने चेतावनी दी कि यदि उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया गया, तो भारत एक एकीकृत राष्ट्र के बजाय राष्ट्रीय समूहों के संगठन में विभाजित हो सकता है। उन्होंने कहा, "यदि मेरा सुझाव स्वीकार नहीं किया गया, तो भारत 'भारत' नहीं रहेगा। यह राष्ट्रीय सहयोगियों के संग्रह में बदल जाएगा जो एक-दूसरे के खिलाफ संघर्ष और युद्ध में रहेंगे।" उनकी राय में यह चेतावनी दी गई है कि भाषा को पहचानना और राष्ट्रीय एकता के बीच संतुलन बनाए रखना महत्वपूर्ण है।

डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर की भाषा नीति भारत की भाषा विविधता और राष्ट्रीय एकता के बीच संतुलन बनाने का एक प्रयास था। उनकी राय यह थी कि जहाँ राज्यों का गठन महत्वपूर्ण है, वहीं राष्ट्रीय एकता के लिए हिंदी और संस्कृत जैसी साझा भाषाओं को अपनाना आवश्यक है। उनकी चेतावनियाँ और तर्क आज भी भारत की भाषा नीति पर चर्चा में हैं।

आजादी के बाद के पहले दशक में ही जिस प्रतिस्पर्धा मूलक और अलगाववादी भाषाई राजनीति का आरंभ हो रहा था, डॉ. अंबेडकर उसके भविष्य को ठीक-ठीक समझ रहे थे। इसलिए उन्होंने एक 'एक भाषा एक राज्य' के स्थान पर 'एक राज्य एक भाषा' का समर्थन किया। वे किसी भी रूप में ऐसे प्रांतवाद का समर्थन नहीं करते, जो राष्ट्रीयता के समक्ष अपनी स्वतंत्र और अलहदा पहचान की दावेदारी पेश करे। कह सकते हैं कि राष्ट्रीय एकता उनके लिए कोई भावनात्मक मामला नहीं था बल्कि विशुद्ध व्यावहारिक मामला था। इसे वे किसी भी लोकतंत्र की सफलता का अनिवार्य पक्ष मानते थे। इसलिए उन्होंने कहा "यदि राज्य में रहने वाले लोगों में भ्रातृत्व भावना का अभाव हो तो लोकतंत्र बिना संघर्ष के चल ही नहीं सकता। नेतृत्व के लिए दो दलों में लड़ाई-झगड़े और प्रशासन में भेदभाव का व्यवहार, ये दो तत्व किसी भी मिश्रित भाषावार (द्विभाषी) में सदा बने रहते हैं और उनका लोकतंत्र के साथ निर्वाह नहीं हो सकता।"[10]

निष्कर्ष : राजभाषा के मुद्दे पर भारतीय राजनीति यदि लोकप्रिय राजनीति के समक्ष न झुकते हुए हिंदी के पक्ष में डॉ. अंबेडकर की मान्यताओं को स्वीकार करती तो न केवल भारत की संघात्मकता और मजबूत होती बल्कि कालांतर में भाषावाद के नाम पर जो दंगे हुए और सामान्य लोगों को जान-माल का नुकसान उठाना पड़ा उससे बचा जा सकता था।

संदर्भ :

1. गुहा, रामचंद्र. (2012). *भारत गांधी के बाद*. नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स इंडिया. पृ. 229
2. गिरि, राजीव रंजन. (2012, नवंबर). "संविधान सभा और भाषा विमर्श." *संवेद*, किशन कालजयी (संपा.) पृ. 15
3. भारत सरकार, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय. (1995). *बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर: संपूर्ण वाङ्मय* (खंड 1). नई दिल्ली: डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, पृ. 130-131
4. वही, पृ. 131
5. वही, पृ. 132
6. वही, पृ. 163-167
7. वही, पृ. 176
8. वही, पृ. 178
9. वही, पृ. 178-179
10. वही, पृ. 177

Received: 22.03.2026 | Accepted: 20.04.2026 | Published: 30.05.2026

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर पश्चिम भारत (600-1200 ई.) के मंदिरों में पशु-प्रतीकों का प्रतीकवाद : धर्म, समाज और कला का सांस्कृतिक अध्ययन

रवि कुमार*
ravidariyal1234@gmail.com

सारांश

भारतीय इतिहास में प्रारम्भिक मध्यकाल (600-1200 ई.) मंदिर स्थापत्य, मूर्तिकला तथा धार्मिक प्रतीकों के विकास, विविधीकरण तथा कलात्मक उत्कर्ष का प्रमुख युग माना जाता है। इस अवधि में उत्तर-पश्चिम भारत - जिसमें वर्तमान राजस्थान, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ भाग सम्मिलित थे- में निर्मित मंदिरों की बाह्य एवं आन्तरिक संरचनाओं पर विविध पशु-प्रतीकों का व्यापक अंकन मिलता है। ये पशु आकृतियाँ केवल सजावटी अलंकरण नहीं थीं, बल्कि तत्कालीन धार्मिक विश्वासों, सामाजिक संरचनाओं, राजनीतिक वैधता, स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराओं तथा कलात्मक अभिव्यक्तियों का सशक्त माध्यम थीं। नन्दी, सिंह, वराह, गरुड़, गज, मकर, व्याल, हंस तथा अन्य मिश्रित पशु रूप मंदिरों के स्थापत्य और प्रतिमा-विज्ञान में विशिष्ट प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य पशु-प्रतीकों के बहुआयामी प्रतीकवाद का विश्लेषण करना है। इसमें यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि पशु-प्रतीक केवल धार्मिक अवधारणाओं के वाहक नहीं थे, बल्कि वे सत्ता, संरक्षण, सामाजिक पहचान, लोक विश्वास, पर्यावरणीय चेतना तथा सांस्कृतिक समन्वय के भी द्योतक थे। पशु-प्रतीकों का अध्ययन भारतीय मंदिर संस्कृति को अधिक व्यापक, बहुआयामी एवं अंतःविषयक दृष्टि से समझने की नई संभावनाएँ प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन भारतीय कला इतिहास, सांस्कृतिक इतिहास, धार्मिक अध्ययन तथा प्रतिमा-विज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान देने का प्रयास है।

मुख्य शब्द: *प्रारम्भिक मध्यकाल, उत्तर-पश्चिम भारत, मंदिर स्थापत्य, पशु-प्रतीक, प्रतिमा विज्ञान।*

प्रस्तावना

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में पशुओं को मात्र जैविक प्राणी के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि वे धार्मिक आस्थाओं, सांस्कृतिक मूल्यों, सामाजिक जीवन तथा कलात्मक अभिव्यक्तियों के अभिन्न अंग रहे हैं। प्रारम्भिक मध्यकाल (600-1200 ई.) भारतीय मंदिर स्थापत्य और मूर्तिकला के उत्कर्ष का युग था। इस काल में विशेषतः उत्तर-पश्चिम भारत में गुर्जर-प्रतिहार, चाहमान, परमार, चालुक्य (सोलंकी) तथा अन्य क्षेत्रीय राजवंशों के संरक्षण में मंदिर निर्माण की उल्लेखनीय परम्परा विकसित हुई। मंदिरों के स्थापत्य के विभिन्न अंगों - जैसे दीवारों, तोरणों, स्तंभों, अधिष्ठानों, मंडपों तथा देवप्रतिमाओं पर विविध पशु प्रतीकों का सौंदर्यपूर्ण, प्रतीकात्मक एवं कलात्मक अंकन व्यापक रूप से परिलक्षित होता है। हिन्दू धर्म में नंदी, गरुड़, सिंह, वराह और हंस जैसे पशु देवताओं के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, जबकि बौद्ध एवं जैन परम्पराओं में भी अनेक पशु नैतिक आदर्शों, आध्यात्मिक मूल्यों तथा प्रतीकात्मक संदेशों के माध्यम बने। अनेक पशु स्थानीय जनजातीय परम्पराओं

* **एम. ए. (इतिहास), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

यू.जी.सी. नेट परीक्षा उत्तीर्ण

तथा लोक-देवताओं से जुड़े थे, जिन्हें समय के साथ ब्राह्मणीय धार्मिक व्यवस्था में समाहित कर लिया गया। इस तरह मंदिर में अंकित पशु-प्रतीक भारतीय संस्कृति के बहुलतावादी स्वरूप तथा सांस्कृतिक समन्वय का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि भारतीय मंदिर स्थापत्य ओर प्रतिमा-विज्ञान पर पर्याप्त शोध उपलब्ध है, तथापि उत्तर-पश्चिम भारत के मन्दिरों में पशु प्रतीकों का धार्मिक, सामाजिक तथा कलात्मक दृष्टि से समग्र विश्लेषण कम हुआ है। यह अध्ययन इसी रिक्ति को भरने का प्रयास करता है और पशु प्रतीकों को केवल धार्मिक न मानकर उन्हें सांस्कृतिक सम्प्रेषण, सामाजिक संरचना, राजनीतिक प्रतीकवाद तथा कलात्मक सृजनशीलता के बहुआयामी माध्यम के रूप में समझने का प्रयास करता है।

उत्तर-पश्चिम भारत (600-1200 ई.) का धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य तथा मंदिर परम्परा

गुप्तोत्तर काल से प्रारंभ होकर छठी से बारहवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य भारतीय उपमहाद्वीप में क्षेत्रीय राजसत्ताओं का प्रभाव निरंतर बढ़ा, जिसके परिणामस्वरूप धार्मिक संस्थानों, मंदिर स्थापत्य तथा कलात्मक परम्पराओं को व्यापक राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। उत्तर-पश्चिम भारत में गुर्जर प्रतिहार, चाहमान, परमार और चालुक्य जैसे राजवंश इस सांस्कृतिक उन्नयन के प्रमुख वाहक बने। इन राजवंशों ने केवल राजनीतिक सत्ता का विस्तार ही नहीं किया, बल्कि मंदिर निर्माण, मूर्तिकला, धार्मिक संस्थानों तथा ब्राह्मणीय संस्कृति के संरक्षण को भी राजकीय प्रतिष्ठा का आधार बनाया।

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर पश्चिम भारत केवल एक भौगोलिक क्षेत्र नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक एवं धार्मिक समन्वय का प्रमुख केन्द्र था, जिसका प्रभाव मंदिर स्थापत्य, मूर्तिकला तथा धार्मिक प्रतीकों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए एक ही मंदिर में शिव, विष्णु, सूर्य तथा देवी की प्रतिमाओं के साथ सिंह, गज, मकर, गरुड़, नन्दी, व्याल, हंस तथा अनेक मिश्रित पशु आकृतियाँ अंकित मिलती हैं। यह विविधता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि भारतीय मंदिर किसी सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति न होकर व्यापक सांस्कृतिक समन्वय के केन्द्र थे। हालांकि भारतीय परम्परा में मंदिर को देवता का निवास माना गया है, किन्तु प्रारम्भिक मध्यकाल तक आते-आते उसकी भूमिका अत्यंत व्यापक हो चुकी थी। मंदिर स्थानीय प्रशासन, भूमि-अनुदान, शिक्षा, संगीत, नृत्य, शिल्प, व्यापार तथा सामाजिक जीवन के केन्द्र बन चुके थे। ऐसी स्थिति में मंदिरों की स्थापत्य सज्जा भी केवल धार्मिक उद्देश्य तक सीमित नहीं रह सकती थी। प्रत्येक मूर्ति, प्रत्येक अलंकरण तथा प्रत्येक पशु-प्रतीक किसी न किसी सांस्कृतिक संदेश का वाहक था। मंदिर में प्रवेश करने वाला व्यक्ति इन प्रतीकों के माध्यम से शक्ति, धर्म, समृद्धि, संरक्षण, उर्वरता तथा दैवी व्यवस्था की अवधारणाओं से परिचित होता था।

यह ध्यान देने योग्य है कि यदि मंदिर देवता के निवास थे, तो उनमें इतनी बड़ी संख्या में पशु-आकृतियाँ क्यों अंकित की गई? इसका जवाब भारतीय प्रतीकवाद में निहित है। भारतीय कला वस्तु का यथार्थ चित्रण नहीं करती, बल्कि उसके पीछे निहित दार्शनिक अर्थ को मूर्त रूप प्रदान करती है। इसलिए मंदिर में सिंह केवल सिंह नहीं है, वह राजकीय शक्ति, धर्म की विजय तथा देवी की शक्ति का प्रतीक है। हाथी केवल वन्य जीव नहीं है; वह वर्षा, समृद्धि, राजवैभव तथा दिग्गजों की ब्रह्माण्डीय अवधारणा से जुड़ा हुआ है। नंदी केवल बैल नहीं, बल्कि शिव भक्ति, संयम तथा धर्म का प्रतीक है।

हालांकि प्रारम्भिक कला इतिहासकारों ने मंदिरों की पशु-आकृतियों को प्रायः सजावटी अलंकरण माना था, किन्तु आधुनिक प्रतिमा-विज्ञान इस मत को स्वीकार नहीं करता। 'एलेक्जेंड्रा वैन डेर गीर' की पुस्तक 'एनिमल्स इन स्टोन' स्पष्ट करती है कि भारतीय कलाकारों ने पशुओं का चयन अत्यंत सोच-समझकर किया। प्रत्येक पशु किसी विशिष्ट धार्मिक या सांस्कृतिक विचार का प्रतिनिधित्व करता है। जैसे सिंह - राजसत्ता, वीरता, दैवी शक्ति का; हाथी - वर्षा, उर्वरता का; गरुड़ - विष्णु भक्ति का एवं नंदी - शिव के प्रति समर्पण का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रमुख पशु-प्रतीकों का प्रतीकवाद

उत्तर पश्चिम भारत के मंदिरों में पशु-प्रतीकों का अंकन अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक गतिशील तथा अलंकरणप्रधान दिखाई देता है। ओसियां (राजस्थान), किराडू, मोढेरा, तारंगा, आबू तथा अन्य मंदिरों में सिंह, गज, व्याल, मकर तथा मिश्रित पशुओं की अत्यन्त विकसित मूर्तिकला मिलती है, जिनका विवरण निम्नलिखित इस प्रकार है:

सिंह: 'सिंह', भारतीय मंदिर कला में सर्वाधिक प्रभावशाली पशु प्रतीकों में से एक है। प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर पश्चिम भारत के मंदिरों में सिंह का अंकन केवल एक वन्य पशु के रूप में नहीं, बल्कि दैवी शक्ति, राजकीय अधिकार, वीरता तथा धर्म की

रक्षा के प्रतीक के रूप में किया गया। भारतीय धार्मिक परम्परा में सिंह का संबंध विशेष रूप से देवी दुर्गा, नरसिंह अवतार तथा राजधर्म की अवधारणा से जुड़ा हुआ है। हिन्दू आइकनोग्राफी में सिंह को दैवी शक्ति, निर्भयता तथा राजकीय संरक्षण का प्रतीक माना गया है। देवी दुर्गा का सिंह पर आरूढ़ होना केवल वाहन परम्परा नहीं, बल्कि यह दर्शाता है कि देवी ने प्रकृति की उक्त शक्ति को अपने नियंत्रण में स्थापित कर धर्म की रक्षा की। उत्तर-पश्चिम भारत के ओसियाँ, किराडू, मोढेरा तथा आबू क्षेत्र के मंदिरों में सिंह-मूर्तियाँ अत्यंत गतिशील शैली में निर्मित हैं। कहीं सिंह हाथियों को दबाते हुए दिखाई देता है, कहीं व्याल के साथ संयुक्त रूप में तथा कहीं द्वारपाल की भूमिका में। यह शैली केवल कलात्मक कौशल का प्रदर्शन नहीं, बल्कि शक्ति के क्रम को भी व्यक्त करती है। यदि राजनीतिक दृष्टि से देखें तो गुर्जर प्रतिहार, परमार तथा चाहमान शासकों ने स्वयं को धर्मरक्षक क्षत्रिय के रूप में प्रस्तुत किया। मंदिरों में सिंह की पुनरावृत्ति इस राजकीय विचारधारा का दृश्य विस्तार प्रतीत होती है, जबकि सामाजिक स्तर पर सिंह न्याय, साहस तथा नैतिक शक्ति का आदर्श प्रस्तुत करता था। मंदिर में प्रवेश करने वाला भक्त सिंह को देखकर केवल देवी के वाहन का दर्शन नहीं करता था, बल्कि धर्म की विजय एवं अधर्म के दमन का संदेश भी ग्रहण करता था।

हाथी: अगला पशु प्रतीक 'हाथी' का है, जो भारतीय संस्कृति में शक्ति, बुद्धिमत्ता, स्थिरता तथा राजकीय वैभव का प्रतिनिधित्व करता है। प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर-पश्चिम भारत के मंदिरों में हाथी का अंकन अत्यंत व्यापक रूप से मिलता है। मंदिरों के अधिष्ठानों पर हाथियों की श्रेणियाँ, प्रवेशद्वारों पर गजलक्ष्मी, स्तम्भों पर गजमुख तथा जल संरचनाओं में हाथियों का प्रयोग तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना का द्योतक है। 'सेक्रेड एनिमल्स ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक के अनुसार हाथी केवल राजकीय शक्ति का प्रतीक नहीं था, बल्कि भारतीय पारिस्थितिकी में वर्षा, जल तथा वन-सम्पदा से उसका घनिष्ठ संबंध था। ऐरावत की पौराणिक अवधारणा इसी पर्यावरणीय अनुभव का धार्मिक रूपान्तरण है। हाथी बादलों, वर्षा तथा उर्वरता का प्रतीक बन गया। मंदिर स्थापत्य में हाथियों की कतारें केवल सजावट नहीं हैं। वे सम्पूर्ण मंदिर को धारण करते हुए प्रतीत होते हैं। यह दृश्य संदेश देता है कि सम्पूर्ण सृष्टि और राजव्यवस्था धर्मरूपी मंदिर को सहारा प्रदान कर रही है। इसी प्रकार गजलक्ष्मी की प्रतिमाओं में हाथी लक्ष्मी का अभिषेक करते हैं, जो समृद्धि, वर्षा और कृषि सम्पन्नता का संयुक्त प्रतीक है। यदि राजनीतिक स्तर की बात करें तो हाथी राजकीय सामर्थ्य और सैन्य शक्ति का प्रतीक था। प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत के लगभग सभी प्रमुख राजवंश हाथियों का उपयोग युद्ध में करते थे। परिणामस्वरूप मंदिर कला में हाथी राजकीय प्रतिष्ठा का भी प्रतीक बन गया।

नंदी: इसके अलावा 'नंदी' संयम, धैर्य और धर्म का प्रतीक है। शिव मंदिरों में नंदी की उपस्थिति केवल वाहन की परम्परा नहीं है; वह भक्त और ईश्वर के मध्य आध्यात्मिक सेतु का कार्य करता है। हिन्दू आइकनोग्राफी में नंदी को धर्म, निष्ठा तथा ब्रह्माण्डीय स्थिरता का प्रतिनिधि माना गया है। वृषभ कृषिप्रधान समाज का आधार था, इसलिए नंदी का धार्मिक रूपान्तरण सामाजिक जीवन और धर्म के बीच गहरे संबंध को प्रकट करता है। ध्यातव्य है कि उत्तर-पश्चिम भारत के शिव मंदिरों - विशेषकर किराडू, ओसियाँ तथा आबू क्षेत्र - में नंदी की मूर्तियाँ अत्यंत विकसित शैली में निर्मित हुई हैं। कहीं अलंकृत है, कहीं साधारण; परन्तु प्रत्येक स्थान पर उसकी दृष्टि शिवलिंग की ओर ही केन्द्रित रहती है।

गरुड़: अगले पशु प्रतीक के रूप में उत्तर पश्चिम भारत के वैष्णव मंदिरों में 'गरुड़' का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। पुराणों के अनुसार गरुड़ केवल भगवान विष्णु का वाहन नहीं है, बल्कि वह आकाश, प्रकाश, वेग, अमरत्व तथा दैवी संरक्षण का प्रतीक भी है। मंदिरों में गरुड़ की उपस्थिति यह संकेत करती है कि विष्णु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के संरक्षक हैं तथा उनका वाहन दुष्ट शक्तियों, विशेषकर नागों एवं अज्ञान का विनाश करता है। हिन्दू प्रतिमा-विज्ञान में गरुड़ को मानव एवं पक्षी के संयुक्त रूप में दर्शाया गया है, जो भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की सर्वाधिक विकसित प्रतीकात्मक कल्पनाओं में से एक है। यह रूप केवल कलात्मक प्रयोग नहीं, बल्कि यह मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति तथा दैवी शक्ति की ओर आरोहण का भी प्रतीक है। उत्तर-पश्चिम भारत के वैष्णव मंदिरों, विशेषता ओसियां तथा गुजरात के सोलंकी कालीन मंदिरों में गरुड़ को कभी विष्णु के समक्ष हाथ जोड़े भक्त के रूप में, तो कभी विशाल पंखों वाले दैवी रक्षक के रूप में अंकित किया गया है। यदि राजनीतिक दृष्टि से देखें तो अनेक वैष्णव शासकों ने स्वयं को विष्णु का प्रतिनिधि माना तथा गरुड़ को अपने राजकीय वैभव और संरक्षण का प्रतीक बताया। इस प्रकार मंदिरों में गरुड़ की उपस्थिति धार्मिक आस्था के साथ-साथ राजकीय वैधता को भी सुदृढ़ करती थी।

मकर: इसके अलावा भारतीय मंदिर कला में 'मकर' सर्वाधिक रहस्यमय एवं जटिल प्रतीकों में से एक है। मकर का सम्बंध मुख्यतः जल, जीवन, सृष्टि एवं उर्वरता से है। भारतीय धार्मिक परम्परा में गंगा, वरुण तथा कामदेव के साथ इसका संबंध स्थापित किया गया है। मंदिरों में मकरमुख से निकलती हुई लताएँ, नाग अथवा जलधाराएँ सृष्टि की निरन्तरता तथा

जीवन के प्रवाह का प्रतीक हैं। उत्तर-पश्चिम भारत के मंदिरों में मकर का प्रयोग विशेष रूप से तोरणों, द्वारशाखाओं तथा जलनिकासों पर किया गया है। यह केवल सजावट नहीं थी, बल्कि धार्मिक दृष्टि से यह पवित्र जल की रक्षा करता था। स्थापत्य दृष्टि से यह मंदिर के भीतर और बाहर के संसार के मध्य संक्रमण का प्रतीक था।

हंस: यदि अगले पशु प्रतीक को देखें तो भारतीय धार्मिक प्रतीकवाद में 'हंस' को ज्ञान, विवेक एवं आध्यात्मिक पवित्रता के आदर्श रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जिसका संबंध ब्रह्मा और सरस्वती से प्राचीन काल से माना जाता है। मंदिरों में हंस का अंकन यह संकेत करता है कि ईश्वर की प्राप्ति केवल श्रद्धा से नहीं, बल्कि ज्ञान एवं विवेक से भी सम्भव है। इसलिए शिक्षा एवं ज्ञान से जुड़े मन्दिरों तथा सरस्वती की प्रतिमाओं में इसका विशेष स्थान है। उत्तर-पश्चिम भारत के अनेक मंदिरों में स्तम्भों, छज्जों तथा अलंकरण पट्टिकाओं पर हंस-मालाएँ अंकित मिलती हैं। ये केवल सौन्दर्य नहीं बढ़ातीं, बल्कि ज्ञान की निरंतर धारा का प्रतीक भी हैं।

व्याल: इसके साथ ही 'व्याल' भी भारतीय मंदिर कला का सबसे विशिष्ट कल्पित पशु है। इसमें सिंह, हाथी, घोड़े, मगर तथा अन्य जीवों के गुणों का समन्वय किया गया है। यह किसी एक प्राकृतिक जीव का चित्रण नहीं, बल्कि दैवी शक्ति का दृश्य रूप है। उत्तर-पश्चिम भारत के मंदिरों में व्याल विशेष रूप से स्तम्भों, तोरणों तथा मंडपों पर अंकित मिलता है। कई मूर्तियों में व्याल किसी हाथी या मानव को दबाए हुए दिखाई देता है। यह दुष्ट शक्तियों पर धर्म की विजय का प्रतीक है। कला-इतिहास की दृष्टि से व्याल भारतीय कलाकारों की कल्पनाशीलता का सर्वोच्च उदाहरण है। यह दर्शाता है कि भारतीय मूर्तिकार केवल प्रकृति की नकल नहीं करते थे, बल्कि धार्मिक विचारों को व्यक्त करने के लिए नये प्रतीक भी निर्मित करते थे।

वराह: इन सब पशु प्रतीकों के अतिरिक्त वराह का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पुराणों के अनुसार हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी को रसातल में ले जाने के पश्चात विष्णु ने वराहरूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया। यह कथा भारतीय धर्मदर्शन में केवल एक पौराणिक घटना नहीं, बल्कि 'धर्म की पुनस्थापना' का शाश्वत सिद्धांत है। उत्तर-पश्चिम भारत में वराह प्रतिमाएँ विशेष रूप से गुर्जर प्रतिहार एवं सोलंकी कालीन मंदिरों में दिखाई देती हैं। कई स्थानों पर वराह के सम्पूर्ण शरीर पर ऋषियों, देवताओं एवं ग्रहों का अंकन मिलता है। यह इस विचार को व्यक्त करता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विष्णु के शरीर में समाहित है तथा पृथ्वी की रक्षा सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार मंदिरों में अंकित पशु केवल धार्मिक आस्था की अभिव्यक्ति नहीं थे, बल्कि वे तत्कालीन समाज की राजनीतिक विचारधारा, आर्थिक संरचना, सांस्कृतिक स्मृति तथा कलात्मक चेतना के भी जीवंत दस्तावेज थे। धार्मिक स्तर पर वे देवताओं की शक्ति, धर्म तथा आध्यात्मिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते थे, जबकि सामाजिक स्तर पर वे समुदाय, लोकपरम्परा, कृषि एवं पशुपालन आधारित जीवन तथा नैतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करते थे। इसके साथ ही कलात्मक स्तर पर वे भारतीय मूर्तिकारों की तकनीकी दक्षता, सौन्दर्यबोध तथा सृजनात्मक कल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसके अलावा सांस्कृतिक स्तर पर वे भारतीय सभ्यता की समन्वयवादी प्रवृत्ति, लोक विश्वासों के समावेश तथा प्रकृति के प्रति सम्मान को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। इसी बहुआयामी स्वरूप के कारण पशु-प्रतीक भारतीय मंदिर संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण दृश्य-स्रोतों में गिने जाने चाहिए।

अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मंदिरों में अंकित सिंह, गज, नंदी, गरुड़, वराह, हंस, मकर, तथा व्याल जैसे पशु केवल देवताओं के वाहन अथवा स्थापत्य अलंकरण नहीं थे, बल्कि वे एक सुविकसित प्रतीकात्मक भाषा का निर्माण करते थे, जिसके माध्यम से धर्म, सत्ता, नैतिकता, प्रकृति तथा समाज के मध्य अन्तर्सम्बंधों को अभिव्यक्ति प्राप्त होती थी। उत्तर-पश्चिम भारत के मंदिरों का अध्ययन यह भी दर्शाता है कि पशु-प्रतीकों का चयन क्षेत्रीय सांस्कृतिक परिस्थितियों, राजवंशीय संरक्षण तथा स्थानीय धार्मिक परम्पराओं से गहरे रूप में प्रभावित था। गुर्जर-प्रतिहार, चाहमान, परमार तथा चालुक्य शासकों ने मंदिर निर्माण के माध्यम से अपनी राजनीतिक वैधता को धार्मिक आधार प्रदान किया। इस प्रक्रिया में पशु-प्रतीकों ने राजसत्ता को दैवी संरक्षण से जोड़ने का कार्य किया।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन प्रतिपादित करता है कि मंदिरों में प्रयुक्त पशु-प्रतीकों को केवल प्रतिमा-विज्ञान अथवा कला इतिहास की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। उनका अध्ययन इतिहास, धर्म, समाजशास्त्र, पुरातत्व, पर्यावरणीय इतिहास

तथा सांस्कृतिक अध्ययन जैसे अनेक विषयों को एक साथ जोड़ता है। इस तरह पशु-प्रतीकों का अध्ययन भारतीय इतिहास लेखन में एक अंतःविषयगत (इंटरडिसिप्लिनरी) दृष्टिकोण विकसित करने की सम्भावना प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ

1. एलेक्जेंड्रा वैन डेर गीर, एनिमल्स इन स्टोन: इंडियन मैमल्स स्कल्प्चर्ड थ्रू टाइम, लीडेन: ब्रिल, 2008
2. स्टेला क्रैम्रिश, द हिंदू टेम्पल, खंड-1, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास
3. नंदिता कृष्णा, सेक्रेड एनिमल्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली: पेंग्विन बुक्स इण्डिया, 2010
4. स्टेला क्रैम्रिश, द हिंदू टेम्पल, खंड-2
5. टी. ए. गोपीनाथ राव, एलिमेंट्स ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, खंड-1, भाग-1, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण 1993
6. कृष्ण देव, टेम्पल्स ऑफ नॉर्थ इण्डिया
7. एडम हार्डी, इंडियन टेम्पल आर्किटेक्चर
8. विष्णु पुराण, बुक- 1
9. मत्स्य पुराण, अध्याय 250-270
10. अग्नि पुराण, अध्याय 42-55

Received: 23.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

From Patronage to Dispossession: Sultanic Craft Culture, Sufi Networks, and Colonial Commodification in the Kashmiri Handicraft Economy, c. 1420–1900

Vijay Kumar Yadav*
vkysrinagar@gmail.com

Abstract

This article examines the structural transformation of the Kashmiri handicraft economy between the reign of Sultan Zain-ul-Abdin (c. 1420–1470) and the close of the nineteenth century. It argues that the system of Sultanic patronage, which brought Central Asian artisans and Sufi missionaries to Kashmir, embedding craft production within a political economy of land grants, royal sponsorship, and trans-regional trade, underwent a decisive and damaging reconfiguration under Dogra rule and British commercial penetration. The article traces how the artisan moved from a position of relative integration within court culture to one of structural dispossession within an export-oriented commodity economy. Drawing on Persian chronicles, colonial administrative records, and recent ethnographic scholarship, it further contends that the indigenous knowledge systems, most notably the taleem notation used by naqash communities in carpet and shawl production, constitute the most durable residue of the pre-colonial craft order, surviving precisely because their complexity placed them beyond the reach of mechanical reproduction. The crisis of the contemporary Kashmiri artisan is thus not a recent phenomenon but the terminal stage of a process of dispossession that began in the mid-nineteenth century.

Keywords:

Kashmiri handicrafts, colonial economy, naqash, pashmina, carpet weaving, Sufi networks.

I. Introduction

The handicrafts of Kashmir have long been acknowledged as constituting the most visible and enduring expression of the valley's cultural identity. Woollen shawls, hand-knotted carpets, papier-mâché, walnut wood carving, and embroidered felt rugs have survived centuries of political upheaval, environmental catastrophe, and socio-economic transformation. Yet the scholarship on

* **Ph. D Scholar (Part-Time)**

Department Of History, University of Kashmir, Hazratbal, Srinagar (J&K) (UT)

Kashmiri crafts has tended toward one of two registers: celebratory cultural description that treats these crafts as timeless repositories of aesthetic genius, or contemporary policy analysis that identifies the crisis of the artisan as a problem of modernity, the result of mechanisation, middlemen, and market distortions. What has been largely missing from both registers is a rigorous historical account of how the pre-colonial organisation of craft production was dismantled, and how this dismantling produced the structural conditions that characterise the industry today: poorly remunerated artisans, fragmented knowledge transmission, and a production hierarchy in which the craftsperson, possessing irreplaceable technical expertise, consistently receives the smallest share of the value generated.

This paper undertakes that historical account. It argues that the Kashmiri handicraft economy underwent two decisive structural transformations between the fifteenth and the close of the nineteenth century. The first, broadly constructive, was the institution of a Sultanic patronage system under Zain-ul-Abdin (1420–1470), which integrated craft production into state culture through land grants, stipends for artisan migration, and the systematic recruitment of Central Asian craftsmen via Sufi networks. The second, broadly destructive, was the commodification of Kashmiri craft under Dogra rule (1846–1947) and British commercial influence, which severed the artisan from the patronage network that had sustained him, subordinated craft knowledge to the imperatives of export volume, and initiated the long decline in artisanal wages and social standing that persists into the present. Between these two transformations, the indigenous knowledge systems embedded in the production process, above all, the *taleem* notation developed by Kashmiri naqash communities, continued to be transmitted across generations, constituting a form of cultural continuity that neither colonial extraction nor postcolonial neglect has fully extinguished.

The paper proceeds in four substantive sections. The first reconstructs the political economy of Sultanic patronage in medieval Kashmir, drawing on Persian chronicles and recent historical scholarship to establish the conditions under which craft production flourished. The second examines the role of Sufi networks in the transmission of craft techniques and the social embedding of artisanal communities. The third analyzes the structural effects of colonial commodification on the artisan's position within the production hierarchy. The fourth reflects on the survival of indigenous knowledge systems as a site of historical and cultural continuity and concludes the implications of this history for contemporary policy debates.

II. The Political Economy of Sultanic Patronage, c. 1339–1470

The foundation of the Kashmir Sultanate by Shah Mir in 1339 marked a turning point not only in the political history of the valley but in the organisation of its material culture. The establishment of Muslim rule in Kashmir opened the valley to sustained contact with the Persian and Central Asian civilisational world, and the Sultans who followed Shah Mir were, with varying degrees of deliberateness, architects of a new craft economy.[1] The mechanism of this opening was both political and cultural. The Sultans of Kashmir, recognising the prestige that accrued from association with the arts and crafts of Samarkand, Bukhara, and Khurasan, the acknowledged centres of Islamicate material culture, adopted an active policy of attracting skilled artisans to the valley. They did so through two principal instruments: the offer of *jagirs* (land grants) to settling craftsmen, and the state-funded dispatch of Kashmiri students to Central Asian centres of craft

learning. The *Baharistan-i-Shahi* records that the families of those sent abroad were maintained from the state exchequer during their absence, and that upon their return, they were paid monthly salaries to transmit their skills to the local population.[2]

It is, however, the reign of Sultan Zain-ul-Abdin (r. 1420–1470), known popularly as *Budshah*, the Great King, that represents the apogee of this patronage system. Under his rule, Kashmir was transformed from a valley that had recently begun to receive craft migrants into one that could credibly claim parity with the great centres of Central Asian production. The range of industries introduced or substantially developed during his reign was extraordinary: silk-weaving with its attendant mastery of shuttle and loom; silk printing; advanced Pashmina shawl techniques, including the *Kani* shawl woven with small wooden sticks called *tujje*; carpet weaving using the Persian asymmetrical knot; papier-mâché; jewellery and silver work; woodwork; boat-making; leather industries; and, remarkably, the arts of paper-making and book-binding, for which Zain-ul-Abdin dispatched learned men to Samarkand at state expense.[3]

The testimony of Mirza Haider Dughlat, writing in his *Tarikh-i-Rashidi*, provides an invaluable external assessment of what this patronage had achieved. In Kashmir, Dughlat observed, one encountered all those arts and crafts which, in the rest of Central Asia, were to be found only in Samarkand and Bukhara, and this abundance was entirely attributable to the Sultan's deliberate cultivation of artisanal excellence.[4] This remarkable observation places Kashmir not at the periphery of the Islamicate craft world but at its productive frontier: a valley that had, within a century of the establishment of Sultanate rule, become a peer of the most celebrated manufacturing centres in Asia.

What distinguished the Sultanic patronage system from later models of craft organisation was its character as a political economy of integration. Artisans were not merely tolerated as economically useful; they were incorporated into the court's cultural project. Occupational communities that migrated from Central Asia, the *kaghazgir* (paper-maker), the *sahhaf* (bookbinder), the *qalain-baf* (carpet-weaver), the *qalam-dan-saz* (pen-case maker), settled permanently in Kashmir and gave their names to the occupational castes that persist in the valley to this day.[5] The craft was thus not merely an economic activity but a marker of social identity, lineage, and cultural belonging.

Equally significant was the commercial infrastructure that Sultanic rule constructed around craft production. Zain-ul-Abdin established free rest houses for traders, ensured security of passage for merchants and caravans, and built markets, notably the Zain Bazar between Zain Kadal and Nahid Kadal in Srinagar, where craft goods from across the trading network were bought and sold.[6] Kashmir's export trade during this period encompassed shawls, *Kani* pashmina, wooden boxes, saffron, raw silk, and varieties of woollen cloth travelling along routes through Ladakh to Tibet, Yarkand, Kashgar, and Central Asia. The valley functioned not merely as a producer of luxury goods but as a node in a trans-regional commercial network that connected it economically and culturally to the wider Islamicate world.[7]

III. The Sufi as Artisan: Knowledge Transmission and the Social Embedding of Craft

The role of Sufi missionaries in the transmission of craft techniques to Kashmir has been documented in recent historical scholarship;however, the significance for understanding the organisation of artisanal communities has not yet been adequately theorised. The Sufis who came to

Kashmir from Persia, Khurasan, and Central Asia were not merely religious figures who incidentally possessed craft skills. Rather, the transmission of craft knowledge was, for many of them, inseparable from their broader mission of cultural and spiritual outreach, a practice in which the making of beautiful objects was continuous with the cultivation of the interior life, and in which the workshops of artisanal instruction doubled as spaces of religious formation.

The most celebrated figure in this regard is Sayyid Ali Hamadani, who came to Kashmir during the reign of Sultan Qutb-ud-Din (1373–1389), accompanied by a large number of disciples from Persia, Iran, and Khurasan. Hamadani is credited with founding the shawl industry of Kashmir: he introduced shawl-weaving techniques from Turkistan and presented the Sultan with *pashmina* cloth derived from the fleece of the kid goat of Greater Tibet.[8] The Sultan was reportedly astonished by the warmth and softness of the fabric and immediately ordered supplies from Ladakhi merchants, initiating what would become one of the most significant luxury industries in pre-modern Asia. The shawl was not merely a commodity in this context: it was a garment of deep spiritual significance for Sufis, worn as an emblem of the devotional life, and its introduction to Kashmir was simultaneously an act of religious transmission and economic foundation.

The son of Sayyid Ali Hamadani, Mir Sayyid Muhammad Hamadani, came to Kashmir during the reign of Sultan Sikandar (1389–1413) with three thousand disciples, a significant proportion of whom were skilled in various handicrafts. Wherever they travelled to preach, they also taught craft techniques to the local population, creating a network of artisanal instruction that spread across the valley along the same routes as Islamic religious practice.[9] This convergence of spiritual and material transmission gave craft production a dignity and a social framework that persisted long after the particular Sufi orders had lost their dominant institutional influence on Kashmiri society.

The material outcome of this Sufi-mediated craft transmission was the creation of what might be termed a distributed knowledge economy. Craft knowledge was embedded not in workshops controlled by the state or merchant capital, but within communities, households, residential clusters, and occupational lineages, where technical expertise was preserved as a form of collective inheritance.The production of floor coverings illustrates this structure with particular clarity. As Pande's ethnographic research demonstrates, the making of Kashmiri carpets (*kaleen*), felt rugs (*namdah*), and grass mats (*wagoo*) was organised as a distributed process executed by the collective contribution of distinct artisanal communities, each specialised in a specific stage of production, and linked together by a hierarchical but collaborative arrangement practiced and transmitted across generations.[10]

At the centre of this distributed system stood the *naqash*, the designerwhose role was to conceive the design and communicate it, through distinct technical means, to the craftspersons responsible for its execution. For carpet weaving, this communication was achieved through the *taleem*: a cryptographic notational system in which each knot was encoded by two symbols, one indicating colour, one indicating count, inscribed on a paper roll called the *kud*. This system, first developed for the *Kani* shawl and subsequently adapted to carpet weaving when shawl weavers transferred their skills to the loom, represents one of the most sophisticated indigenous information technologies produced by any pre-modern craft tradition.[11] Its ingenuity lay in its capacity to encode an entire visual design, potentially encompassing hundreds of thousands of individual knots, in a

compact, portable, and reproducible script that required no visual representation of the finished object.

It is important to recognise that the *taleem* and the distributed production system it sustained were not merely technical achievements. They were social achievements: the material expression of a form of artisanal community in which knowledge was collectively held, hierarchically organised, and transmitted through apprenticeship and lineage. The *naqash* who conceived the design, the *taleem guru* who transcribed it, the *ustad* or master craftsman who supervised the weaving, and the *kalbaaf* who executed the knots, all participated in a production process whose social logic derived, however distantly, from the Sufi-mediated craft culture of the Sultanate period.[12]

IV. Colonial Commodification and Artisanal Dispossession, c. 1820–1900

The encounter between the Kashmiri handicraft economy and British commercial and administrative power in the nineteenth century initiated a transformation of the production system that was, in its long-term structural consequences, as significant as the Sultanic revolution of the fifteenth century, and far more damaging to the artisan's position within it. The colonial period did not create a new system of patronage; rather, it systematically severed artisans from the socio-economic foundations that had sustained the pre-colonial craft order, land rights, community networks, courtly patronage, and access to trade routes.

The first significant encounter between British commercial interests and Kashmiri craft came through the travels of William Moorcroft, who visited the valley between 1819 and 1825 and produced one of the earliest detailed European accounts of the shawl industry. Moorcroft's documentation was itself symptomatic of the colonial interest in Kashmiri craft as a source of commercial intelligence: his account of the production process, including the earliest recorded description of the *naqash-taleem* workflow, was framed in terms of assessing the industry's export potential and identifying the conditions under which British commercial access to its products might be enhanced.[13] The political context that would make such extraction possible arrived with the Treaty of Amritsar in 1846, which transferred Kashmir to the Dogra ruler Gulab Singh in exchange for a cash payment to the East India Company, inaugurating a form of governance in which the valley's productive resources, including its artisan communities, were treated as fiscal assets to be maximised rather than cultural communities to be sustained.

The Dogra administration, operating in close relationship with British commercial interests, reorganised the fiscal basis of craft production along lines that extracted maximum revenue from artisans while providing minimal state support for the conditions of production. The system of *jagirs* and stipends that had linked artisanal communities to the court under the Sultans was replaced by a revenue-based relationship in which the artisan's primary obligation was fiscal.Craft production became increasingly mediated by merchant intermediaries who supplied raw materials to artisans, procured finished goods at below-market prices in repayment of debts, and exported them through commercial networks in which artisans held no stake.[14] This structure, the basis of what later scholars have termed the "putting-out" system of craft manufacture, effectively transformed the independent artisan of the Sultanic period into a home-based piece-worker whose technical expertise was appropriated without corresponding economic compensation.

The most catastrophic single event in this period of structural decline was the collapse of the European market for Kashmiri shawls in the early 1870s, following the widespread adoption of the Jacquard power loom by French and British manufacturers. European manufacturers, after decades of studying and imitating Kashmiri shawl designs, produced machine-made "Paisley" shawls at a fraction of the cost of the hand-woven originals, thereby undermining the export market that had sustained the Kashmiri shawl industry for nearly four centuries.The human cost was devastating: tens of thousands of weavers who had been employed in shawl production found themselves without livelihood, and the intricate division of labour, the specialist dyers, yarn-preparers, *taleem* writers, and *rafugars* who repaired the warp, was disrupted in ways from which it never fully recovered.[15]

The structural consequences of this collapse were compounded by a broader reorganisation of the trade network within which Kashmiri craft had operated. The Central Asian overland routes that had connected Kashmir to Samarkand, Bukhara, and Khurasan, and through which the Sultans had maintained not only commercial but cultural exchange, were progressively marginalised by the expansion of British India's railway and road network, which redirected trade flows toward the colonial port economy. The consequence was not merely commercial: the disruption of the Central Asian trade network severed the living connections between Kashmiri craft communities and the wider Islamicate artistic tradition from which their technical repertoire had been drawn.[16]

The colonial state's approach to the artisanal crisis embodied a profound contradiction that exposed the limits of its economic and administrative policies. On the one hand, British administrators and commercial interests were deeply invested in maintaining the prestige and market value of Kashmiri handicrafts. George Watt's catalogue for the Delhi Exhibition of 1902–1903 devotes extensive attention to Kashmiri craft as an emblem of Indian artistic achievement under British rule. On the other hand, the conditions that had sustained the pre-colonial craft economy, state patronage, communal land rights, and the Sufi-mediated social embedding of knowledge transmission were precisely the conditions that the colonial political economy was systematically dismantling. What emerged instead was a commodified form of craft production organised around merchant capital, in which the artisan's technical expertise was increasingly separated from any stake in the product or the market, and in which the elaborate social and knowledge-based hierarchy of the pre-colonial production system was flattened into a simple relationship between the indebted producer and the investing trader.[17]

V. The Survival of Indigenous Knowledge Systems and the Postcolonial Conjuncture

It is one of the more striking ironies of the history of Kashmiri handicrafts that the indigenous knowledge systems which sustained the pre-colonial craft order proved more durable than the political and economic structures that had originally generated them. The *taleem* system, the distributed production hierarchy of the *naqash* communities, and the oral transmission practices of *wagoo* weaving continued to be practiced and transmitted across generations throughout the colonial period and into the present, even as the economic position of artisans steadily deteriorated.This durability was not accidental. It derived precisely from the complexity and tacit character of the knowledge involved: the cryptographic notation of the *taleem*, the *naqash*'s integrated mastery of design, colour, and mathematical calculation, and the *wagivgur*'s embodied memory of weaving

patterns transmitted mother to daughter through demonstration and practice; none of these could be easily codified, extracted, or mechanically replicated.[18]

Such resilience was sustained despite growing structural vulnerabilities that progressively undermined the material foundations of artisanal life. The postcolonial state of Jammu and Kashmir inherited from the colonial period an artisan class that had been dispossessed of its pre-colonial social position, deprived of its most important export market, and inserted into a commercial system in which the trader and, later, the tourism-driven middleman captured the bulk of the value generated by craft production. The reorganisation of the Handicrafts Department as a full-fledged state body in 1972–73 represented an institutional acknowledgement of this problem, and initiatives such as the formation of artisanal cooperatives and the establishment of government craft emporia were genuine, if structurally inadequate, attempts to address it.[19]

The award of Geographical Indication (GI) Tags to six Kashmiri crafts, Kashmir Pashmina, Kani Shawl, Kashmir Paper Mache, Kashmir Walnut Wood Carving, Khatamband, and the Kashmiri Hand Knotted Carpet, represents the most recent and formally ambitious attempt by the state to protect the integrity and market value of Kashmiri craft production.[20]The Geographical Indication (GI) tag system, by certifying products associated with a particular region and recognised standards of quality, offers a valuable instrument for combating the proliferation of machine-made imitations that have eroded the reputation and economic viability of genuine Kashmiri crafts in domestic and global markets.

Yet the historical analysis undertaken in this article suggests that the GI framework, while necessary, is insufficient to address the structural roots of the artisan's crisis. The dispossession of the Kashmiri artisan is not primarily a problem of market fraud or product authentication. It is the long-run consequence of the dismantling of a patronage system that had integrated craft production into social and political culture, and the subsequent insertion of that production into a commercial hierarchy in which the producer's position is structurally subordinate. Contemporary ethnographic research confirms that the production hierarchy of Kashmiri floor coverings remains pyramidal in structure: the buyer at the apex consumes the product, the trader invests in production, and the craftsperson possessing irreplaceable technical knowledge occupies the base.[21] This structure is not a natural market outcome; it is a historically produced condition rooted in the colonial transformation documented in the preceding section.

Recent technological developments introduce a further complication that demands attention. The increasing adoption of computer-aided design (CAD) software within *naqash* communities has transformed traditional production hierarchies, as digital technologies increasingly perform functions historically carried out by specialists such as the *tarah guru* (colour caller) and the *nakaal* (copier).While these changes can increase design efficiency and reduce production costs, they risk eroding the specialised knowledge communities that gave the pre-colonial production system its social depth and cultural resilience.[22] A knowledge system that has survived colonial extraction and centuries of economic marginalisation may prove more vulnerable to digitisation, which dissolves the community contexts in which tacit knowledge is held and transmitted, than to any previous pressure it has faced.

Conclusion

The history of the Kashmiri handicraft economy between the fifteenth and the close of the nineteenth century is best understood as the story of two structural transformations separated by roughly four centuries. The first, centred on the reign of Sultan Zain-ul-Abdin and mediated through Sufi networks of cultural transmission, created an integrated craft economy in which artisanal production was embedded in state culture, supported by a political economy of patronage, and connected to trans-regional trade routes that gave Kashmiri craft both economic vitality and cultural prestige. The second, initiated by the colonial reorganisation of Kashmir's fiscal and commercial life under Dogra rule and British commercial influence, systematically dismantled the conditions that had sustained this economy, dispossessing the artisan of his social position, destroying his most important export market, and inserting craft production into a commodity hierarchy in which the producer's share of value has steadily diminished

Between these two transformations, the indigenous knowledge systems of Kashmiri craft production demonstrated a remarkable capacity for survival. The *taleem* notation, the distributed *naqash* hierarchy, and the oral transmission of weaving knowledge within artisanal communities persisted across generations as forms of cultural patrimony that the market could not easily commodify. They did so not despite their complexity but because of it: the tacit, embodied, and socially distributed character of craft knowledge placed it beyond the reach of mechanical extraction. This resilience is perhaps the most significant lesson that the history of Kashmiri handicrafts offers to the present: knowledge that is collectively held and relationally transmitted often proves more enduring than knowledge that is codified and individualised.

The implications for contemporary policy are significant. The crisis of the Kashmiri artisan cannot be addressed through market certification alone; necessary GI Tag protections may be used as corrective measures against fraud. What is required is a more fundamental rethinking of the artisan's position within the production and distribution chain, one that takes seriously the historical depth of the dispossession that has occurred. This might include forms of producer ownership over the certified brand, revenue-sharing mechanisms that redistribute value from the trader to the craftsperson, and educational investment that treats the *taleem* system and the *naqash* tradition not as museum curiosities but as living knowledge infrastructures deserving of the same legal and institutional protection as the physical products they generate.[23]

Ultimately, the history examined in this article reminds us that the beauty of Kashmiri handicrafts, admired alike by the court poets of Sultan Zain-ul-Abdin, Mughal emperors, colonial administrators, and contemporary international consumers, has always been inseparable from the social conditions under which they were produced. To treat that beauty as a cultural asset while ignoring the structural conditions of the community that produces it is to repeat, in a different institutional register, the fundamental error of the colonial encounter: extracting the product while discarding the producer. Any policy framework that is serious about the survival of Kashmiri craft must begin, as this article has tried to begin, by taking that history seriously.

Notes

[1] Sajad Subhan Rather, "Sufism, Handicrafts, and Trade in Kashmir during Fourteenth and Fifteenth Centuries," *International Journal of History* 6, no. 1 (2024): p.19.

[2] Anonymous, *Baharistan-i-Shahi: A Chronicle of Mediaeval Kashmir*, trans. K. N. Pandit (Srinagar: Gulshan Books, 2013), p. 50; Rather, "Sufism, Handicrafts,"p. 20.]

[3] Srivara, *Zaina Rajatarangini*, in *Medieval Kashmir*, trans. J. C. Dutt (New Delhi: Atlantic Publishers, 1993), pp. 237–38; Rather, "Sufism, Handicrafts," p.20.

[4] Mirza Haider Dughlat, *Tarikh-i-Rashidi*, trans. Denison Ross (Patna: Academica Asiatica, 1973), p. 434, as cited in Rather, "Sufism, Handicrafts," p.20.

[5] Pir Hassan Shah Khuihami, *Tarikh-i-Hassan*, Urdu trans. Sharif Hussain Qasmi, 2 vols. (Srinagar: Ali Mohammad and Sons, 2012), vol. ii, p. 196; Rather, "Sufism, Handicrafts," p.20.

[6] Srivara, *Zaina Rajatarangini*, pp. 189, 202; Rather, "Sufism, Handicrafts,"p. 21. The Zain Bazar, stretching from Zain Kadal to Nahid Kadal, is described as a purpose-built commercial district in which urban handicrafts and daily-use items were bought and sold.

[7] Rather, "Sufism, Handicrafts," pp.20–21; *Tarikh-i-Hassan*, vol. i, pp. 487–88, enumerates export commodities including Kani pashmina, shawls, wooden boxes, saffron, and varieties of Pattu (warm woollen cloth).

[8] Rather, "Sufism, Handicrafts," p.20; *Tarikh-i-Hassan*, vol. i, pp. 426, 428.

[9] Rather, "Sufism, Handicrafts," 20; *Tarikh-i-Hassan*, vol. i, pp. 30–31, 36. The three thousand disciples of Mir Sayyid Muhammad Hamadani are said to have dispersed across the valley, teaching handicraft techniques wherever they preached.

[10] Promil Pande, "An Exploration of Kashmiri Naqash Communities, their Craft Practices and Cultural Heritage," *The Asian Conference on Cultural Studies 2019: Official Conference Proceedings* (2019): 2–3.

[11] Pande, "Kashmiri Naqash Communities," 4–5. The *taleem* has been described by Paul Harris as "a sophisticated technology of great historical importance" and "a remarkable Kashmiri innovation"Paul Harris, "Decoding the Talim," *Hali* 110 (2000): 82–83.

[12] Pande, "Kashmiri Naqash Communities," 8. The workflow from *naqash* to *tarah guru* to *taleem guru* to *nakaal* to *ustad* to *kalbaaf* was first systematically described by William Moorcroft in 1841 and remained substantially unchanged until the recent introduction of CAD software.

[13] William Moorcroft and George Trebeck, *Travels in the Himalayan Provinces of Hindustan and the Punjab, Ladakh and Kashmir*, 2 vols. (London: John Murray, 1841), vol. 2, as cited in Pande, "Kashmiri Naqash Communities," 8.

[14] Simon Digby, "Export Industries and Handicraft Production under the Sultans of Kashmir," *The Indian Economic and Social History Review* 44, no. 4 (2007): 407–23. Digby's analysis of the transition from court-based to merchant-based organisation of craft production is fundamental to understanding this structural shift.

[15] George Watt, *Indian Art at Delhi, 1903: Being the Official Catalogue of the Delhi Exhibition, 1902–1903* (Calcutta, 1903); for the decline of the shawl industry and its human

consequences, see also D. N. Saraf, *Arts and Crafts, Jammu and Kashmir: Land, People and Culture* (New Delhi: Abhinav Publications, 1987).

[16] Janet Rizvi, *Ladakh: Crossroads of High Asia* (New Delhi: Oxford University Press, 1983). Rizvi's work provides essential context on the role of the Ladakh junction in connecting Kashmir to Central Asian trade networks, and the consequences of its marginalisation under British rule.

[17] Watt, *Indian Art at Delhi*; Azad Rashid Shiekh, "Handicrafts: The Cultural Identification of Kashmir," *Kanpur Philosophers: International Journal of Humanities, Law and Social Sciences* 9, no. 2 (2022): 65. Shiekh notes that the arrival of machine-based artefacts sold under the guise of Kashmiri handicrafts constitutes "the first blow in the shape of a cultural calamity."

[18] Pande, "Kashmiri Naqash Communities," 9–10. The transmission of *wagoo* weaving from mother to daughter through oral instruction and demonstration represents a particularly instructive case of embodied knowledge that resists codification.

[19] Shiekh, "Cultural Identification of Kashmir," 64. The Handicrafts Department was reconstituted as a full-fledged department in 1972–73, having previously been a sub-division of the Industries and Commerce departments.

[20] Shiekh, "Cultural Identification of Kashmir," 64. The six GI-tagged crafts are: Kashmir Pashmina, Kani Shawl, Kashmir Paper Mache, Kashmir Walnut Wood Carving, Khatamband, and the Kashmiri Hand Knotted Carpet.

[21] Pande, "Kashmiri Naqash Communities," 2. The pyramidal structure — buyer at apex, trader in the middle, craftsperson at the base — is explicitly described as the organising framework of the Kashmiri craft industry.

[22] Pande, "Kashmiri Naqash Communities," 8–9. The displacement of the *tarah guru* (colour caller) and *nakaal* (copiest) by CAD software and digital printing illustrates how technological intervention, while increasing efficiency, can erode specialised knowledge communities whose expertise was never fully codified.

[23] Shiekh, "Cultural Identification of Kashmir," 65–66. Shiekh advocates for the introduction of handicraft as a vocational subject in government schools and the establishment of ITI-based handicraft institutes offering certified training — proposals that represent, at a pedagogical level, an attempt to reconstitute the artisanal community structures that the colonial period dismantled.

Bibliography

Primary Sources

Anonymous. *Baharistan-i-Shahi: A Chronicle of Mediaeval Kashmir*. Translated by K. N. Pandit. Srinagar: Gulshan Books, 2013.

Dughlat, Mirza Haider. *Tarikh-i-Rashidi*. Translated by Denison Ross. Patna: Academica Asiatica, 1973.

Fazl, Abu'l. *Ain-i-Akbari*. 3 vols. Vol. II. Translated by Colonel H. S. Jarret, annotated by Jadunath Sarkar. Calcutta: Asiatic Society of Bengal, 1949.

Khuihami, Pir Hassan Shah. *Tarikh-i-Hassan*. Urdu translation by Sharif Hussain Qasmi. 2 vols. Srinagar: Ali Mohammad and Sons, 2012.

Moorcroft, William, and George Trebeck. *Travels in the Himalayan Provinces of Hindustan and the Punjab, Ladakh and Kashmir; in Peshawar, Kabul, Kunduz and Bokhara: from 1819 to 1825*. 2 vols. London: John Murray, 1841.

Srivara. *Zaina Rajatarangini*. In *Medieval Kashmir*. Translated by J. C. Dutt. New Delhi: Atlantic Publishers, 1993.

Watt, George. *Indian Art at Delhi, 1903: Being the Official Catalogue of the Delhi Exhibition, 1902–1903*. Calcutta, 1903.

Secondary Sources

Digby, Simon. "Export Industries and Handicraft Production under the Sultans of Kashmir." *The Indian Economic and Social History Review* 44, no. 4 (2007): 407–23.

Harris, Paul. "Decoding the Talim." *Hali* 110 (2000): 82–83.

Harris, Paul. "Decoding the Talim." *Marg* 62, no. 1 (2010).

Pande, Promil. "An Exploration of Kashmiri Naqash Communities, their Craft Practices and Cultural Heritage." *The Asian Conference on Cultural Studies 2019: Official Conference Proceedings* (2019): 1–15.

Rather, Sajad Subhan. "Sufism, Handicrafts, and Trade in Kashmir during Fourteenth and Fifteenth Centuries." *International Journal of History* 6, no. 1 (2024): 19–23.

Rizvi, Janet. *Ladakh: Crossroads of High Asia*. New Delhi: Oxford University Press, 1983.

Roy, Tirthankar. *Traditional Industry in the Economy of Colonial India*. Cambridge: Cambridge University Press, 2004.

Saraf, D. N. *Arts and Crafts, Jammu and Kashmir: Land, People and Culture*. New Delhi: Abhinav Publications, 1987.

Seth, V. K. *The Story of Indian Manufacturing: Encounters with the Mughal and British Empires (1498–1947)*. Singapore: Palgrave Macmillan, 2018.

Shiekh, Azad Rashid. "Handicrafts: The Cultural Identification of Kashmir." *Kanpur Philosophers: International Journal of Humanities, Law and Social Sciences* 9, no. 2 (2022): 63–66.

Received: 24.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

किसान आंदोलन में दक्षिण बिहार की भूमिका(1923-1947): एक ऐतिहासिक विश्लेषण

https://doi.org/10.5281/zenodo.21241756

कुमुद रंजन*
ranjan16591@gmail.com

प्रो. (डॉ.) कृष्ण कन्हैया†
krishnakanahaiya.jpu@gmail.com

सारांश :

बिहार में किसान आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है, दक्षिण बिहार की भूमिका अत्यंत प्रभावशाली रही। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से बिहार में किसान आंदोलनों ने औपनिवेशिक शासन एवं जमींदारी शोषण के विरुद्ध संगठित रूप धारण करना प्रारंभ किया। विशेषतः दक्षिण बिहार के क्षेत्रों गया, शाहाबाद, पटना, मुंगेर, भागलपुर तथा संथाल परगना में किसान चेतना, कृषक संगठन और ग्रामीण राजनीतिक जागरूकता का प्रमुख केंद्र बनकर उभरा। 1923 से 1947 के मध्य किसान आंदोलनों ने किसानों की आर्थिक समस्याओं, लगान वृद्धि, बेगारी तथा जमींदारी अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष किया।[1] इन आंदोलनों ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रामीण आधार प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वामी सहजानन्द सरस्वती जैसे नेताओं के नेतृत्व में किसानों ने अपनी आवाज को सशक्त बनाया और जमींदारी उन्मूलन की मांग को प्रबल किया। दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों ने राष्ट्रीय आंदोलन को भी गति प्रदान की तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भूमि नीतियों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अतः यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण बिहार के किसान आंदोलन ने न केवल क्षेत्रीय स्तर पर बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की दिशा में गहरा प्रभाव डाला।[2] प्रस्तुत शोध पत्र में दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों के विकास, किसान सभा की भूमिका तथा राष्ट्रीय आंदोलन से उनके संबंधों का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए किसान आंदोलनों की व्यापकता और उनके परिणामों को उजागर करता है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दक्षिण बिहार बिहार के किसान आंदोलन का प्रमुख क्षेत्र था जिसने स्वतंत्रता आंदोलन को जनाधार प्रदान किया।

कुटशब्द:

किसान आंदोलन, दक्षिण बिहार, जमींदारी प्रथा, किसान सभा, भूमि सुधार, बिहार प्रांतीय किसान सभा, स्वामी सहजानंद सरस्वती, बकास्त आंदोलन, राष्ट्रीय आंदोलन।

प्रस्तावना

दक्षिण बिहार का किसान आंदोलन भारतीय इतिहास के उन महत्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों में से एक है, जिसने न केवल औपनिवेशिक शासन और जमींदारी शोषण के विरुद्ध संघर्ष को मजबूत बनाया, बल्कि ग्रामीण समाज में व्यापक परिवर्तन की आधारशिला भी रखी। विशेष रूप से गया, शाहाबाद, पटना, मुंगेर, भागलपुर तथा संथाल परगना जैसे

*** शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**

† शोध निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

क्षेत्रों में किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी।[3] कृषि पर निर्भर अधिकांश किसान अत्यधिक लगान, बेगारी, अवैध कर तथा जमींदारों के शोषण से पीड़ित थे। स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था ने जमींदारों को अत्यधिक अधिकार प्रदान कर दिए थे, जिसके कारण किसानों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति लगातार कमजोर होती चली गई।[4] 1923 से 1947 के मध्य का समय दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। इस अवधि में किसानों ने जमींदारी प्रथा, बेदखली, बकास्त भूमि विवाद, बढ़ते लगान तथा औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध संगठित संघर्ष प्रारंभ किया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न आर्थिक संकट, कृषि उत्पादों के गिरते मूल्य, महामंदी तथा ब्रिटिश शासन की कठोर नीतियों ने किसानों की समस्याओं को और गंभीर बना दिया। परिणामस्वरूप किसानों में असंतोष और विरोध की भावना तेजी से विकसित हुई। इसी समय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव भी दक्षिण बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँचने लगा।[5]

महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन ने किसानों में राजनीतिक चेतना का विस्तार किया। किसानों ने यह महसूस किया कि उनकी समस्याएँ केवल स्थानीय जमींदारों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि उनका संबंध औपनिवेशिक शासन की व्यापक आर्थिक और राजनीतिक संरचना से भी है। फलस्वरूप किसान आंदोलन धीरे-धीरे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ता चला गया।[6] दक्षिण बिहार में किसान आंदोलन को संगठित स्वरूप प्रदान करने में बिहार प्रांतीय किसान सभा तथा अखिल भारतीय किसान सभा की महत्वपूर्ण भूमिका रही। स्वामी सहजानन्द सरस्वती, कार्यानन्द शर्मा, यदुनन्द शर्मा, राहुल सांकृत्यायन जैसे नेताओं ने किसानों को संगठित कर उनकी समस्याओं को राष्ट्रीय स्तर पर उठाया तथा उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक किया। किसान आंदोलन केवल आर्थिक संघर्ष तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह सामाजिक न्याय, समानता और ग्रामीण चेतना के विकास का भी व्यापक आंदोलन बन गया।[7] समाजवादी तथा वामपंथी विचारधाराओं ने भी इस आंदोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया, जिससे किसानों में वर्गीय चेतना और संगठित प्रतिरोध की भावना विकसित हुई। दक्षिण बिहार का किसान आंदोलन ग्रामीण समाज के वंचित वर्गोंविशेषकर दलितों, पिछड़े वर्गों तथा गरीब किसानों के लिए नई राजनीतिक और सामाजिक चेतना का माध्यम बना। इन आंदोलनों ने किसानों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया तथा स्वतंत्रता संघर्ष को व्यापक जनसमर्थन प्रदान किया। यही कारण है कि दक्षिण बिहार का किसान आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और आधुनिक बिहार के सामाजिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय माना जाता है।[8]

दक्षिण बिहार की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि थी और यहाँ की अधिकांश आबादी खेती पर निर्भर करती थी। ब्रिटिश शासन द्वारा लागू स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था के बाद जमींदारों का ग्रामीण समाज पर प्रभुत्व अत्यधिक बढ़ गया। भूमि पर वास्तविक परिश्रम किसानों का होता था, किंतु अधिकार जमींदारों के हाथों में केंद्रित थे। किसान ऊँचे लगान, बेगारी तथा विभिन्न प्रकार के अवैध करों के बोझ तले दबे हुए थे। समय पर लगान न चुका पाने की स्थिति में किसानों को अपनी जमीन से बेदखल कर दिया जाता था, जिससे उनके जीवन में असुरक्षा और आर्थिक संकट लगातार बढ़ता गया।[9]

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों तथा 1929 की महामंदी ने किसानों की स्थिति को और अधिक दयनीय बना दिया। कृषि उत्पादों के दाम लगातार गिर रहे थे, जबकि लगान में किसी प्रकार की कमी नहीं की गई। परिणामस्वरूप किसान कर्ज के बोझ तले दबते चले गए और अनेक परिवार भूमिहीनता की ओर बढ़ने लगे। गया, शाहाबाद और पटना जैसे क्षेत्रों में जमींदारों द्वारा किसानों की जोत वाली भूमि को बकास्त घोषित कर अपने कब्जे में लेने की घटनाएँ बढ़ने लगीं। इससे किसानों के बीच असंतोष और असुरक्षा की भावना गहरी होती गई तथा धीरे-धीरे संगठित प्रतिरोध की चेतना विकसित होने लगी।[10]

अध्ययन के उद्देश्य

1. 1923 से 1947 के मध्य दक्षिण बिहार में हुए किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उनके विकास क्रम का अध्ययन करना।
2. दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों का विश्लेषण करना।

3. किसान आंदोलनों में किसानों, दलितों, पिछड़े वर्गों तथा ग्रामीण समुदायों की भागीदारी एवं उनकी भूमिका का अध्ययन करना।
4. दक्षिण बिहार के प्रमुख किसान नेताओं, किसान सभाओं तथा संगठनों के योगदान का मूल्यांकन करना।
5. किसान आंदोलनों और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य संबंध तथा उनके पारस्परिक प्रभावों का अध्ययन करना।
6. दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों के परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज, कृषक चेतना एवं सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन पर पड़े प्रभावों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना।

अनुसंधान पद्धति

यह अध्ययन ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक (Historical and Analytical) शोध पद्धति पर आधारित है। इसमें प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों में समकालीन अभिलेख, सरकारी रिपोर्ट, किसान सभाओं के दस्तावेज एवं पत्र-पत्रिकाएँ शामिल हैं, जबकि द्वितीयक स्रोतों में पुस्तकों, शोध लेखों एवं विद्वानों के विश्लेषण का सहारा लिया गया है। अध्ययन का क्षेत्र दक्षिण बिहार (पटना, गया, मुंगेर, शाहाबाद, आदि) तक सीमित रखा गया है। डेटा का विश्लेषण गुणात्मक (Qualitative) एवं आंशिक रूप से मात्रात्मक (Quantitative) विधियों के माध्यम से किया गया है, जिससे किसान आंदोलनों के स्वरूप, कारण एवं प्रभावों को व्यवस्थित रूप से समझा जा सके।

अध्ययन की सीमाएँ

यह अध्ययन मुख्य रूप से पुराने रिकॉर्ड्स और किताबों पर टिका है, जिससे कुछ जानकारियों के पूरी तरह सटीक होने में थोड़ी कमी रह सकती है। 1923 से 1947 के इस दौर के कई असली दस्तावेज़ या तो गुम हो चुके हैं या आंशिक रूप से बचे हैं, जिससे घटनाओं को कड़ियों में जोड़ना कठिन हो जाता है। इसके अलावा, दक्षिण बिहार के सभी जिलों का एक बराबर और बारीक अध्ययन मुमकिन नहीं हो सका, जिससे हर इलाके के खास बदलावों को पूरी तरह नहीं समेटा जा सका है। शोध के आंकड़े भी काफी हद तक अनुमानों पर आधारित हैं, जो उस समय के हालात की बस एक आंशिक झलक देते हैं। साथ ही, किसानों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर पड़े गहरे असर का हर क्षेत्र के हिसाब से मूल्यांकन नहीं हो पाया है। फिर भी, यह शोध दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों की एक साफ़ और समग्र समझ रखने की पूरी कोशिश करता है।

अध्ययन का महत्व

यह अध्ययन दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक अहमियत को समझने में बेहद मददगार है। 1923 से 1947 के बीच के ये संघर्ष न सिर्फ किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए जरूरी थे, बल्कि इन्होंने आज़ादी की लड़ाई को एक बड़ा जनआधार भी दिया। इस शोध के ज़रिए जमींदारी शोषण और ग्रामीण असमानता का जो विश्लेषण किया गया है, वह आज के देहाती समाज को समझने में भी सहायक है। साथ ही, यह काम दिखाता है कि कैसे आंदोलनों ने आम ग्रामीणों में सामाजिक चेतना, हक की लड़ाई और राजनैतिक भागीदारी को जगाया। कुल मिलाकर, यह अध्ययन नए शोधकर्ताओं और छात्रों के लिए उपयोगी है, क्योंकि यह भूमि सुधार, ग्रामीण विकास और सामाजिक न्याय जैसे ज़रूरी मुद्दों पर एक ऐतिहासिक नज़रिया देता है, जिससे आज की समस्याओं को सुलझाने में मदद मिल सकती है।

साहित्य समीक्षा

'वाल्टर हाउज़र (2005)' ने 'द बिहार प्रोविन्शियल किसान सभा' में बिहार के किसान आंदोलन, विशेष रूप से किसान सभा के विकास और उसके प्रभाव का विश्लेषण किया। उन्होंने दक्षिण बिहार में किसान आंदोलनों की संरचना, नेतृत्व और सामाजिक प्रभावों का अध्ययन किया। उनके अनुसार यह आंदोलन दक्षिण बिहार के ग्रामीण समाज में गहरे परिवर्तन लाने में सफल रहा।

बी. पी. मंडल, के. नारायण एवं चित्रा कुमारी (2009)' के द्वारा लिखी पुस्तक भारतीय किसान आंदोलन के नायक स्वामी सहजानंद सरस्वती, स्वामी जी की भूमिका का विश्लेषण किया है। उन्होंने दक्षिण बिहार में किसान आंदोलनों के विकास, उनके कारणों और परिणामों का विश्लेषण किया। उनके अध्ययन में यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण बिहार के किसान आंदोलन ने राजनीतिक चेतना को बढ़ावा दिया और स्वतंत्रता आंदोलन को सशक्त किया।

स्वामी सहजानंद सरस्वती (1940) स्वामी सहजानंद सरस्वती ने अपनी रचनाओं में बिहार के किसान आंदोलन की वास्तविक स्थिति का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने जमींदारी प्रथा के तहत दक्षिण बिहार के किसानों के शोषण, अत्यधिक लगान और सामाजिक अन्याय को उजागर किया। उनके लेखन से यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण बिहार का किसान आंदोलन केवल आर्थिक संघर्ष नहीं था, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक चेतना का भी प्रतीक था।

रजनी पाम दत्त (1947)' ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में किसान आंदोलनों की भूमिका का विश्लेषण किया। उन्होंने दक्षिण बिहार सहित विभिन्न क्षेत्रों में किसानों के संघर्ष को औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध व्यापक आंदोलन का हिस्सा बताया। उनके अनुसार दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों ने स्वतंत्रता संग्राम को जनाधार प्रदान किया।

बिपन चंद्र (1984) ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अध्ययन में किसान आंदोलनों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने दक्षिण बिहार में किसान आंदोलनों के विकास, उनके कारणों और परिणामों का विश्लेषण किया। उनके अध्ययन में यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण बिहार के किसान आंदोलन ने राजनीतिक चेतना को बढ़ावा दिया और स्वतंत्रता आंदोलन को सशक्त किया।

अनुसंधान अंतराल

बिहार के किसान आंदोलनों को लेकर इतिहासकारों ने ढेरों किताबें लिखी हैं, लेकिन जब हम दक्षिण बिहार की धरती को देखते हैं, तो साफ़ झलकता है कि 1923 से 1947 के बीच यहाँ के किसानों ने जो कुछ झेला और जिस तरह लड़ाई लड़ी, उसकी पूरी और सच्ची तस्वीर आज भी कहीं खोई हुई है। ज़्यादातर शोध बड़े-बड़े नेताओं या पूरे राज्य के स्तर पर ही सिमट कर रह गए, जिससे हमारे यहाँ के गाँवों का असली और ज़मीनी दर्द पन्नों पर नहीं आ पाया। दक्षिण बिहार के गाँवों का अपना एक अलग माहौल था, वहाँ की जातिगत व्यवस्था अलग थी, और सबसे बड़ी बात यह कि वहाँ उत्तर बिहार की तरह बाढ़ का रोना नहीं था, बल्कि सूखा और पानी की कमी (जैसे अहर-पैन और नहर के पानी का टैक्स) किसानों की सबसे बड़ी आफ़त थी। इन स्थानीय दुखों और गाँव-गाँव से उठने वाले छोटे-छोटे नेताओं के योगदान को इतिहास की किताबों में वह जगह नहीं मिल सकी, जिसके वे हकदार थे। साथ ही, इस पूरे संघर्ष ने आगे चलकर हमारे यहाँ के भूमि सुधारों और आम किसान की रोज़मर्रा की ज़िंदगी को किस तरह बदला, इसका कोई गहरा और आत्मीय विश्लेषण देखने को नहीं मिलता। इसीलिए, यह अध्ययन इतिहास के इसी खालीपन को भरने और दक्षिण बिहार के किसानों के उस अनसुने संघर्ष को सामने लाने की एक छोटी सी कोशिश है।

कृषक-विरोधी भू-राजस्व व्यवस्था

1923 से 1947 के मध्य दक्षिण बिहार की कृषि व्यवस्था औपनिवेशिक नीतियों तथा जमींदारी आधारित कृषक-विरोधी भू-राजस्व संरचना से संचालित थी। स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था ने जमींदारों को भूमि पर व्यापक अधिकार प्रदान कर दिए, जबकि वास्तविक उत्पादक किसान अपने पारंपरिक अधिकारों से धीरे-धीरे वंचित होते चले गए। किसानों से नकद एवं उपज दोनों रूपों में अत्यधिक लगान वसूला जाता था तथा समय पर भुगतान न होने की स्थिति में उन्हें बेदखली, दंड और सामाजिक अपमान का सामना करना पड़ता था। जमींदारों द्वारा वैध लगान के अतिरिक्त अबवाब जैसे अवैध कर भी वसूले जाते थे, जिससे किसानों की आर्थिक स्थिति निरंतर कमजोर होती गई। इसके साथ ही बेगारी प्रथा के अंतर्गत किसानों और खेत मजदूरों से बिना पारिश्रमिक के जबरन श्रम कराया जाता था।[11] दक्षिण बिहार में बकास्त व्यवस्था किसानों के लिए विशेष रूप से विनाशकारी सिद्ध हुई, क्योंकि जमींदार किसानों की जोत वाली भूमि को बकास्त घोषित कर अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण में लेने लगे थे। बटाईदारी व्यवस्था में किसानों को अपनी उपज का बड़ा हिस्सा जमींदारों को देना पड़ता था, जबकि साहूकारी

और ऋण प्रणाली ने किसानों को कर्ज और निर्धनता के दुष्चक्र में फँसा दिया। इन समस्त व्यवस्थाओं का सबसे अधिक दुष्प्रभाव दलित, पिछड़े तथा भूमिहीन किसानों पर पड़ा, जिससे ग्रामीण समाज में असंतोष, प्रतिरोध और संगठित संघर्ष की भावना विकसित हुई, जिसने आगे चलकर दक्षिण बिहार के किसान आंदोलनों को मजबूत आधार प्रदान किया।[12]

किसान सभा गठन और भूमिका

असहयोग आंदोलन कृषक वर्ग को क्रियाशील बना दिया था तथा बहुत सारे लोग सक्रिय राजनीति में प्रशिक्षित किए जा चुके थे। 20 के दशक ने कुछ लोगों ने किसानों के संगठित करने का प्रयास किया। कुछ व्यक्ति उनकी समस्या में दिलचस्पी लेने लगे। बिहार के मुंगेर में 1922-23 में एक किसान सभा का गठन किया गया था जिसके अध्यक्ष बने थें, शाह मुहम्मद जुबैर एवं महासचिव, श्री कृष्ण सिन्हा और सचिव-सिद्धश्वरी चौधरी एवं कुमार सिंह।[13] "पटना पश्चिम किसान सभा का गठन बिहार प्रांतीय किसान सभा के गठन का पूर्वाभास था जिसका गठन 4 मार्च, 1928 को हुआ किन्तु किसानों का वास्तविक आंदोलन एवं उसकी तैयारी का प्रारंभ 1927 के अंतिम दिनों से मुख्यतः स्वामी सहजानन्द सरस्वती के प्रयासों से हुआ। इस किसान सभा का लक्ष्य था-किसान आंदोलन को इस ढंग से निर्देशित करना कि किसानों एवं दमीदारों के बीच संघर्ष को टाला जा सके तथा विधायी परिषद के चुनाव में काँग्रेस को सहायता करना।"[14]

बिहार प्रांतीय किसान सभा का गठन सारण जिले सोनपुर में नवम्बर 1929 को सोनपुर मेले के समय हुआ। श्री रामदयाल सिंह, श्री कृष्ण सिन्हा, बलदेव सहाय, जमुना कारजी, स्वामी सहजानंद सरस्वती आदि ने बिहार प्रांतीय किसान सभा को संगठित करने के लिए विचार-विमर्श शुरू किये।[15]

दक्षिण बिहार और किसान सभा

किसान आंदोलन को एक नई दिशा तब मिली जब स्वामी सहजानंद सरस्वती ने औपचारिक रूप से 4 मार्च, 1928 को बिहटा आश्रम में इसका पुनः उद्घाटन किया। जिस तरह चार्ल्स स्टीवार्ट पारनेल में लौग लीग संगठन के अध्यक्ष बने उसी तरह स्वामी सहजानंद सरस्वती किसान सभा के अध्यक्ष चुने गए एवं बिहार एवं भारत के किसान आंदोलन के मुख्य प्रेरणा श्रोत रहे।[16]

30-31 मई, 1931 के जहानाबाद राजनीतिक सम्मेलन के बाद आयोजित किसान सभा में जमींदारी अत्याचार रोकने, शिकायतों की जाँच के लिए समिति बनाने और 'दाना बंदी' व्यवस्था से कर तय करने जैसे प्रस्ताव पारित हुए। इसके बाद गया, पटना और शाहाबाद में किसान सभा और सक्रिय हो गई, जहाँ केनाल रेंट में कमी, उचित रसीद देने और जुलाई 1931 तक रेंट स्थगित या समाप्त करने की माँगें उठीं। इसी दौरान शाहाबाद में किसानों को संगठित कर रहे स्वामी भवानी दयाल पर सरकार की कड़ी नज़र थी और जिला अधिकारी उन्हें सीमा से बाहर जाने पर गिरफ्तार कर मुकदमा चलाने की तैयारी में था। सितम्बर से नवम्बर 1931 के बीच दानापुर में किसान आंदोलन तेज़ होने पर चिंतित जमींदारों ने अनुमंडलाधिकारी के सामने वादा किया कि वे अच्छा व्यवहार करेंगे, रेंट की रसीद देंगे, अमलों पर नियंत्रण रखेंगे और दशहरा में जबरन दूध-घी वसूलना बंद करेंगे। इसी बीच श्री कृष्ण सिन्हा और श्री अनुग्रह नारायण सिन्हा ने पालीगंज जाकर काश्तकारों की शिकायतों को सूचीबद्ध किया।[17]

टेकारी इस्टेट के काश्तकारों ने कीमतों में भारी गिरावट के कारण रेंट कम करने का संयुक्त अनुरोध किया। इस पर गया के जिलाधिकारी ने आशंका जताई कि यदि यू.पी. का 'नो रेंट' अभियान सफल हुआ, तो उपजाऊ भूमि होने के कारण यह आंदोलन उनके जिले में भी फैल जाएगा। इसलिए यू.पी. से सटे शाहाबाद, सारण, चम्पारण और पहले से सक्रिय पटना व गया जिलों में विशेष सतर्कता बरतने की जरूरत है।[18]

इस दौरान शाहाबाद के किसानों में 'जल कर' (नहर शुल्क) के खिलाफ भारी असंतोष था। इससे निपटने के लिए शाहाबाद के जिलाधिकारी ने 5 दिसम्बर, 1931 को जमींदारों के साथ बैठक कर आंदोलन को दबाने के उपायों पर चर्चा की। उन्होंने यह शक भी जताया कि काँग्रेस अपने हितों के लिए इस किसान आंदोलन को बढ़ावा दे रही है।[19]

पटना, गया और मुंगेर में किसान सभा का नेतृत्व मजबूत था, जहाँ स्वामी सहजानंद, यदुनंदन शर्मा और गंगा शरण सिंह सक्रिय थे। इन क्षेत्रों में मालगुजारी, केनाल रेंट और चीनी मिलों द्वारा ईख की कम कीमत देने जैसी समस्याएँ उठाई जा रही थीं। जून-जुलाई 1935 में किसान सभा ने दानापुर के रैयतों के लिए पर्चा जारी कर ईख के लिए 7-9 आना से कम कीमत न लेने और एडवांस न लेने की सलाह दी। इसके बाद गया के मखदुमपुर थाने में जून से लागू 'बिहार काश्तकारी अधिनियम' का विरोध हुआ। 5-6 जून, 1935 को डेहरी के दरिहट में यदुनंदन शर्मा की अध्यक्षता में किसान सम्मेलन हुआ और इसके तुरंत बाद स्वामी सहजानंद ने शाहाबाद के दियारा क्षेत्र में एक सभा को संबोधित कर 'बिहार टिनेंसी ऐक्ट' के प्रावधानों की कड़ी आलोचना की।[20]

नवम्बर 1935 के शुरुआती दिनों में पटना के विक्रम व नौबतपुर, गया के कुर्था और नालंदा में 'पाना किसान सम्मेलन' आयोजित कर प्रस्ताव पारित किए गए, जबकि सर्दी की फसलें खराब होने की आशंका से सरकार बिहार की कृषि दशा को लेकर चिंतित थी। इसके बाद 6 दिसम्बर, 1935 को हिलसा-थाना किसान सम्मेलन हुआ, जिसे श्री अनुग्रह नारायण सिन्हा ने संबोधित किया और इसमें श्री अयोध्या प्रसाद, श्री शीलभद्र याजी एवं अवधेश कुमार शामिल हुए। सक्रियता के लिहाज से 1936 का वर्ष गया, पटना और शाहाबाद जिलों के लिए महत्वपूर्ण रहा, जहाँ 27 जनवरी, 1936 को शाहाबाद के जितवारा में आयोजित एक बड़ी किसान सभा में स्वामी सहजानंद और जयप्रकाश नारायण मुख्य वक्ता थे।[21]

17 अक्टूबर, 1937 को बिहार में फिर किसान दिवस मनाया गया। कई स्थानों पर सभाएँ की गई। 23 एवं 24 मार्च को पटना जिला किसान सम्मेलन विक्रम में श्री कात्यानंद शर्मा की अध्यक्षता में आयोजित हुआ एवं उपलिखित माँगों के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित किये गये। 26 नवम्बर, 1939 को भी पटना में प्रदर्शन किया गया। संक्षेप में किसानों का असंतोष तेजी से बढ़ रहा था।[22]

1936 से 1939 का काल 'बकास भूमि' के प्रश्न पर सक्रिय संघर्ष का काल था। यह संघर्ष सबसे पहले मुंगेर में 1916 में प्रारंभ हुआ तथा बाद में गया, शाहाबाद एवं पटना में शुरू हुआ। यह किसानों का संघर्ष अपने उस जमीन के लिए था जिस पर वे वर्षों से खेती कर रहे थे किन्तु जिसे अब जमींदार लोग छीनना चाहते थे। मुंगेर में यह संघर्ष 1939 तक जारी रहा जब तक कि स्वामी सहजानंद ने इसे स्थगित नहीं किया। यह स्थगन मुंगेर में इस संघर्ष को इस फेज का अंत था।

'डिफेंस ऑफ इंडिया रूल' के तहत ब्रिटिश सरकार ने स्वामी सहजानंद, यदुनंदन शर्मा, राहुल सांकृत्यायन और कार्यानन्द शर्मा सहित कई बड़े किसान नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इसके बावजूद, बिहार प्रांतीय किसान सभा मुंगेर, सारण और मुजफ्फरपुर में सक्रिय रही और नागपुर प्रस्ताव को अपनाते हुए द्वितीय विश्व युद्ध को 'लोकयुद्ध' की संज्ञा दी। अगस्त 1941 में पटना के कदमकुआँ कार्यालय की जब्ती और कई वामपंथी व किसान नेताओं की धरपकड़ हुई। वर्ष 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान झाझा रेलवे स्टेशन को फूंकने और संचार व्यवस्था ठप करने जैसी हिंसक झड़पों में किसानों ने बढ़-चढ़कर ब्रिटिश सैनिकों का मुकाबला किया।[23]

अक्टूबर 1942 से सरकार ने पुनः दमन चक्र चलाया और युद्ध-विरोधी पर्चे जब्त किए। इस बीच, बिहार के किसान 'बकास्त भूमि' के लिए फिर सक्रिय हुए। वर्ष 1944 के विजयवाड़ा सम्मेलन के समय किसान सभा में कम्युनिस्टों (साम्यवादियों) और स्वामी सहजानंद के बीच 'पाकिस्तान की माँग' और 'हिन्दुस्तान के सवाल' पर गहरे वैचारिक मतभेद उभर आए। स्वामीजी ने साम्यवादियों के बढ़ते सांगठनिक प्रभाव और तानाशाही रवैये से क्षुब्ध होकर अखिल भारतीय किसान सभा के महासचिव पद से त्यागपत्र दे दिया और अंततः बिहार प्रांतीय किसान सभा को कम्युनिस्टों से अलग कर लिया।[24]

स्वामी सहजानंद ने राष्ट्रीय काँग्रेस को स्वतंत्रता संघर्ष का प्रतीक तो माना, लेकिन जमींदारों के प्रति नरम रवैये के कारण काँग्रेसी नेताओं पर किसानों पर दबाव बनाने का आरोप लगाया, जिससे किसान सभा काँग्रेस से अलग-थलग पड़ गई। कैबिनेट मिशन के बाद, 14 अगस्त 1947 को स्वामीजी ने वामपंथी एकता पर जोर दिया। अंततः 1948 में सी.पी.आई. और सोशलिस्ट पार्टी सहित 180 संगठनों को मिलाकर एक 'संयुक्त वाम-फ्रंट' बनाया गया, जिसके नेतृत्व में 1946 के बाद 'बकास्त भूमि आंदोलन' को सफलतापूर्वक चलाया गया।[25]

बकास्त आंदोलन और दक्षिण बिहार

1930 के दशक की आर्थिक मंदी के कारण लगान न चुका पाने पर जमींदारों द्वारा छीनी गई किसानों की पुश्तैनी जमीन को वापस पाने के लिए चलाया गया "बकास्त आंदोलन" दक्षिण बिहार में संघर्ष का मुख्य प्रतीक था। मुंगेर से शुरू हुआ यह आंदोलन जल्द ही दक्षिण बिहार के अन्य प्रमुख जिलों गया, शाहाबाद और पटना में फैल गया, जो इसके सबसे सक्रिय और मजबूत गढ़ बने। स्वामी सहजानंद सरस्वती के कुशल नेतृत्व और बाद में कार्यानन्द शर्मा जैसे साम्यवादी नेताओं के प्रभाव में आकर यहाँ के काश्तकारों ने जमींदारों के दमन के खिलाफ अपनी जमीन पर अधिकार के लिए एक लंबा और जुझारू संघर्ष लड़ा। यह आंदोलन 1936 से लेकर भारत की स्वतंत्रता के बाद (1948) तक राष्ट्रीय आंदोलन के समानांतर चलता रहा, जिसने दक्षिण बिहार के ग्रामीण अंचलों में सामाजिक-आर्थिक चेतना फूंकने और जमींदारी राज की जड़ों को हिलाने में युगांतरकारी भूमिका निभाई।[26]

स्वामी सहजानंद सरस्वती का भूमिका

स्वामी सहजानंद सरस्वती बिहार के किसान आंदोलन के सबसे प्रमुख नेता थे, जिन्होंने किसानों को संगठित कर उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने में केंद्रीय भूमिका निभाई। उनके कुशल नेतृत्व में किसान आंदोलन को मजबूत वैचारिक और सांगठनिक आधार मिला। उन्होंने जमींदारी प्रथा, भारी मालगुजारी और नहर-जल-कर जैसे शोषण के खिलाफ मुखर आवाज उठाई और दक्षिण बिहार (गया, पटना, शाहाबाद, मुंगेर) में किसानों की छीनी गई 'बकास्त भूमि' को वापस दिलाने के लिए ऐतिहासिक आंदोलनों का नेतृत्व किया। स्वामीजी के इन प्रयासों से शोषित काश्तकारों में अभूतपूर्व सामाजिक-राजनीतिक चेतना, आत्मविश्वास और अधिकार बोध का विकास हुआ, जिससे यह क्षेत्रीय संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय बन गया।[27]

बिहार किसान आंदोलन और राष्ट्रीय संघर्ष का अंतर्संबंध

बिहार में किसान आंदोलन और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे। यहाँ के किसानों ने न केवल जमींदारों के आर्थिक शोषण के खिलाफ संघर्ष किया, बल्कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध भी पुरजोर आवाज उठाई। गया, पटना, मुंगेर, भागलपुर, छोटानागपुर, पलामू और शाहाबाद जैसे जिलों में चले जुझारू किसान आंदोलनों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को एक मजबूत और व्यापक जनाधार प्रदान किया, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों के आम लोगों में राष्ट्रीय चेतना का तेज़ी से विस्तार हुआ। इस प्रकार, दक्षिण बिहार का किसान आंदोलन केवल एक सामाजिक-आर्थिक वर्ग संघर्ष नहीं था, बल्कि यह देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के व्यापक लक्ष्य का एक अभिन्न और महत्वपूर्ण हिस्सा था, जिसने भारत के राजनीतिक परिवर्तन और आजादी की लड़ाई में युगांतरकारी योगदान दिया।[28]

निष्कर्ष

1923 से 1947 के मध्य दक्षिण बिहार का किसान आंदोलन ग्रामीण समाज में व्याप्त शोषण, असमानता और अन्याय के विरुद्ध किसानों की सामूहिक चेतना और संघर्ष का सशक्त प्रतीक था। जमींदारी व्यवस्था, अत्यधिक लगान, बेगारी तथा बकास्त भूमि जैसे प्रश्नों ने किसानों को अपने अधिकारों के लिए संगठित होने की प्रेरणा दी। स्वामी सहजानंद सरस्वती और किसान सभा के नेतृत्व में यह आंदोलन एक स्थानीय असंतोष से आगे बढ़कर व्यापक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का माध्यम बना। इस संघर्ष ने किसानों में आत्मसम्मान, अधिकार-बोध और संगठन की भावना विकसित की तथा उन्हें राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से भी जोड़ा। इसलिए दक्षिण बिहार का किसान आंदोलन केवल भूमि और लगान का संघर्ष नहीं था, बल्कि यह सामाजिक न्याय, किसान अधिकारों और राष्ट्रीय मुक्ति की आकांक्षा का एक महत्वपूर्ण अध्याय था, जिसने बिहार के ग्रामीण समाज में दूरगामी परिवर्तन की आधारशिला रखी।

संदर्भ

1. गुप्ता, डॉ. माधुरी कुमारी, *भारत में राजनैतिक संगठनों का विकास (1919–1974)*, पटना: जानकी प्रकाशन, 2009, पृ. 76-77.
2. शर्मा, कौशल किशोर, *बिहार में किसान संघर्ष (1831–1992)*, पटना: जानकी प्रकाशन, 1994, पृ. 111.
3. *सोनपुर मेला*, *किसान सभा सम्मेलन*, बिहार/उड़ीसा सरकार, राजनीतिक विभाग (विशेष प्रकोष्ठ), संचिका सं. 281/1929.
4. वही, पृ. 66-67.
5. वही.
6. गाँधी, मोहनदास करमचंद, *एन ऑटोबायोग्राफी*, अहमदाबाद, 1949, पृ. 245-259.
7. वही, पृ. 82.
8. मिश्रा, गिरीश / पांडे, बी. के., *Statement on Formation of United Peasant Front*, कलकत्ता, 1948, अन्यत्र उद्धृत, पृ. 172.
9. वही, पृ. 69.
10. वही, पृ. 66-67.
11. वही, पृ. 71.
12. वही, पृ. 68.
13. *किसान सभा*, बिहार/उड़ीसा सरकार, गृह (राजनीतिक) विभाग, संचिका सं. 6/(9)/1936.
14. सरस्वती, स्वामी सहजानंद, *मेरा जीवन संघर्ष*, पटना, 1952, पृ. 136.
15. वही, पृ. 77.
16. वही.
17. वही, पृ. 78.
18. वही, पृ. 79.
19. वही.
20. वही, पृ. 84.
21. वही.
22. वही, पृ. 86.
23. वही.
24. द *सर्चलाइट*, 27 सितम्बर 1942, बिहार राज्य अभिलेखागार.
25. वही.
26. वही, पृ. 86.
27. मण्डल, वी. पी. / नारायण, कौशलेन्द्र / कुमारी, चित्रा, *भारतीय किसान आंदोलन के नायक स्वामी सहजानंद सरस्वती*, पटना: जानकी प्रकाशन, 2009, पृ. 42-50.
28. चंद्र, बिपिन, *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, 1990, पृ. 174-188.

Received: 25.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

आपातकाल में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं : एक विमर्श

नीतीश कुमार* **प्रो. (डॉ.) कृष्ण कन्हैया†**
nitishroy951@gmail.com **krishnakanahaiya.jpu@gmail.com**

सारांश

25 जून 1975 को घोषित आपातकाल भारतीय लोकतंत्र, नागरिक अधिकारों तथा प्रेस की स्वतंत्रता के इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना थी। इस अवधि में केंद्र सरकार द्वारा प्रेस पर कड़ी सेंसरशिप लागू की गई, जिसके कारण समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता गंभीर रूप से प्रभावित हुई।[1] ऐसी परिस्थितियों में हिन्दी पत्रकारिता भी सरकारी नियंत्रण और प्रतिबंधों से अछूती नहीं रही, फिर भी अनेक हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं ने लोकतांत्रिक मूल्यों, नागरिक अधिकारों और जनचेतना को बनाए रखने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। आपातकाल के दौरान पत्रकारों को सरकारी दबाव, पूर्व-सेंसरशिप, गिरफ्तारी के भय तथा विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक प्रतिबंधों का सामना करना पड़ा। इसके बावजूद कुछ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने प्रत्यक्ष अथवा सांकेतिक रूप से जनहित के प्रश्नों को उठाया तथा लोकतांत्रिक चेतना को जीवित रखने में अपनी भूमिका निभाई।[2] साहित्य, व्यंग्य, वैचारिक लेखों और सांस्कृतिक विमर्शों के माध्यम से भी अभिव्यक्ति के वैकल्पिक रास्ते खोजे गए। प्रस्तुत शोध-पत्र में आपातकाल के दौरान हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका, उनके समक्ष उपस्थित चुनौतियों तथा लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा में उनके योगदान का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों और कठोर सरकारी नियंत्रण के बावजूद हिन्दी पत्रकारिता ने लोकतांत्रिक परंपराओं, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा जनचेतना के संरक्षण में उल्लेखनीय योगदान दिया। इस दृष्टि से आपातकाल का कालखंड हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में संघर्ष, प्रतिरोध और लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता के एक महत्वपूर्ण अध्याय के रूप में स्थापित होता है।

कुटशब्द:

आपातकाल, हिन्दी पत्रकारिता, प्रेस सेंसरशिप, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक मूल्य, जनचेतना, नागरिक अधिकार, भारतीय लोकतंत्र।

प्रस्तावना

भारतीय लोकतंत्र में प्रेस को शासन और जनता के बीच एक महत्वपूर्ण सेतु माना जाता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिकों को सही, निष्पक्ष और समयानुकूल जानकारी उपलब्ध हो। समाचार-पत्र और पत्रिकाएँ केवल सूचना के प्रसार का माध्यम नहीं हैं, बल्कि वे जनमत के निर्माण, सत्ता की जवाबदेही सुनिश्चित करने तथा लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।[2] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को अपनाया, जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को संविधान द्वारा मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दी गई। किंतु 25 जून 1975 को घोषित आपातकाल ने भारतीय लोकतंत्र के समक्ष एक गंभीर चुनौती उत्पन्न कर दी। आपातकाल के दौरान नागरिक स्वतंत्रताओं पर अनेक प्रतिबंध लगाए गए तथा प्रेस की स्वतंत्रता को भी सीमित कर दिया गया। समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं पर पूर्व-सेंसरशिप लागू कर दी गई, जिसके कारण पत्रकारिता के स्वतंत्र स्वर को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया।[4] इस चुनौतीपूर्ण परिस्थिति में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है। हिन्दी भाषा के

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)**

† **शोध निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)**

समाचार-पत्र और पत्रिकाएँ देश के व्यापक जनसमूह तक पहुँच रखते थे और सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना के निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भागीदारी थी। सरकारी नियंत्रण और सेंसरशिप के बावजूद अनेक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने लोकतांत्रिक मूल्यों, नागरिक अधिकारों तथा जनहित से जुड़े प्रश्नों को विभिन्न रूपों में उठाने का प्रयास किया। कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने प्रत्यक्ष रूप से तो कुछ ने सांकेतिक एवं वैचारिक अभिव्यक्ति के माध्यम से अपने दायित्व का निर्वहन किया।[5] आपातकाल के दौरान हिन्दी पत्रकारिता का अध्ययन केवल प्रेस के इतिहास तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारतीय लोकतंत्र, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा राज्य और मीडिया के संबंधों को समझने का भी एक महत्वपूर्ण माध्यम है। यह कालखंड इस बात का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है कि कठिन परिस्थितियों में भी पत्रकारिता किस प्रकार लोकतांत्रिक चेतना को जीवित रखने और जनसरोकारों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत शोध-पत्र में आपातकाल के दौरान हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका, उनकी चुनौतियों तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण में उनके योगदान का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है।

आपातकाल

भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में 25 जून 1975 का दिन एक महत्वपूर्ण मोड़ के रूप में स्मरण किया जाता है। इसी दिन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की सलाह पर राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 के अंतर्गत आंतरिक अशांति (Internal Disturbance) के आधार पर राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की।[6] यह आपातकाल 21 मार्च 1977 तक प्रभावी रहा। इस अवधि में केंद्र सरकार को व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हो गई तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं और नागरिक अधिकारों पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाए गए। आपातकाल की पृष्ठभूमि में राजनीतिक अस्थिरता, बढ़ता जन-असंतोष, आर्थिक संकट तथा जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चल रहा व्यापक जनआंदोलन प्रमुख कारण थे। 12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने रायबरेली चुनाव मामले में इंदिरा गांधी के निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया, जिससे राजनीतिक परिस्थितियाँ और अधिक तनावपूर्ण हो गईं।[7] इसके पश्चात केंद्र सरकार ने देश की आंतरिक सुरक्षा और स्थिरता का हवाला देते हुए आपातकाल लागू किया। आपातकाल के दौरान मौलिक अधिकारों पर व्यापक अंकुश लगाए गए। राजनीतिक विरोधियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, छात्र नेताओं तथा पत्रकारों की गिरफ्तारियाँ की गईं। प्रेस पर पूर्व-सेंसरशिप लागू कर दी गई और समाचारों के प्रकाशन पर सरकारी नियंत्रण स्थापित किया गया।[8] परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक विमर्श और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता गंभीर रूप से प्रभावित हुई। यद्यपि सरकार ने आपातकाल को राष्ट्रीय अनुशासन, विकास तथा प्रशासनिक दक्षता के लिए आवश्यक बताया, किंतु इसके आलोचकों ने इसे लोकतांत्रिक मूल्यों और नागरिक स्वतंत्रताओं पर आघात के रूप में देखा।[9] इस प्रकार आपातकाल भारतीय लोकतंत्र के इतिहास का एक ऐसा अध्याय है, जिसने राज्य, नागरिक अधिकारों और प्रेस की स्वतंत्रता के संबंधों पर व्यापक बहस को जन्म दिया।

साहित्य समीक्षा

कुलदीप नैयर (1977) ने अपनी पुस्तक "द जजमेंट" में आपातकाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि, उसके कारणों तथा भारतीय लोकतंत्र पर उसके प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण किया है। उन्होंने प्रेस सेंसरशिप, पत्रकारों पर लगाए गए प्रतिबंधों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दमन को विस्तार से प्रस्तुत किया है। उनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आपातकाल भारतीय पत्रकारिता के लिए एक कठिन परीक्षा का काल था, जिसमें स्वतंत्र प्रेस को गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

कृष्ण बिहारी मिश्र (2006) ने अपनी पुस्तक "हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास" में हिन्दी पत्रकारिता के विकास क्रम के साथ-साथ आपातकाल के दौरान हिन्दी समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं की स्थिति का विश्लेषण किया है। उन्होंने बताया है कि सरकारी नियंत्रण और सेंसरशिप के बावजूद अनेक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने लोकतांत्रिक मूल्यों और जनचेतना को बनाए रखने का प्रयास किया। उनका अध्ययन हिन्दी पत्रकारिता की संघर्षशील परंपरा को रेखांकित करता है।

रामचंद्र गुहा (2007) ने "इंडिया आफ्टर गांधी" में आपातकाल को स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ माना है। उन्होंने इस काल में नागरिक अधिकारों, लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा प्रेस की स्वतंत्रता पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार आपातकाल ने भारतीय लोकतंत्र की कमजोरियों और उसकी आत्म-सुधार की क्षमता दोनों को उजागर किया।

बिपन चंद्र (2009) ने "भारत में स्वतंत्रता के बाद का इतिहास" में आपातकाल की राजनीतिक, सामाजिक तथा संवैधानिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया है। उन्होंने आपातकाल के दौरान सत्ता के केंद्रीकरण, विपक्ष के दमन तथा नागरिक स्वतंत्रताओं पर लगाए गए प्रतिबंधों की चर्चा की है। उनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आपातकाल भारतीय लोकतंत्र के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी, जिसने लोकतांत्रिक मूल्यों और संवैधानिक अधिकारों की महत्ता को पुनः स्थापित किया।

अनुसंधान अंतराल

आपातकाल (1975-77) पर उपलब्ध अधिकांश अध्ययनों में उसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि, संवैधानिक संकट, नागरिक अधिकारों के हनन तथा प्रेस सेंसरशिप का विश्लेषण किया गया है, किंतु हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की विशिष्ट भूमिका पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। विशेष रूप से यह प्रश्न अभी भी पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं हो सका है कि सेंसरशिप और सरकारी नियंत्रण के बीच हिन्दी पत्रकारिता ने लोकतांत्रिक मूल्यों, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और जनचेतना को किस प्रकार बनाए रखा। अतः प्रस्तुत अध्ययन इस शोध-अंतराल को भरने का प्रयास करते हुए आपातकाल में हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका का ऐतिहासिक विश्लेषण करेगा।

अध्ययन के उद्देश्य

1. आपातकाल (1975-77) की ऐतिहासिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।
2. आपातकाल के दौरान प्रेस सेंसरशिप तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंधों का विश्लेषण करना।
3. हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका तथा उनके समक्ष उपस्थित चुनौतियों का अध्ययन करना।
4. आपातकाल के दौरान प्रमुख हिन्दी समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं द्वारा जनचेतना के निर्माण में दिए गए योगदान का मूल्यांकन करना।
5. हिन्दी पत्रकारिता द्वारा लोकतांत्रिक मूल्यों, नागरिक अधिकारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संरक्षण हेतु किए गए प्रयासों का अध्ययन करना।
6. आपातकाल में हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं के सामाजिक, राजनीतिक एवं लोकतांत्रिक प्रभावों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना।

अनुसंधान पद्धति

यह अध्ययन ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक (Historical and Analytical) शोध पद्धति पर आधारित है। अध्ययन में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों के अंतर्गत आपातकालीन काल की समकालीन हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ, समाचार-पत्र, सरकारी दस्तावेज, आयोगों की रिपोर्टें तथा अभिलेखीय सामग्री को शामिल किया गया है, जबकि द्वितीयक स्रोतों के रूप में पुस्तकों, शोध-पत्रों, शोध-प्रबंधों एवं विद्वानों के विश्लेषण का उपयोग किया गया है। अध्ययन का क्षेत्र मुख्यतः भारत में 1975 से 1977 के मध्य प्रकाशित हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका तक सीमित रखा गया है। प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण गुणात्मक (Qualitative) पद्धति के माध्यम से किया गया है, जिससे आपातकाल के दौरान प्रेस सेंसरशिप, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक मूल्यों तथा हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका का ऐतिहासिक मूल्यांकन किया जा सके।

अध्ययन की सीमाएँ

यह अध्ययन मुख्य रूप से समकालीन हिन्दी समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, सरकारी दस्तावेजों तथा उपलब्ध द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, इसलिए कुछ तथ्यों और घटनाओं की व्याख्या स्रोतों की उपलब्धता पर निर्भर करती है। आपातकाल (1975-77) के दौरान लागू सेंसरशिप के कारण अनेक समाचारों और विचारों का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित नहीं हो सका, जिससे कुछ पक्षों का समग्र मूल्यांकन कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त अध्ययन का दायरा मुख्यतः हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं तक सीमित है, इसलिए अन्य भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेज़ी प्रेस की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण इसमें शामिल नहीं किया गया है। साथ ही, आपातकाल के दौरान प्रकाशित सभी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का समान रूप से अध्ययन कर पाना संभव नहीं हो सका है। फिर भी, उपलब्ध स्रोतों के आधार पर यह शोध आपातकाल में हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका का यथासंभव वस्तुनिष्ठ और समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

अध्ययन का महत्व

यह अध्ययन आपातकाल (1975-77) के दौरान हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह काल भारतीय लोकतंत्र, नागरिक अधिकारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के इतिहास का एक संवेदनशील और निर्णायक अध्याय रहा है। इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट किया जा सकेगा कि प्रेस सेंसरशिप और सरकारी नियंत्रण के बावजूद हिन्दी पत्रकारिता ने लोकतांत्रिक मूल्यों, जनचेतना तथा नागरिक अधिकारों को जीवित रखने में किस प्रकार योगदान दिया। साथ ही, यह अध्ययन राज्य और मीडिया के संबंधों, प्रेस की स्वतंत्रता तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था में पत्रकारिता की भूमिका को समझने में भी सहायक होगा। यह शोध इतिहास, पत्रकारिता, राजनीति विज्ञान तथा मीडिया अध्ययन के विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, क्योंकि इससे भारतीय लोकतंत्र के एक महत्वपूर्ण दौर का गहन ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्राप्त होता है। कुल मिलाकर, यह अध्ययन आपातकालीन परिस्थितियों में हिन्दी पत्रकारिता के संघर्ष, दायित्व और लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता को समझने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

पत्रकारिता और प्रेस सेंसरशिप : आपातकाल के संदर्भ में

लोकतांत्रिक व्यवस्था में पत्रकारिता को शासन और जनता के मध्य संवाद का एक महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। इसका प्रमुख दायित्व जनता को सही एवं निष्पक्ष जानकारी उपलब्ध कराना, जनमत का निर्माण करना तथा सत्ता की गतिविधियों पर निगरानी रखना है। इसी कारण प्रेस को लोकतंत्र का "चौथा स्तंभ" कहा जाता है।[10] 25 जून 1975 को आपातकाल की घोषणा के साथ ही भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में एक नया और चुनौतीपूर्ण दौर प्रारंभ हुआ। सरकार ने प्रेस पर पूर्व-सेंसरशिप लागू कर दी, जिसके अंतर्गत समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं को किसी भी समाचार, लेख, संपादकीय अथवा टिप्पणी के प्रकाशन से पूर्व सरकारी अधिकारियों की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी।[11] सरकार की आलोचना करने वाली सामग्री, विपक्षी नेताओं की गतिविधियों तथा जनआंदोलनों से संबंधित समाचारों के प्रकाशन पर विशेष नियंत्रण रखा गया। इस कारण पत्रकारिता की स्वतंत्रता गंभीर रूप से प्रभावित हुई। हिन्दी समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं के समक्ष यह स्थिति और भी चुनौतीपूर्ण थी, क्योंकि वे व्यापक जनसमूह तक पहुँच रखते थे। अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने सरकारी निर्देशों का पालन किया, जबकि कुछ ने सीमित संसाधनों और कठिन परिस्थितियों में भी लोकतांत्रिक मूल्यों तथा जनहित के प्रश्नों को जीवित रखने का प्रयास किया। प्रत्यक्ष आलोचना संभव न होने पर कई संपादकों और लेखकों ने सांकेतिक भाषा, साहित्यिक अभिव्यक्तियों, व्यंग्य तथा ऐतिहासिक उदाहरणों के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किए।[12] आपातकाल के दौरान प्रेस सेंसरशिप केवल समाचारों तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसने पत्रकारिता की स्वतंत्र सोच और आलोचनात्मक दृष्टि को भी प्रभावित किया। अनेक पत्रकारों को गिरफ्तार किया गया, कुछ प्रकाशनों को बंद करना पड़ा तथा कई समाचार-पत्रों को आर्थिक और प्रशासनिक दबावों का सामना करना पड़ा।[13] इसके बावजूद पत्रकारिता के कुछ साहसी स्वर लोकतांत्रिक चेतना को जीवित रखने में सफल रहे। इस प्रकार आपातकालीन कालखंड भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में प्रेस सेंसरशिप और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संघर्ष का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। यह काल हमें यह समझने का अवसर प्रदान करता है कि लोकतंत्र में स्वतंत्र प्रेस का अस्तित्व कितना आवश्यक है तथा प्रेस की स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंध समाज और राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।[14]

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था का आधारभूत तत्व है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) के अंतर्गत प्रत्येक नागरिक को अपने विचारों और मतों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है। यह अधिकार केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रतीक नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में जनभागीदारी, विचार-विमर्श तथा सत्ता की जवाबदेही सुनिश्चित करने का भी महत्वपूर्ण माध्यम है।[15] 25 जून 1975 को घोषित आपातकाल के दौरान अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर व्यापक प्रतिबंध लगाए गए। सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा और आंतरिक स्थिरता का हवाला देते हुए नागरिक अधिकारों को सीमित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप प्रेस, साहित्य, राजनीतिक गतिविधियों तथा सार्वजनिक विमर्श पर सरकारी नियंत्रण बढ़ गया।[16] समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं पर पूर्व-सेंसरशिप लागू की गई तथा सरकार की आलोचना करने वाली सामग्री के प्रकाशन पर रोक लगा दी गई। इस प्रकार नागरिकों के विचारों और असहमति की अभिव्यक्ति के अवसर सीमित हो गए। आपातकाल के दौरान अनेक राजनीतिक नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों को गिरफ्तार किया गया। विरोध प्रदर्शनों, सार्वजनिक सभाओं और राजनीतिक गतिविधियों पर भी

प्रतिबंध लगाए गए।[17] परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक समाज में विचारों के मुक्त आदान-प्रदान की प्रक्रिया प्रभावित हुई। यह स्थिति केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रही, बल्कि साहित्य, कला और पत्रकारिता जैसे बौद्धिक क्षेत्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। फिर भी, प्रतिबंधों और दमनात्मक परिस्थितियों के बावजूद अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। अनेक लेखकों, पत्रकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने सांकेतिक भाषा, साहित्यिक रचनाओं तथा वैकल्पिक माध्यमों के जरिए अपने विचार व्यक्त करने का प्रयास किया। कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने प्रत्यक्ष विरोध की बजाय लोकतांत्रिक मूल्यों, नागरिक अधिकारों और सामाजिक सरोकारों से जुड़े विषयों को उठाकर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना को जीवित रखा।[18] आपातकाल का अनुभव भारतीय लोकतंत्र के लिए एक महत्वपूर्ण सबक सिद्ध हुआ। इसने स्पष्ट किया कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता केवल एक संवैधानिक अधिकार नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक समाज की जीवनरेखा है। जब इस स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया जाता है, तब लोकतांत्रिक संस्थाएँ, जनमत और नागरिक अधिकार सभी प्रभावित होते हैं। इसलिए आपातकाल का अध्ययन अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्व को समझने के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक है।[19]

लोकतांत्रिक मूल्य : आपातकाल के संदर्भ में

लोकतांत्रिक मूल्य किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था की आधारशिला होते हैं, जिनमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता, न्याय, नागरिक अधिकार, राजनीतिक भागीदारी तथा सत्ता की जवाबदेही जैसे तत्व शामिल हैं। भारतीय संविधान ने इन मूल्यों को लोकतांत्रिक शासन की मूल भावना के रूप में स्वीकार किया है। किंतु 25 जून 1975 को घोषित आपातकाल के दौरान इन लोकतांत्रिक मूल्यों को गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा। इस अवधि में नागरिक स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध लगाए गए, विपक्षी नेताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किया गया, प्रेस पर सेंसरशिप लागू की गई तथा असहमति के स्वरों को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया।[20] परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक विमर्श और जनभागीदारी की प्रक्रिया प्रभावित हुई। इसके बावजूद अनेक पत्रकारों, बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से लोकतांत्रिक मूल्यों को जीवित रखने का प्रयास किया और नागरिक अधिकारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्व को रेखांकित किया।[21] इस प्रकार आपातकाल का कालखंड लोकतांत्रिक मूल्यों के दमन और उनके संरक्षण के लिए किए गए संघर्ष, दोनों का महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है।

नागरिक अधिकार

नागरिक अधिकार लोकतांत्रिक समाज की मूल आधारशिला हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता, समानता, न्याय तथा गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार प्रदान करते हैं। भारतीय संविधान नागरिकों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संगठन बनाने, शांतिपूर्ण सभा करने तथा संवैधानिक संरक्षण जैसे अनेक मौलिक अधिकार प्रदान करता है। किंतु 25 जून 1975 को घोषित आपातकाल के दौरान इन अधिकारों पर व्यापक प्रतिबंध लगा दिए गए। राजनीतिक विरोधियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, छात्र नेताओं तथा पत्रकारों को मीसा (MISA) जैसे कानूनों के तहत बिना मुकदमे के गिरफ्तार किया गया, न्यायालयों में मौलिक अधिकारों के संरक्षण की संभावनाएँ सीमित कर दी गईं तथा अभिव्यक्ति और विरोध के लोकतांत्रिक अधिकारों पर अंकुश लगाया गया।[22] परिणामस्वरूप नागरिक स्वतंत्रता और राज्य सत्ता के बीच संतुलन प्रभावित हुआ। यद्यपि सरकार ने इन कदमों को राष्ट्रीय हित और व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक बताया, किंतु अनेक बुद्धिजीवियों, पत्रकारों और मानवाधिकार समर्थकों ने इसे नागरिक अधिकारों के हनन के रूप में देखा।[23] इस प्रकार आपातकाल भारतीय इतिहास का वह दौर था जिसने नागरिक अधिकारों के महत्व तथा उनकी संवैधानिक सुरक्षा की आवश्यकता को पुनः रेखांकित किया।

भारतीय लोकतंत्र

भारतीय लोकतंत्र विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक शासन तंत्र है, जिसकी आधारशिला संविधान, विधि का शासन, नागरिक स्वतंत्रता, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार तथा जनप्रतिनिधित्व जैसे सिद्धांतों पर आधारित है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने लोकतांत्रिक मूल्यों को अपनाते हुए नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए और शासन में उनकी भागीदारी सुनिश्चित की। किंतु 25 जून 1975 को घोषित आपातकाल ने भारतीय लोकतंत्र की कार्यप्रणाली और उसकी संस्थाओं के समक्ष एक गंभीर चुनौती प्रस्तुत की। इस अवधि में नागरिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाए गए, विपक्षी नेताओं को गिरफ्तार किया गया, प्रेस की स्वतंत्रता सीमित की गई तथा सत्ता का केंद्रीकरण बढ़ गया। इन परिस्थितियों ने लोकतंत्र, राज्य सत्ता और नागरिक स्वतंत्रता के संबंधों पर व्यापक बहस को जन्म दिया। यद्यपि आपातकाल भारतीय लोकतंत्र के लिए एक कठिन दौर

था, फिर भी 1977 के आम चुनावों में जनता द्वारा लोकतांत्रिक प्रक्रिया के माध्यम से सत्ता परिवर्तन ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय लोकतंत्र में आत्म-सुधार और पुनर्स्थापन की सशक्त क्षमता विद्यमान है।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 1975-77 का आपातकाल भारतीय लोकतंत्र, नागरिक अधिकारों, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा पत्रकारिता के इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और संवेदनशील कालखंड था। इस अवधि में प्रेस पर सेंसरशिप, नागरिक स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध तथा राजनीतिक असहमति के दमन के माध्यम से लोकतांत्रिक मूल्यों को गंभीर चुनौती मिली। विशेष रूप से हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं को सरकारी नियंत्रण, पूर्व-सेंसरशिप और विभिन्न प्रकार के दबावों का सामना करना पड़ा, फिर भी अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनचेतना, लोकतांत्रिक मूल्यों तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा का प्रयास किया। उन्होंने कठिन परिस्थितियों में भी समाज को जागरूक रखने तथा लोकतांत्रिक चेतना को जीवित बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आपातकाल का अनुभव यह सिद्ध करता है कि स्वतंत्र पत्रकारिता केवल सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि लोकतंत्र की सुरक्षा और नागरिक अधिकारों के संरक्षण का एक सशक्त साधन भी है। इसलिए आपातकाल में हिन्दी पत्र एवं पत्रिकाओं की भूमिका भारतीय लोकतंत्र और पत्रकारिता के इतिहास में संघर्ष, प्रतिरोध तथा लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता के एक महत्वपूर्ण अध्याय के रूप में स्मरणीय है।

संदर्भ :-

1. नैयर, कुलदीप, द जजमेंट, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977, पृ. 85-90.
2. मिश्र, कृष्ण बिहारी, हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, पृ. 312-318.
3. अर्जुन तिवारी, हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय चेतना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2005, पृ. 52-58.
4. (1) वही पृ. 91-94.
5. (2) वही पृष्ट सं० 325-326.
6. चंद्र, बिपन, भारत का स्वतंत्रता संग्राम एवं स्वतंत्रोत्तर भारत, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2009, पृ. 504 -505.
7. (1) वही पृ. 34-41.
8. बी. जी. वर्गीज, फर्स्ट ड्राफ्ट: विटनेस टू द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया, ट्रैंकेबार प्रेस, नईदिल्ली, 2010, पृ. 278-285.
9. रामचंद्र गुहा, इंडिया आफ्टर गांधी, पिकाडोर इंडिया, नई दिल्ली, 2007, पृ. 499-512.
10. (3) वही पृ. 45-49.
11. (1) वही , पृ. 98-103.
12. (2) वही, पृ. 423-428.
13. (8) वही, पृ. 281-286.
14. (9) वही , पृ. 505-510.
15. दुर्गादास बसु, भारत का संविधान : एक परिचय, लेक्सिसनेक्सिस बटरवर्थ्स, नई दिल्ली, 2008, पृ. 168-172.
16. (1) वही, पृ. 104-109.
17. (9) वही, पृ. 501-507.
18. (2) वही, पृ. 425-430.
19. (6) वही, पृ. 660-665.
20. (9) वही, पृ. 499-510.
21. (6) वही, पृ. 658-664.
22. (1) वही, पृ. 110-116.
23. (9) वही, पृ. 503-509.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal.   ISSN: 2231-1351

Received: 26.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

अमृतलाल वेगड़ का यात्रा-संस्मरण 'सौंदर्य की नदी नर्मदा' का लोक-आख्यान

मुकेश कुमार झा*

mkkumarmukesh1984@gmail.com

सार-

नर्मदा का धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व सर्वविदित है। हम जानते हैं कि पेय पदार्थों में जल का विशेष महत्व होता है और यह जल हमें नदियों से मिलता है। जिसके चलते मनुष्य प्रारंभ से ही नदियों के किनारे आ बसा। इसलिए दुनिया की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति का विकास नदियों के किनारे हुआ। अतः नदियों को मानवता की संस्कृति माना जा सकता है। क्योंकि इन नदियों के किनारे बसे मनुष्य का कई बार उत्थान-पतन तथा पुनरुत्थान होता रहा। जिसके कारण ये नदियाँ मनुष्य के उत्थान पतन तथा पुनरुत्थान की साक्षी रही है। वेगड़ जी इस संबंध में लिखते हैं "मीठे पानी का श्रेष्ठ और सुदीर्घ स्रोत है नदी। हजारों वर्षों से मनुष्य उसकी ओर खिंचता चला आया है। केवल इसलिए नहीं कि वह हमारी और हमारे खेतों की प्यास बुझाती है, बल्कि इसलिए भी कि वह हमारी आत्मा को भी तृप्त करती है। उसके तट पर हमारी आत्मा पल्लवित-पुष्पित होती है- संस्कृति का जन्म होता है। संसार की सभी प्रमुख संस्कृतियों का जन्म नदियों की कोख से हुआ है।"[1]

भारत की नदियाँ वैदिक कालीन समय से ही पूजनीय रही है। यहाँ नदियों को नदी न मानकर माँ माना जाता है। तथा उनकी पूजा अर्चना की जाती है। मुख्यतः वैदिक साहित्य में धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सात नदियों का विशेष महत्व दिया गया है। जिन सात नदियों का धार्मिक दृष्टि से महत्व दिया गया है, उनमें गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु तथा कावेरी आदि है। इन नदियों का उल्लेख स्कन्दपुराण में किया है –

"ऊं गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।

नर्मदे सिंधु कावेरि जलेडस्मिन् सन्निधिं कुरु।।"[2]

उपर्युक्त नदियों में चार को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जिनमें गंगा को ऋग्वेद, यमुना को यजुर्वेद, नर्मदा को सामवेद तथा सरस्वती को अथर्ववेद के समान माना गया है। नर्मदा गंगा से भी पुरानी नदी मानी जाती है। तथा विंध्य-सतपुड़ा पुराने पहाड़ माने जाते है। यह सच है कि भारतीय संस्कृति में गंगा की महत्वपूर्ण देन है। परंतु नर्मदा गंगा से ज्येष्ठ है। इसके संबंध में वेगड़ जी ने लिखा है –

"भारतीय संस्कृति गंगा की देन है। पर एक बात है श्रेष्ठ गंगा है, लेकिन ज्येष्ठ नर्मदा है। जब गंगा नहीं थी, नर्मदा तब भी थी। आज यहाँ हिमालय है, गंगा यमुना का मैदान है, सुदूर अतीत में वहाँ उथला समुद्र था। किसी भूकंप ने उसे समुद्र को हिमालय और गंगा जमुना के मैदान में बदल डाला हालांकि इसमें करोड़ों वर्ष लगे। और हिमालय से विंध्याचल सतपुड़ा पुराने पहाड़ है।"[3]

मुख्य-शब्द :-

नर्मदा, धर्म, पर्व-त्यौहार, पौराणिक, आध्यात्मिक, लोक-कथा, धार्मिक-महत्त्व, अमृतलाल वेगड़ का यात्रा-संस्मरण

* **शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)**

भूमिका-

नर्मदा उत्पत्ति विषयक कथा

नर्मदा धार्मिक दृष्टि से पाँचवी नदी मानी जाती है। जिसकी उत्पत्ति संबंधित अनेक कथाएँ पौराणिक ग्रंथों में देखने को मिलता है। जितने भी पौराणिक ग्रंथों में नर्मदा का उल्लेख मिलता है, उन सबमें नर्मदा की उत्पत्ति शिव से माना गया है। इसकी उत्पत्ति संबंधी कथा स्कंदपुराण के रेवाखंड में वर्णन किया गया है।

ऐसा माना जाता है कि नर्मदा की उत्पत्ति शिव के स्वेद (पसीना) से हुआ है। आदि सतयुग में भगवान शिव ने उमा सहित लोकहित की भावना से ऋक्ष-विंध्य पर्वत पर अदृश्य होकर कठोर तपस्या की थी। उसे समय तपस्यारत शिव के शरीर से पसीना बहने लगा। वह पसीना एक कन्या के रूप शिव से निकलकर उसी पर्वत पर भगवान शिव के समक्ष कठोर तपस्या आरंभ कर दी। नर्मदा के तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने नर्मदा को वरदान दिया। मोहनलाल वाजपेयी का कथन है- "तुम अमृतमयी होगी। जो फल तीर्थवारि में अवगाहन से होता है -वह तुम्हारे दर्शनों से ही सुलभ होगा। तुम अपनी आकांक्षा के अनुरूप चिरकुमारी होगी। मुझे तुम निरंतर निकट पाओगी। कलिकाल में तुम पतित पावनी गंगा के समग्र महात्मय की अधिकारिणी होगी।"[4] इस तरह शिव के वरदान स्वरूप नर्मदा का पृथ्वी पर अवतरण हुआ। शिव के वर के कारण ही नर्मदा को दक्षिण की गंगा कहा जाता है।

नर्मदा के विविध नामों से पुकारा जाता है। नर्मदा के प्राचीनतम एवं धार्मिक महत्व होने के कारण इसे अलग-अलग नाम से अलंकृत किया गया है जो इस प्रकार है- नर्मदा शब्द की व्युत्पत्ति नृ+मनिन्= नर्मन्, नर्म+दा= नर्मदा से हुई है। अर्थात नर्म ददाति इति नर्मदा। नर्म से अभिप्राय– क्रीड़ा, विनोद, आमोद-प्रमोद, हास्य-परिहास आदि से है। नर्मदा के अन्य नाम जैसे– दक्षिणी-गंगा, रेवा, शांकरी, अमृता, मैकलसुता, वेदगर्भा, तमसा, बालूवाहिनी, विपाशा, महानद आदि है।

'रेवते इति रेवा' अर्थात उछल-कूद कर बहने के कारण इसे 'रेवा' कहा गया।

"जबकि अमरकंटक का नाम मकेल भी है। इसलिए नर्मदा का नाम मकेलसुता है।"[5]

बालूवाहिनी – 'मैकल पर्वत' से निकलकर नर्मदा वनों और पर्वतों से होकर बहती है। स्वयं वेगड़ जी ने लिखा है कि नर्मदा के देह का विकास पाँच तत्वों से हुआ है। वे लिखते हैं- "पानी, चट्टान, प्रपात, शोर और मोड़-ये पाँच तत्व है जिनसे नर्मदा के देह का विकास हुआ है।"[6]

भारतीय जनमानस में अन्य नदियों की भाँति धार्मिक दृष्टि से नर्मदा का अपना महत्व है। नर्मदा अपने अनेक विलक्षण स्वरूपों को अलग जगहों पर प्रदर्शित करती हुई सतत् प्रवाह शील है। नर्मदा कभी अपने नर्मदा स्वरूप तो कहीं रेवा रूप में प्रवाहित होती है। तथा हर जगह पर अद्भुत सौंदर्य लोक की श्रृष्टि करती हुई आगे बढ़ती है। वास्तव में नर्मदा 'सौन्दर्य की नदी है'। इसे देख ऐसा लगता है कि नर्मदा तो बस नर्मदा है। जैसा भव्य उसका अतीत है वैसी ही उज्जवल उसका भविष्य है। अतः युगों-युगों से विलक्षण सौन्दर्य को परिलक्षित करती हुई आज भी नर्मदा सतत प्रवाह शील है। अर्थात 'न मृता तेन नर्मदा'(कभी भी न सुखने वाली नदी)

नर्मदा नदी स्नान तथा उसके दर्शन का विशेष महत्व माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि किसी भी जगह नर्मदा के दर्शन तथा उपासना का फल मिल जाता है। जैसे विभिन्न के संबंध में माना जाता है कि गंगा का हरिद्वार में सरस्वती का कुरुक्षेत्र में देखने या स्नान से पुण्य मिलता है परंतु नर्मदा का ग्राम्य,वन आदि कहीं भी देखने से फल मिलता है। जैसे- "पुण्या कनखले गंगा कुरुक्षेत्रे सरस्वती। ग्रामे वा यदि वारण्ये पुण्या सर्वत नर्मदा।"[7]

नर्मदा नदी में स्नान करने का पुण्य सभी नदियों की तुलना में अधिक माना गया है तथा इसकी महिमा को अधिक महत्व दिया गया है। ऐसा माना जाता है सरस्वती का जल तीन दिनों में यमुना का जल एक सप्ताह में तथा गंगा का जल स्नान करने से तुरंत पवित्र करता है। परंतु नर्मदा के दर्शन मात्र से ही सभी को पुण्य-लाभ मिलता है। कहा भी गया है- 'त्रिभि: सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्, सांद्य: पुनाति गाङ्गेय दर्शनादेव नार्मदम्'

भारत में सबसे अधिक तीर्थस्थल नर्मदा के किनारे है। नर्मदा के उद्गम से लेकर संगम तक कई तीर्थ स्थल व मंदिर है। साथ ही नर्मदा का विभिन्न नदियों से जहां संगम होता है वहाँ भी मंदिर व तीर्थ देखने को मिलता है। ऐसा माना जाता है कि नर्मदा के उद्गम से संगम तक लगभग 10 करोड़ तीर्थ है।–

"नर्मदा संगम यावद् यावच्चामरकण्टकम्, तत्रान्तरे महाराज तीर्थकोट्यो दश स्थिता:।"[8]

नर्मदा के किनारे अवस्थित प्रमुख मंदिरों, तीर्थस्थलों की विस्तृत सूची इस प्रकार है- 'चौसठ योगिनी मंदिर', 'भटेरा मंदिर', 'ओंकारेश्वर', 'ग्यारह लिंगी मंदिर', 'अंकलेश्वर', 'हरिधाम', 'कुंभरेश्वर', 'शूलपाणेश्वर', 'हापेश्वर' आदि। ओंकारेश्वर में नर्मदा तथा कावेरी का संगम होता है। वहाँ ओंकार-मंधाता मंदिर है। महेश्वर में मंदिर अहिल्याबाई द्वारा नर्मदा के तट बनवाई थी। वह नर्मदा की परम भक्त थी। इस संबंध में वेगड़ जी ने लिखा है कि "सुबह चल दिए। दोपहर तक नावड़ाटोड़ी पहुँच गए। सामने तट पर है महेश्वर। रानी अहिल्याबाई का नगर। अहिल्याबाई अत्यंत कुशल प्रशासक थी और नर्मदा की परम भक्त थी। महेश्वर में उनके बनवाए मंदिर और घाट इस तट से बड़े सुंदर लग रहे थे।"[9]

नर्मदा परिक्रमा का महत्व सर्वविदित है। नर्मदा भारत की एकमात्र ऐसी नदी है जिसकी परिक्रमा की जाती है। यह परिक्रमा जहाँ से शुरू की जाती है। वहीं पर खत्म भी की जाती है। जैसे– 'जिलहरी परिक्रमा', 'चतुर्मास परिक्रमा' है। जिलहरी परिक्रमा में किसी एक तट पर जाना और लौटना एवं पुनः दूसरे तट पर उसी प्रकार जाना और लौटना।

नर्मदा की उत्पत्ति शिव से मानी जाती है। इसलिए नर्मदा की परिक्रमा का मतलब शिव की ही परिक्रमा है। ऐसा माना जाता है कि नर्मदा की परिक्रमा दशहरे में कार्तिक शुक्ल एकादशी से प्रारंभ किया जाता है। यह परिक्रमा अधिकांशतः अमरकंटक से शुरू कर 3 वर्ष 3 माह 13 दिन में पूर्ण किया जाता है। इसका उल्लेख वेगड़ जी ने अपने पुस्तक में किया है। वे लिखते हैं- "रोज सुबह उधर सूरज निकलता इधर हम निकलते। रास्ते में एक संन्यासी की कुटी पड़ी। वहाँ बैठे। वे नर्मदा परिक्रमा कर चुके थे। कहने लगे, परिक्रमा में तीन साल तीन माह तेरह दिन लगे।"[10]

नर्मदा की उत्पत्ति शिव से हुई है। इसलिए नर्मदा को साक्षात् शिव स्वरुपा माना गया है। अतः नर्मदा जल में बहुत सारे कंकड़ मिलते हैं। इस कंकड़ में शिव का वास माना जाता है। अतः नर्मदा का कंकड़ शिव के समान माना जाता है।

नर्मदा नदी विभिन्न सिद्धों की तपस्थली भी रही है। नर्मदा का विभिन्न ऋषि मुनियों सिद्धों साधु-संतों की तप स्थली मानी जाती है। इसके किनारे न केवल हिंदू बल्कि अनेक धर्मो के साधु संतों ने यहाँ तप किया था। तप करने वाले साधु-संतों में 'शंकराचार्य', 'कमला भारती जी', 'रामदास जी', 'मायानंद जी', 'गौरीशंकर महाराज', 'कबीर' आदि प्रमुख संत है। वेगड़ जी विभिन्न तप करने वाले परिव्राजक के संबंध में लिखते हैं - "सुदुर केरल से आकर बालक शंकर ने यहाँ गुरुगोविंदपाद के आश्रम में रहकर विद्याभ्यास किया था। वे हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ परिव्राजक है। भारत की भावनात्मक एकता के लिए उन्होंने जो किया, वह अनुपम है। ऐसे आद्य शंकराचार्य की पावन स्मृति इस ओंकारेश्वर से जुड़ी हुई है। फिर 'कमलभारती', 'रामदास जी' और 'मायानंद जी' सदृश संतों के आश्रम भी यहाँ रहे। आज भी नये-नये आश्रम बनते जा रहे है।"[11]

ऐसा माना जाता है कि नर्मदा के किनारे कबीर ने तप किया था और वहीं उनको सिद्धि मिली। भरुच से 15 किमी दूरी पर नर्मदा दो धाराओं में बँट जाती है। एक टापू निर्मित करते हुए आगे प्रवाहित होती है इस टापू पर एक विशाल वृक्ष है जिसे कबीर बड़ कहा जाता है। इसके संबंध में वेगड़ जी लिखते हैं - "भोर होते ही चल दिए। खेतों में से होते हुए तीसरे पहर हम एक ऐसी जगह आये, जहाँ सामने नर्मदा के मध्य में एक विशाल टापू दिखाई दे रहा था -सुप्रसिद्ध कबीरबड़ !"[12] आगे वे कहते हैं कि "नर्मदा की छिछली धारा पार करके हम कबीरबड़ पहुँचे। कहते हैं, संत कबीर यहाँ आये थे। उनके प्रताप से बरगद का एक पेड़ इतना विशाल हुआ कि छतनार छाया में हजारों लोग आश्रय ले सकते थे।"[13]

धर्म-दर्शन

धर्म दर्शन उस दार्शनिक क्रिया का नाम है जो धर्म का बौद्धिक विवेचन करता है। धर्म दर्शन का संबंध धर्म के उन सभी पक्षों से भी है जिनके विषय में हम सत्य अथवा मिथ्या होने का प्रश्न उठाते हैं। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को आस्तिक या नास्तिक बनाना नहीं है। और न ही किसी धर्म के पक्ष या विपक्ष में प्रचार करना है। बल्कि मनुष्य के धार्मिक जीवन से संबंधित सभी पक्षों को भली-भाँति समझना एवं उनका तर्कसंगत तथा निष्पक्ष मूल्यांकन करना है।

अमृतलाल वेगड़ ने अपने यात्रा साहित्य में कई जगहों पर दर्शन से संबंधित विचारों को प्रस्तुत करते हैं। कही वे जन्म-पुनर्जन्म को प्रस्तुत करते हैं तो कभी धर्म, न्याय, सुख-दुख, आदि की बात करते हैं।

वे नदी के संबंध में दार्शनिक विचार देते हुए कहते हैं कि "नदी सत्य है। हमारी ओर का किनारा शिव है, सामने का किनारा सुंदर है। सत्यम, शिवम, सुंदरम् ! सत्य की नदी के एक किनारे का नाम शिवम, दूसरे का नाम सुन्दरम्।"[14] लेखक का

मानना है कि "नदी के दो किनारे होते हैं, पर हमारे काम तो वही किनारा आता है, जो हमारी ओर होता है। यहाँ हम नहा सकते है, बच्चे तैर सकते हैं, पनिहारिनें पानी भर सकती है, किसान अपने खेतों के लिए पानी ले सकते हैं। हमारी ओर का किनारा हमारे लिए अनेक प्रकार से कल्याणकारी है। सामने तट का हमारे लिए वैसा कोई उपयोग नहीं। अतः हम बैठे-बैठे केवल उसके सौंदर्य को देख सकते हैं।"[15] तो हम कह सकते हैं कि नदी सत्य हैं, हमारी ओर का किनारा शिव है, सामने का किनारा सुंदर है। सत्यम शिवम सुंदरम्।

गुजरात के विमलेश्वर में समुद्र में जहाँ नर्मदा मिलती है। वहाँ वेगड़ जी नाव से जाते हैं। नाव में लेखक के अतिरिक्त कई लोग भी बैठे होते हैं। उन लोगों में अभय मुनि तथा चेतन मुनि दो सन्यासियों से भेंट होती। जहाँ लेखक, अभय मुनि तथा चेतन मुनि के बीच न्याय और अन्याय की बात होती है। जहाँ लेखक ने अभय मुनि को छेड़ने के इरादे से पूछा "आदमी पाप भी करता है और पुण्य भी करता है! पाप की सजा मिलती है ! पुण्य का पुरस्कार ! मान लीजिए, एक आदमी ने सोलह आने पाप किया और बारह आने पुण्य ! अब उसके पाप में से पुण्य को घटा कर बाकी बचे चर आने पाप की सजा होगी, या दोनों खाते अलग-अलग चलेंगे ?"[16] इस प्रश्न का जवाब देते हुए अभय मुनि कहते हैं- "अपने-अपने विश्वास की बात है। देखिए, आपने कहा कि अच्छे कर्म का अच्छा फल मिलता है और बुरे कर्म का बुरा। यह भी तो विश्वास ही है।"[17] आगे वे कहते हैं कि "कई बार तो हम इसका उल्टा ही देखते हैं। पापी मौज करते हैं, धर्मात्मा कष्ट उठाते हैं। अक्सर नेक आदमियों की ही चमडी उधेड़ी जाती है।"[18]

मनुष्य को कई बार उसके सुख-दुख को जन्म-पुनर्जन्म की बात कह कर टाल देते हैं। पर व्यक्ति को खुद पता नहीं की वह किस जन्म के बुरे कर्मों का फल भोगता है। इसके संबंध में अभय मुनि के विचार को लेखक ने इस प्रकार वर्णन किया है- "मान लीजिए, एक भला आदमी है। उसे जीवन में बहुत दुख भोगना पड़ा। इस जन्म में तो उसने कोई बुरा काम नहीं किया। तो हम कहते हैं कि यह उसके पूर्व जन्म के बुरे कर्मों का फल है। किस बुरे कर्म का फल है, यह उसे मालूम ही नहीं हुआ। उसे सजा दी जाती है, पर उसे बताया नहीं जाता कि यह किस पाप की सजा है। यह कैसा न्याय है, मेरे भाई !"[19]

वेगड़ जी लिखते हैं - "अभय मुनि ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, अच्छा काम हम इसलिए नहीं करेंगे क्योंकि हमें उसका अच्छा फल मिलेगा, बल्कि इसलिए करेंगे क्योंकि हम मनुष्य हैं और हमें अच्छा काम करना चाहिए- अच्छा फल मिले तो, ना मिले तो। भलापन बाँट-बटखरे की चीज नहीं।"[20]

अमृतलाल वेगड़ जी गुजरात के जागेश्वर के रास्ते में सुस्ताने बैठते हैं। वहाँ वे धर्म और कानून की बात अपने मित्र से करते हैं। उनके मित्र अनिल लेखक से पूछते हैं कि "क्या धर्म जरूरी है ? क्या कानून पर्याप्त नहीं ? धर्म ना हो, तो क्या हमारा काम नहीं चलेगा ?"[21]

लेखक धर्म और कानून पर अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं "कानून कहता है बुरा काम मत करो। धर्म कहता है इतना काफी नहीं है, कुछ अच्छा काम करो। जहाँ कानून खत्म होता है वहाँ से धर्म शुरू होता है। कानून हमें अराजकता से उबारता है, हमारे अधिकारों की रक्षा करता है। लेकिन समाज को ऊपर उठता है धर्म। त्याग की, सेवा की, समर्पण की प्रेरणा तो धर्म ही दे सकता है। यह कानून के बस की बात नहीं।"[22]

लेखक अपनी बात पूरा करते हुए कहता है- "अगर अन्याय न होता, तो न्यायालय भी न होते। यह कितनी विचित्र बात है कि न्यायालय का अस्तित्व अन्याय के कारण है।"[23]

एक ओर धर्म को समझने के लिए वेगड़ जी किसान, समाजसेवी, शिक्षक, मजदूर आदि का उदाहरण देते हैं तो दूसरी तरफ महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे का। जो समाज से जितना लेते हैं उससे कहीं अधिक उसे लौटा देते हैं। वेगड़ जी लिखते हैं- "उन्होंने समाज से कितना लिया और बदले में कितना दिया ! समाज से दो रोटी और एक लंगोटी ली और बदले में अपना सारा जीवन मनुष्य जाति की सेवा में होम कर दिया। सच्चे साधु-सन्यासी, समाजसेवी ,सच्चे शिक्षक हाड़ तोड़ मेहनत करने वाले किसान और मजदूर- ये सभी इसी श्रेणी में आते हैं।"[24]

धर्म और लोक विश्वास

लोक द्वारा स्वीकृत व लोक में प्रचलित मान्यताएँ ही लोक विश्वास है। लोक की मान्यताएँ गतिशील होती है। जो समय के अनुसार धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन होते रहता है। इस परिवर्तन का कार्य पहले व्यक्ति में निहित लोक शक्ति करती है, बाद में लोक।

अमृतलाल वेगड़ ने नर्मदा पदयात्रा में नर्मदा से जुड़ी कई लोक विश्वास का वर्णन किया है। जो नर्मदा नदी के किनारे रहने वाले लोगों में कई रूपों में देखने को मिलता है। जिसका चित्रण वेगड़ जी ने 'सौंदर्य की नदी नर्मदा' में किया है। आज भी लोक में खेत-खलिहान को लक्ष्मी के रूप में माना जाता है क्योंकि खलिहान में खेतों के सभी अनाज इकट्ठे रहते हैं। वेगड़ जी ने मंडला यात्रा में वहाँ के लोक विश्वास का वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि- "10 अक्टूबर 1978 को भोर वेला मंडला से निकल पड़े। रात एक गाँव में बिताई। दूसरे दिन दोपहर को कछारी पहुँचे। नर्मदा की ऊँची कगार पर कृषक पति-पत्नी बैठे थे। हम उनकी ओर बढ़े तो स्त्री ने हाँक लगाई, जूते उतार कर चलो महाराज !"[25]

घरोबा गया तो मैंने स्त्री से पूछा, "आपने हमें जूते उतारने के लिए क्यों कहा था ? वहाँ हमारा खलिहान है। खेत-खलिहान लक्ष्मी होते हैं। वहाँ जूते पहन कर नहीं चलते।"[26]

नर्मदा के प्रति लोगों का प्रारंभ से ही धार्मिक विश्वास है। नर्मदा किनारे रहने वाले लोग नर्मदा नदी को प्रणाम कर फिर जल में पैर रखते है। वेगड़ जी इसके संबंध में लिखते हैं कि- "सुबह से ही बैठ गया। शुरू-शुरू में तो छिट-पुट लोग आते रहे, लेकिन दोपहर से तो तांता लग गया। सबसे पहले वे माँ नर्मदा को प्रणाम करते उसके बाद पानी में उतरते।"[27]

नर्मदा यात्रा में होशंगाबाद में नर्मदा के प्रति लोक विश्वास एक अन्य रूप का वर्णन वेगड़ जी ने किया है। वे लिखते है –"रात पथौरा में रहे। जिस कुटी में हम रुके थे, वहीं सागर निवासी पति-पत्नी भी रुके थे। वे नर्मदा परिक्रमा कब की कर चुके हैं, अब ओंकारेश्वर जल चढ़ाने जा रहे हैं। वह मुझसे कहने लगी, मैं जब घर पर थी, तो कोई ना कोई बीमारी लगी रहती थी। कभी सिर में दर्द, तो कभी पेट में दर्द। जरा-सा पैदल चलती, तो पाँव में दर्द, फिर बुखार। लेकिन जब से परिक्रमा पर निकली हूँ, सारी बीमारियाँ गायब हो गई है। सारा दिन चलती रहूँ तब भी कुछ नहीं होता।"[28]

जब लेखक यात्रा में नावड़ाटोड़ी पहुँचे। वहाँ उनकी मुलाकात एक पेंशनधारी अफसर से होती है। उसे ना तो देवी-देवता पर विश्वास था ना साधु-संतों पर। वह धर्मांधता में डूबे लोगों के संबंध में लेखक से कहता है। आदमी से कुत्ते अच्छे हैं। वह अपने पेंशन का अधिकांश भाग कुत्तों पर खर्च करता है। लेखक ने उस पेंशनधारी अफसर के नर्मदा के प्रति विचारों का वर्णन करते हुए लिखा है– "एक नर्मदा को मानता हूँ। मुझे वह हर घड़ी दिखनी चाहिए। बरसात में बाढ़ का पानी जब तक इस बैंच को छूता नहीं, तब तक नहीं जाता। नर्मदा के बिना मैं नहीं रह सकता।"[29]

काल विभाग (पर्व और मेले का वर्णन)- भारतीय संस्कृति में मेले और पर्वों का विशेष महत्व है। यह पर्व और मेले लोकजीवन का अभिन्न अंग है। जिसका आयोजन प्राचीन काल से खास तिथियों पर होता आ रहा है। अतः भारतीय संस्कृति में विभिन्न तिथियों पर होने वाले मेले और पर्व का अपना महत्व है।

यदि हम नर्मदा नदी की बात करें तो धार्मिक दृष्टिकोण से इस नदी का विशेष महत्व है। इसके उद्गम स्थल से लेकर संगम तक विभिन्न तिथियों पर मेले और पर्वों का आयोजन होता रहा है। इसके अतिरिक्त नर्मदा नदी का धार्मिक महत्व होने के कारण अमावस्या, कार्तिक पूर्णिमा, दशहरा, दिवाली के अतिरिक्त प्रत्येक माह के विशेष तिथियों पर दीपदान तथा संकल्प आदि किया जाता है। अतः अमृतलाल वेगड़ ने नर्मदा पदयात्रा के दौरान विभिन्न राज्यों के जिलों में नर्मदा के किनारे होने वाले पर्व, उत्सव, मेले आदि का वर्णन किया है।

सर्वप्रथम वेगड़ जी ने छेवलिया में शरद पूर्णिमा के दिन हनुमान मंदिर पर होने वाले भजन-कीर्तन, पूजा-पाठ आदि का चित्रण किया है। वे लिखते हैं कि –"छेवलिया के कोटवार ने बड़ी खुशी से हमें अपने घर में ठहरा लिया। कहने लगा, आप अच्छे आये। आज शरद पूर्णिमा है। रात को नर्मदा किनारे हनुमान चौरे पर कीर्तन-मंडली जमेगी। सारी रात भजन-कीर्तन होंगे।"[30] इसके अतिरिक्त शरद पूर्णिमा के दिन-रात में खीर बनाने का विशेष महत्व है। शरद पूर्णिमा के दिन-रात में बनने वाले खीर के महत्व को भागवत पुराण में वर्णन किया गया है। ऐसा माना जाता है कि शरद पूर्णिमा की रात में चंद्रमा से अमृत की वर्षा होती है। अतः खीर को चंद्रमा की रौशनी में रख दिया जाता है ताकि चंद्रमा की दिव्य किरणें उसमें इकट्ठा हो सके। वेगड़ जी ने लिखा है कि- "रात को यादवेन्द्र ने खीर बनायी, शरद पूर्णिमा जो थी। खा कर सो गये। कोई ग्यारह बजे मेरी नींद खुली। यादवेन्द्र भी उठ बैठा। हम दोनों हनुमान चौरे की ओर भागे।"[31]

वेगड़ जी ने नर्मदा के उद्गम स्थल पर दीपावली के दिन-रात में होने वाले दीपदान तथा संकल्प का चित्रण किया है। जहाँ दिवाली की रात नर्मदा में स्त्रियों द्वारा प्रवाहित दीप का वर्णन किया गया है। जहाँ इन दृश्यों को देख उनसे रहा नहीं जाता है तब वह दीप जलाकर नर्मदा में उसे प्रवाहित कर देती हैं। वे लिखते हैं–"कुंड को देखते ही मेरी आँखो में आँसू की दो बूँदे

छलकी। आखिर हम नर्मदा के उद्गम तक पहुँच गये थे।"[32] नर्मदा कुंड में होने वाले दीपदान का वर्णन करते हुए वेगड़ जी लिखते हैं कि "दीवाली की रात को स्त्रियाँ नर्मदा कुंड में दीप छोड़ रही थी। अंधेरी रात के कुंड में झिलमिलाते दीपों का केसरिया उजाला में देर तक देखता रहा। आखिर मुझसे रहा नहीं गया। एक स्त्री से एक दीया माँग लिया और अपने हाथ में जलाकर कुंड में छोड़ा। फिर मन ही मन बोला, 'माँ नर्मदे' तेरी पूजा में एक दीप जलाया है। बदले में तू भी एक दीप जलाना मेरे हृदय में। बड़ा अंधेरा है वहाँ किसी तरह जाता नहीं। तू दीप जला दे, तो दूर हो जाये। इतनी भिक्षा माँगता हूँ, माँ। तो दीप जलाना, भला ?"[33]

वेगड़ जी ने पदयात्रा में बरमानघाट पर एकादशी के दिन शाकलपुर में में शक्कर नदी तथा नर्मदा के संगम पर कार्तिक पूर्णिमा के दिन लगने वाले मेले का वर्णन किया है। बरमानघाट पर एकादशी के दिन लगने वाले मेले के संबंध में लिखा है कि - "आज एकादशी है। दोनों तटों पर स्नानार्थियों की भीड़ है। बरमान में हर एकादशी, पूर्णिमा या अमावस्या के दिन छोटा-मोटा मेला भरता है। सबसे बड़ा मेला संक्रांत से भरता है जो एक एक महीने तक चलता है। नर्मदा-तट पर भरने वाले मेलों में यह शायद सबसे बड़ा है।"[34]

वहीं शक्कर तथा नर्मदा के संगम स्थल शाकलपुर में कार्तिक पूर्णिमा के मेले का वर्णन करते हुए लिखा है कि- "आज पूर्णिमा है- कार्तिक पूर्णिमा। आज यहाँ मेला भरेगा। सिर्फ यहीं नहीं, समूचा नर्मदा-तट आज छोरे से छोर तक हजारों मेलों से गूँज उठेगा।"[35] आगे वे लिखते हैं कि- "दोपहर को शाकलपुर पहुँचे। यहाँ शक्कर नर्मदा में मिलती है। इसी संगम पर मेला भरता है। नर्मदा के दोनों तटों पर भारी भीड़ थी।"[36]

भारतीय ज्योतिष (लौकिक साहित्य) के अनुसार एक महीने में दो पक्ष होते है। हर पक्ष में पंद्रह-पंद्रह दिन होते हैं। पहला शुक्ल पक्ष होता है और दूसरा कृष्ण पक्ष। शुक्ल पक्ष में चाँदनी रात होती है। जबकि कृष्ण पक्ष में चारों तरफ अंधियारा छाया रहता है। जिसे अमावस कहते हैं। वेगड जी ने नर्मदा यात्रा के दौरान शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष का वर्णन करते हुए लिखा है कि "अभी कृष्ण पक्ष चल रहा है। मैंने देखा कि कृष्ण पक्ष में चाँदनी करीब-करीब उतनी ही होती है जितनी शुक्ल पक्ष में। मगर एक उजियारा पाख कहलाता है, दूसरा अँधियारा पाक। एक में पहले चाँदनी, फिर अंधेरा। दूसरे में पहले अंधेरा, फिर चाँदनी। चाँदनी की जगह भर अदल-बदल हो जाती है, मगर कुल मिलाकर चाँदनी प्रायः उतनी ही। अंधियारा पाख व्यर्थ बदनाम है!"[37]

अमृतलाल वेगड़ जी ने नर्मदा की पदयात्रा में शुक्ल पक्ष में शरद पूर्णिमा के चाँद का कई स्थलों पर उसके सौंदर्य का वर्णन किया है।

वे लिखते हैं- "आज शरद पूर्णिमा थी- चंद्र के राज्याभिषेक की रात। लेकिन इस वीरान इलाके के टुइयाँ- से गाँव में किसी ने इसका उत्सव नहीं मनाया। न भजन-मंडली, न गीत संगीत। मैं अकेला ही चाँदनी में नहाता रहा। देर तक चाँद को निहारता रहा। मुझे वह दुर्गा-प्रतिमा की तरह जान पड़ा। विधाता इसे आहिस्ता-आहिस्ता करके चौदह दिनों में गढ़ता है, पन्द्रहवें दिन इसमें प्राण-प्रतिष्ठा करता है, फिर अमावस्या को इसे नील गगन में सिरा देता है। सर्जन-विसर्जन का यह क्रम निरंतर चलता रहता है।"[38]

वेगड़ जी ने शरद पूर्णिमा के रात में चाँद को चाँदनी बिखरते देख, उसके सौंदर्य का वर्णन इस तरह किया है। वे लिखते है कि चाँद सोलहों कलाओं से चमक रहा था। चाँदनी कई बार देखी थी। लेकिन आज पहली बार लगा कि चाँदनी में आपाद मस्तक डूब गया हूँ। चाँदनी मेरे अंतरम में प्रवेश कर रही थी। मुझे लगा रात भर ऐसी ही बरसती रही, तो सबेरे जमीन पर इसकी चादर बिछी मिलेगी। समुद्र में आने आने वाले ज्वार और भाटा के संबंध में वैज्ञानिकों का अपना मत है परंतु भारतीय साहित्य में इसके उत्पन्न होने के विशेष करण बताया गया है। वेद में चंद्रमा को विशेष महत्व है। जिसकी उत्पति वेदों में विराट पुरुष के मन से मानी जाती है। जिसमें चंद्रमा विराट पुरुष के मन का प्रतीक है। जबकि सूर्य आँख का प्रतीक माना जाता है। चाँदनी रात में चंद्रमा का मन पर विशेष काबू होता है। जबकि इसके विपरीत अमावस्या की रात में चंद्रमा की ज्योति की कमी होती है जिससे चारों तरफ अंधेरा होता है। अतः समुन्द्र का जल इस आभाव को नहीं सह पाता है। जिससे समुद्र में धीरे-धीरे उबाल आने लगता है। इसी कारण अमावस्या को अधिकांशतः समुन्द्र में ज्वार-भाटा उत्पन्न होता है। इसकी चर्चा यजुर्वेद संहिता के 40वें अध्याय में निम्नलिखित मंत्र द्वारा इसकी पुष्टि होती है। जो इस प्रकार है- "चंद्रमामनसोजाततश्शचक्षो सूय्योअजायत॥"[39]

अमृतलाल वेगड़ जी गुजरात के मीठीतलाई में दिवाली पर अमावस्या की रात आने वाली ज्वार का जिक्र किया है। वे लिखते है- "आज दिवाली है, अमावस्या की रात। आज रात को समुन्द्र में बड़ा ज्वार आयेगा, इसे देखने जाएंगे।"[40]

निष्कर्ष :-

निष्कर्षतः धार्मिक दृष्टिकोण से नर्मदा नदी का विशेष महत्व है। इसके उद्गम स्थल से लेकर संगम तक विभिन्न तिथियों पर मेले और पर्वों का आयोजन होता रहा है। इसके अतिरिक्त नर्मदा नदी का धार्मिक महत्व होने के कारण अमावस्या, कार्तिक पूर्णिमा, दशहरा, दिवाली के अतिरिक्त प्रत्येक माह के विशेष तिथियों पर दीपदान तथा संकल्प आदि किया जाता है। अतः अमृतलाल वेगड़ ने नर्मदा पदयात्रा के दौरान विभिन्न राज्यों के जिलों में नर्मदा के किनारे होने वाले पर्व, उत्सव, मेले आदि का वर्णन अपने संस्मरण में किया है।

संदर्भ-सूची-

[1] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 22.

[2] मुकुंदवल्लभ. (1979). *कर्मठगुरुः* मोतीलाल बनारसीदास. पृ. 08.

[3] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 23.

[4] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 08.

[5] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 40.

[6] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 128.

[7] https://m.bharatdiscovery.org/india/%E0%A4%A8%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%AE%E0%A4%A6%E0%A4%BE_%E0%A4%A8%E0%A4%A6%E0%A5%80

[8] https://m.bharatdiscovery.org/india/%E0%A4%A8%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%AE%E0%A4%A6%E0%A4%BE_%E0%A4%A8%E0%A4%A6%E0%A5%80

[9] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 100.

[10] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 30.

[11] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 96.

[12] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 132-133.

[13] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 135.

[14] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 154.

[15] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 154.

[16] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 145.

[17] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 145.

[18] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 145.

[19] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 145.

[20] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 146.

[21] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 152.

[22] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 152.

[23] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 152.

[24] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 152-153

[25] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 28.

[26] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 28.

[27] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 35.

[28] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 83.

[29] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 100.

[30] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 21.

[31] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 21.

[32] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 38.

[33] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 38.

[34] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 67.

[35] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 69.

[36] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 70.

[37] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 135.

[38] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 31.

[39] रुद्राष्टाध्यायी. गोरखपुर : गीताप्रेस. पृ. 82.

[40] वेगड़, अमृतलाल. (2007). *सौंदर्य की नदी नर्मदा*. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 150.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 27.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

यक्षिणी : एक सांस्कृतिक विमर्श

स्नेहा ओझा*
snehao2526@gmail.com

प्रो. अर्चना खरे†
शोध निर्देशक

सारांश

भारतीय सांस्कृतिक चेतना में यक्षिणी का स्थान अत्यंत विशिष्ट एवं बहुअर्थी रहा है। यद्यपि यक्ष तथा यक्षिणियाँ वैदिक-उत्तर काल की पौराणिक परंपराओं में व्यापक रूप से उल्लिखित हैं, किंतु समय के साथ यक्षिणी केवल लोक-विश्वास का घटक न रहकर भारतीय सौन्दर्यानुभूति, स्त्री-शक्ति, पारिस्थितिक चेतना, और रचनात्मक कल्पना का प्रतीक बन गई है। प्राचीन ग्रंथों, मूर्तिकला, लोककथाओं, बौद्ध-साहित्य, जैन आगमों तथा तंत्र-मतों में यक्षिणी की निरंतर उपस्थिति इस तथ्य की पुष्टि करती है कि भारतीय संस्कृति में स्त्री-ऊर्जा का एक बहुस्तरीय, जटिल और सौन्दर्यमयी प्रतिरूप सदैव विद्यमान रहा है।

यक्षिणियाँ केवल रहस्य, सौन्दर्य और शक्ति के बिंब के रूप में नहीं उभरतीं, बल्कि वे मानव-पर्यावरण संबंध, नैतिक दुविधा, संरक्षणवादी मानसिकता और आध्यात्मिक चेतना जैसे विषयों को भी स्पर्श करती हैं। भारतीय कला में वृक्ष-यक्षिणी—विशेषतः 'शालभञ्जिका'-स्त्री और प्रकृति के अभिन्न संबंध को रेखांकित करती है। यह उपस्थिति संकेत करती है कि संस्कृति ने प्रकृति को स्त्री-ऊर्जा के रूप में देखा और उसकी जीवनदायिनी भूमिका को दैवीय रूप में प्रतिष्ठित किया।

सांस्कृतिक विमर्श में यक्षिणी लोक और शास्त्र, दृश्य और अदृश्य, वास्तविक और कल्पित, सबके बीच एक सेतु के रूप में उभरती है। समकालीन दृष्टिकोण से देखा जाए तो यक्षिणी का अध्ययन स्त्री-अनुभूति, सांस्कृतिक प्रतीकवाद, पर्यावरण-संरक्षण, और समाज में निहित दैवी-कल्पनाओं को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है। यह विमर्श केवल प्राचीनता तक सीमित नहीं, बल्कि वर्तमान समय में भी प्रासंगिक है जहाँ स्त्री-शक्ति और प्रकृति-संरक्षण दोनों ही वैश्विक संस्कृति के केंद्रीय विषय बन चुके हैं।

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य यक्षिणी के मिथकीय मूल, साहित्यिक रूपांतरण, दार्शनिक अर्थग्रहण, कला-संकेतों, तथा लोक-विश्वासों में उसकी बहुआयामी उपस्थिति का विश्लेषण करना है। यह अध्ययन न केवल सांस्कृतिक मूल्यों को नए संदर्भों में समझने का अवसर प्रदान करता है, बल्कि भारतीय प्रतीक-सृष्टि की व्यापकता और गहराई की ओर भी संकेत करता है।

मुख्य शब्द –

यक्षिणी, सांस्कृतिक विमर्श, स्त्री -ऊर्जा, लोक-परंपरा, भारतीय कला, पौराणिक चेतना, तांत्रिक संदर्भ, मिथकीय संरचना, स्त्री प्रतिरूप,दैवी-कल्पना, सौंदर्य -धारणा।

प्रस्तावना

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में यक्ष-यक्षिणी की अवधारणा केवल पौराणिक कथा या दैवीय कल्पना का हिस्सा नहीं, बल्कि मानव सभ्यता के आरंभिक काल में प्रकृति के प्रति उत्पन्न श्रद्धा और भय के सम्मिश्रण की अभिव्यक्ति है। यक्षिणी का

*** प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद डिग्री कॉलेज इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

† प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद डिग्री कॉलेज इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उल्लेख वेदों से लेकर बौद्ध साहित्य, जैन आगम, ब्राह्मण-ग्रंथों, पुराणों, तंत्र-शास्त्रों, संस्कृत काव्य, अपभ्रंश साहित्य तथा लोककथाओं तक इस निरंतरता को प्रमाणित करता है कि इस स्त्री-दैवीय सत्ता का प्रभाव भारतीय मानस पर अत्यंत गहरा रहा है। यक्षिणी को कभी वृक्षों की संरक्षिका, कभी जल-वन प्रांतों की संरक्षक देवी, कभी धन-संपदा की अधिष्ठात्री और कभी सौन्दर्य तथा कामना की प्रतीक शक्ति के रूप में देखा गया है।

भारतीय कला में "शालभंजिका यक्षिणी" स्त्री-सौन्दर्य, जैविक प्रजनन, और प्रकृति की उर्वरता के समन्वित प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है। सांची, भरहुत, मथुरा, नागार्जुनकोंडा और अमरावती की मूर्तियों में अंकित इन यक्षिणियों का वैशिष्ट्य केवल नारी-कायिक सौन्दर्य न होकर सांस्कृतिक स्मृतियों में निहित उस आदिम स्त्री-ऊर्जा का प्रकटीकरण है जिसे भारतीय परंपरा "सृष्टि-शक्ति" के रूप में देखती आयी है।

शोध समस्या

भारतीय सांस्कृतिक प्रतीक-सृष्टि में यक्षिणी के विविध रूपों का अध्ययन अभी तक विश्लेषणात्मक पद्धति से व्यापक नहीं हुआ है।

शोध उद्देश्य

1.यक्षिणी के मिथकीय मूल और सांस्कृतिक अर्थ का पुनर्पाठ।

2.कला, साहित्य और तांत्रिक परंपरा में यक्षिणी की उपस्थिति का तुलनात्मक अध्ययन।

3.यक्षिणी-प्रतिमा के भारतीय सौन्दर्यबोध से संबंध का मूल्यांकन।

4.लोकविश्वासों में स्त्री-ऊर्जा की प्रतीकात्मक भूमिका का विश्लेषण।

शोध पद्धति

1.सांस्कृतिक-मानवशास्त्रीय पद्धति

2.ग्रंथ-आधारित विश्लेषण

3.कलात्मक प्रतिमाओं का प्रतीकवादी अध्ययन

4. तुलनात्मक साहित्यिक विवेचन

यक्षिणी की अवधारणा एक ओर पौराणिक मिथक-निर्माण की जटिलताओं से जुड़ती है, वहीं दूसरी ओर यह मनुष्य और प्रकृति के संवाद की प्राचीनतम कथा को भी व्यक्त करती है। इसीलिए भारतीय ग्रंथों में यक्षिणी का चरित्र स्थिर नहीं है— कहीं वह दयामयी संरक्षिका है, कहीं क्रोध-रूपिणी शक्तिदायिनी, कहीं तपस्वी को वरदान देने वाली देवी, और कहीं भयप्रद वन-देवी के रूप में वर्णित है। इस परिवर्तनशीलता में भारतीय सांस्कृतिक अनुभूति का विस्तार निहित है जिसमें स्त्री-ऊर्जा को अनेक रूपों में पूजनीय माना गया है।यक्षिणी के सांस्कृतिक रूपांकन में एक और उल्लेखनीय तत्व यह है कि भारतीय समाज ने उसे केवल दैवीय सत्ता के रूप में ही नहीं, बल्कि एक जीवित सांस्कृतिक प्रतीक की तरह आत्मसात किया है। यक्षिणी का यह सांस्कृतिक रूप किसी एक युग, एक जाति या एक धार्मिक परंपरा तक सीमित नहीं है; वह अनेक परंपराओं की साझा विरासत है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो यक्षिणी की स्वीकृति उन गहरे सांस्कृतिक प्रवाहों की द्योतक है जो समाज के सामूहिक अवचेतन में लगातार बहते रहे हैं। कार्ल युंग ने जिस "आर्केटाइपल स्त्री-ऊर्जा" की अवधारणा का उल्लेख किया है, उसके भारतीय रूप को यक्षिणी के रूप में सहजता से पहचाना जा सकता है। यह ऊर्जा केवल सौंदर्य नहीं; यह रचनाशीलता, संरक्षण, दैवी प्रेरणा और अंतःप्रकृति की उर्वर क्षमता की समग्र अभिव्यक्ति है।

भारतीय संदर्भ में यक्षिणी की यह आर्केटाइपल उपस्थिति विविध ऐतिहासिक संक्रमणों के दौरान भी अप्रभावित बनी रही। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक संरचनाएँ बदलती रहीं, किंतु यक्षिणी के प्रतीक को समाज ने निरंतर स्वीकार किया। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि यक्षिणी को किसी कठोर धार्मिक अनुशासन या किसी विशेष संप्रदाय की सत्ता

का प्रतिनिधि नहीं माना गया। वह लोकविश्वास से ऊर्जित, प्रकृति-आधारित और सामाजिक स्मृतियों में गहराई से रची-बसी सत्ता है। यही कारण है कि वह ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त,सभी परंपराओं में किसी न किसी रूप में उपस्थित रहती है।

यदि हम भारतीय पुरातत्व में उपलब्ध यक्षिणी प्रतिमाओं की ओर दृष्टि डालें तो उनकी शिल्प-भंगिमाओं में एक अद्भुत जीवंतता दिखाई देती है। यद्यपि यह प्रतिमाएँ पत्थर में तराशी गई हैं, किंतु उनमें निहित स्त्री-सौंदर्य, मृदुलता, कोमलता और दैवीय प्रभाव मानो प्रतिमा के निर्जीव रूप को भी जीवन से भर देता है। कला-इतिहासकार अर्चना शर्मा अपनी पुस्तक भारतीय कला और शिल्प में लिखती हैं कि यक्षिणी की प्रतिमाओं में जो जीवन-ऊर्जा दिखाई देती है, वह भारतीय शिल्पकार की सौंदर्य-दृष्टि के साथ-साथ उस सांस्कृतिक मानस का प्रतिबिम्ब भी है जिसने स्त्री और प्रकृति के संबंध को आदिम काल से ही अविभाज्य माना।[1]

यही अविभाज्य संबंध यक्षिणी को 'वृक्ष-देवी' के रूप में भारतीय स्मृति में स्थापित करता है। वृक्ष मात्र भौतिक तत्व नहीं; वह प्राण, ऊर्जा, पोषण और जीवन की धारा का प्रतीक है। यक्षिणी जब वृक्ष को स्पर्श करती है, तो यह दृश्य केवल कलात्मक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संकेतों से भी भरा हुआ है—मानो स्त्री-ऊर्जा ही प्रकृति को पुनः सक्रिय करती है, और प्रकृति स्त्री-ऊर्जा को बल प्रदान करती है। यह द्वैतहीन संवाद भारतीय सभ्यता की उस मूल चेतना को प्रकट करता है जहाँ प्रकृति को देवत्व प्रदान किया गया और स्त्री को शक्ति।

यक्षिणी के सांस्कृतिक स्वरूप का एक अन्य आयाम उसकी भाव-चंचलता है। भरहुत और सांची की प्रतिमाओं में उसके चेहरे की मुद्रा कभी सौम्य, कभी चंचल, कभी सर्जनशील और कभी गहन निश्चय से ओतप्रोत दिखाई देती है। इससे स्पष्ट होता है कि यक्षिणी को किसी एक निश्चित भाव में बाँधना कठिन है—वह समय, प्रसंग और प्रतीक-स्थिति के अनुसार अपने रूप को बदलती रहती है। यही परिवर्तनशीलता उसे सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक बनाए रखती है।

संस्कृत साहित्य में यक्षिणी के लिए प्रयुक्त विविध विशेषण—जैसे विभावरी, तन्वी, ललिता, सरसवक्त्रा, दीप्तिमती, मृदुलालसा—इस गत्यात्मकता का संकेत करते हैं। यह विविधता केवल काव्य-शैली का गुण नहीं; यह यक्षिणी के सांस्कृतिक महत्त्व का सूक्ष्म सूचक है। संस्कृत काव्य, विशेषतः महाकाव्य परंपरा में, स्त्री और प्रकृति का सामंजस्य ही सौंदर्यानुभूति का केन्द्र है। यक्षिणी इसी सामंजस्य की सहज अभिव्यक्ति है।

बौद्ध साहित्य में, विशेषकर सांची स्तूप के तोरणों पर अंकित वृक्ष-यक्षिणियों का महत्व इस कारण भी बढ़ जाता है कि वे धार्मिक स्थल के संरक्षक प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध समाज ने भी यक्षिणी को 'मंगलकारी' देवता के रूप में स्वीकार किया। भरहुत स्तूप पर अंकित यक्षिणी के संबंध में मि. सी. एफ. फ्यूहर अपनी पुस्तक Bharhut—Its History में स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि यक्षिणी का यह रूप प्राचीन भारत के सौंदर्य-बोध का महत्वपूर्ण अंग था।[2]

जैन परंपरा में यक्षिणियाँ तीर्थंकरों की संरक्षिका के रूप में प्रतिष्ठित की गई। यद्यपि जैन धर्म कठोर तप, संयम और अहिंसा पर आधारित है, फिर भी उसने यक्षिणी के रूप को संरक्षक-देवी के रूप में स्वीकार किया। इसका कारण यह है कि यक्षिणी का चरित्र किसी एक गुण का प्रतिनिधि नहीं बल्कि संपूर्ण 'संरक्षण-ऊर्जा' का प्रतीक है। जैन यक्षिणियों—जैसे पद्मावती, अंबिका, चम्पा आदि—को मंदिरों में स्थान दिया गया, जिससे सिद्ध होता है कि भारतीय समाज में स्त्री-शक्ति को धार्मिक रूप से भी उच्च्च स्थान प्राप्त था।

तांत्रिक परंपरा में यक्षिणी की भूमिका और भी बहुउद्देशीय है। तंत्र-साहित्य में वर्णित 32 यक्षिणियों को साधकों के लिए मार्गदर्शक, शक्तिदात्री और सिध्याधिष्ठात्री माना गया। तांत्रिक ग्रंथ 'तंत्रसार'में यक्षिणियों के जिन गुणों का उल्लेख मिलता है, वह दर्शाता है कि यक्षिणी केवल लोकविश्वास का हिस्सा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।[3]

तांत्रिक दर्शन यह मानता है कि यक्षिणी मनुष्य की सुप्त शक्ति को जागृत करने वाली ऊर्जा है। यह दृष्टिकोण भारतीय परंपरा में स्त्री-ऊर्जा के प्रति आदर का विस्तार है—जहाँ स्त्री को केवल 'प्रकृति' के रूप में नहीं, बल्कि 'पराशक्ति' के रूप में भी स्वीकृत किया गया है।

यक्षिणी के सांस्कृतिक प्रतिमानों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह किसी भी संदर्भ में 'निष्क्रिय' सत्ता नहीं है। वह सदैव क्रियाशील, सक्रिय, उर्जस्विनी और गतिशील शक्ति के रूप में उपस्थित होती है। चाहे वह वृक्ष को स्पर्श कर रही हो, आभूषण धारण कर रही हो, नृत्यात्मक भंगिमा में खड़ी हो, आशीर्वाद दे रही हो, अथवा दूर से किसी साधक को निर्देशित कर रही हो—हर स्थिति में उसकी उपस्थिति एक 'जीवन-क्षितिज' का उद्घाटन करती है।

लोककथाओं और ग्रामीण परंपराओं में भी यक्षिणी की कथाएँ प्रचुरता से मिलती हैं। कई क्षेत्रों में उसे गाँव की सीमा-रक्षक देवी माना जाता है, जो यात्रियों को सुरक्षा प्रदान करती है। बंगाल, ओडिशा, असम और झारखंड के अनेक जनजातीय समुदायों में यक्षिणी या "वन-देवी" के रूप में पूजा जाने वाली स्त्रियाँ ग्राम-संस्कृति का अभिन्न हिस्सा हैं। यह मान्यता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि यक्षिणी की जड़ें केवल पौराणिक या काव्यात्मक नहीं बल्कि सामाजिक-जीवन की वास्तविक संरचना में भी गहरी जमी हैं।

यक्षिणी का पर्यावरण-संबंधी विमर्श भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। आधुनिक पारिस्थितिकी में जिस 'इको-फेमिनिज़्म' की चर्चा होती है—जिसमें स्त्री और प्रकृति के शोषण को समान माना जाता है—उसकी जड़ें भारतीय परंपरा में यक्षिणी के प्रतीक में कई शताब्दियों पहले से दिखाई देती हैं। यक्षिणी स्त्री-प्रकृति ऐक्य का सर्वोत्तम प्रतीक है—जहाँ दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे की ऊर्जा को पोषित करते हैं, और एक-दूसरे के अस्तित्व को पुष्ट करते हैं।

यक्षिणी पर शोध करते समय यह भी स्पष्ट होता है कि उसकी उपस्थिति केवल धार्मिक-सांस्कृतिक संदर्भ में ही सीमित नहीं है। वह भारतीय कला-दर्शन, सौंदर्य-मीमांसा, मानवशास्त्र, नृवंशशास्त्र, लोक-साहित्य, नृत्य-परंपरा, औषधीय लोकज्ञान, सांस्कृतिक मनोविज्ञान और प्रतीकवाद में भी गहरी छाप छोड़ती है। यक्षिणी के इसी बहुस्तरीय स्वरूप के कारण उसकी व्याख्या एक "सांस्कृतिक प्रतिरूप" के रूप में की जाती है।

वर्तमान समय में जब स्त्री-अधिकार, पर्यावरण-सुरक्षा, सांस्कृतिक पहचान और आध्यात्मिक पुनर्पाठ जैसे मुद्दे वैश्विक विमर्श के केन्द्र में हैं, यक्षिणी का अध्ययन इन सभी प्रवृत्तियों के बीच एक सेतु का कार्य करता है। वह आधुनिक समाज के लिए यह संदेश देती है कि स्त्री-ऊर्जा और प्रकृति-ऊर्जा दोनों को सम्मान देना मानव सभ्यता की स्थिरता के लिए अनिवार्य है।

इस प्रकार, यक्षिणी केवल एक पौराणिक पात्र नहीं बल्कि भारतीय सांस्कृतिक मानस की वह 'केन्द्रीय धुरी' है जिसने विभिन्न युगों में अपना रूप बदला परंतु अपना मूल सार कभी नहीं खोया। वह दैवीय भी है, मानवीय भी; सौंदर्य भी है, शक्ति भी, लोक भी है और शास्त्र भी।

यक्षिणी का मिथकीय उद्गम

यक्षिणी की उपस्थिति ऋग्वेद के "यक्ष" संबंधी उल्लेखों में बीज रूप में दिखाई देती है। बाद के ब्राह्मण-ग्रंथों और पुराणों में यह अवधारणा अधिक विकसित हो जाती है। विष्णु पुराण और भागवत पुराण में यक्षों को धनाध्यक्ष कुबेर के गणों के रूप में वर्णित किया गया है। यक्षिणियाँ इन्हीं यक्षों की स्त्री-शक्ति मानी जाती हैं।

संस्कृत साहित्य, विशेषकर कालिदास की रचनाओं (जैसे मेघदूत) में यक्ष और यक्षिणी के प्रसंग प्रेम, वियोग, सौन्दर्य और मानवीय भावुकता के अद्भुत प्रतिमान बनकर उभरते हैं। यहाँ यक्षिणी का चरित्र केवल देव-गणों की स्त्री नहीं, बल्कि एक संवेदनशील, भावनाशील, प्रतीक्षारत नायिका के रूप में सामने आता है।

यक्षिणी और बौद्ध-जैन परंपराएँ

बौद्ध कला में यक्षिणी का स्थान अत्यंत प्रमुख है। सांची स्तूप के 'तोरणों' पर अंकित वृक्ष-देवियाँ बताती हैं कि प्राचीन भारत में यक्षिणियों को "वन-देवी" के रूप में पूजा जाता था। भरहुत स्तूप में दर्ज मूर्तियों को Shalabhanjika Yakshini कहा गया है।[4]

जैन आगमों में यक्ष-यक्षिणी प्रत्येक तीर्थंकर के शक्ति-देवता और शक्ति-देवी के रूप में प्रतिष्ठित हैं—जैसे पद्मावती, अंबिका, चम्पा, सिद्धायिका आदि। इससे स्पष्ट होता है कि यक्षिणी का चरित्र केवल सौन्दर्य-प्रतीक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संरक्षिका रूप में भी देखा गया है।

तांत्रिक संदर्भों में यक्षिणी

तांत्रिक परंपरा में 32 यक्षिणियों—जैसे वज्रवाहिनी, चंद्रिका, सुलोचना, रति, करंकिणी, गुह्यकाली आदि—का व्यापक उल्लेख मिलता है। तंत्र ग्रंथों में ये यक्षिणियाँ साधक को मार्गदर्शन, सिद्धि, संरक्षण, और आध्यात्मिक शक्तियों की प्राप्ति का प्रतीक मानी गई हैं।[5]

भारतीय समाज में यक्षिणी लोकविश्वास और सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से स्त्री-केंद्रित आध्यात्मिक चेतना को अभिव्यक्त करती है। लोककथाओं में यक्षिणियाँ कभी पहाड़ों की अधिष्ठात्री, कभी कुएं-तालाबों की संरक्षिका, और कभी गाँवों की रक्षक दैवीय शक्तियों के रूप में वर्णित हैं। यह दैवी चेतना न केवल स्त्री को शक्ति-स्वरूप में स्वीकार करती है, बल्कि प्रकृति और समाज के मध्य संतुलन की आवश्यकता को भी सांकेतिक रूप से रेखांकित करती है।[6]

निष्कर्ष

यक्षिणी भारतीय सांस्कृतिक विरासत का वह सशक्त प्रतीक है जिसमें स्त्री-ऊर्जा, प्रकृति-सम्बद्धता, दैवीय संरक्षण, सौन्दर्य-संवेग और आध्यात्मिक चेतना एक साथ समाहित दिखाई देती हैं। यक्षिणी की यह व्यापकता दर्शाती है कि भारतीय समाज ने स्त्री को सदैव बहुआयामी रूप में स्वीकार किया-कभी वन-देवी, कभी संरक्षिका, कभी प्रेममयी नायिका और कभी तपश्चर्या की प्रदात्री शक्ति के रूप में।

भारतीय कला में यक्षिणी का सौन्दर्य केवल शारीरिक नहीं, बल्कि जीवन-धारा और प्रकृति की उर्वरता का आध्यात्मिक रूपक है। इसी प्रकार बौद्ध और जैन परंपराओं में यह चरित्र धर्म-संरक्षा और आध्यात्मिक मार्गदर्शन का प्रतीक बनकर उभरता है। तांत्रिक मतों में यक्षिणी शक्ति की गतिशीलता और आंतरिक ऊर्जा का रूप है, जो मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा को दिशा प्रदान करती है।

लोक-विश्वासों में यक्षिणी का रहस्यात्मक स्वर इस बात का संकेत है कि भारतीय समाज में प्रकृति और स्त्री दोनों को सम्मानजनक दैवीय स्थान प्राप्त रहा है। यह विमर्श यह भी स्पष्ट करता है कि स्त्री-सत्ता का मूल स्वरूप भारतीय संस्कृति में शक्ति, सृजन, संवेदना और संरक्षण के रूप में अवस्थित रहा है, अतः यक्षिणी का अध्ययन केवल पौराणिकता नहीं, बल्कि भारतीय जीवन-दृष्टि का गहन अन्वेषण है।

इस शोध से स्पष्ट होता है कि यक्षिणी का रूप समय, स्थान और परंपरा के परिवर्तन के साथ बहुविध अर्थों में व्याख्यायित होता रहा है, और इस परिवर्तनशीलता में भारतीय संस्कृति की उदारता और बहुलता दोनों विद्यमान हैं। आधुनिक संदर्भ में यक्षिणी का पुनर्पाठ स्त्री-अध्ययन, पर्यावरण-चेतना, कला-इतिहास और सांस्कृतिक मानवशास्त्र के लिए सार्थक दिशाएँ प्रदान करता है।

संदर्भ -

1 शर्मा, शिवराम. *तंत्रसार*. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1987, पृ. 211–226.

2 राधाकृष्ण. *प्राचीन भारतीय मूर्तिकला*. लोकभारती, 1992, पृ. 89–94.

3 द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद. *भारतीय पुराण साहित्य का इतिहास*. राजकमल, 1964, पृ. 142–147.

4 फ्यूहर, सी. एफ. *भरहुत - उसका इतिहास*. इंडियन एंटीक्वरी प्रेस, 1891, पृ. 70–80.

5 शर्मा, अर्चना. *भारतीय कला और शिल्प*. नेशनल पब्लिशिंग, 2002, पृ. 112–129.

6 शर्मा, शिवराम. *तंत्रसार*. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1987, पृ. 211–226.

Received: 28.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

गीतगोविन्दम् में वर्णित नायिका राधा का स्वरूप

अनुपम कुमार*

anupamkumar559910@gmail.com

सारांश—

'गीतगोविन्दम्' महाकवि जयदेव द्वारा रचित संस्कृत भाषा का श्रेष्ठतम गीतिकाव्य है, जिसमें 12 सर्ग है जो पुनः प्रबन्धों में (कुल 24 प्रबन्ध) विभक्त हैं। गीतगोविन्दम् की महिमा प्रेम के गीत की दिव्यता, भक्ति, सौन्दर्यशास्त्र और कला की अवधारणा की ओर उन्मुख हैं। 'गीतगोविन्दम्' से राधा काव्य को नया उत्कर्ष मिलता है,और यह उत्कर्ष संस्कृत के साथ-साथ अन्य भाषाओं के काव्यरुपो में निखरता ही चला गया। गीतगोविन्दम् 12 वीं शताब्दी से लेकर अद्यावधि भारतीय मनीषियों, अन्तर्राष्ट्रीय विद्वगण एवं सामान्य जन-जन के मुख्य आकर्षण का केन्द्र रहा हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र में गीतगोविन्दम् में वर्णित राधा के नायिका स्वरुप का विशद अध्ययन किया गया है,साथ ही साथ उक्त स्वरुप का सौन्दर्य शास्त्रीय विश्लेषण भी किया गया है।

प्रमुख शब्द— *राधा, कृष्ण, सौन्दर्यशास्त्र, नायिकाभेद आदि।*

अनेक देवी-पुराणों में श्रीराधा का तादात्म्य श्रीकृष्ण के प्रति स्थापित किया गया। श्रीमद्भागवत महापुराण में कहा गया है कि जहाँ अन्य गोपियों ने अंगस्पर्श के द्वारा विविध प्रकार से श्रीकृष्ण से सम्बन्ध जोड़ा वहीं एक गोपी ऐसी हैं, जो आँखों के सम्पुट में उन्हें भरती हैं,और उन्हें हृदय के भीतर पहुंचा देती हैं और वहीं पर उनसें एकात्म्य होती है। यही भाव स्थापित करने वाली श्री राधा है।

"पुलकाङ्गमुपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता।

सर्वास्ताः केशवालोक परमोत्सवनिर्वृताः।।[1]

राधा के विषय में बहुत से आख्यान मिलते हैं जिनमें एक आख्यान में श्रीराधा के ललिता के रूप में अलग से स्थापित होने की कहानी है। श्री राधा ने भगवान से मिलने के लिए श्रृंगार किया, तब दर्पण में देखना चाहा कि मै कैसी लग रही हूँ?, दर्पण की ओर देखते समय उन्हें ऐसा लगा कि पीछे से भगवान उनका ही रूप देख रहे हैं। अपने भगवान द्वारा निहारे गये प्रतिविम्ब को देखकर इतनी उल्लसित हुई कि उन्हें मूर्छा आ गयी। प्रिय के द्वारा पहचाना गया, प्रिय की दृष्टि से आलोकित अपना रूप स्पृहा का विषय बन गया, राधा मोहित हो गयीं। वह दर्पण में बस गया और वही रूप श्रीललिता के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इन आख्यानों से स्पष्ट होता हैं कि **राधा भारतीय वाङ्मय की अद्वितीय विभूति हैं। वे दूसरी सहचारिणी देवियों से भिन्न हैं। उनमें शुद्ध प्रियातत्त्व हैं। वे जगत्माता न होकर जगदीश्वर की आह्लाद शक्ति होने के कारण अलग हैं।** श्रीराधा का प्रेम ही श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण चरित का सबसे बड़ा सम्बल है। ऐसा समर्पण, और ऐसा इस तरह से एक दूसरे का ढूँढ़ना, किसी दूसरे प्रेमाख्यान में दिखाई नहीं पड़ता है।[2]

कृष्ण और राधा पृथक नहीं हैं, जैसे भाव और रस पृथक नहीं हैं। भाव का उच्छलन ही रस हैं, श्रीकृष्ण का राधामय होना ही सच्चिदानन्दसागर का ज्वार है। राधा न शरीर हैं, न इन्द्रिय, न पुत्री, न पत्नी, वे केवल प्रेम हैं। **कृष्ण के श्यामल रूप से पहले उनका वह प्रभामण्डल राधा हैं। उनके श्याम ललाट पर जो सबसे पहले झलकता है, वह हैं गोरोचन का**

*** शोधच्छात्र, संस्कृत, पालि, प्राकत एवं प्राच्यभाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

तिलक, जो राधा हैं। श्रीकृष्ण के प्राणों की पुकार भी राधा ही हैं। श्रीकृष्ण के रास की ईश्वरी भी राधा ही हैं। राधा मानव-मन की आदिम वृत्ति है, जो सम्पूर्ण सत्ता को अपनी तरह से बेचैन पाता हैं, समरस पाता है, वह छोटे मानस में रससिन्धु को भरने की न पूरी होने वाली कोशिश है।

भारतीय साहित्य में एकनिष्ठ पतिव्रत की प्रतिमा सीता है, रुक्मिणी है, सख्य की प्रतिमा द्रौपदी है, बहन के दुलार की प्रतिमा है सुभद्रा पर प्रिया तो केवल राधा हैं। राधा एक सर्वस्वनाशी प्रेम का विग्रह है जहां कामनाएँ क्षार हो गयी है, प्राप्ति ठुकरा दी गयी है, मिलन छोटा हो गया है, बस केवल प्रेम रह गया है।[3]

अतः हम कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण के स्मरण का कुसुमित परिणाम हैं राधा का स्मरण, श्रीकृष्ण-रूप में कोई गन्ध नहीं, पर राधा के अंग के वे जब श्रृंगार बनते हैं काले रंगमात्र नहीं रहते, वे मृगमदरस (कस्तुरी के रस) बन जाते हैं और रस बनकर राधा के रोम-रोम में खिले आकांक्षाओं के असंख्य कुसुम-स्तबकों में रस की तरह आपूरित हो जाते हैं। अकेले श्रीकृष्ण एक विशाल और उज्ज्वल अन्धकार हैं, राधा के अभिभावकत्व में वे वर्षा हैं, पर राधा कभी अकेली है ही नहीं वे श्रीकृष्ण की असंख्य सुधियों के बीच है, वे नित्य वसन्त हैं नित्य नूतन होने की आकांक्षा है, नित्य ताप है,नित्य मरण है और इसलिए महाकाली के पुरुषावतार श्रीकृष्ण की नित्यलीला का अधिष्ठान है।[4]

विश्व साहित्य में राधा का सर्वाधिक वर्णन हैं। किसी भी देश में ऐसी कोई भी धार्मिक देवी, प्रेम की नायिका और धार्मिक साहित्य का स्त्री चरित्र नहीं हैं जिसने कवियों, लेखकों, विचारकों और दार्शनिकों को इतना अधिक आकर्षित किया हो। राधः तथा राधा दोनों शब्दों की उत्पत्ति 'राध् वृद्धौ' धातु से है। जिसमें आ उपसर्ग जोड़ने पर आराधयति धातुपद बनता है। फलतः इन दोनों शब्दों का समान अर्थ है आराधना, अर्चना। राधा पवित्र तथा पूर्णतम आराधना की प्रतीक हैं।[5]

गीतगोविन्दम् में राधा नायिका के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। क्योंकि राधा 'गीतगोविन्दम्' की नायिका हैं अतः राधा के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व नायिका के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

नायक के समान गुणों वाली नायिका होती हैं जो तीन प्रकार की होती हैं- स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री।

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।
मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।।[5]

1- स्वकीया– स्वकीया नायिका शील तथा सरलता आदि गुणों से युक्त होती है, वह **मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा** भेद से तीन प्रकार की होती हैं।

मुग्धा– मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुःक्रुधि।[6]

जिसकी अवस्था तथा काम भावना नवीन होती हैं, जो रति क्रीड़ा में झिझकने वाली और क्रोध करने में कोमल होती है वह मुग्धा नायिका है।

मध्या– "मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा"।[7]

जिसमें यौवन और काम का उदय हो रहा है जो मुर्च्छा की अवस्था (मोह) पर्यन्त रति में समर्थ हैं वह मध्या नायिका है।

प्रगल्भा– यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके।

विलीयमाने वानन्दाद्रतारम्भेऽव्य चेतना।।[8]

जो यौवन में अन्धी सी काम से उन्मत्त सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अंगों में प्रविष्ट होती हुई सी सुरत के आरम्भ में भी चेतना रहित हो जाती हैं, वह प्रगल्भा नायिका है।

2- परकीया– परकीया नायिका दो प्रकार की होती हैं- कन्या तथा विवाहिता।

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽगिंरसेक्वचित्।

कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाऽङ्गीसंश्रयम्।।[9]

3-साधारण स्त्री– साधारणस्त्री गणिका कला प्रागल्भ्य धौर्त्ययुक।।[10]

साधारण स्त्री तो गणिका होती हैं जो कला प्रगल्भा और धूर्तता से युक्त होती है।

जयदेव के गीतगोविन्दम् की नायिका राधा में हमें स्वकीया नायिका के तीनों ही रूप दृष्टिगत होते हैं।

राधा कहीं मुग्धा, कहीं मध्या व कहीं प्रगल्भा नायिका के रूप में हमारे सम्मुख आती है। अधिकांशतः मुग्धा व प्रगल्भा ही उभर कर आयी हैं।

मुग्धा– कृष्ण राधा के मानमोचन का प्रयास करते हुए कहते हैं कि हे मुग्धे! यदि मुझ पर कुपित हो तो अपराध के योग्य निर्दय दन्तक्षत् भुजबन्धन और कठोर स्तनों से पीडानादि दण्ड दो। हे चण्डी! तुम ही आनन्द प्राप्त करो। मेरे प्राण काम रूपी चाण्डाल के प्रहार से निकले जा रहे हैं।

मुग्धे! वधेहि मयि निर्दयदन्तदश-
दोर्वल्लिबन्ध निबिडस्तन पीडनानि।
चण्डी! त्वमेव मुद्मुद्रह पंचबाण-
चाण्डालकाण्डदलनादसवः प्रयान्ति।।[11]

प्रगल्भा– कवि कहता हैं कि रास से उत्पन्न हर्षातिशय के कारण विलासवती गोपांगनाओं के सम्मुख ही गाढ़ालिंगन करके, प्रेमान्धी राधा के द्वारा तुम्हारा मुख अमृतमय है, अतः गीत का सुधा के सामान होना उचित ही है।

"रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीर वामभ्रवा-
मभ्यर्ण परिरम्भ निर्भरमुरः प्रेमान्धया राधया।
साधुत्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति-
व्याजादुद्भद्चुम्बितः स्मितमनोहारी हरि पातु वः।।[12]

नायिकाओं के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएं होती हैं।

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीन पतिकादिकाः।[13]

जो क्रमशः इस प्रकार है- **स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, कलहान्तरिता विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया, अभिसारिका।**

जयदेव की रचना नायिका भेद के आधार पर हैं, उसमें राधा को आठो प्रकार की नायिका के रूप में दिखाया गया है।

स्वाधीनपतिका - जिस नायिका का पति समीप में स्थित है तथा उसके अधीन है और प्रसन्न रहती हैं, वह स्वाधीनपतिका है।

"आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।"[14]

गीतगोविन्दम् के प्रारम्भिक श्लोक में ही राधा स्वाधीनपतिका नायिका के रूप में चित्रित है।

"मेघैमेर्दुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरूरयं त्वमेव तदिमं राधे! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं-
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।।[15]

वासकसज्जा– प्रिम के आगमन की आशा होने पर जो हर्ष के साथ अपने को सजाती है, वह वासकसज्जा है।

"मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये।"[16]

विरहोत्कण्ठिता– निरपराध होते हुए भी प्रिय के देर करने पर उत्कण्ठिता रहने वाली नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

"चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः"।[17]

राधा का विरहिणी रूप जयदेव की लेखनी ने इतना सुन्दर उतारा है कि उसमें हृदयपक्ष एवं कलापक्ष का अपूर्व सम्मिलन हुआ हैं।

खण्डिता– नायक को दूसरी नायिका के सहवास से विकृत जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है, वह खण्डिता है।

"ज्ञातेऽन्यासङ्गंविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।"[18]

गीतगोविन्दम् में राधा कृष्ण से ईर्ष्या पूर्वक कहती है–

"रजनिजनितगुरुजागररागकषायितमलसनिवेशम् वहति नमनमनुरागमिव स्पुटमुदितरसाभिनिवेशम्

हरि हरि याहि माधव! याही केशव! मा वद कैतववादम्
तामनुसर सरसीरुहलोचन! या तव हरति विषादम्।।[19]

कलहान्तरिता– क्रोध से अपराधयुक्त नायक को तिरस्कृत करके पश्चाताप की पीड़ा का अनुभव करने वाली कलहान्तरिता नायिका है।

"कलहान्तरिता अमर्षाद्विधूते अनुशयातिर्युक्।"[20]

नवम वर्ग के प्रारम्भ में राधा कलहान्तरिता नायिका के रूप में हमारे सम्मुख आती है।

"तामथ मन्मथखिन्नां रतिरसभिन्नां विषादसम्पन्नाम् अनुचिन्तितहरिचरितां कलहान्तरितामुवाच रहसि सखी।।[21]

विप्रलब्धा– प्रियतम के निश्चित समय पर न आने पर अत्यधिक अपमानित होने वाली विप्रलब्धा कहलाती है।

"विप्रलब्धोक्त समयमप्राप्तेऽतिविमानिता।।"[22]

राधा विलाप करती है कि सखी के वचन से ठगी गयी मैं इस समय किसकी शरण में जाऊं। कृष्ण संकेतित समय पर वन में नहीं आये, इस लिए मेरा यह सुन्दर रूप व्यर्थ हैं।

"कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनं
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्।
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवञ्चिता।।"[23]

प्रोषितप्रिया– जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूसरे दूर देश में स्थित होता है, वह प्रोषितप्रिया कहलाती है।

"दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषित प्रिया।"[24]

अभिसारिका– जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं जाती हैं अथवा नायक को अपने पास बुलाती है, वह अभिसारिका है।

"कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका।[25]

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेषम्।
न कुरु नितम्बिनि! गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम्।।[26]

साधारणतया जिस वस्तु से मनुष्य के मन में कोई सुखद अनुभूति होती हैं, उसको वह सुन्दर कहता है। हमारा मन ही 'सुम' अनुभूति का दाता होने से 'सुन्द' है, जिस वस्तु या विभाव से आकर्षित होकर मन में अनुभूति विभावित होती है उसे सुन्दर कहा जाता है,और उस वस्तु के आकर्षण को ही सौन्दर्य कहा जाता है।[27]

भारतीय कोशकारों- अमरकोशकार आदि ने भी सौन्दर्य के उसी व्यापक अर्थ को ग्रहण किया है।

"सुषमा परमाशोभा शोभा कान्तिर्द्युतिच्छविः"[28]
"सुन्दरं रुचिरं चारू सुषमं साधु शोभनम्।
कान्तं मनोरमं रूच्यं मनोज्ञं मंजु मंजुलम्।।"[29]

पंडितराज जगन्नाथ अलौकिक आनन्द का ज्ञान गोचर होना ही रमणीयता मानते हैं।– **रमणीयता च लोकोत्तराह्लादात् ज्ञानगोचरता।।[30]**

महाकवि माध नित्य नवीनता को ही रमणीयता मानते हैं– **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।।[31]**

जायसी ने सौन्दर्य में आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा मानते हैं। आध्यात्मिक आनन्द की सर्वप्रधान विशेषता आह्लाद प्रदान करना है

"देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरइन हुई छावा।।[32]

आचार्य आनन्दवर्धन, महाकवियों की वाणी में जिस अनिर्वचनीय सौन्दर्य की अवस्थिति मानते हैं उसका कारण भी आध्यात्मिक ही है।

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनां।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवांगनासु।।[33]

सौन्दर्य तत्त्व की अनुभूति प्रकृति के निरीक्षण या कलाकृति के अनुशीलन से होती है। इसके अन्तर्गत इन्द्रियगम्य सारी वस्तुओं और व्यापारों का समावेश किया गया है। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जिन वस्तुओं या व्यापारों का प्रत्यक्षीकरण मन में सुखद प्रतीत होता है, उन्हें ही हम सुन्दर कहते हैं। उन सुन्दर वस्तुओं से अनुभूत सौन्दर्यानुभूति को ही प्रकृतिगत सौन्दर्य कहते हैं। संगीत, काव्य, चित्र आदि कलाओं के माध्यम से जो कृतियाँ निर्मित होती हैं, कल्पना द्वारा उनकी सुन्दरता का आस्वादन ही सौन्दर्यानुभूति हैं, इसे ही कलागत सौन्दर्य कहते हैं। सौन्दर्य को हम सहजता के लिए कई रूपों में विभाजित कर सकते हैं-

1. मानवीय सौन्दर्य 2. प्राकृतिक सौन्दर्य 3. वस्तुगत सौन्दर्य 4. कलागत सौन्दर्य

मानवीय सौन्दर्य के दो भाग होते हैं। स्त्री सौन्दर्य, दुसरा पुरुष सौन्दर्य। स्त्री सौन्दर्य के भी दो भाग किये जा सकते हैं-

1.स्थूल सौन्दर्य 2.सूक्ष्म सौन्दर्य

स्थूल सौन्दर्य के अन्तर्गत नारी के अंग, वेशभूषा, आभूषण, शृंगार चेष्टा आदि वर्णन आता है। चेष्टा में वाणी, मुस्कान, अंगसंचालन, भ्रुनिक्षेप आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त 3 अंगज, 7 अयत्नज, 18 स्वभावज अलंकार भी आते हैं।

सूक्ष्म सौन्दर्य के अन्तर्गत स्त्री का शील निरूपण किया जाता है। जिसके अन्तर्गत सच्चरित्रता, मर्यादा लज्जा, सेवा, दया, त्याग, समर्पण, करुणा, उदारता, विनम्रता आदि गुणों का वर्णन किया जाता है।[34]

जयदेव ने सौन्दर्य को पूर्ण रूप से अनुभूत किया और फिर अपने काव्य में सुन्दर अभिव्यक्ति की,जिसमें गीतगोविन्दम् की नायिका राधा अत्यधिक सौन्दर्यशालिनी है।

कवि ने राधा के सौन्दर्य का कहीं स्वयं वर्णन किया है, कहीं कृष्ण द्वारा कराया है तो कहीं राधा की सखियों द्वारा कराया है। कवि कहता है कि कामदेव ने काम की विजय के लिए जंगम देवता राधा को जगत को जीतने वाले अस्त्र क्यों अर्पित किये है। उस राधा की भौंह ही धनुष हैं, कटाक्ष ही बाण है तथा कर्णलताप्रान्त ही प्रत्यंचा है।

"भ्रुपल्लवं धनुरपाङ्गतरङ्गितानि-
बाणा गुणः श्रवणपालिरिति स्मरेण।
तस्यामनङ्गजयजङ्गमदेवताया-
मस्त्राणि निर्जित जगन्ति किमर्पितानि।।[35]

राधा के सम्पूर्ण सौन्दर्य का एक अन्य आकर्षण चित्र भी दृष्टव्य है। कवि कहता है- उस राधा का लाल नाखूनों से अंकित हृदय, निद्रा से कषायित नेत्र, धुली हुई अधर की लालिमा खुले हुए एवं ढीली माला वाले केश तथा कुछ शिथिलप्रान्त वाली मेखला की लड़ी प्रातः काल पति के नेत्रों में लगे हुए इन पांच वाणों ने श्रीकृष्ण के मन को बाँध दिया।

"अतिक्रम्यापाङ्गं, श्रवणपथपर्यन्तगमन
प्रयासेनेवाक्ष्णोस्तरलतरतारं गमितयोः।
इदानीं राधायाः प्रियतम समायातसमये
पपात स्वेदाम्बुप्रसर इव हर्षाश्रुनिकरः।।[36]

इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में राधा ने हाथ में कंकण (कंगन) धारण किया है। कंगन का परिचय देती हुई सखी कहती है कि कामबाण के समान मनोहर नाखूनों वाले हाथ से सखी का आश्रय लेकर चलो। कंगन की ध्वनि से कृष्ण को अपना आगमन सूचित करो।

"स्मरशरसुभगनखेन सखीमवलम्ब्य करेण सलीलम्।
चल वलयक्वणितैरवबोधय हरिमपि निगदितशीलम्।।[37]

जयदेव ने एक स्थल पर उपमानों के आधार पर राधा के सौन्दर्य का वर्णन किया है।

"दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसन्दीपनं–
गतिर्जन मनोरमा विजित रम्भमूरुद्वयम्।
रतिस्तव कलावती रुचिरचित्र लेखे भ्रुवा–
वहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि! पृथ्वीगता।।[38]

कृष्ण कहते हैं कि हे तन्वि राधिके! दुम्हारी दृष्टि मद से अलस है, मुख चन्द्रमा के समान है, गति मनुष्यों के मन को हरने वाली हैं, तुम्हारी रति कलाओं से युक्त है,भौंह सुन्दर चित्र में खिंची हुई सी हैं, इस प्रकार पृथ्वी पर रखकर ही देवांगनाओं के समूह के सौन्दर्य को धारण करती हो।

निष्कर्ष :

शोध पत्र के विस्तृत विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट होता है कि जयदेव के गीतगोविन्दम् की नायिका राधा में स्वकीया नायिका के तीनों ही रुप दृष्टिगत होते हैं। राधा कहीं मुग्धा नायिका, कहीं मध्या नायिका तो कहीं प्रगल्भा नायिका के रुप में हमारे सम्मुख आती हैं।

अतः कहा जा सकता है कि जयदेव ने गीतगोविन्दम् में भक्ति व श्रृंगार के साथ-साथ नायिका के स्वरुप तथा सौन्दर्य का मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ–

1. श्रीमद्भागवत, दशमस्कंद पूर्वाध, अध्याय-32, श्लोक 8/9
2. मिश्र,विद्यानिवास– राधा माधव रंग रँगी, वाणी प्रकाशन, पृ. 27
3. वही, पृ. 32
4. कुमारी, कौशल : गीतगोविन्द साहित्यिक अध्ययन, सुमन प्रकाशन, दिल्ली 1993 पृ. 78-79
5. दशरुपक – 2/15
6. वही – 2/16
7. वही – 2/16
8. वही – 2/18
9. वही – 2/20
10. वही– 2/21
11. गीतगोविन्दम् – 10/19/3
12. वही – 1/4/12
13. दशरुपक — 2/23

14. वही
15. गीतगोविन्दम् – 1/1
16. दशरुपक – 2/24
17. वही– 2/25
18. वही
19. गीतगोविन्दम् – 8/17/1
20. दशरुपक – 2/26
21. गीतगोविन्दम् – 9/1
22. दशरुपक – 2/26
23. गीतगोविन्दम् – 7/13/1
24. दशरुपकम् – 2/27
25. वही – 2/27
26. गीतगोविन्दम् – 5/11/1
27. कुमारी, कौशल : गीतगोविन्द साहित्यिक अध्ययन, सुमन प्रकाशन, दिल्ली 1993 पृ.125
28. अमरकोश – 1/3/17
29. वही – 3/1/52
30. रसगङ्गाधर — प्रथममाननम्
31. शिशुपालवधम् – 4/17
32. जायसी : पद्मावत, मानसरोवर खण्ड
33. ध्वन्यालोक —1/4
34. कुमारी, कौशल : गीतगोविन्द साहित्यिक अध्ययन, सुमन प्रकाशन, दिल्ली 1993 पृ.127
35. गीतगोविन्दम् – 3/7/13
36. वही – 11/22/1
37. वही – 11/20/7
38. वही – 10/19/7

Received: 29.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

मानवीय मूल्य के सन्दर्भ में 'उत्तररामचरितम्'

डॉ. दुर्गेश*
durgeshk1092@gmail.com

संस्कृत साहित्य में नाटकों की एक विशिष्ट परम्परा रही है। विश्व साहित्य की विभिन्न विचारवीथियों में लोकप्रियता की दृष्टि से नाटकों का पहला स्थान है। नाट्य प्राणिमात्र के नानाभावों तथा अवस्थाओं के चित्रण से युक्त, लोकवृत्त के अनुकरण से संवलित ऐसी काव्य विधा है, जो श्रमार्त तथा शोकार्त सभी लोगों के लिए विश्रान्तिजनक, हितकारक तथा उपदेशप्रद होता है—

विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।[1]

यद्यपि संसार के सभी काव्य एवं शास्त्र मूल्यों के वर्णन से समृद्ध हैं। तथापि यहाँ नाट्य-साहित्य के कविश्रेष्ठ महाकवि भवभूति के उत्कृष्ट नाट्य-साहित्य उत्तररामचरितम् में मानवीय मूल्य के सन्दर्भ की समीक्षा अभीष्ट है।

मूल्य शब्द की निष्पत्ति—

मूल शब्द से यत् प्रत्यय करने पर मूल्य शब्द निष्पन्न होता है। अष्टाध्यायी में मूल्य से सम्बन्धित सूत्र—

नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता तुलाभ्यः।
तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु।।[2]

'मूल्य' शब्द का अर्थशास्त्रीय दृष्टि से शाब्दिक अर्थ है–मूलपूँजी के द्वारा अपने लिए बचाया जाने वाला धन।

मानवीय दृष्टि से मूल्य शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। मनुष्य अपनी व्यावहारिक श्रेष्ठता के लिए जिन जीवन आदर्शों को मानदण्डों के रूप में व्यक्ति या समाज के लिए निश्चित कर लेता है और जो उनके निर्विघ्न जीवन-निर्वाह में सहायक होते हैं। वे मानदण्ड ही मूल्य कहे जाते हैं। मूल्य मानवोचित लक्ष्य या पुरुषार्थ हैं।

मानवीय मूल्यों का आकलन—

प्राचीन और अर्वाचीन विभिन्न मतों में इसका प्रयोग हुआ है। समाजशास्त्र, साहित्यशास्त्र, वेद, उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों में मानवीय मूल्य का सम्यक् विवेचन प्राप्त होता है। वैदिक काल से ही मानव-जीवन को सच्चे अर्थों में विकसित कर उसे कर्मठ और समृद्ध बनाने का सतत् प्रयास किया गया है। वेदों में विभिन्न मूल्यों से युक्त मानव के उस व्यक्तित्व की कल्पना की गयी है, जो पृथ्वी से लेकर अन्तरिक्ष तक अपना विकास कर सके। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'हे मनुष्य संसार के ताने-बाने को बुनता हुआ भी प्रकाश के पीछे चल, बुद्धि से परिष्कृत प्रकाशयुक्त मार्ग की रक्षा कर, निरन्तर ज्ञान और कर्म के मार्ग पर चलता हुआ उलझन से रहित कर्म का विस्तार कर तथा अपने पीछे दिव्य गुण से युक्त उत्तराधिकारी को जन्म दे और इस प्रकार सच्चे अर्थ में मनुष्य बन'।

तन्तु तन्वत् रजसौमानुभन्विहि, ज्योतिष्मत: पथो रक्षधियाकृतान।
अनुक्तवर्ण वयत् जोगुवामयो, मनुर्भव जनय दैव्यं जनम्।।[3]

महाभारत में उदात्त मानवीय मूल्यों से युक्त मनुष्य को नारायण से अभिन्न बताया गया है—

नारायणो नरश्चैव सत्वमेकं द्विधा कृतम्।[4]

---

* **असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत-विभाग), श्री गांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मालटारी आजमगढ़**

औपनिषदिक परम्परा का परम उद्देश्य मानव जीवन सम्यव्â विकास कर उसे नि:श्रेयस की प्राप्ति कराना है। ईशावास्योपनिषद् त्यागमय भोग की शिक्षा देता है; क्योंकि किसी भोग के प्रति लिप्सा दु:ख का कारण होती है। नि:स्पृह भावना ही त्याग है—

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।।[5]

काव्यशास्त्रकारों ने भी विभिन्न काव्य प्रयोजनों के उल्लेख में मानवीय मूल्यों को उद्घाटित किया है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रयोजन में मानव-जीवन के विभिन्न मूल्यों का वर्णन किया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्य: परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।[6]

आचार्य मम्मट ने मानव जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय तथा लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत लक्षण दिया है।

आचार्य भामह ने भी मानवीय मूल्यों को प्रतिपादित करने वाले तत्त्वों को अपने काव्य प्रयोजन में यथावसर वर्णन किया है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।[7]

भामह ने कीर्ति तथा प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति तथा कला एवं व्यवहार आदि में निपुणता की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन माना है। करणीय और अकरणीय कर्त्तव्यों का ज्ञान भी काव्य कराता है। करणीय कर्त्तव्यों में धर्म है तथा अकरणीय कर्त्तव्यों में अधर्म है। इस प्रकार धर्म की शिक्षा काव्य देता है।

इस प्रकार मानवीय मूल्य तथा मूल्यपरक शिक्षा का वर्णन प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

मूल्य का प्रयोग क्षेत्र—

मूल्य का प्रयोगक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। मानव मानवीय मूल्यों का प्रयोग व्यक्ति के ऊपर और मानवेतर प्राणियों—पशु-पक्षी, वृक्ष आदि पर भी कर सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर ही मूल्यों की अवस्थापना करता है और उसका प्रयोग भी समाज में करता है। मूल्यों का सम्बन्ध मानव के साथ शाश्वत रहा है। आज जिन व्यक्तियों, महर्षियों और महात्माओं का नाम आदर के साथ लिया जाता है और जिनका आचरण हमारे लिए आदर्श है। वह उनके मूल्यबोध के कारण ही है। महान् आत्मा वे लोग है जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन दूसरों के हित के लिए समर्पित कर दिया। **'सर्वजन हिताय'** और **'सर्वजन सुखाय'** के लिए कार्य किया इसलिए आज **'महाजनो येन गत: स पन्था:'** कहा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति मूल्य का प्रयोग पहले से ही व्यक्ति-समाज के ऊपर करता चला आया है।

विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार मूल्यों का भेद किया है लेकिन मूल्य साधन और साध्य के रूप में दो प्रकार का होता है। इस भेद का आधार मानव ही है। मनुष्य के जीवन में पुरूषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रमुख स्थान है, इसमें मोक्ष साध्य है और धर्म, अर्थ, काम को उसके साधन के रूप में माना जा सकता है।

(१) साधन मूल्य—जो मूल्य व्यक्ति के इष्ट अर्थात् सुख की प्राप्ति का साधक हो वह साधन मूल्य कहलाता है। सुख प्राप्ति का मूल है। धर्म अत: ऐहिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति कराने वाले धर्म के अवयव दया, परोपकार, विनम्रता, कर्त्तव्यपरायणता आदि साधन मूल्य है।

(२) साध्य मूल्य—पर की अपेक्षा से रक्षित परम आत्यन्तिक सुख और शान्ति जिससे मिले, वह साध्य मूल्य कहलाता है। हितोपदेश में **'साध्ये सिद्धिर्विधीयताम्'** कहा गया है। इसके अन्तर्गत आर्जव सत्य तपस्या जैसे मूल्य आते हैं।

काव्य के दो भेदों–दृश्य और श्रव्य काव्य में दृश्य काव्य को अभिनेय काव्य कहा जाता है। इस अभिनेय काव्य में अभिनेता द्वारा चार प्रकार के अभिनयों—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक द्वारा जो राम आदि की अवस्थाओं का

अनुकरण करता है, वह व्यक्ति के ऊपर सीधे आदर्शों की छाप छोड़ता है और श्रेष्ठ कर्म करने की ओर प्रेरित करता है। इसलिए भवभूति के श्रेष्ठ दृश्य काव्य उत्तररामचरितम् श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त मानवीय मूल्यों पर चिन्तन करना समीचीन होगा।

(१) दया—किसी विपत्तिग्रस्त दु:खी व्यक्ति के दु:ख में संवेदना रखते हुए उसके दु:ख को दूर करने का प्रयास ही दया है। दया एक मानवीय गुण है, लेकिन यही दया जब समष्टिहित के लिए प्रयुक्त होती है तो वह श्रेष्ठ मानवीय मूल्य में बदल जाती है। मानवता का मूल दया है। उत्तररामचरितम् रूपक में दया मूल्य का वर्णन कई स्थान पर प्राप्त होता है। जहाँ पर महर्षि वाल्मीकि ने क्रौञ्च युगल में नर पक्षी को मार दिये जाने के फलस्वरूप दया से अभिभूत होकर कहा था—

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम्।।[8]

इससे यह स्पष्ट होता है कि महर्षि का दया से उत्पन्न शोक का श्राप के रूप में परिणत होना असीम दया का परिचायक है।

मनुष्यों के प्रति दया का वर्णन भवभूति ने उत्तररामचरितम् में बड़ी ही कुशलता के साथ किया है।

राम:— कष्टं जन: कुलधनैरनुरञ्जनीय।
स्तन्नो यदुक्तमशिवं नहि तत्क्षमं ते।।[9]

इससे निम्न बातें स्पष्ट हो रही है—

(१) दु:खी व्यक्ति के ऊपर दया करना अतीव आवश्यक है।

(२) 'जनै:' का अर्थ समर्थ व्यक्ति से है अत: समर्थ व्यक्ति के द्वारा दु:खी लोगों पर दया करना आवश्यक है; क्योंकि जो असमर्थ हैं वह दया करके भी कुछ नहीं कर सकते हैं।

महाकवि भवभूति ने मानवीय मूल्य के अन्तर्गत दया का भाव न केवल मनुष्यों के प्रति ही दिखाया है अपितु पर्यावरण के प्रति भी दयाभाव का चित्रण प्राप्त होता है।

राम:—कतिपयकुसुमोद्गम: कदम्ब: प्रियतमया परिवर्धितोऽयमासीत।[11]

इससे निम्न बातें स्पष्ट हो रही हैं—

(१) वृक्षों में जब फूल लगते हैं उस समय उनको जल सेचन बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। सीता द्वारा दया कर उसी समय कदम्ब के वृक्ष को जल से सेचन करना दया का द्योतक है।

(२) 'स्नेह'—स्नेह का अर्थ प्रेमभाव है किसी के प्रति प्रेमभाव का होना चाहे वह संतान हो, मित्र हो, प्रजा हो, स्नेह है। व्यवहारत: सिद्ध है कि छल, दम्भ युक्त व्यक्ति का किसी से स्नेह जुड़ नहीं पाता, जुड़ता भी है तो उसका निर्वाह नहीं हो पाता है। अतएव स्नेह बनाए रखने के लिए निश्छलता अनिवार्य है।

भवभूति ने भी सन्तति स्नेह का वर्णन उत्तररामचरितम् में इस प्रकार किया है—

तमसा—प्रसव: खलु प्रकृष्टपर्यन्त; स्नेहस्य।
परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रो:।।[12]

इससे यह स्पष्ट होता है कि सन्तान प्रेम की उत्कृष्ट सीमा है। सन्तान ही स्नेह का आश्रय है।

स्त्री के प्रति स्नेह का वर्णन भवभूति ने जीवन की लक्ष्मी मान किया है—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो
रसावस्या: स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरस:।
अयं बाहु: कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर:
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह:।।[13]

यहाँ पर राम सीता को लक्ष्मी मानकर जीवन का सर्वस्व मानते हैं और उससे स्नेह रखना अति आवश्यक है।

सीता भी राम के प्रति असीम स्नेह से युक्त थी, जो तमसा के कथन से प्रतीत होता है—

प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं।
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव।।[14]

इससे स्पष्ट होता है कि सीता का राम के द्वारा निष्कारण परित्याग होने पर भी राम के प्रति असीम स्नेह से युक्त होना।

(३) परोपकार—'परेषां उपकार: परोपकार:' इसका अर्थ है—पर का उपकार अर्थात् दूसरों का किया गया कल्याण ही परोपकार है, परोपकार दीन-दु:खियों की नि:स्वार्थ सेवा का भाव है, इसी बात को लक्ष्य रखकर भवभूति ने कहा है—

सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम्।
यत्पूरितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुञ्चता।।[15]

इससे यह ज्ञापित होता है कि सज्जनों के लिए लोक का आराधन ही सबसे अभीष्ट है, सामान्य लोगों के लिए आत्म आराधन अभीष्ट होता है तो वहीं दूसरी तरफ भवभूति ने जटायू के द्वारा सीता की रक्षा के उपकारक चरित्र का वर्णन किया है। राम कहते हैं—

हा तात काश्यप शकुन्तराज, क्व नु खलु पुनस्त्वादृशस्य
महतस्तीर्थभूतस्य साधो: सम्भव:।[16]

इससे ज्ञापित होता है कि तीर्थभूत साधुओं का चरित्र का उपकारक होना, जटायु का अपने जीवन की परवाह न कर असहाय नारी की रक्षा करना महान पुण्य और परोपकार का द्योतक है।

ऋषियों का चरित्र उपकारक होता है। भवभूति ने उत्तररामचरितम् में कहा है कि इस पृथ्वी पर गङ्गाजी के समान पृथ्वी, वाल्मीकि सदृश लोग उपकारक होते हैं—

ईदृशानां विपाकोऽपि जायते परमाद्भुत:।
यत्रोपकरणीभावमायात्येवं विधो जन:।।[17]

यहाँ पर गङ्गाजी ने सीताजी के उन दोनों शिशुओं को महर्षि वाल्मीकि को सौंपकर उपकार किया वैसे ही वाल्मीकिजी ने भी उनका पालन-पोषण कर परोपकार किया है।

(४) कर्त्तव्यपरायणता—मानवीय मूल्यों के अन्तर्गत कर्त्तव्यपरायणता एक अनिवार्य तत्त्व है। जिसका अर्थ है–जो कुछ उचित हो वह होना चाहिये, हिन्दी-संस्कृत शब्द कोश के अनुसार कर्त्तव्य का अर्थ है–अवश्य करने योग्य कार्य। कर्त्तव्यपरायणता शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में किया जाता है—

१. उत्तरदायित्व का निर्वाह करना।
२. धर्म का पालन करना।
३. परहित में प्राणों का बलिदान भी कर्त्तव्य के अन्तर्गत आता है।
४. अकर्त्तव्य से विरक्ति भी एक प्रकार का कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्यपरायणता के विषय श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर ही व्यक्ति सिद्धि को प्राप्त करता है—

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।[18]

भवभूति ने भी राम के माध्यम से कर्त्तव्यपरायणता का सन्देश दिया है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[19]

यहाँ पर भवभूति का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार राम अपना सबकुछ (यहाँ तक जानकी को भी) त्यागकर प्रजा का अनुरञ्जन करते हैं, उसी प्रकार अन्य राजाओं को भी चाहिए कि वह अपना सब कुछ त्यागकर प्रजा का अनुरञ्जन करें।

(५) **निरभिमानता**—मानवीय मूल्य के अन्तर्गत निरभिमानता गुण व्यक्ति को ऐश्वर्यशाली बनाता है। निरभिमानता का अर्थ गर्व से रहित है। शङ्कराचार्य ने अपने श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में निरभिमानता का अर्थ इस प्रकार से दिया है—

निरहङ्करो विद्यावन्त्वादि निमित्तात्म सम्भावनारहित इत्यर्थः।[20]

अर्थात् अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव और ऐश्वर्य, विद्वता का घमण्ड न करना ही निरभिमानता है।

इसी प्रकार से उत्तररामचरितम् में भी राम की विद्वता का अभिमान के अभाव में निरभिमानता का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है—

अर्थवादः एवैषः। दोषं तु मे कथचित्कथय येन प्रतिविधीयते।[21]

(६) **शिष्टाचार**—शिष्टाचार का अर्थ शिष्टतापूर्ण आचरण और सभ्य व्यवहार है। याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि अवस्था में बड़े को सम्मान देना आवश्यक है; क्योंकि एक शूद्र भी अवस्था में बड़ा होने पर सम्मान का अधिकारी है—

विधाकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम्।
एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति।।[22]

भवभूति के उत्तररामचरितम् में भी शिष्टाचार की यही पद्धति परिलक्षित होती है—

राम—भगवन्, अभिवादये। इत आस्यताम्।[23]

(७) **सहृदयता**—सहृदयता का शाब्दिक अर्थ हृदय की उदारता है। ईर्ष्या, द्वेष आदि को छोड़कर सभी के कल्याण के विषय में सोचना ही सहृदयता है।

आचार्य भवभूति भी इसी विचार के पोषक हैं। उत्तररामचरितम् में कञ्चुकी सहृदयता के कारण जनक से कहता है कि दुःखी लोगों को और दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए।

कञ्चुकी—राजर्षे, अनेनैव मन्युना चिरपरित्यक्तरामभद्रदर्शनां
नार्हसि दुःखयितुमतिदुःखितां देवीम्।[24]

(८) **विनम्रता**—विनम्रता एक विशिष्ट मानवीय मूल्य है। भवभूति के उत्तररामचरितम् में विनम्रता के मूल्य स्थापित हुए हैं। भगवान् राम वाल्मीकि मुनि के नियम कष्ट को स्वीकार कर विनम्र भाव से उनके पास आते हैं—

राज्याश्रयनिवासोऽपि प्राप्तकष्टमुनिव्रतः।

वाल्मीकिगौरवादार्य इत एवाभिवर्तते।। [25]

विनम्रता एक ऐसा मानवीय मूल्य है जो दूसरों को भी विनम्र बना देता है; क्योंकि विनम्रता से एक पवित्र सामर्थ्य से व्यक्ति सम्पन्न हो जाता है। राम को देखकर लव मन ही मन सोचता है कि आश्चर्य है इन राम को देखकर वैर शान्त हो गया है—

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः।
तदौद्धत्यं क्वापि ब्रजति विनयः प्रह्वयति माम्।।[26]

इसके अतिरिक्त मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में भवभूति के नाटक उत्तररामचरितम् में साधन मूल्य के साथ साध्य मूल्य जो साधन मूल्यों के अनुष्ठान से साध्यरूपी अनुष्ठेय मूल्य की प्राप्ति के अन्तर्गत आर्जव, सत्य, तपस्या आदि साध्य मूल्य का वर्णन प्राप्त होता है।

निष्कर्ष : -

अतएव इन साधन और साध्य मूल्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाकवि भवभूति का उत्तररामचरितम् भारतीय साहित्य एवं मानव जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। आधुनिक युग में मानव जीवन कृतार्थता एवं लोक-व्यवहार की निपुणता में ये दृश्य काव्य एक मानदण्ड सिद्ध हुए हैं।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र–१.११४
2. अष्टाध्यायी–४.४
3. मूल्यमीमांसा—गोविन्दचन्द पाण्डेय, पृष्ठ ३३-३४
4. ऋग्वेद–१०.५३.६
5. महाभारत, उद्योग पर्व
6. ईशावास्योपनिषद्–१
7. काव्यप्रकाश–१.२
8. काव्यालङ्कार–१.२
9. उत्तररामचरितम्–२.४
10. उत्तर०–१.१४
11. उत्तर०–३, पृष्ठ–१६८
12. उत्तर०–३, पृष्ठ–१६६
13. उत्तर०–१.४८
14. उत्तर०–३.१३
15. उत्तर०–१.४१
16. उत्तर०, पृष्ठ–७०
17. उत्तर०–३.३
18. उत्तर०–१.१२
19. श्रीमद्भगद्गीत–१८.४५
20. श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य–शां०, पृष्ठ–७४
21. उत्तर०, पृष्ठ–८६
22. याज्ञ० (आचारा०)–११६
23. उत्तर०, पृष्ठ–२८
24. उत्तर०, पृष्ठ–२२०
25. उत्तर०–७.१
26. उत्तर०–६.११

संन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची—

काव्यप्रकाश—आचार्य विश्वेश्वर; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

ईशादिनौउपनिषद्—गीताप्रेस गोरखपुर।

उत्तररामचरितम्—श्रीनिवास मिश्र एवं डॉ. बाबूराम त्रिपाठी; महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२.

याज्ञवल्क्यस्मृति—डॉ उमेशचन्द्र पाण्डेय; चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

काव्यालङ्कारसूत्र—श्री हरगोविन्द शास्त्री; चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

श्रीमद्भगवद्गीता—श्री जयदयाल गोयन्दका; गीताप्रेस, गोरखपुर।

महाभारत—गीताप्रेस, गोरखपुर।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी—श्रीगोपालदत्त पाण्डेय; चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

संस्कृत साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला; चौखम्भा विद्याभावन, वाराणसी।

Received: 30.03.2026 | Accepted: 25.04.2026 | Published: 30.05.2026

उत्तर बिहार के किसान आंदोलन में तिरहुत प्रमण्डल की भूमिका (1920–1947)

पूनम कुमारी* **डॉ श्वेता गुप्ता†**
pnoomji@gmail.com **शोध निर्देशक**

सारांश

उत्तर बिहार का तिरहुत प्रमण्डल भारतीय किसान आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 1920 से 1947 के मध्य यह क्षेत्र किसानों की आर्थिक समस्याओं, जमींदारी शोषण, अत्यधिक लगान, बेगार प्रथा तथा औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध संघर्ष का प्रमुख केंद्र बनकर उभरा।[1] तिरहुत प्रमण्डल के किसानों ने न केवल अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित आंदोलन किए, बल्कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को भी व्यापक जनाधार प्रदान किया। इस क्षेत्र में किसान सभाओं, स्थानीय नेताओं तथा ग्रामीण समुदायों की सक्रिय भागीदारी ने किसान चेतना के विकास और सामाजिक-राजनीतिक जागरण को गति प्रदान की।[2] प्रस्तुत शोध-पत्र में 1920 से 1947 के मध्य तिरहुत प्रमण्डल में संचालित किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उनके कारणों, स्वरूप तथा प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलन केवल आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष नहीं थे, बल्कि वे सामाजिक न्याय, राजनीतिक जागरूकता और ग्रामीण समाज में परिवर्तन के महत्वपूर्ण माध्यम भी बने।[3] इन आंदोलनों ने किसानों में संगठन, अधिकार चेतना तथा राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति सक्रिय भागीदारी की भावना को विकसित किया। इस प्रकार तिरहुत प्रमण्डल का किसान आंदोलन उत्तर बिहार के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है, जिसने स्वतंत्रता आंदोलन और ग्रामीण परिवर्तन की प्रक्रिया को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया।[4]

कुटशब्द:

तिरहुत प्रमण्डल, उत्तर बिहार, किसान आंदोलन, किसान सभा, जमींदारी शोषण, कृषक चेतना, राष्ट्रीय आंदोलन, ग्रामीण परिवर्तन।

प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में किसान आंदोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। औपनिवेशिक शासन और जमींदारी व्यवस्था के कारण किसानों को अत्यधिक लगान, बेगार, ऋणग्रस्तता तथा सामाजिक-आर्थिक शोषण का सामना करना पड़ा। इन परिस्थितियों ने किसानों को संगठित संघर्ष के लिए प्रेरित किया, जिससे किसान आंदोलन विकसित हुए और राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जनाधार प्राप्त हुआ।[5] बिहार किसान आंदोलनों का एक प्रमुख केंद्र था। विशेष रूप से उत्तर बिहार का तिरहुत प्रमण्डल कृषि प्रधान क्षेत्र होने के बावजूद जमींदारी प्रथा, बटाईदारी व्यवस्था तथा विभिन्न प्रकार के करों से प्रभावित था। परिणामस्वरूप किसानों में असंतोष बढ़ा और वे अपने अधिकारों के लिए संगठित होने लगे।[6] 1920 के दशक से किसान सभाओं और ग्रामीण संगठनों की गतिविधियों ने किसानों में जागरूकता उत्पन्न की। भूमिहीन किसानों, बटाईदारों तथा छोटे कृषकों की समस्याओं ने किसान आंदोलन को व्यापक आधार प्रदान किया।[7] स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में बिहार

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**

†**असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**

प्रांतीय किसान सभा के गठन ने इस आंदोलन को नई दिशा दी। तिरहुत प्रमण्डल के किसानों ने इन संघर्षों में सक्रिय भागीदारी निभाई, जिससे किसान चेतना और राजनीतिक जागरूकता का विस्तार हुआ।[8] 1920 से 1947 का कालखंड तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलनों के विकास और प्रभाव को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस दौरान किसानों ने अपने अधिकारों के लिए संगठित संघर्ष किए, जिन्होंने न केवल ग्रामीण समाज को प्रभावित किया, बल्कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को भी मजबूत आधार प्रदान किया। प्रस्तुत अध्ययन में तिरहुत प्रमण्डल की इसी ऐतिहासिक भूमिका का विश्लेषण किया जाएगा।[9]

साहित्य समीक्षा

वाल्टर हाउज़र (1961) ने अपनी पुस्तक *"द बिहार प्रोविन्शियल किसान सभा : 1929-1942"* में बिहार के किसान आंदोलन के उद्भव, विकास तथा किसान सभा की गतिविधियों का विस्तृत अध्ययन किया है। उन्होंने किसान सभा के संगठनात्मक स्वरूप, उसके नेतृत्व तथा किसानों की समस्याओं को प्रमुखता से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार बिहार का किसान आंदोलन किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध एक संगठित संघर्ष था, जिसने ग्रामीण समाज में व्यापक राजनीतिक चेतना का विकास किया।

स्वामी सहजानंद सरस्वती (1940) ने अपनी आत्मकथात्मक कृति *"मेरा जीवन संघर्ष"* में किसान आंदोलन के प्रत्यक्ष अनुभवों तथा किसानों की वास्तविक समस्याओं का वर्णन किया है। उन्होंने जमींदारी शोषण, अत्यधिक लगान, बेदखली और किसानों की दयनीय स्थिति को उजागर करते हुए किसान संगठनों की आवश्यकता पर बल दिया। उनका अध्ययन किसान आंदोलन के आंतरिक स्वरूप और उसके वैचारिक आधार को समझने में महत्वपूर्ण स्रोत प्रदान करता है।

बी. पी. मंडल, के. नारायण एवं चित्रा कुमारी (2009) ने अपनी पुस्तक *"भारतीय किसान आंदोलन के नायक : स्वामी सहजानंद सरस्वती"* में स्वामी सहजानंद सरस्वती के जीवन, विचारों तथा किसान आंदोलन में उनके योगदान का विश्लेषण किया है। उन्होंने बिहार के किसान आंदोलनों में स्वामीजी की भूमिका को रेखांकित करते हुए बताया है कि उनके नेतृत्व ने किसानों को संगठित करने तथा उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा प्रदान की।

बिपन चंद्र (1984) ने अपनी पुस्तक *"भारत का स्वतंत्रता संग्राम"* में किसान आंदोलनों को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का महत्वपूर्ण अंग माना है। उन्होंने किसानों की भागीदारी, ग्रामीण क्षेत्रों में राजनीतिक चेतना के विकास तथा स्वतंत्रता संघर्ष पर किसान आंदोलनों के प्रभाव का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार किसान आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जनाधार प्रदान किया और स्वतंत्रता संग्राम को मजबूत बनाया।

रजनी पाम दत्त (1947) ने अपनी पुस्तक *"इंडिया टुडे"* में औपनिवेशिक शासन की आर्थिक नीतियों तथा भारतीय समाज पर उनके प्रभावों का विश्लेषण किया है। उन्होंने किसान आंदोलनों को औपनिवेशिक और सामंती शोषण के विरुद्ध जनसंघर्ष के रूप में देखा है। उनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि किसान आंदोलन केवल आर्थिक अधिकारों का प्रश्न नहीं था, बल्कि वह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का भी महत्वपूर्ण माध्यम था।

अनुसंधान अंतराल

उत्तर बिहार के किसान आंदोलनों पर उपलब्ध अधिकांश अध्ययनों में बिहार किसान सभा, स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व तथा किसान आंदोलनों के व्यापक स्वरूप का विश्लेषण किया गया है, किंतु तिरहुत प्रमण्डल की विशिष्ट भूमिका पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। विशेष रूप से यह प्रश्न अभी भी पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं हो सका है कि 1920 से 1947 के मध्य तिरहुत प्रमण्डल के किसानों, स्थानीय नेतृत्व तथा किसान संगठनों ने उत्तर बिहार के किसान आंदोलन को किस प्रकार दिशा प्रदान की और उसका ग्रामीण समाज तथा राष्ट्रीय आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ा। अतः प्रस्तुत अध्ययन इस शोध-अंतराल को भरने का प्रयास करते हुए उत्तर बिहार के किसान आंदोलन में तिरहुत प्रमण्डल की भूमिका का ऐतिहासिक विश्लेषण करेगा।

अध्ययन के उद्देश्य

1. 1920 से 1947 के मध्य उत्तर बिहार के किसान आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उसके विकास क्रम का अध्ययन करना।
2. तिरहुत प्रमण्डल में किसान आंदोलनों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों का विश्लेषण करना।
3. तिरहुत प्रमण्डल में जमींदारी शोषण, लगान व्यवस्था तथा किसानों की समस्याओं का अध्ययन करना।
4. किसान सभा तथा किसान आंदोलन के प्रमुख नेताओं द्वारा तिरहुत प्रमण्डल में किए गए योगदान का मूल्यांकन करना।
5. उत्तर बिहार के किसान आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य संबंधों तथा उनके पारस्परिक प्रभावों का अध्ययन करना।
6. तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलनों के परिणामस्वरूप कृषक चेतना, ग्रामीण समाज तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन पर पड़े प्रभावों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना।

अनुसंधान पद्धति

यह अध्ययन ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक (Historical and Analytical) शोध पद्धति पर आधारित है। अध्ययन में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों के अंतर्गत समकालीन सरकारी अभिलेख, प्रशासनिक रिपोर्टें, किसान सभा के दस्तावेज, पत्र-पत्रिकाएँ, समाचार-पत्र तथा संबंधित ऐतिहासिक अभिलेखीय सामग्री को शामिल किया गया है, जबकि द्वितीयक स्रोतों के रूप में पुस्तकों, शोध-पत्रों, शोध-प्रबंधों तथा विभिन्न विद्वानों के विश्लेषणों का उपयोग किया गया है। अध्ययन का क्षेत्र मुख्यतः उत्तर बिहार के तिरहुत प्रमण्डल तथा उससे संबंधित किसान आंदोलनों तक सीमित रखा गया है। प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण गुणात्मक (Qualitative) पद्धति के माध्यम से किया गया है, जिससे किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि, स्वरूप, नेतृत्व, कारणों तथा उनके सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभावों का ऐतिहासिक मूल्यांकन किया जा सके।

अध्ययन की सीमाएँ

यह अध्ययन मुख्य रूप से उपलब्ध प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, इसलिए कुछ तथ्यों और घटनाओं की व्याख्या स्रोतों की उपलब्धता पर निर्भर करती है। 1920 से 1947 के मध्य के अनेक अभिलेख, स्थानीय दस्तावेज तथा किसान आंदोलनों से संबंधित सामग्री सीमित रूप में उपलब्ध है, जिससे कुछ घटनाओं का विस्तृत पुनर्निर्माण कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त अध्ययन का दायरा मुख्यतः उत्तर बिहार के तिरहुत प्रमण्डल तक सीमित है, इसलिए बिहार के अन्य क्षेत्रों के किसान आंदोलनों का विस्तृत विश्लेषण इसमें शामिल नहीं किया गया है। साथ ही, किसान आंदोलनों से जुड़े सभी स्थानीय नेताओं एवं ग्रामीण क्षेत्रों का समान रूप से अध्ययन कर पाना संभव नहीं हो सका है। फिर भी, उपलब्ध स्रोतों के आधार पर यह शोध तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलन की भूमिका का यथासंभव वस्तुनिष्ठ और समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

अध्ययन का महत्व

यह अध्ययन 1920 से 1947 के मध्य उत्तर बिहार के किसान आंदोलन में तिरहुत प्रमण्डल की भूमिका को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह काल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, किसान आंदोलनों तथा ग्रामीण समाज में हो रहे सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों का एक महत्वपूर्ण दौर था। इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट किया जा सकेगा कि तिरहुत प्रमण्डल के किसानों ने जमींदारी शोषण, अत्यधिक लगान तथा अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष किया और किसान आंदोलन को सशक्त बनाने में क्या योगदान दिया। साथ ही, यह अध्ययन किसान आंदोलनों और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य संबंधों तथा ग्रामीण समाज में विकसित हुई कृषक चेतना को समझने में भी सहायक होगा। यह शोध इतिहास, राजनीति विज्ञान, ग्रामीण अध्ययन तथा सामाजिक आंदोलनों के विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, क्योंकि इससे उत्तर बिहार के किसान संघर्षों का एक व्यापक ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्राप्त होता है। कुल मिलाकर,

यह अध्ययन तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका, उसके सामाजिक प्रभाव तथा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में उसके योगदान को समझने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

जमींदारी शोषण : तिरहुत प्रमण्डल के विशेष संदर्भ में

तिरहुत प्रमण्डल में जमींदारी व्यवस्था किसानों के शोषण का एक प्रमुख माध्यम थी। औपनिवेशिक शासन के दौरान भूमि पर जमींदारों का व्यापक नियंत्रण स्थापित हो गया था, जिसके कारण वास्तविक उत्पादन करने वाले किसान भूमि के स्वामित्व और अधिकारों से वंचित रहे। किसानों से अत्यधिक लगान वसूला जाता था तथा इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अवैध कर, उपहार, बेगार और अन्य आर्थिक दायित्व भी उन पर थोपे जाते थे।[10] समय पर लगान न चुका पाने की स्थिति में किसानों को भूमि से बेदखल कर दिया जाता था या उन पर अतिरिक्त आर्थिक दबाव डाला जाता था। इससे छोटे और मध्यम किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई थी। तिरहुत क्षेत्र के दरभंगा, मुजफ्फरपुर और चम्पारण जैसे जिलों में बड़े जमींदारों तथा नीलहे प्रबंधकों का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता था। किसानों को अपनी उपज का बड़ा हिस्सा लगान के रूप में देना पड़ता था, जबकि कृषि उत्पादन से प्राप्त लाभ का अधिकांश भाग जमींदार वर्ग के हाथों में केंद्रित रहता था।[11] बटाईदार किसानों और खेतिहर मजदूरों की स्थिति और भी कठिन थी, क्योंकि उनके पास भूमि पर कोई स्थायी अधिकार नहीं था। जमींदारी शोषण के कारण किसानों में असंतोष बढ़ा और धीरे-धीरे यही असंतोष संगठित किसान आंदोलनों का आधार बना। किसान सभाओं तथा स्थानीय नेतृत्व ने इस शोषण के विरुद्ध किसानों को संगठित किया, जिससे तिरहुत प्रमण्डल उत्तर बिहार के किसान संघर्षों का एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया।[12]

किसान सभा

बिहार में किसान आंदोलन को संगठित स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से **बिहार प्रांतीय किसान सभा** का गठन 11 नवम्बर 1929 को सोनपुर (बिहार) में स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में किया गया था। किसान सभा का मुख्य उद्देश्य किसानों को जमींदारी शोषण, अत्यधिक लगान, बेदखली, बेगार तथा अन्य अन्यायपूर्ण प्रथाओं के विरुद्ध संगठित करना था।[13] किसान सभा ने किसानों में अधिकार चेतना, संगठन की भावना तथा राजनीतिक जागरूकता का विकास किया, जिससे बिहार का किसान आंदोलन व्यापक जनआंदोलन के रूप में विकसित हुआ। उत्तर बिहार के तिरहुत प्रमण्डल में भी किसान सभा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस क्षेत्र में सभा ने किसानों की समस्याओं को संगठित रूप से उठाया, किसान सम्मेलनों का आयोजन किया तथा किसानों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक किया। इसके परिणामस्वरूप किसानों में संघर्ष की भावना विकसित हुई और वे राष्ट्रीय आंदोलन के साथ भी जुड़ने लगे। इस प्रकार किसान सभा ने न केवल बिहार के किसान आंदोलन को नई दिशा प्रदान की, बल्कि उत्तर बिहार में कृषक चेतना, सामाजिक जागरूकता तथा राजनीतिक सहभागिता को भी सशक्त बनाया।[14]

उत्तर बिहार में किसान आंदोलन

उत्तर बिहार में किसान आंदोलन का विकास 1920 के दशक से प्रारम्भ हुआ, किंतु तिरहुत प्रमण्डल (मुजफ्फरपुर, दरभंगा, सीतामढ़ी, वैशाली एवं चम्पारण) इसकी प्रमुख भूमि रहा। 1917 के चम्पारण सत्याग्रह ने किसानों में शोषण के विरुद्ध चेतना का संचार किया, जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया था। इसके बाद 1920 के दशक में मुजफ्फरपुर, दरभंगा और चम्पारण क्षेत्रों में किसानों ने अत्यधिक लगान, बेदखली और जमींदारी अत्याचारों के विरुद्ध स्थानीय स्तर पर संघर्ष आरम्भ किए। 1929 में सोनपुर में स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में बिहार प्रांतीय किसान सभा के गठन के बाद तिरहुत क्षेत्र में किसान आंदोलन को संगठित स्वरूप मिला। 1930 के दशक में दरभंगा राज के विरुद्ध किसानों के संघर्ष, बकास्त भूमि आंदोलनों तथा लगान विरोधी अभियानों में यदुनंदन शर्मा, कार्यानंद शर्मा, राहुल सांकृत्यायन, यमुना कारजी तथा स्वामी सहजानंद सरस्वती जैसे नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[15] 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा के गठन के बाद तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलन को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान मिली और मुजफ्फरपुर, सीतामढ़ी तथा दरभंगा में किसान सम्मेलनों और सभाओं का आयोजन होने लगा। 1937 से 1942 के बीच बटाईदारों, खेतिहर किसानों तथा गरीब कृषकों ने जमींदारों के विरुद्ध संगठित आंदोलन चलाए। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भी तिरहुत क्षेत्र के किसानों ने सक्रिय भागीदारी निभाई। 1947 तक आते-आते किसान आंदोलन उत्तर बिहार में एक सशक्त सामाजिक-राजनीतिक शक्ति के रूप में

स्थापित हो चुका था, जिसने किसानों में अधिकार चेतना, संगठन क्षमता और राजनीतिक जागरूकता का व्यापक विकास किया।[16]

कृषक चेतना

उत्तर बिहार, विशेषकर तिरहुत प्रमण्डल में किसान आंदोलनों ने किसानों के बीच अधिकारों, संगठन और संघर्ष की भावना को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जमींदारी शोषण, अत्यधिक लगान, बेदखली, बेगार तथा सामाजिक अन्याय के विरुद्ध हुए आंदोलनों ने किसानों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया। किसान सभा और स्वामी सहजानंद सरस्वती जैसे नेताओं के प्रयासों से किसानों में यह चेतना विकसित हुई कि वे संगठित होकर अपने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक हितों की रक्षा कर सकते हैं। इन आंदोलनों ने किसानों में आत्मविश्वास, सामूहिक नेतृत्व तथा लोकतांत्रिक भागीदारी की भावना को भी सुदृढ़ किया। परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में संगठनात्मक एकता बढ़ी और किसान अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अधिक सक्रिय एवं संघर्षशील बने। इस प्रकार किसान आंदोलनों ने उत्तर बिहार में कृषक चेतना के विकास के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की।[17]

राष्ट्रीय आंदोलन

तिरहुत प्रमण्डल का किसान आंदोलन केवल किसानों की आर्थिक समस्याओं और जमींदारी शोषण के विरोध तक सीमित नहीं था, बल्कि वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। किसान सभाओं, जनसभाओं तथा विभिन्न ग्रामीण आंदोलनों ने किसानों में राष्ट्रीय चेतना का विकास किया और उन्हें स्वतंत्रता संग्राम के व्यापक उद्देश्यों से जोड़ने का कार्य किया। इस क्षेत्र के किसान नेताओं एवं राष्ट्रीय नेताओं के संयुक्त प्रयासों से ग्रामीण जनता में औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध असंतोष और स्वतंत्रता के प्रति जागरूकता का विस्तार हुआ। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन जैसे राष्ट्रीय अभियानों में तिरहुत प्रमण्डल के किसानों ने सक्रिय भागीदारी निभाई। किसानों ने विदेशी शासन की दमनकारी नीतियों का विरोध करते हुए सत्याग्रह, जुलूस, सभाओं तथा जन-अभियानों के माध्यम से राष्ट्रीय आंदोलन को सशक्त बनाया। इससे स्वतंत्रता संघर्ष को गाँव-गाँव तक पहुँचाने में सहायता मिली तथा ग्रामीण समाज में राष्ट्रीय एकता, स्वाधीनता और सामाजिक न्याय की भावना का विस्तार हुआ। किसान आंदोलनों ने राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जनाधार प्रदान किया और यह सिद्ध किया कि भारत की स्वतंत्रता केवल शहरी नेतृत्व का परिणाम नहीं थी, बल्कि ग्रामीण किसानों और आम जनता के संघर्ष एवं योगदान से भी यह आंदोलन सशक्त हुआ। इस प्रकार तिरहुत प्रमण्डल का किसान आंदोलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण अंग बनकर उभरा।[19]

ग्रामीण परिवर्तन

किसान आंदोलनों के परिणामस्वरूप तिरहुत प्रमण्डल के ग्रामीण समाज में व्यापक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन देखने को मिले। इन आंदोलनों ने किसानों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न की तथा जमींदारी शोषण, अत्यधिक लगान, बेदखली और सामाजिक असमानता के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध की भावना को मजबूत किया। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में संगठन, सामूहिक नेतृत्व तथा जनसहभागिता का विकास हुआ, जिससे किसानों की सामूहिक शक्ति और आत्मविश्वास में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इन आंदोलनों ने भूमि संबंधी प्रश्नों, कृषक अधिकारों, सामाजिक समानता तथा ग्रामीण न्याय की बहस को नई दिशा प्रदान की। साथ ही, विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच सहयोग और सहभागिता की भावना भी विकसित हुई, जिससे ग्रामीण समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों और सामाजिक चेतना का विस्तार हुआ। किसान आंदोलनों के प्रभाव से ग्रामीण जनता स्थानीय प्रशासन और शासन की नीतियों के प्रति अधिक सजग एवं सक्रिय बनी तथा अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित रूप से संघर्ष करने लगी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भूमि सुधार, जमींदारी उन्मूलन, कृषक कल्याण तथा ग्रामीण विकास से संबंधित नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन पर भी इन आंदोलनों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ा। इस प्रकार तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलन केवल आर्थिक संघर्ष तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन, राजनीतिक चेतना, संगठनात्मक विकास तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया।[19]

निष्कर्ष

इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि 1920 से 1947 के बीच तिरहुत प्रमण्डल उत्तर बिहार के किसान आंदोलनों का एक प्रमुख केंद्र रहा। इस क्षेत्र के किसानों ने जमींदारी शोषण, अत्यधिक लगान, बेदखली और अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं के विरुद्ध लगातार संघर्ष किया। इन संघर्षों ने किसानों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया और उनमें संगठित होकर लड़ने की शक्ति विकसित की। किसान सभा और स्वामी सहजानंद सरस्वती जैसे नेताओं के नेतृत्व ने इस आंदोलन को नई दिशा प्रदान की तथा किसानों की आवाज़ को व्यापक स्तर तक पहुँचाया। तिरहुत प्रमण्डल के किसान आंदोलन ने केवल आर्थिक समस्याओं को ही नहीं उठाया, बल्कि ग्रामीण समाज में सामाजिक जागरूकता, राजनीतिक चेतना और आत्मसम्मान की भावना को भी मजबूत किया। साथ ही, इन आंदोलनों ने किसानों को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से जोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन को गाँवों तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसलिए कहा जा सकता है कि तिरहुत प्रमण्डल का किसान आंदोलन उत्तर बिहार के इतिहास में केवल एक कृषक संघर्ष नहीं था, बल्कि सामाजिक परिवर्तन, राजनीतिक जागरण और राष्ट्रीय चेतना का एक महत्वपूर्ण अध्याय भी था।

संदर्भ सूची

1. हाउज़र, वाल्टर, द *बिहार प्रोविन्शियल किसान सभा: 1929-1942*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1961, पृ. 35-42।
2. मंडल, बी. पी., के. नारायण एवं चित्रा कुमारी, *भारतीय किसान आंदोलन के नायक : स्वामी सहजानंद सरस्वती*, नई दिल्ली, 2009, पृ. 58-65।
3. सरस्वती, स्वामी सहजानंद, *मेरा जीवन संघर्ष*, पटना, 1940, पृ. 112-118।
4. चंद्र, बिपन, *भारत का स्वतंत्रता संग्राम*, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 1984, पृ. 287-295।
5. (4) वही पृ० 274 -282।
6. (1) वही पृ. 28-35।
7. (3) वही पृ. 95-103।
8. (2) वही पृ. 70-78।
9. रजनी पाम दत्त, *इंडिया टुडे*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1947, पृ. 325-332।
10. (1) वही पृ. 40-48।
11. (3) वही पृ. 108-115।
12. (2) वही पृ. 82-89।
13. (1) वही पृ. 65-72।
14. (3) वही पृ. 125-132।
15. (1) वही पृ. 52-78।
16. (3) वही पृ. 120-145;
17. (4) वही पृ. 287-295।
18. (3)वही पृ. 138-145।
19. (4) वही पृ. 290-297।

Received: 01.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

अस्पृश्यता उन्मूलन पर महात्मा गांधी के विचार: एक ऐतिहासिक विश्लेषण

सोनू कुमार* **saurav raj194@gmail.com**

प्रो. (डॉ.) कृष्ण कन्हैया† **krishnakanahaiya.jpu@gmail.com**

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र में महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है। भारतीय समाज में अस्पृश्यता एक गहरी सामाजिक कुरीति रही, जिसने दलित समुदाय को लंबे समय तक सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा। महात्मा गांधी ने इसे हिंदू समाज का नैतिक कलंक मानते हुए इसके उन्मूलन के लिए व्यापक सामाजिक जागरण, नैतिक सुधार तथा रचनात्मक कार्यक्रमों पर बल दिया। उन्होंने हरिजन आंदोलन, मंदिर प्रवेश, स्वच्छता अभियान, शिक्षा के प्रसार तथा सामाजिक समरसता के माध्यम से अस्पृश्यता समाप्त करने का प्रयास किया। इस शोध-पत्र में गांधी के विचारों, उनके सामाजिक आंदोलनों तथा अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु किए गए प्रयासों का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। साथ ही, उनके दृष्टिकोण की उपलब्धियों एवं सीमाओं का भी विवेचन किया गया है तथा डॉ. भीमराव अंबेडकर के वैचारिक मतभेदों के संदर्भ में गांधी के विचारों का तुलनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गांधी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध सामाजिक चेतना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, किंतु सामाजिक समानता की स्थापना के प्रश्न पर उनके विचारों और उपायों की सीमाएँ भी विद्यमान थीं। यह शोध सामाजिक न्याय, समानता तथा आधुनिक भारत में दलित विमर्श को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

कुटशब्द:

महात्मा गांधी, अस्पृश्यता, हरिजन आंदोलन, सामाजिक सुधार, दलित, सामाजिक न्याय, ऐतिहासिक विश्लेषण।

प्रस्तावना

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना का विकास ऐतिहासिक रूप से वर्ण एवं जाति व्यवस्था के आधार पर हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक असमानता और ऊँच-नीच की भावना को बढ़ावा मिला। इसी व्यवस्था से उत्पन्न अस्पृश्यता भारतीय समाज की सबसे गंभीर सामाजिक समस्याओं में से एक रही है। इस प्रथा ने समाज के एक बड़े वर्ग को सामाजिक सम्मान, धार्मिक अधिकार, शिक्षा, आर्थिक अवसर तथा राजनीतिक भागीदारी से लंबे समय तक वंचित रखा। सार्वजनिक स्थानों, मंदिरों, कुओं और विद्यालयों में प्रवेश पर प्रतिबंध ने दलित समुदाय की मानवीय गरिमा और समानता के अधिकार को गहरा आघात पहुँचाया। इसलिए अस्पृश्यता केवल सामाजिक भेदभाव का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, समानता और मानवाधिकार से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विषय है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अनेक सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों ने अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इस दिशा में महात्मा गांधी का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अस्पृश्यता को हिंदू समाज का नैतिक कलंक माना और इसके उन्मूलन को

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा**

† **शोध निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)**

राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न अंग बनाया। गांधी का विश्वास था कि जब तक समाज से अस्पृश्यता समाप्त नहीं होगी, तब तक वास्तविक स्वराज और सामाजिक न्याय की स्थापना संभव नहीं है। उन्होंने दलित समुदाय को 'हरिजन' कहकर संबोधित किया तथा सामाजिक समरसता, स्वच्छता, शिक्षा, मंदिर प्रवेश और रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से समाज में समानता की भावना विकसित करने का प्रयास किया। गांधी के अनुसार अस्पृश्यता का समाधान केवल कानून बनाकर नहीं, बल्कि समाज की मानसिकता और नैतिक चेतना में परिवर्तन लाकर संभव है। इसलिए उन्होंने जनजागरण, सामाजिक सुधार और आत्मशुद्धि को विशेष महत्त्व दिया। उनके लिए स्वतंत्रता का अर्थ केवल विदेशी शासन से मुक्ति नहीं, बल्कि ऐसा समाज था जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को समान सम्मान, अवसर और अधिकार प्राप्त हों। यद्यपि गांधी के प्रयासों ने अस्पृश्यता के विरुद्ध व्यापक सामाजिक चेतना उत्पन्न की, फिर भी उनके दृष्टिकोण की आलोचना भी हुई। विशेष रूप से डॉ. भीमराव अंबेडकर ने यह तर्क दिया कि केवल नैतिक सुधार पर्याप्त नहीं है, बल्कि सामाजिक संरचना में परिवर्तन, विधिक अधिकार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के बिना दलितों की वास्तविक मुक्ति संभव नहीं है। गांधी और अंबेडकर के विचारों का यह वैचारिक अंतर भारतीय सामाजिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों, उनके सामाजिक सुधार कार्यक्रमों तथा उनके ऐतिहासिक प्रभाव का विश्लेषण करना है। साथ ही, यह अध्ययन उनके योगदान, सीमाओं और समकालीन प्रासंगिकता का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करते हुए सामाजिक न्याय, समानता और समरसता के संदर्भ में गांधी के विचारों की ऐतिहासिक भूमिका को स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

साहित्य समीक्षा

बी. आर. नंदा (1995) ने *महात्मा गांधी: एक जीवनी* में गांधी के जीवन, विचारों तथा सामाजिक सुधार संबंधी कार्यक्रमों का विस्तृत विश्लेषण किया है। उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन, हरिजन आंदोलन तथा सामाजिक समरसता स्थापित करने के लिए गांधी द्वारा किए गए प्रयासों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया कि गांधी ने सामाजिक सुधार को राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न अंग माना।

मोहनदास करमचंद गांधी (1909) ने *हिंद स्वराज* में भारतीय समाज, सभ्यता, नैतिकता तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि इस कृति का मुख्य विषय अस्पृश्यता नहीं है, फिर भी गांधी ने सत्य, अहिंसा, आत्मशुद्धि और नैतिक मूल्यों के माध्यम से समाज सुधार की जिस अवधारणा को प्रतिपादित किया, वही आगे चलकर अस्पृश्यता उन्मूलन के उनके कार्यक्रमों का आधार बनी।

मोहनदास करमचंद गांधी (1933–1948) ने *हरिजन* पत्रिका के विभिन्न अंकों में अस्पृश्यता, हरिजन उत्थान, मंदिर प्रवेश, स्वच्छता, शिक्षा तथा सामाजिक समानता पर अपने विचार व्यक्त किए। इन लेखों से स्पष्ट होता है कि गांधी अस्पृश्यता को हिंदू समाज का नैतिक कलंक मानते थे तथा इसके उन्मूलन के लिए सामाजिक चेतना और आत्मशुद्धि को आवश्यक समझते थे।

भीमराव रामजी अंबेडकर (1936) ने *जाति का विनाश* में जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की तीखी आलोचना की है। उनके अनुसार अस्पृश्यता का वास्तविक समाधान केवल सामाजिक सद्भाव से नहीं, बल्कि जाति व्यवस्था के पूर्ण उन्मूलन, शिक्षा, संवैधानिक अधिकारों तथा सामाजिक-राजनीतिक सशक्तिकरण से संभव है। यह कृति गांधी और अंबेडकर के वैचारिक मतभेदों को समझने का महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान करती है।

भीमराव रामजी अंबेडकर (1945) ने *कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया* में गांधी तथा कांग्रेस की दलित नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। उन्होंने तर्क दिया कि दलितों की वास्तविक उन्नति के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व, सामाजिक समानता और विधिक अधिकार अनिवार्य हैं। यह पुस्तक गांधी के अस्पृश्यता संबंधी विचारों की सीमाओं को समझने में सहायक है।

भीखू पारेख (1989) ने *गांधी का राजनीतिक दर्शन : एक आलोचनात्मक अध्ययन* में गांधी के राजनीतिक एवं सामाजिक दर्शन का समग्र विश्लेषण किया है। उन्होंने गांधी के सत्य, अहिंसा, सर्वोदय तथा सामाजिक न्याय संबंधी विचारों की विवेचना करते हुए स्पष्ट किया कि गांधी सामाजिक परिवर्तन को नैतिक परिवर्तन के माध्यम से संभव मानते थे।

गेल ओमवेट (1994) ने *दलित और लोकतांत्रिक क्रांति* में भारत के दलित आंदोलन, सामाजिक न्याय तथा लोकतांत्रिक परिवर्तन का विश्लेषण किया है। उन्होंने गांधी और अंबेडकर के दृष्टिकोणों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए दलित आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट किया।

रामशरण शर्मा (1990) ने *शूद्रों का प्राचीन इतिहास* में प्राचीन भारतीय समाज में शूद्रों एवं निम्न वर्गों की सामाजिक स्थिति का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके अध्ययन से जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायता मिलती है, जो गांधी के सामाजिक सुधार संबंधी विचारों के अध्ययन के लिए उपयोगी आधार प्रदान करती है।

अनुसंधान अंतराल

महात्मा गांधी के जीवन, स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी भूमिका तथा सामाजिक और राजनीतिक विचारों पर व्यापक शोध उपलब्ध है, किंतु अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी उनके विचारों का ऐतिहासिक दृष्टि से समग्र, संतुलित और आलोचनात्मक विश्लेषण अपेक्षाकृत कम देखने को मिलता है। अधिकांश अध्ययनों में गांधी के हरिजन आंदोलन, सामाजिक सुधार कार्यक्रमों अथवा डॉ. भीमराव अंबेडकर के साथ उनके वैचारिक मतभेदों पर अलग-अलग चर्चा की गई है, परंतु इन सभी पक्षों को एक साथ जोड़कर उनके ऐतिहासिक प्रभाव, उपलब्धियों, सीमाओं तथा समकालीन प्रासंगिकता का समेकित मूल्यांकन अपेक्षाकृत दुर्लभ है। विशेष रूप से यह प्रश्न कि गांधी के प्रयासों ने भारतीय समाज में अस्पृश्यता उन्मूलन, सामाजिक चेतना, सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना में किस सीमा तक प्रभाव डाला तथा उनकी विचारधारा की ऐतिहासिक सीमाएँ क्या थीं, इस पर पर्याप्त शोध का अभाव दिखाई देता है। इसी शोध-अंतराल को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों, हरिजन आंदोलन, सामाजिक सुधार कार्यक्रमों तथा उनके ऐतिहासिक प्रभाव का वस्तुनिष्ठ और समग्र ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वैचारिक आधार का अध्ययन करना।
2. अस्पृश्यता उन्मूलन के संदर्भ में महात्मा गांधी के हरिजन आंदोलन, रचनात्मक कार्यक्रमों तथा सामाजिक सुधार संबंधी प्रयासों का विश्लेषण करना।
3. दलित समाज के उत्थान, सामाजिक समानता, नैतिक चेतना तथा सामाजिक समरसता के प्रति गांधी के दृष्टिकोण का अध्ययन करना।
4. अस्पृश्यता उन्मूलन के प्रश्न पर महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण करना।
5. महात्मा गांधी के सामाजिक सुधार संबंधी प्रयासों का भारतीय समाज, सामाजिक न्याय तथा अस्पृश्यता उन्मूलन आंदोलन पर पड़े प्रभावों का मूल्यांकन करना।
6. समकालीन भारतीय समाज में सामाजिक न्याय, समानता तथा मानवीय गरिमा के संदर्भ में महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों की ऐतिहासिक प्रासंगिकता का अध्ययन करना।

अनुसंधान पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक (Historical and Analytical) शोध पद्धति पर आधारित है। इस शोध में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों के अंतर्गत महात्मा गांधी के लेख, भाषण, *हरिजन* पत्रिका, *हिंद स्वराज*, *महात्मा गांधी की संकलित रचनाएँ* तथा समकालीन दस्तावेजों का उपयोग किया गया है, जबकि द्वितीयक स्रोतों में महात्मा गांधी, डॉ. भीमराव अंबेडकर तथा सामाजिक सुधार आंदोलनों से संबंधित पुस्तकों, शोध-पत्रों, शोध-प्रबंधों एवं विद्वानों के विश्लेषण का सहारा लिया गया है। अध्ययन में उपलब्ध स्रोतों का गुणात्मक (Qualitative) एवं व्याख्यात्मक (Interpretative) पद्धति से विश्लेषण किया गया है, जिससे महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों, उनके सामाजिक सुधार कार्यक्रमों, ऐतिहासिक प्रभावों तथा समकालीन प्रासंगिकता का वस्तुनिष्ठ एवं समग्र मूल्यांकन किया जा सके।

अध्ययन की सीमाएँ

प्रस्तुत अध्ययन मुख्यतः ऐतिहासिक दस्तावेज़ों, महात्मा गांधी के लेखन, समकालीन पत्र-पत्रिकाओं तथा उपलब्ध द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, इसलिए इसकी निष्पत्तियाँ इन्हीं स्रोतों की उपलब्धता एवं प्रामाणिकता तक सीमित हैं। गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों और कार्यक्रमों पर विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं, जिससे कुछ निष्कर्षों में वैचारिक मतभेद स्वाभाविक हैं। यह अध्ययन मुख्य रूप से गांधी के विचारों, उनके रचनात्मक कार्यक्रमों तथा उनके ऐतिहासिक प्रभावों के विश्लेषण तक सीमित है; अतः अस्पृश्यता उन्मूलन से जुड़े सभी सामाजिक, राजनीतिक और क्षेत्रीय आंदोलनों का विस्तृत अध्ययन इसमें सम्मिलित नहीं किया जा सका है। साथ ही, समय एवं स्रोतों की सीमाओं के कारण सभी समकालीन अभिलेखों और अप्रकाशित दस्तावेज़ों का उपयोग संभव नहीं हो पाया। फिर भी, उपलब्ध प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों और उनके ऐतिहासिक महत्त्व का वस्तुनिष्ठ एवं समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन का महत्व

प्रस्तुत अध्ययन महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा वैचारिक महत्ता को समझने में उपयोगी सिद्ध होगा। यह शोध स्पष्ट करता है कि गांधी ने अस्पृश्यता को केवल एक सामाजिक कुरीति नहीं माना, बल्कि उसे मानव गरिमा, सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता से जुड़ा प्रश्न समझा। उनके हरिजन आंदोलन, रचनात्मक कार्यक्रमों तथा सामाजिक सुधार संबंधी प्रयासों के विश्लेषण के माध्यम से यह अध्ययन भारतीय समाज में समानता, समरसता और नैतिक चेतना के विकास को समझने का अवसर प्रदान करता है। साथ ही, यह गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर के दृष्टिकोणों का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हुए सामाजिक न्याय के विभिन्न आयामों को स्पष्ट करता है। यह अध्ययन इतिहास, समाजशास्त्र तथा गांधी अध्ययन के विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ समकालीन भारतीय समाज में जातिगत भेदभाव, सामाजिक समानता और संवैधानिक मूल्यों के संदर्भ में भी एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान करता है।

महात्मा गांधी और अस्पृश्यता उन्मूलन की अवधारणा

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता को भारतीय समाज का सबसे बड़ा नैतिक कलंक तथा मानवता के विरुद्ध अपराध माना।[1] उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति के साथ जन्म के आधार पर भेदभाव करना सत्य, अहिंसा और समानता के सिद्धांतों के प्रतिकूल है। गांधी का विश्वास था कि अस्पृश्यता हिंदू धर्म का मूल तत्व नहीं है, बल्कि यह समय के साथ विकसित हुई एक सामाजिक विकृति है, जिसका उन्मूलन भारतीय समाज के नैतिक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक है।[2] उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि जब तक समाज अस्पृश्यता जैसी कुप्रथा को समाप्त नहीं करेगा, तब तक वास्तविक स्वराज और सामाजिक न्याय की स्थापना संभव नहीं होगी।[3] गांधी ने अस्पृश्यता को केवल दलित समुदाय की समस्या नहीं माना, बल्कि पूरे समाज की नैतिक कमजोरी के रूप में देखा। उनका मत था कि सामाजिक परिवर्तन केवल विधिक उपायों से नहीं, बल्कि समाज की मानसिकता और नैतिक चेतना में परिवर्तन से संभव है।[4] इसी उद्देश्य से उन्होंने समाज के उच्च वर्गों से आत्मशुद्धि का आह्वान किया तथा दलित समुदाय के साथ समान व्यवहार अपनाने की अपील की। उनके विचारों में अस्पृश्यता का उन्मूलन राष्ट्र निर्माण, सामाजिक समरसता तथा मानवीय गरिमा की स्थापना की अनिवार्य शर्त था।[5]

अस्पृश्यता : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और सामाजिक यथार्थ

भारतीय समाज में अस्पृश्यता का विकास वर्ण व्यवस्था के क्रमिक कठोर रूप धारण करने के साथ हुआ।[6] समय के साथ जाति-आधारित सामाजिक विभाजन इतना सुदृढ़ हो गया कि दलित समुदाय को समाज के मुख्य प्रवाह से अलग कर दिया गया। उन्हें मंदिरों, सार्वजनिक जलस्रोतों, विद्यालयों तथा अन्य सार्वजनिक स्थलों में प्रवेश से वंचित रखा गया।[7] सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों ने इस व्यवस्था को वैधता प्रदान की, जिसके कारण दलित समुदाय आर्थिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक रूप से अत्यंत पिछड़ा बना रहा।[8] औपनिवेशिक काल में आधुनिक शिक्षा, सामाजिक सुधार आंदोलनों तथा लोकतांत्रिक विचारों के प्रसार से अस्पृश्यता के विरुद्ध संगठित आवाज़ें उठने लगीं।[9] इस दिशा में ज्योतिराव फुले, नारायण गुरु, ई. वी.

रामास्वामी नायकर, डॉ. भीमराव अंबेडकर तथा महात्मा गांधी जैसे समाज सुधारकों ने अपने-अपने वैचारिक दृष्टिकोण से जातिगत भेदभाव और अस्पृश्यता को चुनौती दी।[10] यद्यपि इन सभी के विचारों में पद्धति और समाधान के स्तर पर भिन्नताएँ थीं, फिर भी उनका साझा उद्देश्य सामाजिक समानता, मानवीय गरिमा और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना था। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचारों और आंदोलनों का अध्ययन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है।[11]

हरिजन आंदोलन और गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम

महात्मा गांधी ने दलित समुदाय को सामाजिक सम्मान प्रदान करने के उद्देश्य से 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया। यद्यपि बाद के वर्षों में इस शब्द की आलोचना हुई, फिर भी गांधी का उद्देश्य दलितों के प्रति सम्मान, आत्मीयता तथा सामाजिक समानता की भावना विकसित करना था। वर्ष 1932 के बाद उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन को अपने रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रमुख अंग बनाया। हरिजन सेवक संघ की स्थापना, देशव्यापी यात्राएँ, *हरिजन* नामक पत्रिका का प्रकाशन तथा मंदिर प्रवेश आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी उनके अभियान के महत्त्वपूर्ण आयाम थे।[12] गांधी स्वयं दलित बस्तियों में जाते थे, उनके साथ रहते थे तथा स्वच्छता, शिक्षा और श्रम की गरिमा पर विशेष बल देते थे। उनका विश्वास था कि सामाजिक समरसता केवल भाषणों या कानूनों से नहीं, बल्कि व्यवहारिक परिवर्तन और नैतिक जागरूकता से स्थापित होगी। उन्होंने समाज के सभी वर्गों से दलितों के साथ समान व्यवहार करने तथा उन्हें सामाजिक, धार्मिक और सार्वजनिक जीवन में सम्मानजनक स्थान देने का आह्वान किया।[13] गांधी के इन रचनात्मक कार्यक्रमों ने अस्पृश्यता के विरुद्ध व्यापक जनचेतना उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि उनके प्रयासों की सीमाओं पर विद्वानों ने चर्चा की है, फिर भी यह निर्विवाद है कि उन्होंने अस्पृश्यता के प्रश्न को राष्ट्रीय विमर्श का प्रमुख विषय बनाया और सामाजिक सुधार को स्वतंत्रता आंदोलन से जोड़कर एक व्यापक जनआंदोलन का स्वरूप प्रदान किया।[14]

सामाजिक सुधार के प्रति गांधी का दृष्टिकोण

गांधी का सामाजिक दर्शन सत्य, अहिंसा, आत्मशुद्धि और सर्वधर्म समभाव पर आधारित था। उनका मानना था कि किसी भी सामाजिक परिवर्तन की सफलता केवल कानून या शासन के बल पर नहीं, बल्कि व्यक्ति और समाज की नैतिक चेतना पर निर्भर करती है। इसलिए उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए सामाजिक जागरूकता, नैतिक शिक्षा और जनभागीदारी को विशेष महत्त्व दिया।[15] गांधी ने शिक्षा, स्वच्छता, श्रम की गरिमा, ग्राम स्वराज, महिला शिक्षा और सामुदायिक सहयोग को सामाजिक सुधार के प्रमुख साधन माना। उनका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को सम्मानजनक जीवन और समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। उनके रचनात्मक कार्यक्रमों का उद्देश्य केवल दलित उत्थान नहीं था, बल्कि एक ऐसे समाज का निर्माण करना था जहाँ जाति, धर्म और वर्ग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न हो। इस दृष्टि से गांधी का सामाजिक सुधार कार्यक्रम भारतीय समाज में नैतिक पुनर्जागरण का प्रयास था।[16]

दलित समाज के प्रति गांधी का दृष्टिकोण

गांधी ने दलित समुदाय को भारतीय समाज का अभिन्न अंग माना और उनके सामाजिक, शैक्षणिक तथा नैतिक उत्थान पर विशेष बल दिया। उन्होंने दलितों की शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा सार्वजनिक जीवन में भागीदारी का समर्थन किया। उनका विश्वास था कि दलितों को सम्मान देना केवल सामाजिक दायित्व नहीं, बल्कि राष्ट्रीय कर्तव्य भी है। उन्होंने समाज के सभी वर्गों से दलितों के प्रति समान व्यवहार अपनाने तथा सामाजिक भेदभाव को समाप्त करने का आह्वान किया।[17] फिर भी गांधी के विचारों को लेकर व्यापक बहस हुई। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने माना कि केवल नैतिक सुधार पर्याप्त नहीं है; दलितों की वास्तविक मुक्ति के लिए सामाजिक संरचना में परिवर्तन, संवैधानिक अधिकार, शिक्षा और राजनीतिक प्रतिनिधित्व आवश्यक हैं। गांधी सामाजिक समरसता पर बल देते थे, जबकि अंबेडकर सामाजिक न्याय और संरचनात्मक परिवर्तन को प्राथमिकता देते थे। इन दोनों दृष्टिकोणों का अध्ययन भारतीय सामाजिक इतिहास को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।[18]

सामाजिक न्याय की स्थापना में गांधी का योगदान

महात्मा गांधी ने सामाजिक न्याय की अवधारणा को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न अंग बनाया। उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार किया और समाज के सभी वर्गों को इस सामाजिक बुराई के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। उनके प्रयासों से दलितों की समस्याएँ राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय बनीं तथा सामाजिक समानता, मानवीय गरिमा और बंधुत्व

की भावना को नई दिशा मिली। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि राजनीतिक स्वतंत्रता तभी सार्थक होगी, जब समाज के प्रत्येक वर्ग को समान अधिकार और सम्मान प्राप्त हो।[19] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में समानता, स्वतंत्रता तथा अस्पृश्यता उन्मूलन से संबंधित जो प्रावधान किए गए, उनके लिए अनुकूल सामाजिक वातावरण तैयार करने में गांधी के सामाजिक आंदोलनों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। यद्यपि इन संवैधानिक प्रावधानों के निर्माण में डॉ. भीमराव अंबेडकर की निर्णायक भूमिका थी, फिर भी गांधी द्वारा समाज में उत्पन्न सामाजिक चेतना और जनजागरण ने सामाजिक न्याय के विचार को व्यापक स्वीकार्यता प्रदान की।[20]

गांधी के विचारों का ऐतिहासिक विश्लेषण

ऐतिहासिक दृष्टि से महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचार भारतीय समाज सुधार आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने अस्पृश्यता के प्रश्न को राष्ट्रीय आंदोलन के केंद्र में स्थापित किया और इसे केवल सामाजिक समस्या नहीं, बल्कि नैतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया। उनके नेतृत्व में अस्पृश्यता उन्मूलन का मुद्दा जनचर्चा का विषय बना तथा समाज के विभिन्न वर्गों में सामाजिक समरसता और समानता के प्रति नई चेतना का विकास हुआ।[21] दूसरी ओर, गांधी के दृष्टिकोण की सीमाओं की ओर भी अनेक इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों ने संकेत किया है। आलोचकों का मत है कि उन्होंने अस्पृश्यता का विरोध तो किया, किंतु जाति व्यवस्था के पूर्ण उन्मूलन का स्पष्ट समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत डॉ. भीमराव अंबेडकर ने सामाजिक समानता के लिए जाति व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन, संवैधानिक अधिकारों तथा राजनीतिक सशक्तिकरण को अनिवार्य माना। इसलिए गांधी के विचारों का ऐतिहासिक मूल्यांकन उनके योगदान, सीमाओं तथा समकालीन प्रभाव—तीनों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। यही दृष्टिकोण उनके विचारों की वास्तविक ऐतिहासिक महत्ता को स्पष्ट करता है।[22]

निष्कर्ष

महात्मा गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी विचार भारतीय समाज सुधार आंदोलन और राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने अस्पृश्यता को केवल सामाजिक कुरीति नहीं, बल्कि नैतिक, धार्मिक और मानवीय मूल्यों के विरुद्ध एक गंभीर समस्या माना। गांधी का विश्वास था कि सामाजिक समानता, आत्मशुद्धि और नैतिक जागरूकता के माध्यम से ही इस अमानवीय प्रथा का स्थायी समाधान संभव है। इसी उद्देश्य से उन्होंने हरिजन आंदोलन, मंदिर प्रवेश, स्वच्छता अभियान, शिक्षा के प्रसार तथा रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से समाज में व्यापक जनचेतना उत्पन्न करने का प्रयास किया। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गांधी ने अस्पृश्यता के प्रश्न को राष्ट्रीय विमर्श का प्रमुख विषय बनाया और दलित समुदाय के सम्मान, समानता तथा सामाजिक भागीदारी पर विशेष बल दिया। उनके प्रयासों ने भारतीय समाज में सामाजिक न्याय और समरसता की भावना को सुदृढ़ किया तथा स्वतंत्र भारत में समानता और अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी संवैधानिक मूल्यों के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यद्यपि गांधी के दृष्टिकोण की सीमाओं की ओर डॉ. भीमराव अंबेडकर सहित अनेक विद्वानों ने संकेत किया है तथा जाति व्यवस्था के उन्मूलन और दलित अधिकारों के प्रश्न पर दोनों के विचारों में स्पष्ट वैचारिक अंतर दिखाई देता है, फिर भी यह निर्विवाद है कि गांधी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध व्यापक सामाजिक चेतना के निर्माण में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। इसलिए उनके विचारों का मूल्यांकन उनके समय की सामाजिक परिस्थितियों, राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकताओं तथा सामाजिक सुधार के व्यापक संदर्भ में किया जाना चाहिए। वर्तमान समय में भी, जब संविधान द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त घोषित किए जाने के बावजूद जातिगत भेदभाव के विभिन्न रूप समाज में विद्यमान हैं, गांधी के सत्य, अहिंसा, समानता, सामाजिक समरसता और मानवीय गरिमा पर आधारित विचार सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए प्रेरणास्रोत बने हुए हैं। अतः गांधी का अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी चिंतन भारतीय सामाजिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण विरासत है, जिसकी समकालीन प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

संदर्भ सूची

1. गांधी, मोहनदास करमचंद, *हिंद स्वराज*, अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन, 2019 संस्करण, पृ. 58–61.
2. गांधी, मोहनदास करमचंद, *हरिजन*, 11 फ़रवरी 1933, पृ. 3–5.

3. अंबेडकर, भीमराव रामजी, *जाति का विनाश*, नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, 2014, पृ. 42–50.

4. नंदा, बी. आर., *महात्मा गांधी: एक जीवनी*, नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995, पृ. 214–220.

5. शर्मा, रामशरण, *शूद्रों का प्राचीन इतिहास*, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, संशोधित संस्करण, 1990, पृ. 132–140.

6. अंबेडकर, भीमराव रामजी, *जाति का विनाश*, नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, 2014, पृ. 31–38.

7. झा, डी. एन., *प्राचीन भारत : एक ऐतिहासिक रूपरेखा*, नई दिल्ली: मनोहर पब्लिशर्स, 2004, पृ. 186–194.

8. ओमवेट, गेल, *दलित और लोकतांत्रिक क्रांति*, नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशंस, 1994, पृ. 52–60.

9. कीर, धनंजय, डॉ. *बाबासाहेब अंबेडकर : जीवन और मिशन*, मुंबई: पॉपुलर प्रकाशन, 1971, पृ. 118–125.

10. गांधी, मोहनदास करमचंद, *महात्मा गांधी की संकलित रचनाएँ*, नई दिल्ली: प्रकाशन प्रभाग, भारत सरकार, खंड 55, पृ. 214–220.

11. गांधी, मोहनदास करमचंद, *हरिजन*, अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन, 11 फ़रवरी 1933, पृ. 3–7; तथा *महात्मा गांधी की संकलित रचनाएँ*, खंड 55, नई दिल्ली: प्रकाशन प्रभाग, भारत सरकार, पृ. 236–245.

12. नंदा, बी. आर., *महात्मा गांधी: एक जीवनी*, नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995, पृ. 312–320.

13. ब्राउन, जूडिथ एम., *गांधी: आशा के बंदी*, नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991, पृ. 271–280.

14. गांधी, मोहनदास करमचंद, *हिंद स्वराज*, अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2019, पृ. 83–90; तथा *महात्मा गांधी की संकलित रचनाएँ*, खंड 58, नई दिल्ली: प्रकाशन प्रभाग, भारत सरकार, पृ. 112–118.

15. पारेख, भीखू, *गांधी का राजनीतिक दर्शन : एक आलोचनात्मक अध्ययन*, नई दिल्ली: अजींता पब्लिकेशन्स, 1989, पृ. 156–168.

16. गांधी, मोहनदास करमचंद, *हरिजन*, अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन, 18 मार्च 1933, पृ. 5–9; तथा *महात्मा गांधी की संकलित रचनाएँ*, खंड 56, नई दिल्ली: प्रकाशन प्रभाग, भारत सरकार, पृ. 142–149.

17. अंबेडकर, भीमराव रामजी, *कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया*, मुंबई: ठाकर एंड कंपनी, 1945, पृ. 183–197; तथा *जाति का विनाश*, नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, 2014, पृ. 54–66.

18. गांधी, मोहनदास करमचंद, *महात्मा गांधी की संकलित रचनाएँ*, खंड 64, नई दिल्ली: प्रकाशन प्रभाग, भारत सरकार, पृ. 248–256; तथा गांधी, मोहनदास करमचंद, *हरिजन*, 29 अप्रैल 1933, पृ. 2–6.

19. अंबेडकर, भीमराव रामजी, *संविधान सभा में डॉ. बी. आर. अंबेडकर के भाषण*, नई दिल्ली: लोकसभा सचिवालय, 1948–1949, पृ. 973–981; तथा *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 14, 15, 17 एवं 46.

20. नंदा, बी. आर., *महात्मा गांधी: एक जीवनी*, नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995, पृ. 356–368.

21. गांधी, मोहनदास करमचंद, *महात्मा गांधी की संकलित रचनाएँ*, खंड 66, नई दिल्ली: प्रकाशन प्रभाग, भारत सरकार, पृ. 145–153.

22. अंबेडकर, भीमराव रामजी, *कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया*, मुंबई: ठाकर एंड कंपनी, 1945, पृ. 273–286; तथा ओमवेट, गेल, *दलित और लोकतांत्रिक क्रांति*, नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशंस, 1994, पृ. 185–194.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 02.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

नीरजा माधव की कहानियों में वृद्धों की उपेक्षा और पारिवारिक विघटन

रुबी मौर्या*

rubimaurya637@ gmail.com

सारांश -

वृद्धावस्था जीवन का स्वाभाविक चरण है। इस समय व्यक्ति को सबसे अधिक अपने परिवार के प्रेम, सम्मान और सहारे की जरूरत होती है। जब यही सहारा कम हो जाता है तब व्यक्ति के मन में अकेलापन, असुरक्षा और निराशा घर करने लगती है। कई बार आर्थिक रूप से सक्षम होने के बाद भी वृद्ध मानसिक रूप से बहुत अकेले होते हैं। उनकी सबसे बड़ी जरूरत धन नहीं, बल्कि अपने लोगों का साथ और सम्मान होता है। आज के समय में परिवार और पारिवारिक रिश्तों में बहुत बदलाव आया है। पहले संयुक्त परिवार की परंपरा थी जहां घर के बड़े बुजुर्ग परिवार का आधार माने जाते थे। उनकी बातों का सम्मान होता था और परिवार के सभी सदस्य मिलजुल कर रहते थे लेकिन समय के साथ-साथ परिवार छोटे होते गए। आज-कल एकल परिवार बढ़ रहे हैं। इस बदलाव का सबसे अधिक असर वृद्ध लोगों पर पड़ा है। कई बार वे अपने घर में ही अकेले, उपेक्षित और असहाय जीवन जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं। नीरजा माधव ने अपनी कहानियों में इस बदलती हुई सामाजिक स्थिति को बहुत संवेदनशील ढंग से चित्रित किया है। उनकी कहानियों में वृद्धों की शारीरिक कठिनाइयों के साथ-साथ उनके मन का अकेलापन, सम्मान की कमी, अपनेपन की तलाश और परिवार से मिलने वाली उपेक्षा का बहुत मार्मिक चित्रण मिलता है।

इस शोध पत्र में नीरजा माधव की कहानियों के आधार पर यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि वृद्धों की उपेक्षा किन कारणों से बढ़ रही है और पारिवारिक विघटन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। साथ ही यह भी देखा जाएगा की लेखिका अपनी कहानियों के माध्यम से पाठकों को मानवीय संवेदनाओं, पारिवारिक मूल्यों और बुजुर्गों के सम्मान का संदेश कैसे देती हैं।

मुख्य शब्द : नीरजा माधव, वृद्ध, उपेक्षा, पारिवारिक विघटन, परिवार

प्रस्तावना –

वृद्धावस्था जो जीवन का अंतिम चरण होता है। इसे सामान्य भाषा में बुढ़ापा कह सकते हैं। हिंदी शब्दकोश के अनुसार, "वृद्ध शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाता है जिसकी आयु अधिक हो चुकी हो जो जीवन के उत्तरार्ध चरण में प्रवेश कर चुका हो"।[1] यहां उन्हीं वृद्धि के जीवन की सच्चाई को उजागर किया जाएगा नीरजा माधव की कहानियों में।

नीरजा माधव की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं के माध्यम से बड़े सामाजिक प्रश्नों को सामने लाती हैं। उनकी भाषा सहज और सरल है, इसलिए उनकी कहानी सीधे पाठक के मन को छूती हैं। उनकी कहानियों में वृद्ध केवल एक पात्र नहीं है, बल्कि बदलते समय की सबसे बड़ी सच्चाई के प्रतीक बनकर सामने आते हैं। वृद्धों से संबंधित उनकी निम्नलिखित कहानियां है जो इस प्रकार हैं- 'ताकि', 'वह राष्ट्रपति से नाराज थी', 'सात मील में लंबी यात्रा'है जो "टेपरा" कहानी संग्रह में संकलित है। एक कहानी 'नींद' है जो "पत्थरबाज़" कहानी संग्रह में संकलित है। उनकी कहानी यह सोचने पर मजबूर करती हैं कि जिस समाज में माता-पिता अपने बच्चों के लिए पूरा जीवन लगा देते हैं उसी

* **विभाग हिंदी, रघुनाथ गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, मेरठ**

संबद्ध – चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ, उत्तर प्रदेश

समाज में वृद्धावस्था आने पर उन्हें सम्मान और अपनापन क्यों नहीं मिल पाता? कई कहानियों में यह भी दिखाई देता है कि परिवार के लोग अपनी व्यस्त तथा या स्वार्थ के कारण वृद्धों की भावनाओं को समझ नहीं पाते इससे परिवार में तनाव बढ़ता है और धीरे-धीरे पारिवारिक विघटन होने लगता है पारिवारिक विघटन केवल एक समस्या नहीं है इसका समाज पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है जब परिवार टूटते हैं तो बच्चों के संस्कार बुजुर्गों का जीवन और सामाजिक संबंध सभी प्रभावित होते हैं इसलिए इस विषय का अध्ययन केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य नीरजा माधव की कहानियों के माध्यम से यह समझना है कि वृद्धों की उपेक्षा किन परिस्थितियों में जन्म लेती है। पारिवारिक विघटन के पीछे कौन-कौन से कारण काम करते हैं और लेखिका इन समस्याओं के प्रति कैसे मानवीय संवेदना व्यक्त करती हैं। साथ ही यह अध्ययन स्पष्ट करेगा कि नीरजा माधव की कहानियां आज के समाज को परिवार रिश्तो और बुजुर्गों के प्रति अधिक संवेदनशील बनने की प्रेरणा देती है। इस प्रकार यह विषय केवल साहित्य का विषय नहीं है, बल्कि हमारे समाज, संस्कृति और मानवीय मूल्यों से जुड़ा हुआ एक गंभीर प्रश्न है। नीरजा माधव की कहानी हमें यह याद दिलाती है कि परिवार की असली मजबूती धन या सुविधाओं से नहीं, बल्कि प्रेम, विश्वास, सम्मान और एक दूसरे की भावनाओं को समझने से बनी रहती है।

मूल लेखः-

वृद्धों की उपेक्षा और पारिवारिक विघटन एक दूसरे से जुड़े हुए विषय हैं। जहां परिवार टूटता है वहां सबसे पहले बुजुर्गों की स्थिति कमजोर होती है। वह भावनात्मक रूप से अकेले पड़ जाते हैं और जीवन के अंतिम पड़ाव में सम्मान और सुरक्षा से वंचित हो जाते हैं। नीरजा माधव की कहानियां इसी मानवीय पीड़ा को संवेदनशीलता के साथ सामने लाती हैं और पाठक को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि परिवार की असली पहचान रिश्तो में अपनापन, परस्पर सम्मान की भावना होना कितना जरूरी है। वृद्ध माता-पिता जो अपना पूरा जीवन बच्चों को पालने में लगा देते हैं जब उन्हें बच्चों की जरूरत होती है तो बच्चे एक बेकार का सामान या बोझ समझने लगते हैं जैसे की 'नींद' कहानी में दिखाया गया है जैसे "गांव में छोटा भाई-भाभी अम्मा के न रहने के बाद से मालिक मालकिन हो चुके थे। वहां भी बाबूजी की स्थिति एक एक्स्ट्रा सामान की थी जिसे पेंशन की रकम की कुछ आमदनी हो जाती थी। शहर आकर बाबूजी का दो-चार दिन रुकना बड़े भाई भाभी की स्वतंत्रता दिनचर्या में बाधास्वरूप ही होता। अक्सर वह लोग बाबूजी से कह देते मेरे यहां मन नहीं लगता है ना बाबूजी? ना हो तो बेबी के यहां चले जाइए"।[2] नीरजा माधव इस कहानी के माध्यम से आधुनिक परिवारों में बढ़ती संवेदनहीनता पर गंभीर प्रश्न उठाती हैं बाबूजी की पीड़ा केवल एक व्यक्ति की पीड़ा नहीं है बल्कि उन सभी वृद्ध माता-पिता की पीड़ा है जो जीवन के अंतिम पड़ाव में सम्मान, अपनापन और भावनात्मक सहारे की अपेक्षा रखते हैं किंतु उन्हें उपेक्षा और अकेलेपन का सामना करना पड़ता है। हमारे समाज में वृद्धों की क्या दशा है 'ताकि' कहानी के एक परिवार से समझ सकते हैं- "दयनाथ की विधवा पत्नी की लाश उसी के घर से जब तीसरे दिन गांव के लोगों ने निकाली थी, तब भी उन्होंने मन ही मन उनके इकलौते बेटे बहू और नाती नातियो को कोसा था। जिन्होंने बीमारी की हालत में भी उस वृद्ध विधवा को अकेला छोड़ रखा था। उनके घड़ियाल आंसू देख कर मरजद सिंह दांत पीसते हुए वहां से हट गए थे"।[3] एक ऐसी वृद्ध स्त्री जो बीमार है ऐसी स्थिति में बच्चों को उनको छोड़कर अपने स्वार्थ के लिए शहरों में जाकर रहना, इससे बड़ा वृद्धों की उपेक्षा और क्या हो सकती है। बेटे बहू के होते हुए भी वृद्ध मां इस तरह अंतिम छड़ को जी कर मृत्यु को प्राप्त होती है ,वह अपने मन में कितना दुख महसूस कर रही होगी कि उसने अपना सारा जीवन जिस बच्चों के लिए खापया आज उनके पास कोई सहारा नहीं है।'सात मील लंबी यात्रा' कहानी में बेटे बहु अपनी वृद्ध मां को महाकुंभ नहाने के लिए इसलिए भेजना चाहते हैं कि ताकि वह उस भीड़ से वापस ना आ सके। अपनी मां का इस तरह उपेक्षा करना हमारे समाज में रिश्तों की खोखलेपन को दर्शाता है। अमरेश अपनी मां से किस तरह बर्ताव करता है- "दवाइयां वाली पॉलिथीन रख दिए हो ना भाइया? इरावती देवी ने ओसरे में पड़ी चारपाई पर बैठते हुए पूछा। अमरीश थोड़ा झुंझला पड़ा था।

हां रख दिया है। वैसे भी एक दिन दवा नहीं खाओगी तो कुछ नहीं हो जाएगा। जा रही हो कुंभ नहाने और 70 बरस तक अपनी ही चिंता। हूं। ××× इरावती देवी का स्वर पीड़ा से कांपने लगा था। पति के मौत के बाद से क्रमशः बेटे बहू की उपेक्षा अब बर्दाश्त से बाहर होने लगी थी"।[4] नीरजा माधव इस कहानी के माध्यम से आधुनिक पारिवारिक जीवन की उस

विडंबना को उजागर करती हैं जहां माता-पिता जिन्होंने अपने बच्चों के पढ़ने लिखने उन्हें बड़ा करने में अपना पूरा जीवन लगा दिया वहीं जब उनके शारीरिक कमजोरी वृद्धावस्था आ जाती है तब वह अपमान और उपेक्षा के पात्र बन जाते हैं नीरज जी का उद्देश्य केवल समस्याओं का चित्रण करना नहीं है बल्कि समाज को यह चेतावनी देना भी है कि यदि परिवारों में संवेदना सम्मान और अपनापन समाप्त हो जाएगा तो पारिवारिक जीवन की जो मूल आत्मा है वह भी समाप्त हो जाएगी। इरावती देवी अपने बेटे बहु से इतना दुखी है कि वह कहती हैं कि अगर दवा खाने से मैं मर सकती तो कब का तुम्हें अपने से आजाद कर दिया होता इस तरह का एक वृद्ध मां का सोचना उनकी पीड़ा को व्यक्त करता है। यह स्थिति किसी भी वृद्ध माता-पिता के लिए आत्म सम्मान को गहरी चोट पहुंचती है। इसी कहानी में इरावती देवी के बेटे अपनी मां का किस तरह अपमान करते हैं इन शब्दों में समझ सकते हैं- "अमरेश का गुस्सा और भड़क उठा- क्या कहा, तुमको खाना पानी नहीं मिलता? बुढ़ापे में पेट नांद हो गया है तो हम कहां तक भरेंगे? बहू ने पति की शह पा आंखें तरेरकर कर कहा"।[5] यह उदाहरण केवल एक परिवार की नहीं है, बल्कि आज के समाज में फैली समस्या को दिखाता है की वृद्ध माता-पिता की उपेक्षा न केवल मानवीय संवेदनाओं का विनाश है, बल्कि भारतीय पारिवारिक संस्कृति और नैतिक मूल्यों के भी विपरीत है इसलिए परिवार और समाज दोनों का दायित्व है की वृद्ध जनों को सम्मान , स्नेह और सुरक्षा प्रदान करें, क्योंकि यही एक सभ्य और संवेदनशील समाज की पहचान है। 'नींद' कहानी में बेटे बहु को लगता है कि बाबूजी यह काम तो कर सकते हैं लेकिन करना नहीं चाहते जबकि आज की युवा पीढ़ी यह नहीं समझती कि जो इंसान सालों से उन्हें खिला पिला रहा था आज वह नहीं कर पा रहा है तो क्यों नहीं कर पा रहा है बाबूजी की बहू किस तरह अपमान भरा शब्द बोलती है-" भाभी तपाक से बोल पड़ी थी- बच्चे हैं क्या बाबूजी, जो हुडुक जाएंगे। आप लोगों ने इतना कह कह कर उनको पागल बना दिया है। एक से एक बुजुर्ग है अभी, जो अपना सारा काम भी करते हैं और नाती पोतों को खिलाते भी हैं। एक दिन की बात तो नहीं है ना"।[6] आज के युवा वर्ग वृद्धों की भावनाओं को नहीं समझते हैं उन्हें लगता है कि अगर हमारे साथ रह रहे हैं तो कुछ काम करते रहें। उनसे उम्मीद तो रखते हैं लेकिन यह नहीं समझ पाते कि उन्हें भी किसी चीज की जरूरत है। उन्हें लगता है कि वह माता-पिता तो अपना जीवन जी चुके हैं जिस तरह बाबूजी की बहू कहती है नाती पोतों को तो खिला सकते हैं लेकिन खिलाते नहीं उसको ऐसा लगता है। जबकि वृद्धावस्था में शारीरिक और मानसिक दोनों रुप से व्यक्ति कमजोर हो जाता हैं। व्यक्ति चाह कर भी कोई कार्य नहीं कर पाता। इस तरह 'वह राष्ट्रपति से नाराज थी' कहानी में रामप्यारी देवी एक वृद्ध है घर में बेटे बहु पोते सब है लेकिन उन्हें एक कमरे में करके बंद कर दिया जाता है – "बड़े वाले पोते ने एक दिन रास्ता ढूंढ लिया था और उनकी चारपाई बैठक के छोटे वाले कमरे में डाल दिया था। अब दिन-दिन भर इधर कोई आवाज ही नहीं सुनाई पड़ती। सब लोग घर में बंद हो जाते हैं। वह अकेली कोठरी में अपनी चारपाई पर लेटी या बैठी रहती हैं"।[7] अंतिम समय में इस तरह जीवन काटने के लिए इंसान पूरा जीवन अपने बच्चों पर समर्पित कर देता है कि उन्हें किसी सामान की तरह एक कमरे में रख दिया जाए? अगर वृद्ध माता-पिता परिवार के बीच में रहे तो कितना अच्छा लगे। लेकिन हमारी आज की पीढ़ी उन्हें अपनी सफलता में बाधक समझने लगी है। यह आज के समाज की बहुत बड़ी समस्या है इसे आने वाली पीढ़ी को या वर्तमान पीढ़ी को समझना होगा कि हमें इस सामंजस को किस तरह बना कर रखना है। 'सात मील लंबी यात्रा' कहानी में अमरीश की मां अपनी पीड़ा बता रही है – "…. अरे हम तो दुल्हन को इसी तने मेहने के डर से कभी यह भी नहीं कहती की दुल्हन हमें भूख लगी है….. चाहे दोपहर को दो बज जाए या तीन…पूजा करने के बाद वही एक बार खाना है, भगवान यह भी दिन दिखाने के लिए मुझे इतने दिन से मौत नहीं दे रहे हो, कि अपनी ही कोख से जन्मे में बेटे पोते खाने का ताना दे। इरावती देवी घुटनों में मुंह छुपा कर रोने लगी थी"।[8] इस उदाहरण में नीरजा माधव ने वृद्धों की उपेक्षा की मार्मिक और यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत की है। कहानी में अमरीश की मां इरावती देवी की पीड़ा एक स्त्री की नहीं है, बल्कि आज के समाज में उपेक्षित हो रहे बुजुर्गों की सामूहिक स्थिति का चित्रण है। इरावती देवी कहती है की बहू कभी यह भी नहीं पूछती कि उन्हें भूख लगी है या नहीं दोपहर के दो या तीन बजे तक उन्हें भोजन नहीं मिलता और पूजा करने के बाद भी उन्हें केवल एक ही बार भोजन मिलता है। अंततः वे भगवान से प्रार्थना करती है कि यदि उन्हें अपने बेटे पोते के घर में अपमान और तने सहकार ही जीना है तो ऐसी जिंदगी से मृत्यु ही बेहतर है। यह कथन उनके मन की पीड़ा, अकेलापन और असहायता की है। भोजन जैसी मूलभूत आवश्यकता के लिए भी उन्हें उपेक्षित होना पड़ता है।

निष्कर्ष :-

नीरजा माधव की कहानियों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने वृद्धों की उपेक्षा की समस्या को बहुत ही मार्मिक और संवेदनशील ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियों में वृद्ध केवल उम्र दराज व्यक्ति नहीं है, बल्कि वह ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपना पूरा जीवन परिवार के लिए समर्पित कर दिया फिर भी बुढ़ापे में उन्हें सम्मान और अपनापन नहीं मिल पाता।

यह स्थिति आज के समाज की एक कड़वी सच्चाई बनती जा रही है। इस शोध पत्र में हमने जिन कहानियों से उदाहरण दिया है उन कहानियों में वृद्ध माता-पिता को कई बार अपने ही घर में बोझ समझा जाता है। उनकी भावनाओं, इच्छाओं और आवश्यकताओं को अनदेखा किया जाता है। कई स्थानों पर उन्हें कठोर शब्द सुनने पड़ते हैं जैसे की अमरीश ने अपनी मां को बोला था। तो कहीं उन्हें अकेलापन और उपेक्षा झेलनी पड़ती है। सबसे अधिक दुख की बात यह है कि जिन बच्चों के लिए माता-पिता ने अपना पूरा जीवन लगा दिया वही बच्चे बुढ़ापे में उनका सम्मान करना भूल जाते हैं इससे वृद्ध के मन में गहरी पीड़ा सुरक्षा और निराशा पैदा होती है। नीरजा माधव की कहानियों की विशेषता यह है कि वह केवल समस्या का चित्रण नहीं करती बल्कि पाठक की संवेदना को भी जगाती हैं उनकी कहानी यह सोचने पर मजबूर करती हैं कि यदि परिवार में प्रेम, सम्मान और अपनापन समाप्त हो जाएगा तो समाज भी धीरे-धीरे अपनी मानवीय पहचान खो देगा। लेकिन लेखिका यह संदेश देती है कि वृद्धों को दया ही नहीं, बल्कि सम्मान और अधिकार का जीवन मिलना चाहिए। यह भी स्पष्ट हुआ कि आधुनिक जीवन की भाग दौड़ भौतिक सुखों की चाह और स्वार्थ की बढ़ती प्रवृत्ति ने संयुक्त परिवार की भावना को कमजोर किया है। इसका सबसे अधिक प्रभाव वृद्ध जनों पर पड़ा है जैसे युवा वर्ग गांव से शहरों की तरफ आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए दौड़ भाग कर रहे हैं और वृद्ध माता-पिता गांव में ही अकेले जीवन बिता रहे हैं वे अपने ही घर में अकेले और असहाय महसूस करने लगे हैं। इसलिए परिवार और समाज दोनों की जिम्मेदारी है कि वह वृद्धों को केवल पालन पोषण का विषय ना माने, बल्कि उन्हें परिवार का सबसे अनुभवी और सामान्य सदस्य समझे।

अंत में कहा जा सकता है कि नीरजा माधव की कहानियों में वृद्ध की उपेक्षा के विरुद्ध एक सशक्त मानवीय आवाज है। उनकी रचनाएं हमें यह सीख देती है की माता-पिता और वृद्ध जनों का सम्मान करना केवल हमारा नैतिक कर्तव्य ही नहीं है बल्कि भारतीय संस्कृति का मूल आधार भी है। यदि परिवार में वृद्धों को प्रेम, सम्मान, सुरक्षा और अपनापन मिलेगा तभी एक संवेदनशील संस्कृति और मानवीय समाज का निर्माण संभव होगा यही इस शोध पत्र का सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष है।

संदर्भ :

1. *हिंदी शब्दकोश*.
2. माधव, नीरजा. "नींद." *पत्थरबाज़*, 2019, पृ. 48.
3. माधव, नीरजा. "ताकि." *टेपरा*, 2025, पृ. 36.
4. माधव, नीरजा. "सात मील लंबी यात्रा." *टेपरा*, 2025, पृ. 130.
5. माधव, नीरजा. "सात मील लंबी यात्रा." *टेपरा*, 2025, पृ. 131.
6. माधव, नीरजा. "नींद." *पत्थरबाज़*, 2019, पृ. 53.
7. माधव, नीरजा. "वह राष्ट्रपति से नाराज़ थी." *टेपरा*, 2025, पृ. 57.
8. माधव, नीरजा. "सात मील लंबी यात्रा." *टेपरा*, 2025, पृ. 131.

Received: 03.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

हिंदी पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता

डॉ. सारिका राय शर्मा* **दिव्या राहंगडाले†**
sarikaraisharma@hindivishwa.ac.in **divyarahangdale1995@gmail.com**

सार

जेंडर सामाजिक-सांस्कृतिक रूप में स्त्री-पुरुष को दी गई परिभाषा है जिसके माध्यम से समाज उन्हें स्त्री और पुरुष दोनों की सामाजिक भूमिका में विभाजित करता है (भसीन, 2000)। प्रस्तुत शोध अध्ययन में मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा कक्षा 9वीं के लिए संचालित हिंदी पाठ्यपुस्तक का जेंडर के संदर्भ में विश्लेषण किया गया। इस हेतु श्रीवास्तव (2016) द्वारा विकसित उपकरण का उपयोग किया गया। कुछ आयामों जैसे महिला-पुरुष-ट्रांसजेंडर पात्रों के चित्रों की संख्या, उनके द्वारा समाजोपयोगी/ साहित्यिक योगदान के उल्लेख, उनके संस्मरण, पुस्तक में प्रयुक्त भाषा, आदि के संदर्भ में पाठ्यपुस्तकों का थीम-आधारित विषय-वस्तु विश्लेषण किया गया और निष्कर्ष स्वरूप यह पाया गया कि इन पाठ्य पुस्तकों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता प्रच्छन्न रूप में विद्यमान थी। पुरुष पात्रों का चित्रण महिला पात्रों की संख्या में अधिक था, 21.87% चित्रों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता देखने को मिली, 90% दृष्टांतों में पुरुषों को एवं केवल 10% में महिलाओं को व्यावसायिक भूमिका में दर्शाया गया था। पुस्तक की 22 रचनाओं में से मात्र 4 रचनाएँ महिलाओं द्वारा एवं 18 रचनाएँ पुरुषों द्वारा की गई थीं। विश्लेषण के दौरान विषय-वस्तु में कहीं भी ट्रांसजेंडर से संबंधित कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। जेंडर को मात्र स्त्री-पुरुष में ही विभाजित पाया गया। अतः उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य तथा उल्लिखित आयामों के सन्दर्भ में पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति को इन पाठ्यपुस्तकों को जेंडर संवेदनशील बनाने की आवश्यकता है।

मूल शब्द-

हिंदी, पाठ्यपुस्तक, जेंडर, जेंडर संवेदनशीलता , मध्यप्रदेश, शिक्षा, माध्यमिक स्तर

प्रस्तावना

'जेंडर' शब्द का उपयोग अब सामाजिक अर्थ में या अवधारणात्मक शब्द के रूप में हो रहा है। वर्तमान में जेंडर शब्द का अर्थ है- 'महिला तथा पुरुष की सामाजिक व सांस्कृतिक परिभाषा' अर्थात् समाज महिला व पुरुष को किस तरह से देखता है? कैसी भूमिकाएँ, अधिकार, संसाधन देता है, उन्हें किस तरह का व्यवहार व मानसिकता सीखाता है? जेंडर संप्रत्यय स्त्रियों और पुरुषों के बीच सामाजिक रूप से निर्मित भिन्नता के पहलुओं पर ध्यान आकर्षित करता है। जेंडर शब्द का उपयोग मात्र व्यक्तिगत पहचान को इंगित करने के लिए ही नहीं किया जाता है अपितु पुरुषत्व-स्त्रीत्व संबंधी रूढ़िबद्ध धारणाओं और संरचनात्मक अर्थों में संस्थाओं और संगठनों में जेंडर भेद के रूप में भी किया जाता है। भसीन (2000) के अनुसार "जेंडर सामाजिक-सांस्कृतिक रूप में स्त्री-पुरुष को दी गई परिभाषा है जिसके माध्यम से समाज उन्हें स्त्री और पुरुष दोनों की सामाजिक भूमिका में विभाजित करता है"। ओकली (1972) के अनुसार जेंडर का सम्बन्ध संस्कृति से है। इसका तात्पर्य उन सामाजिक श्रेणियों से है जिसमें पुरुष व महिला "पुरुषोचित" और "स्त्रियोचित" रूप ले लेते हैं जो समय और स्थान के साथ बदलते हैं। जेंडर पुरुषों और स्त्रियों की उन भूमिकाओं एवं उत्तरदायित्वों की ओर संकेत करता है जिसकी रचना हमारे परिवार, समाज और संस्कृति द्वारा की गई है। ये भूमिका एवं उतरदायित्व अधिगामित हैं जो कि समय के साथ और विभिन्न संस्कृतियों के अनुसार परिवर्तित हो सकते हैं।

***सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र 442001**

† पूर्व छात्रा, एम. एड., शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र 442001

शिक्षा एवं जेंडर संवेदनशीलता

शिक्षा एक ऐसी संस्था है जो समाज की अन्य सभी संस्थाओं को हर स्तर पर प्रमाणित करती है। इसलिए शिक्षा व्यवस्था में सतर्क, सक्रिय और सुनियोजित बदलाव लाने के लिए जेंडर आधारित विभेदों को दूर कर समानता लाने का प्रयास किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) समानता एवं समता हेतु शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए यह प्रस्तावित करती है कि यह सभी शिक्षार्थियों को अपने अधिकारों की दिशा में सजग बनाए ताकि वे समाज व राजनीति में अपना योगदान कर सकें। हमें यह समझने की आवश्यकता है कि उन अधिकारों और सुविधाओं को तब तक लागू नहीं किया जा सकता जब तक केन्द्रीय मानवीय क्षमताओं का विकास न हो जाए। इसलिए हाशिये पर धकेल दिए गए समाज के विद्यार्थियों, विशेषकर लड़कियों के लिए यह संभव बनाया जाना चाहिए कि वे अपने अधिकारों का दावा कर सकें। इसके लिए शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे वे असमान समाजीकरण के नुकसान की भरपाई कर सकें ताकि आगे चलकर स्वायत्त और समान नागरिक बन सकें।

शोध का महत्व एवं औचित्य

भारतीय समाज विभिन्न कालखंडों से गुजरता हुआ इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में प्रवेश कर चुका है किन्तु विडंबना यह है कि जेंडर को लेकर स्टीरियोटाइप (रूढ़िगत) अवधारणा से यह आज भी निकल नहीं पाया है। किसी भी पाठ्यक्रम को काफी मेहनत से तथा बार–बार संशोधन करके विषय विशेषज्ञों द्वारा तैयार किया जाता है। बावजूद इसके जेंडर संवेदनशीलता का पक्ष हाशिए पर चला जाता है। महिलाओं से संबंधित अपराधों के बढ़ते हुए ग्राफ को देखते हुए जेंडर संवेदनशीलता की अवधारणा बहुत ही प्रासंगिक तथा महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) के अनुसार समानता के लिए पाठ्यपुस्तकों को प्राथमिक उपकरण की तरह उपयोग किया जाना चाहिए लेकिन अभी भी पाठ्यपुस्तकों व पाठ्यक्रम में जेंडर रूढ़िवादिता को कम करने की आवश्यकता है, विशेषकर राज्य स्तरीय शिक्षा बोर्ड द्वारा चलाई जा रही पुस्तकों के संदर्भ में। प्रस्तुत शोध से संबंधित साहित्य की समीक्षा करने के पश्चात् यह पाया गया कि आज भी पाठ्यपुस्तकों में चित्र, विषय-वस्तु और पात्रों में जेंडर असमानता व्याप्त है जैसे- महिलाओं को झाड़ू लगाते हुए दिखाना या घर का काम करते हुए दिखाना, पुरुषों को ऑफिस जाते हुए या व्यापारी, डॉक्टर, शिक्षक के रूप में चित्रित करना, पुरुषों पर आधारित विषयवस्तु, महिलाओं की तुलना में पुरुष पात्रों की अधिक संख्या आदि। भारत में कई ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ आज भी ऐसे प्रकरण मौजूद हैं जहाँ पुरुषों व महिलाओं के मध्य भेदभाव किया जाता है। उनकी शिक्षा को लेकर या उनके व्यवसाय को लेकर भेदभाव होता है। परंतु कक्षा में शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया के दौरान ही अत्यंत सहजता से विद्यार्थियों में जेंडर संवेदनशीलता जागृत की जा सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि पाठ्यसामग्री को समझकर अभ्यास तथा गतिविधियों के भरपूर उपयोग द्वारा कक्षा के अंदर तथा कक्षा के बाहर लड़कियों, लड़कों और ट्रांसजेंडर को समान अवसर दिए जाएँ। घर से समाजीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत होती है लेकिन समाजीकरण की प्रक्रिया की वे त्रुटियाँ जो घर में रह जाती हैं, उन्हें विद्यालय के माध्यम से दूर किया जा सकता है और इस कार्य में शिक्षक और पाठ्यपुस्तकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

शोध कथन

मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा माध्यमिक स्तर पर चलाई जा रही हिंदी पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता का अध्ययन

संबंधित साहित्य की समीक्षा

बालधिया (2019) के द्वारा "हिंदी विषय के पाठयपुस्तकों में प्रतिबिंबित लैंगिक असमानता" विषय पर शोध कार्य किया गया। प्रस्तुत शोध अध्ययन के लिए प्रतिदर्श के रूप में गुजरात राज्य शाला पाठ्यपुस्तक मंडल द्वारा प्रकाशित कक्षा 6वीं से 8वीं के हिंदी विषय के पाठ्यपुस्तकों को समाविष्ट किया गया था। इन पाठ्यपुस्तकों में सिर्फ लेखक, संपादक, सर्जक, चित्रों, प्रमुख पात्र, पात्रों के गुण, पारिवारिक एवं व्यावसायिक भूमिका के सन्दर्भ में ही जेंडर असमानता की जाँच की गई थी। निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि कक्षा 6वीं से 8वीं के पाठ्यपुस्तकों में लेखकों, संपादकों एवं सर्जकों के चयन में और विषय-वस्तु में निहित चित्रों व पात्रों में पुरुषों की मात्रा सार्थक रूप से अधिक थी।

शाह (2019) के द्वारा "कंटेंट एनालिशिस फॉर इंग्लिश लैंग्वेज टेक्स्टबुक ऑफ जम्मू एंड कश्मीर स्टेट बोर्ड ऑफ स्कूल एजुकेशन फॉर क्लास 8th फ्रॉम जेंडर पर्स्पेकटिव" विषय पर शोध कार्य किया गया। प्रस्तुत शोध अध्ययन में जनसंख्या के रूप में जम्मू और कश्मीर राज्य बोर्ड कि सभी 8वीं कक्षा की पाठ्यपुस्तकें सम्मिलित थीं। निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि

अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों में पुरुष व महिलाओं के बीच बहुत अंतर है। पाठ्यपुस्तकों में कुल 90 चित्र शामिल थे जिसमें 67 पुरुष व 23 महिला के चित्र थे। बाहरी स्थानों में पुरुषों को चित्रित किया गया था। पाठ्यपुस्तकों में कुल 8214 सन्दर्भ थे जिसमें 4308 पुरुषों से तथा 3906 सन्दर्भ महिलाओं से संबंद्धित थे। पाठ्यपुस्तकों में सांकेतिक रूढ़िवादी गतिविधियां व्याप्त थीं। व्यावसायिक गतिविधियों में महिलाओं की तुलना में पुरुषों की व्यावसायिक गतिविधियाँ अधिक शामिल थीं।

अत्तारी (2018) के द्वारा "फ्रॉम टीचर्स टू टेक्स्टबुक: जेंडर स्टीरियोटाइप इन इंडियन स्कूल" विषय पर शोध कार्य किया गया। शोध के निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि हिंदी व अंग्रेजी की पाठ्यपुस्तकों में पुरुषों और महिलाओं के समान प्रतिनिधित्व की कमी है और यहाँ तक कि इतिहास और नागरिक शास्त्र की पुस्तकें भी पाठ में महिलाओं को गलत चित्रण के रूप में प्रस्तुत करती हैं। शोध में यह भी पाया गया कि नई दिल्ली में गोयल ब्रदर्स प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक में लगभग 10 पुरुष पेशेवर वर्ग चित्रित किए गए थे व उसके विपरीत महिलाओं को पत्नी व माताओं के रूप में दर्शाया गया था। लड़कों की सक्रिय भागीदारी थी व लड़कियों की निष्क्रिय और पारंपरिक भागीदारी थी।

भट्टाचार्य (2017) के द्वारा "जेंडर रिप्रजेंटेसन इन इंग्लिश टेक्स्टबुक यूज्ड इन ग्रेड 8th अंडर नेशनल एंड स्टेट बोर्ड्स, इण्डिया" विषय पर शोध कार्य किया गया। न्यादर्श के रूप में कक्षा 8वीं में उपयोग की जाने वाली 3 पाठ्यपुस्तकों का चयन किया गया था, जो भारत में पश्चिम बंगाल राज्य के विद्यालयों में राज्य बोर्ड (डब्लू.बी.बी.एस.ई.) के तहत उपयोग की जाती हैं। निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि इस शोध में अध्ययन की गई तीनों पाठ्यपुस्तकों में जेंडर भूमिका और कर्तव्यों के बारे में अवधारणा और छवियों का चित्रण भारतीय समाज के सभी क्षेत्रों में मौजूद असमानता को ख़त्म न करने के बजाय उन्हें सुदृढ़ करता हुआ पाया गया। ये पाठ्यपुस्तकें भारत की एक पितृसत्तात्मक समाज के रूप में अवधारणा को पोषित करती हुई पाई गई।

श्रीवास्तव (2013-2016) द्वारा "टेक्स्टबुक एनालिसिस एट द एलिमेंट्री स्टेज ऑफ एन.सी.ई.आर.टी. एंड फॉर द स्टेट्स ऑफ असम, बिहार, छत्तीसगढ़, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, ओडिशा, महाराष्ट्र, मणिपुर एंड राजस्थान" पर किए गए शोध में यह पाया गया कि एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकों में बालिकाओं का सकारात्मक चित्रण किया गया था एवं पुरुषों व महिलाओं दोनों को ही पारिवारिक श्रेणी में दिखाया गया था। पुरुषों को गृह निर्माता, डॉक्टर, वैज्ञानिक और महिलाओं को सीमित रूप से केवल शिक्षक व नर्स के रूप में रखा गया था। कुछ पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करने वाली प्रथाओं पर सवाल उठाए गए थे। गणित व विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में लड़कियों के लिए कठिन विषय होने के बारे में मिथकों और भ्रांतियों को शामिल करके विषयों को जेंडर-समावेशी बनाने पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। बिहार राज्य की पाठ्यपुस्तकों में पुरुषों व महिलाओं को संबंधपरक पारिवारिक भूमिकाओं में दिखाया गया था। किसी-किसी विषयों के कुछ अभ्यासों में लिंग पूर्वाग्रह को दिखाया गया था। महिलाओं को गृहिणियों से संबंधित भूमिकाओं में और सिलाई जैसी गतिविधियों व घरेलू नौकरों के रूप में रूढ़िवादी तरीके से चित्रित किया गया था। छत्तीसगढ़ राज्य की पाठ्यपुस्तकों में लिंग पूर्वाग्रहों के रूप में केवल पुरुषों का वैज्ञानिक एवं समाज सुधारकों के रूप में उल्लेख किया गया था। कहीं-कहीं महिला पात्रों की मदद से थीम पेश की गई थी। हरियाणा राज्य की पाठ्यपुस्तकों में महिला गणितज्ञ का कोई उल्लेख नहीं किया गया था। कई अध्ययन मुख्य भूमिका के रूप में पुरुषों को दिखाते थे। जम्मू-कश्मीर की पाठ्यपुस्तकों में महिला पात्रों की तुलना में पुरुष पात्रों का अधिक उल्लेख किया गया था। महाराष्ट्र राज्य की पाठ्यपुस्तकों में पुरुषों को विभिन्न व्यवसायों व महिलाओं को शिक्षक और वैज्ञानिक के रूप में दिखाया गया था। अधिकांश पाठ्यपुस्तकों में भाषा जेंडर समावेशी थी एवं लड़कियों की शिक्षा को बढ़ावा देने वाली योजनाओं का उल्लेख भाषा की पाठ्यपुस्तकों में किया गया था। मणिपुर राज्य की पाठ्यपुस्तकों में भाषा जेंडर समावेशी थी, लेकिन पर्यावरण की पाठ्यपुस्तकों में केवल पुरुष पात्रों को दिखाया गया था। महिलाओं के प्रति रूढ़िवादी दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया था। राजस्थान राज्य की पाठ्यपुस्तकों में भाषा की गतिविधियाँ और अभ्यास सभी बच्चों को सम्बोधित करते थे किन्तु पुरुष पात्रों की संख्या महिला पात्रों से अधिक थी।

कुमारी (2014) के द्वारा "कंटेंट एनालिसिस ऑफ जेंडर प्रस्पेक्टिव इन हिंदी ऑफ 5th स्टेंडर्ड" विषय पर शोध कार्य किया गया था। प्रस्तुत शोध में प्रतिदर्श के रूप में कक्षा 5वीं की हिंदी पाठ्यपुस्तकों को लिया गया था। निष्कर्ष रूप में यह पाया गया कि लड़कों के चित्र व पात्रों की संख्या लड़कियों की तुलना में अधिक है।

मुकुल (2014) ने 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में छपे अपने लेख "एन.सी.ई.आर.टी. टू कैरी आउट जेंडर एनालीसिस ऑफ प्रायमरी टेक्स्टबुक" में लिखा है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की प्राथमिक स्तर की पाठ्यपुस्तकों का जेंडर विश्लेषण किया और निष्कर्ष रूप में पाया गया कि प्राथमिक स्तर की कई विषयों की पाठ्यपुस्तकों में जेंडर पूर्वाग्रह पाया गया था।

सारंगी (2014) ने 'द संडे गार्डन' में छपे अपने लेख "एन.सी.ई.आर.टी. सर्वे फाइंड्स रेमपेंट जेंडर बायस इन स्कूल बुक" में उल्लिखित किया है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यपुस्तकों के विश्लेषण के लिए गुणात्मक व मात्रात्मक विधि का प्रयोग किया था। प्रस्तुत अध्ययन में निष्कर्ष के रूप में पाया गया कि एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा विभिन्न राज्यों के विद्यालयों में संचालित पाठ्यपुस्तकों के लिंग विश्लेषण से पता चलता है कि हालांकि पाठ्यपुस्तकें काफी हद तक लिंग समावेशी है, लेकिन "रूढ़िवादिता" के कुछ तत्व अभी भी सामग्री में मौजूद हैं। मध्य प्रदेश की पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं/लडकियों को मुख्य रूप से "सम्बन्धपरक श्रेणियों" में दिखाया गया था, जैसे कि माँ, बेटी, बहन और पत्नी। पाठ्यपुस्तकों के सन्दर्भ में मुख्य रूप से महिलाओं की तुलना में पुरुष पात्रों पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। 8वीं कक्षा की संस्कृत की पाठ्यपुस्तक में रूढ़िवादिता के कुछ तत्व मिले, जैसे महिलाओं को गृहस्थी चलाने से सम्बंधित गतिविधियों में चित्रित करना जबकि पुरुषों को व्यवसायों में और बाहरी गतिविधियों में संलग्न दिखाया गया था। महिलाओं को खाना पकाने और पानी लाते हुए दिखाया गया, जबकि पुरुषों को टेबल पर काम करते हुए या क्रिकेट खेलते हुए दिखाया गया था। उत्तर प्रदेश की 6वीं और 7वीं कक्षा की हिंदी की पाठ्यपुस्तक-मंजरी-में 148 दृश्य थे, जो कि पुरुष या लड़कों को उजागर करते थे, जबकि केवल 48 महिलाओं या लड़कियों को प्रदर्शित करते थे।

प्रस्तुत अध्ययन में शोध विषय से संबंधित पूर्व में हुए अनुसंधानों से निष्कर्ष रूप में यह पाया गया कि पाठ्यपुस्तकों में व्यावसायिक गतिविधियों में महिलाओं की तुलना में पुरुषों की व्यावसायिक गतिविधियां अधिक शामिल थीं। महिलाओं को घर के कामों में और पत्नियों, माताओं व बहनों के रूप में दर्शाया गया था। किसी-किसी पाठ्यपुस्तकों में पुरुषों के वर्चस्व को अधिक दिखाया गया था। लेखकों, संपादकों एवं सर्जकों के चयन में और विषय-वस्तु में निहित चित्रों व पात्रों में पुरुषों की संख्या सार्थक रूप से अधिक थी। एन.सी.ई.आर.टी. की कुछ पाठ्यपुस्तकों में बालिकाओं का सकारात्मक चित्रण किया गया था। पाठ्यपुस्तकों में गणितज्ञ, वैज्ञानिक के रूप में केवल पुरुषों को दर्शाया गया था, केवल कुछ-कुछ पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं को शिक्षक व वैज्ञानिक के रूप में दर्शाया गया था। पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं और पुरुषों के बीच अलग-अलग तरह की मान्यताएं व रूढ़िवादी गतिविधियाँ व्याप्त थीं एवं पुरुषों के स्थान को आगे रखा गया था, तथा महिलाओं को निम्न दर्जा दिया गया था।

संक्रियात्मक परिभाषा

माध्यमिक स्तर- राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) के अनुसार माध्यमिक स्तर से तात्पर्य कक्षा 9वीं से 12वीं तक है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में माध्यमिक स्तर से अभिप्राय कक्षा 9वीं से है।

पाठ्यपुस्तक- हॉलक्वेस्ट के अनुसार 'पाठ्यपुस्तक शिक्षण क्रियाओं एवं अभिप्रायों के लिए सुव्यवस्थित चिंतन एवं ज्ञान का लिखित रूप हैं।' हर्ल आर. डगलस के अनुसार- "अध्यापकों के अनुभवों एवं विश्लेषण के अनुसार पाठ्यपुस्तक पढ़ने का महत्वपूर्ण आधार हैं।" यहाँ पर पाठ्यपुस्तक का संबोधन मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा चलाई जा रही कक्षा 9वीं हिंदी पाठ्यपुस्तकों के लिए किया गया है।

जेंडर संवेदनशीलता- जेंडर संवेदनशीलता अर्थात् हर लिंग का व्यक्ति दूसरे लिंग के प्रति सम्मान का भाव रखे। लिंग भेद को दरकिनार कर एक–दूसरे के प्रति सम्मान का भाव होना ही जेंडर संवेदनशीलता है। शोधार्थी द्वारा इस अध्ययन में जेंडर संवेदनशीलता का अध्ययन करने के लिए लेखक, विषयवस्तु, पात्र व चित्रों को लिया गया है, जिसमें जेंडर संवेदनशीलता से संबंधित आयामों को संबोधित किया जा रहा हो।

शोध उद्देश्य

- मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा कक्षा 9वीं में चलाई जा रही हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं, पुरुषों एवं ट्रांसजेंडरों के चित्रों के सन्दर्भ में पाठ्यसामग्री के विश्लेषण का अध्ययन करना।
- मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा कक्षा 9वीं में चलाई जा रही हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं, पुरुषों एवं ट्रांसजेंडरों के योगदान के विविध क्षेत्रों का अध्ययन करना।
- मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा कक्षा 9वीं में चलाई जा रही हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता का अध्ययन करना।

शोध का परिसीमन

प्रस्तावित लघु शोध कार्य में मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा माध्यमिक स्तर पर कक्षा 9वीं में संचालित की जा रही मात्र हिंदी विषय की पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता के अध्ययन तक सीमित रखा गया है।

शोध अभिकल्प

इस शोध अध्ययन के दौरान मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा संचालित माध्यमिक स्तर के विद्यालय की 9वीं कक्षा की हिंदी पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन किया गया। प्रस्तुत शोध एक गुणात्मक शोध है। इस शोध की प्रकृति वर्णानात्मक है। कक्षा 9वीं की हिंदी विषय की पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता के सन्दर्भ में समीक्षा हेतु विषय-वस्तु विश्लेषण का प्रयोग किया गया।

जनसंख्या एवं न्यादर्श

प्रस्तुत शोध अध्ययन में मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा माध्यमिक स्तर पर चलाई जा रही हिंदी की पाठ्यपुस्तकें जनसंख्या के रूप में चयनित की गयीं। मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा कक्षा 9वीं के स्तर पर चलाई जा रही हिंदी पाठ्यपुस्तकों का चयन असंभाविता प्रतिदर्शन के अंतर्गत सोद्देश्यपूर्ण प्रतिचयन प्रविधि द्वारा किया गया।

शोध उपकरण

शोधकर्ता द्वारा आंकड़ो के संकलन और पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा हेतु एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा पाठ्यपुस्तकों के जेंडर विश्लेषण हेतु श्रीवास्तव (2016) द्वारा निर्मित मूल्यांकन/पाठ्यपुस्तक विश्लेषण शोध उपकरण की मदद ली गई। इस उपकरण में संवर्धन करके ट्रांसजेंडर के बिंदु को जोड़ा गया और इसके पश्चात् इस उपकरण का शोध अध्ययन हेतु उपयोग किया गया।

शोध कार्यविधि एवं प्रदत्त विश्लेषण

इस लघु शोध में शोधकर्ता द्वारा सबसे पहले पाठ्यपुस्तक का चयन किया गया। उसके पश्चात् सामान्य सूचना के लिए शोधकर्ता द्वारा पाठ्यपुस्तक की प्रत्येक ईकाईयों/अध्यायों को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण पाठ्यपुस्तक का विश्लेषण किया गया। तदोपरांत अध्यायवार उपकरण के विभिन्न आयामों के अंतर्गत कक्षा 9वीं की हिंदी की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण किया गया, और उपकरण में जो भी आयाम सम्मिलित थे उन्हें देखा गया और भरा गया जिससे प्रत्येक अध्याय का विश्लेषण निकलकर आया। प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु आयाम-आधारित विषय-वस्तु विश्लेषण का प्रयोग किया गया।

शोध परिणाम

- दोनों पाठ्य पुस्तकों में कुल 32 चित्र थे। इनमें से 20 चित्रों में अर्थात् 62.5% पुरुषों के चित्रों को प्रदर्शित किया गया था एवं 6 चित्रों में अर्थात् 18.75% महिलाओं के चित्रों को प्रदर्शित किया गया था। 6 चित्रों में अर्थात् 18.75% महिला एवं पुरुष दोनों के चित्रों को प्रदर्शित किया गया था। इसमें पुरुषों के 20 चित्रों में से 14 चित्र ऐसे थे जो अध्याय के लेखक के थे एवं 4 चित्र ऐसे थे जिन पर अध्याय बनाया गया था। इसलिए यहाँ पर लिंग तटस्थता देखने को मिली। महिलाओं के 6 चित्रों में से 1 चित्र लेखिका का था एवं 2 चित्र ऐसे थे जिस पर अध्याय बनाया गया था, इसलिए यहाँ पर भी लिंग तटस्थता बोधित हुई। 6 चित्रों में महिला एवं पुरुष दोनों को प्रदर्शित किया गया था जिसमें 4 चित्रों में लिंग समावेशी छायाचित्र थे। कुल 7 चित्रों में 2 पुरुषों के चित्र, 2 पुरुष व महिला दोनों के चित्र एवं 3 महिलाओं के चित्र थे। 21.87% चित्रों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता देखने को मिली।
- दोनों पाठ्य पुस्तकों में विविध क्षेत्रों में पुरुषों का योगदान महिलाओं से अपेक्षाकृत अधिक प्रतिबिंबित हो रहा था। इन पाठ्य पुस्तकों में पुरुषों को कवि सम्मलेन के अध्यक्ष, भारतीय स्वाधीनता सेनानी, अध्यापक, लेखक, घर का मुखिया, खेत के मालिक, गवर्नर, सेनापति, राजा, बैरिस्टर एवं पढ़ा-लिखा प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा महिलाओं को ज्यादातर गृहिणी, पत्नी एवं एक जगह कवयित्री के रूप में प्रदर्शित किया गया था। अर्थात् 90% दृष्टांतों में पुरुषों को एवं केवल 10% में महिलाओं को व्यावसायिक भूमिका में दर्शाया गया। इससे ऐसा देखने को मिला कि समाज में व्याप्त लिंग पूर्वाग्रह कि समाज महिलाओं को उच्च स्थान देने में हिचकिचाता है (भसीन, 2000) पुस्तक में भी परिलक्षित हो रहा था । इस आधार पर कहा जा सकता है कि इन पाठ्य पुस्तकों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता प्रच्छन्न रूप में विद्यमान थी।

- दोनों पाठ्यपुस्तकों में कुल 22 रचनाएँ थी। जिसमें केवल 4 अर्थात् 18.18% लेखिका व कवयित्री द्वारा लिखित रचनाओं का समावेश एवं 18 अर्थात् 81.81% लेखक व कवियों द्वारा लिखित रचनाओं का समावेश किया गया था। इनमें से 11 अध्यायों अर्थात् 50% अध्यायों में भाषा, विषय-वस्तु एवं छायाचित्रों में लिंग समावेशन व लिंग तटस्थता बोधित हुई एवं 11 अध्यायों अर्थात् 50% अध्यायों में भाषा, विषय-वस्तु एवं चित्रों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता प्रतिबिंबित हुई। तथा महिलाओं को कभी अबला तो कभी निर्बल दिखाया गया था। इन पुस्तकों के पाठ में यह दर्शाया गया कि समाज में महिलाओं को कम पढ़ी-लिखी या अनपढ़ होना चाहिए तथा महिलाओं को केवल घर के काम-काज जैसे खाना बनाना, सिलाई, कढ़ाई व पूजा-पाठ करना चाहिए एवं महिलाएँ पाउडर लगाकर सज-सँवरकर खूबसूरत दिखनी चाहिएँ। पुरुषों के बारे में बताया गया है कि ऊँची तालीम सिर्फ पुरुषों के लिए है एवं पढ़ना व काबिल बनना सिर्फ पुरुषों का काम है, महिलाओं का नहीं। तभी महिलाएँ पुरुषों के सामने मुंह नहीं खोल पाएंगी जिससे यह प्रतीत हुआ कि इन हिंदी पाठ्यपुस्तकों में कुछ अध्यायों में लिंग रूढ़िवादिता एवं लिंग पूर्वाग्रह स्पष्ट रूप से व्याप्त था।

शोध निष्कर्ष

बालधिया (2019), कुरुविल्ला और थास्निया (2015) एवं कुमारी (2014) द्वारा निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि पाठ्यपुस्तकों में लेखकों, संपादको एवं सर्जकों के चयन में और विषय-वस्तु में निहित चित्रों व पात्रों में पुरुषों की मात्रा सार्थक रूप से अधिक थी। शाह (2019) तथा साइला (2018) द्वारा अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तकों में यह पाया गया कि अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों में पुरुष व महिलाओं के बीच चित्रों में प्रदर्शित पात्रों के स्तर पर बहुत अंतर था। पाठ्यपुस्तकों में कुल 90 चित्र शामिल थे जिसमें 67 पुरुष व 23 महिला चित्र थे। बाहरी स्थानों में पुरुषों को चित्रित किया गया था। पाठ्यपुस्तकों में कुल 8214 सन्दर्भ थे जिसमें से 4308 पुरुषों से तथा 3906 सन्दर्भ महिलाओं से संबंद्धित थे। पाठ्यपुस्तकों में सांकेतिक रूढ़िवादी गतिविधियां व्याप्त थी। व्यावसायिक गतिविधियों में महिलाओं की तुलना में पुरुषों की व्यावसायिक गतिविधियाँ अधिक शामिल थीं। प्रस्तुत शोध अध्ययन में भी मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा माध्यमिक स्तर पर चलाई जा रही हिंदी पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता के अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि दोनों पाठ्य पुस्तकों में कुल 32 चित्र में से 62.5% पुरुषों को, 18.75% महिलाओं को तथा 18.75% चित्र महिला एवं पुरुष दोनों को प्रदर्शित करते थे। जिन 6 चित्रों में महिला एवं पुरुष दोनों को प्रदर्शित किया गया था, उनमें से 4 चित्रों में लिंग समावेशी छायाचित्र थे। 21.87% चित्रों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता देखने को मिली। इसी प्रकार मध्य प्रदेश राज्य सरकार द्वारा कक्षा 9वीं के लिए संचालित दोनों पाठ्य पुस्तकों में विविध क्षेत्रों में पुरुषों का योगदान महिलाओं से अपेक्षाकृत अधिक प्रतिबिंबित हो रहा था। इन पाठ्य पुस्तकों में पुरुषों को कवि सम्मलेन के अध्यक्ष, भारतीय स्वाधीनता सेनानी, अध्यापक, लेखक, घर का मुखिया, खेत के मालिक, गवर्नर, सेनापति, राजा, बैरिस्टर एवं पढ़ा-लिखा प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा महिलाओं को ज्यादातर गृहिणी, पत्नी एवं एक जगह कवयित्री के रूप में प्रदर्शित किया गया था। 90% पुरुषों एवं 10% महिलाओं को व्यावसायिक भूमिका में दर्शाया गया। इससे ऐसा देखने को मिला कि समाज में व्याप्त लिंग पूर्वाग्रह कि समाज महिलाओं को उच्च स्थान देने में हिचकिचाता है, पुस्तक में भी परिलक्षित हो रहा था । इस आधार पर कहा जा सकता है कि इन पाठ्य पुस्तकों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता प्रच्छन्न रूप में विद्यमान थी। दावर और आनन्द (2017) को भी अपने शोध अध्ययन में यही देखने को मिला कि प्राथमिक स्तर पर एन.सी.इ.आर.टी. की सभी पाँचों पाठ्यपुस्तकों में किसी-न-किसी रूप में रूढ़िवादीता व्याप्त थी। ऐसे ही एक शोध में श्रीवास्तव (2013-2016) द्वारा निष्कर्ष के रूप में पाया गया कि छत्तीसगढ़ राज्य की पाठ्यपुस्तकों में लिंग पूर्वाग्रहों के रूप में केवल पुरुषों को वैज्ञानिक, समाज सुधारकों के रूप में उल्लेख किया गया था। कहीं-कहीं महिला पात्रों की मदद से थीम पेश की गई थी। हरियाणा राज्य की पाठ्यपुस्तकों में महिला गणितज्ञ का कोई उल्लेख नहीं किया गया था। कई अध्ययन मुख्य भूमिका के रूप में पुरुषों को दिखाते थे। जम्मू-कश्मीर की पाठ्यपुस्तकों में महिला पात्रों की तुलना में पुरुष पात्रों का अधिक उल्लेख किया गया था। महाराष्ट्र राज्य की पाठ्यपुस्तकों में पुरुषों को विभिन्न व्यवसायों व महिलाओं को शिक्षक और वैज्ञानिक रूप में दिखाया गया था। राजस्थान राज्य की पाठ्यपुस्तकों में भाषा की गतिविधियाँ और अभ्यास सभी बच्चों को सम्बोधित करते थे किन्तु पुरुष पात्रों की संख्या महिला पात्रों से अधिक थी। खरबंदा (2015) द्वारा निष्कर्ष के रूप में पाया गया कि महिलाओं के चित्र व पात्रों की संख्या पुरुषों की तुलना में कम थी तथा पुरुषों के द्वारा नारियों को दंड देते हुए प्रदर्शित किया गया था। महिलाओं व पुरुषों के बीच अलग-अलग तरह की मान्यताएं एवं रूढ़िवादी गतिविधियाँ व्याप्त थीं। हमीद (2014) द्वारा निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि ग्रंथो की भाषा अधिक पक्षपाती छवियों से भरी हुई थी। पुरुषों को प्रत्येक स्थान पर आगे रखा गया था। अतः पंजाब की पाठ्यपुस्तकों को लिंग तटस्थ दृष्टिकोण के साथ अभी तक केन्द्रित नहीं किया

गया था। मुकुल (2014) द्वारा निष्कर्ष रूप में पाया गया कि प्राथमिक स्तर की कई विषयों की पाठ्यपुस्तकों में लैंगिक पूर्वाग्रह पाया गया था। सारंगी (2014) द्वारा मध्य प्रदेश की पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं/लड़कियों को मुख्य रूप से "सम्बन्धपरक श्रेणियों" में दिखाया गया था, जैसे कि माँ, बेटी, बहन और पत्नी। पाठ्यपुस्तकों के सन्दर्भ में मुख्य रूप से महिलाओं की तुलना में पुरुष पात्रों पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। 8वीं कक्षा की संस्कृत की पाठ्यपुस्तक में रूढ़िवादिता के कुछ तत्व मिले, जैसे महिलाओं को गृहस्थी चलाने से सम्बंधित गतिविधियों में चित्रित करना जबकि पुरुषों को व्यवसायों में और बाहरी गतिविधियों में संलग्न दिखाया गया था। महिलाओं को खाना पकाने और पानी लाते हुए दिखाया गया, जबकि पुरुषों को टेबल पर काम करते हुए या क्रिकेट खेलते हुए दिखाया गया था। उत्तर प्रदेश की 6वीं और 7वीं कक्षा की हिंदी की पाठ्यपुस्तक-मंजरी-में 148 दृश्य थे, जो कि पुरुष लड़कों को उजागर करते थे, जबकि केवल 48 महिलाओं या लड़कियों को प्रदर्शित करते थे।

मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड द्वारा संचालित कक्षा 9वीं की हिंदी की 2 पाठ्य पुस्तकों का क्रमवार एवं अध्यायवार विश्लेषण करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह पाया गया कि पुस्तक आवरण से लेकर रचनात्मक सामग्री उपयुक्त एवं विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर विकसित की गई थी। पाठ्य-पुस्तक में शिक्षकों के लिए भी बहुत कुछ था जिससे वे शिक्षार्थियों का समूचित एवं सर्वांगीण विकास कर सकें। पाठ्य-पुस्तक में कहीं-कहीं रूढिवादी दृष्टि देखने को मिली। कहीं चित्रों में, तो कहीं नाम व विषय-वस्तु इत्यादि से इंगित हुई। लेखकों व कवियों की संख्या कवयित्री व लेखिकाओं से अपेक्षाकृत अधिक थी जिसमें लेखकों व कवियों की संख्या 81.81% एवं कवयित्री व लेखिका की संख्या 18.18% थी। चित्रों में 62.5% में पुरुषों व 18.75% चित्रों में महिलाओं को प्रदर्शित किया गया था एवं 18.75% महिला व पुरुष दोनों के चित्रों को चित्रित किया गया था। 90% पुरुषों को एवं केवल 10% महिलाओं को व्यावसायिक भूमिका में दर्शाया गया था। 50% अध्यायों में भाषा, विषय-वस्तु एवं चित्रों में लिंग पूर्वाग्रह एवं लिंग रूढ़िवादिता प्रतिबिंबित हुई जिससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्व में किए गए शोध के परिणामों में जो निष्कर्ष निकलकर आए थे, लगभग उसी तरह के परिणाम इस शोध अध्ययन में भी प्रतिबिंबित हुए। अतः उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य तथा उल्लिखित आयामों के सन्दर्भ में पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति को इन पाठ्यपुस्तकों को जेंडर संवेदनशील बनाने की आवश्यकता है।

शैक्षिक निहितार्थ

- इस शोध से ट्रांसजेंडर के प्रति संवेदनशीलता बढ सकती है तथा इस पर शोध अध्ययन किया जा सकता है कि ट्रांसजेंडर को कैसे जोड़ा जाए और किस तरह से उनके लिए किताबों को लिखा जाए ताकि समावेशन के क्षेत्र में यह उपयोगी हो सके। इस शोध अध्ययन द्वारा ट्रांसजेंडर की शिक्षा के सन्दर्भ में पाठ्य-पुस्तक लेखन के स्तर पर आवश्यक प्रश्न खड़े करने का प्रयास किया गया है। इरिक्सन के सिद्धांत के अनुसार किशोरावस्था में व्यक्ति की जेंडर पहचान विकसित होती है। अतः ऐसे में इस प्रकार के शोध अध्ययन से यह पता चलता है कि हमारी पाठ्यचर्या तथा पाठ्य-पुस्तकें इन मुद्दों पर मौन हैं जोकि समाज में प्रचलित जेंडर समावेशन की सम्पूर्णता एवं वैधता पर प्रश्न उठाते हैं और इस शोध अध्ययन से यह स्पष्ट भी होता है कि हमारी पाठ्य-पुस्तकों के लेखन में जेंडर तटस्थता के साथ-साथ ट्रांसजेंडर के समावेशन को स्पष्ट रूप से दिखाया जाए ताकि इस मुद्दे पर समाज में व्याप्त अनावश्यक एवं भेदभावपूर्ण मौन तोड़ा जा सके।
- शिक्षकों को इसके द्वारा संवेदनशील बना सकते हैं ताकि जब शिक्षक कक्षा में शिक्षण कार्य करे तो शिक्षण के दौरान पाठ्य-पुस्तकों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित लिंग भेदभाव वाली कमी को दूर करने का प्रयास कर सके तथा उन पर कक्षा में खुल कर वाद-विवाद तथा सम्प्रेषण करें और भावी पीढ़ी को जेंडर संवेदनशील बनाने का प्रयास करें।
- इन पाठ्यपुस्तकों में लेखिका व कवयित्री की केवल कुछ रचनाओं को रखा गया है। जेंडर समानता व जेंडर संवेदनशीलता को बढ़ाने के लिए लेखिका एवं कवयित्री की रचनाओं को भी लेखक व कवि की रचनाओं के बराबर रखना होगा। इन बातों को ध्यान में रखकर पुस्तक निर्माण समिति को पुस्तक लिखने में मदद मिल सकती है।

आगामी शोध हेतु सुझाव

- शोध अध्ययन के दौरान जब पुस्तक का विषय-वस्तु विश्लेषण किया गया तो ट्रांसजेंडर की स्थिति स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित नहीं हो पाई जिसका एक कारण शोध उपकरण की सीमाएं हो सकती हैं। अतः भविष्य में पुस्तक के विषय-वस्तु विश्लेषण

हेतु ट्रांसजेंडर की स्थिति के सन्दर्भ में शोध उपकरण विकसित किया जा सकता है। साथ ही आगे जब कोई शोध किया जाए तो ट्रांसजेंडर को समझने व उन्हें पाठ में कैसे पहचाना जाए इस पर कार्य किया जा सकता है।

- अध्यापकों से वार्तालाप करने पर व उनकी कक्षा का अवलोकन करने पर यह पाठ्य पुस्तक विश्लेषण और अधिक प्रभावी बनाया जा सकता था। अतः भविष्य में पुस्तक विश्लेषण के साथ कक्षा अवलोकन एवं शिक्षक साक्षात्कार जैसी शोध प्रविधि को अपनाते हुए जेंडर संवेदनशीलता का अधिक प्रभावी अध्ययन किया जा सकता है।
- शोधकर्ता द्वारा केवल माध्यमिक स्तर के कक्षा 9वीं की हिंदी पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन किया गया। भविष्य में इस सन्दर्भ में प्राथमिक, मिडिल एवं माध्यमिक स्तर की अन्य कक्षाओं का भी अध्ययन किया जा सकता है जिससे मध्य प्रदेश राज्य सरकार द्वारा हिंदी विषय के लिए संचालित पाठ्य-पुस्तकों का समेकित अध्ययन किया जा सकता है।
- मध्य प्रदेश राज्य शिक्षा बोर्ड की पाठ्य पुस्तकों के अलावा अन्य राज्यों की पाठ्य पुस्तकों पर भी जेंडर संवेदनशीलता का अध्ययन किया जा सकता है।
- लिंग रूढ़िवादिता व लिंग पूर्वाग्रह को चुनौती देते हुए कक्षा में कैसे पढ़ाया जाए इस पर शोध किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

अत्तारी, करिश्मा (2018). *फ्रॉम टीचर्स टू टेक्स्टबुक: जेंडर स्टीरियोटाइप इन इंडियन स्कुल.* https://www.theswaddle.com/author/attari से प्राप्त किया।

कुमारी, शबनम (2014). कंटेंट एनालिसिस ऑफ जेंडर प्रस्पेक्टिव इन हिंदी ग्रामर ऑफ 5th स्टेंडर्ड. *ESR Journal, IJESR, 2 (1), ISSN: 2347-6532.*

कुरुविल्ला, मोली व थास्निया, के.टी. (2015). जेंडर स्टीरियोटाइप इन द फिचर्ल डीपिक्संस ऑफ प्रायमरी स्कुल टेस्टबुक. आई.ओ.एस.आर. *जर्नल ऑफ ह्यूमेनिटीज़ एंड सोशल साइंस (IOSR-JHSS), 20.*

दावर, टिन्नी एवं आनन्द, सरिता (2017). जेंडर रोल रिप्रजेंटेसन एंड पोर्टल: इन एनालिसिस ऑफ प्रायमरी लेवल एन.सी .ई.आर.टी. टेक्स्टबुक. *The National Life Skills, Value Education and School Wellness Program, 3(2), IJSHW, ISSN:2349-5464.*

बालधिया (2019). हिंदी विषय की पाठयपुस्तकों में प्रतिबिंबित लैंगिक असमानता. *Journal of Multi-Disciplinary KCG-Portal of journals*, *ISSN: 2279- 0268.*

भट्टाचार्य, सृष्टी (2017). जेंडर रिप्रजेंटेसन इन इंग्लिश टेक्स्टबुक यूज्ड इन ग्रेड 8th अंडर नेशनल एंड स्टेट बोर्ड्स, इण्डिया. *Language in India*, *17(6), ISSN 1930.* www.languageinindia.com से प्राप्त किया।

भसीन, कमला (2000). *अंडरस्टेनडींग जेंडर*. काली फॉर वुमन.

मुकुल (2014). एन.सी.ई.आर.टी. टू कैरी आउट जेंडर एनालीसिस ऑफ प्रायमरी टेक्स्टबुक. *टाइम्स ऑफ इण्डिया*

राधिका, खरबंदा (2015). अ स्टडी ऑफ प्रोडक्सन इन सी.बी.एस.ई. सोसल साइंस टेक्स्टबुक बुक ऑफ 9th. *इंडियन जर्नल ऑफ रिसर्च, 4(5), ISSN-2250-1991.*

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005). *नेशनल फोकस ग्रुप ऑन जेंडर इश्यूज इन एजुकेशन, एन.सी.इ.आर.टी.*

शाह, महराज उद्दीन (2019). कंटेंट एनालिशिस फॉर इंग्लिश लैंग्वेज टेक्स्टबुक ऑफ जम्मू एंड कश्मीर स्टेट बोर्ड ऑफ स्कूल एजुकेशन फॉर क्लास 8th फ्रॉम जेंडर पस्पेकटिव. *Online Journal of Multidisciplinary Subjects, 13(1), 2349-266X.*

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार (2020). *राष्ट्रीय शिक्षा नीति.*

श्रीवास्तव, गौरी (2013-2016). टेक्स्टबुक एनालिसिस एट द एलिमेंट्री स्टेज ऑफ एन.सी.ई.आर.टी. एंड फॉर द स्टेट्स ऑफ असम, बिहार, छत्तीसगढ़, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, ओडिशा, महाराष्ट्र, मणिपुर एंड राजस्थान. *डिपार्टमेंट ऑफ जेंडर स्टडी, एन.सी.इ.आर.टी.*

सारंगी (2014). एन.सी.ई.आर.टी. सर्वे फाइंड्स रैमपेंट जेंडर बायस इन स्कूल बुक. *द संडे गार्डन.*

https://www.researchgate.net/publication/267962

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 04.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

The Role of Cultural Migration in International Relations

Dr. Rakhi Singh*

rakhibhu2@gmail.com

"Cultural diplomacy is the "exchange of ideas, information, art, language and other aspects of culture among nations and peoples in order to foster mutual understanding" **Milton Cummings**

Since ancient times, human beings have migrated from one place to another due to various situational and environmental factors. During the process of migration, several associated activities and transformations have also taken place. The people settled in a particular geographical region developed their own language, knowledge systems, scientific understanding, and other activities related to their way of life. During migration, they carried with them both tangible and intangible elements of their culture and existence. The intangible elements remain associated with human beings throughout their lives, including memories related to their homeland, social environment, food habits, family bonds, community relations, values, beliefs, customs, and traditions connected with their way of life, which they preserve and maintain even after migration. Migration has various forms, which have been defined by scholars according to their perspectives; among these, the concepts of **Push and Pull Factors** have gained significant recognition.

In the modern era, both the nature and objectives of migration have undergone significant changes, resulting in a substantial increase in migratory movements. The growth of migration has provided opportunities for different cultures to interact, integrate, and coexist with other societies and cultural traditions. The changing patterns and objectives of modern migration have encouraged the coexistence of multiple cultures within a single country, leading to the formation of a new social structure, which is known as **Multiculturalism**. Thus, it is evident that migrant communities simultaneously assimilate multiple societies and cultures. Even while residing in the host land, migrant groups remain connected with their homeland, due to which they act as a bridge in establishing and strengthening social, cultural, economic, and political relations between two nations. From a political perspective, this process is referred to as **"Soft Power."**

Defining **Soft Power**, Joseph Nye states that *"Soft power is the ability through which a group or a country achieves its objectives without the use of coercion or violence, where its culture, values, and traditions play a significant role."*

The spread of culture takes place in two major ways: first, through **imperialism**, which resulted in the global expansion of Western, particularly English, culture; and second, through the process of **migration**. In the modern period, international migration from India can be understood

---

***Assistant Prof. Political Science, Mahila Vidyalaya Degree College Satikund Kankhal, Haridwar**

from three major perspectives: firstly, the migration of **indentured labourers (Girmitiya migration)**; secondly, **skilled migration from independent India**; and thirdly, **commercial and military migration**. To explain it further, migration from India can be examined in terms of both the pre-independence and post-independence periods. In both contexts, people who migrated from India established a permanent future for themselves in the respective countries and settled there, a phenomenon that is often associated with **Brain Drain**. While some Western countries, through deliberate strategies, attempted to establish **cultural imperialism**, international migration has simultaneously enabled Indian culture to independently establish its identity and significance across the world.

In this context, Arjun Appadurai (1996) argues that a new global order has emerged, which challenges cultural imperialism and strengthens the theory of interdependence. To explain this concept, he proposed the theory of **"Five Scapes,"** consisting of five major dimensions: **Ethnoscapes, Mediascapes, Technoscapes, Finanscapes, and Ideoscapes.** Despite various challenges and uncertainties, migrant communities in the host land construct a new inclusive culture while maintaining their ethnic identity. In this process, they perform a dual role by preserving their cultural roots while simultaneously contributing to the creation of a diverse and integrated society. Steven Vertovec (1999) has identified three major dimensions of immigrant communities: **social organization, ethnic consciousness, and cultural expansion**. All three dimensions incorporate the religious and cultural activities of diaspora communities. Through these aspects, such groups create a new social environment in which they establish cultural harmony and interaction with the majority society.

Helmuth Berking (2003) highlights the role of cultural influence and an inclusive environment in his work **"Ethnicity is Everywhere: On Globalization and the Transformation of Cultural Identity."** The **Encyclopedia of Indian Diaspora (2004)** states that the Indian Diaspora community recognizes itself as the bearer of one of the world's oldest and richest cultural traditions and believes that it should preserve and enhance the value of this inherited cultural legacy. In this context, Robin Cohen, in his work **"Migration and Culture Representations: Power and Pitfalls,"** argues that maintaining cultural identity and ethnic consciousness is both essential and challenging for migrant communities; however, most communities ultimately succeed in this process. The research paper **"Cultural Transmission"** by Bisin Alberto and Verdier Thierry (2005) examines the processes and theories of cultural transmission and attempts to develop a theoretical framework for understanding cultural transfer.

In essence, **cultural transmission** refers to the process through which a migrant community attempts to establish and transmit its cultural values, traditions, and identity among its second generation in the host country. This process reflects the continuity, adaptation, and transformation of culture within a Diaspora society. This effort represents an attempt by migrant communities to safeguard their cultural identity, ethnic identity, and heritage in the host country through political empowerment, particularly for the benefit of their younger generations. Ching-Yun Chiang (2010), in **"Diasporic Theorizing Paradigm on Cultural Identity,"** explains that migrant groups primarily attempt to strengthen and sustain their cultural identity through political resources and influence, enabling them to consolidate their position within the majority society. A community in the host land cannot achieve security and prosperity unless it has adequate significance and participation in

the political processes of that country. This becomes possible when the community becomes socially and economically empowered, as seen in the cases of the **Jewish Diaspora in the United States** and the **Indian Diaspora**.

Gisir Sonia (2015), in **"Maintaining National Culture Abroad Countries of Origin, Culture and Diaspora,"** argues that ethnic communities residing in foreign countries not only engage in political efforts to strengthen their cultural identity but also utilize cultural activities as a means to enhance their social and political position. Harsh Dehejia (2010), in his book **"Akriti to: The Journey of Indian Forms,"** writes that the foundation of Indian culture is deeply connected with the small and significant experiences of everyday life and various elements associated with human existence, such as stories, legends, songs, rituals, customs, values, and traditions. These cultural elements have travelled with Indian migrant communities, through which they have become the carriers and representatives of Indian culture, India's heritage, and its cultural-diplomatic values across the world.

Since migrant communities from India have now been living in destination countries for their second and third generations, they have established their social, economic, and political identities in those societies. Until the later part of the 20th century, the strength and significance of migrant communities did not receive adequate attention. However, from the beginning of the 21st century, global attention has increasingly focused on this phenomenon, and today these communities are recognized as an important form of **soft power**. The larger the population of a country's citizens living abroad, the stronger its cultural and diplomatic influence becomes. According to the Ministry of External Affairs, Government of India, a total of **32,100,340 people of Indian origin and Indian citizens** reside across **210 countries** worldwide. In a broader sense, all these communities serve as carriers and representatives of Indian culture, contributing to the global recognition and projection of India's cultural identity.

On **24 June 2017**, while addressing the Indian community residing in Portugal, the Prime Minister of India, Narendra Modi, stated that *"Indians living in Portugal are ambassadors of India. They have carried India's cultural heritage with them, and they take pride in this identity. India is known for its unity in diversity; therefore, wherever Indians go, they naturally accept the language and culture of that country or society. At the same time, they contribute to enriching the society and culture of the country where they establish their homes. In the same interaction, the Prime Minister also expressed gratitude to the Prime Minister of Portugal, António Costa, for supporting the promotion and propagation of the Radha Krishna Temple and the knowledge of Yoga."* Similarly, while addressing the Indian community in Guyana in January 2025, he stated that *"Indians settled in Guyana are true ambassadors of the nation, representing India's culture and values. Even after crossing the oceans and settling abroad, their connection with Mother India continues to remain intact. The Prime Minister also urged the Indian Diaspora to play the role of a bridge in strengthening the relationship between India and other countries."*

Both these statements clearly demonstrate the significance of the Indian Diaspora living far away from India and their contribution towards strengthening India's global image, cultural influence, and international relations. The Diaspora serves not only as a link between India and the world but also as an important instrument of cultural diplomacy and soft power. Today, people of

Indian origin are present across the entire world. As recognized by the Government of India, Indians reside in **202 countries**, indicating that India's **soft power** has expanded globally. Therefore, the construction of India's cultural identity and global image is significantly influenced by the behavior, activities, and contributions of these communities. Indian knowledge systems, traditions, yoga, Ayurveda, music, cuisine, and other cultural practices have contributed to the creation of India's **soft image** across the world through the Indian Diaspora and the process of globalization.

This image is largely associated with values such as peace, harmony, and non-violence. As a result, India's economic and political position has witnessed significant positive transformation at the global level. From an economic perspective, the Indian Diaspora represents one of the largest sources of **economic remittances** in the world. In the year **2024**, India received **$135.46 billion** in remittances (*Times of India, 20 June 2025*), whereas in **2023**, India received approximately **$125 billion**. This trend can be understood through the given chart image, which highlights the position of India along with the other five major remittance-receiving economies of the world, as well as the comparative status of India's neighboring countries.

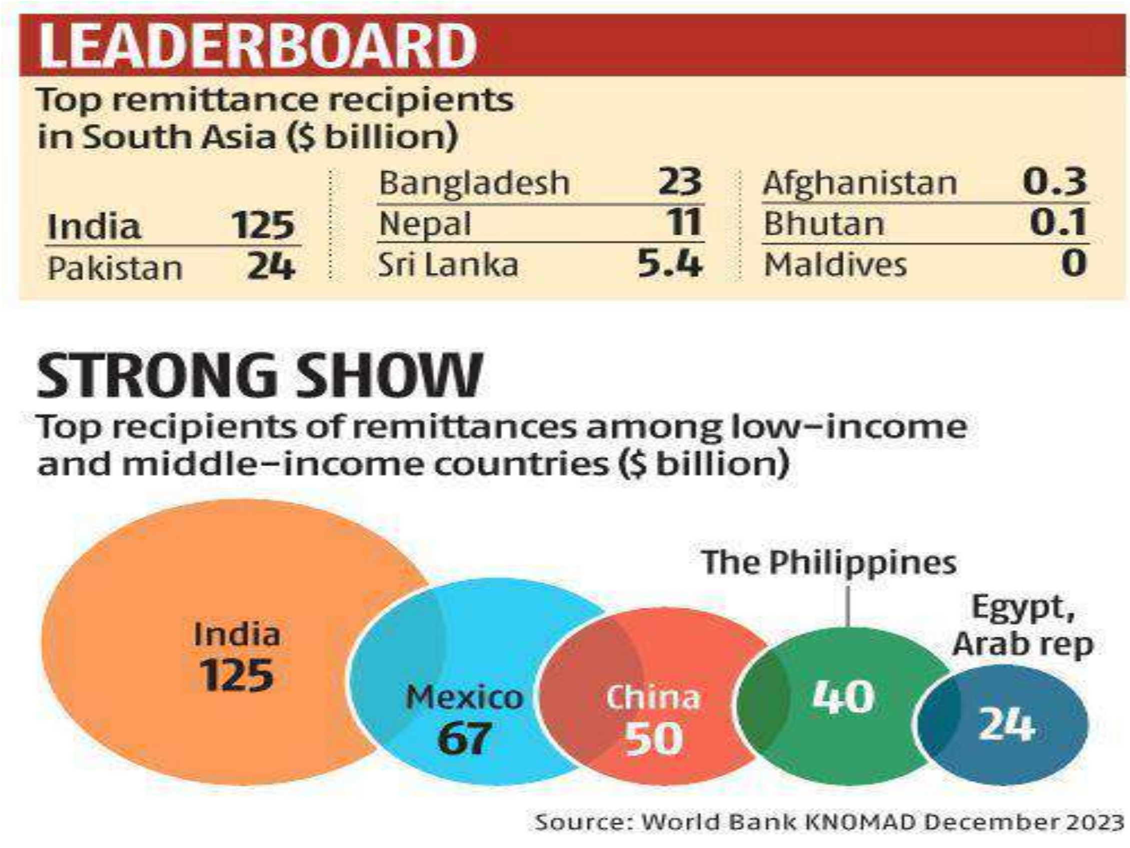

Source- https://www.business-standard.com/economy/news/india-tops-remittances-table-with-125-bn-inflows-world-bank-report-123121900316_1.html

India is one of the largest recipients of economic inflows, which clearly indicates that the practice of earning, saving, and sending money back home is deeply connected with Indian cultural values. Furthermore, it also reflects that Indian communities, despite living away from India for a

long period, have maintained a continuous process of adjustment, interaction, and engagement with the global society. Since it is not possible to examine all Indian Diaspora communities within a single study, the Indian Diaspora residing in the United States has been selected as an illustrative example. The Indian Diaspora in the United States consists of approximately **4,460,000 people**, which constitutes nearly **1% of the total population of the United States**. People from almost all states of India have migrated and settled there. Migration from India to the United States largely took place after independence, with a significant proportion consisting of **skilled labourers and white-collar professionals**. These migrants have made substantial contributions to the economic development and social progress of the United States while establishing their own identity.

According to the **Indian Diaspora Centre**, around **300 social and cultural organizations** of the Indian Diaspora are registered in the United States, reflecting the community's strong social organization, cultural engagement, and collective identity. Along with improvements in their social, cultural, and educational status, the Indian Diaspora in the United States has achieved remarkable success in various fields and, in many areas, has performed better in comparison to several other Diaspora communities as well as the native American population. According to a report published by **Business Standard on 20 December 2025**, the Indian Diaspora, despite constituting only around **1.5% of the total population**, has achieved approximately **4.4% representation and success in the public service sector** in the United States. The Indian Diaspora has also significantly strengthened its position in the economic sphere, which can be understood from the fact that it contributes approximately **$300 billion in taxes** to the U.S. economy.

In the United States, there are nearly **500 companies** that are either owned by individuals of Indian origin or have people of Indian origin occupying top leadership positions. These companies are providing employment opportunities to millions of people across the world. Among this culturally diverse community of more than **4.4 million people**, approximately **2.5 million belong to the first generation** of immigrants. While respecting American culture and values, these individuals have made dedicated efforts to preserve, promote, and establish Indian culture, religious traditions, and ways of life in the United States through their continuous hard work and commitment. Wherever the Indian Diaspora exists, it has established its position through hard work, dedication, and integrity. For example, in the United States, along with hotels, the motel industry is also a significant sector. Approximately **60% of the hotel and motel businesses** are owned or operated by people of Indian origin. These enterprises generate more than **$700 billion in revenue** and provide employment opportunities to thousands of citizens.

In the context of the Indian Diaspora in the United States, the renowned author and scholar Anjali Sahay, in her book **"Indian Diaspora in America: Brain Drain or Gain?"**, examines the growing influence of the Indian Diaspora in the famous **Silicon Valley**. She studied the expanding presence and influence of Indians in this technological hub and identified a strong network among the Indian community, which she attempted to explain through graphical representation. However, in her framework, she placed the **social network of the Diaspora** at the final stage, whereas scholars such as Ajay Gupta give primary importance to social networks. According to this perspective, social networks act as the foundation through which **professional networks** are developed, which subsequently contribute to the formation and expansion of **political networks**.

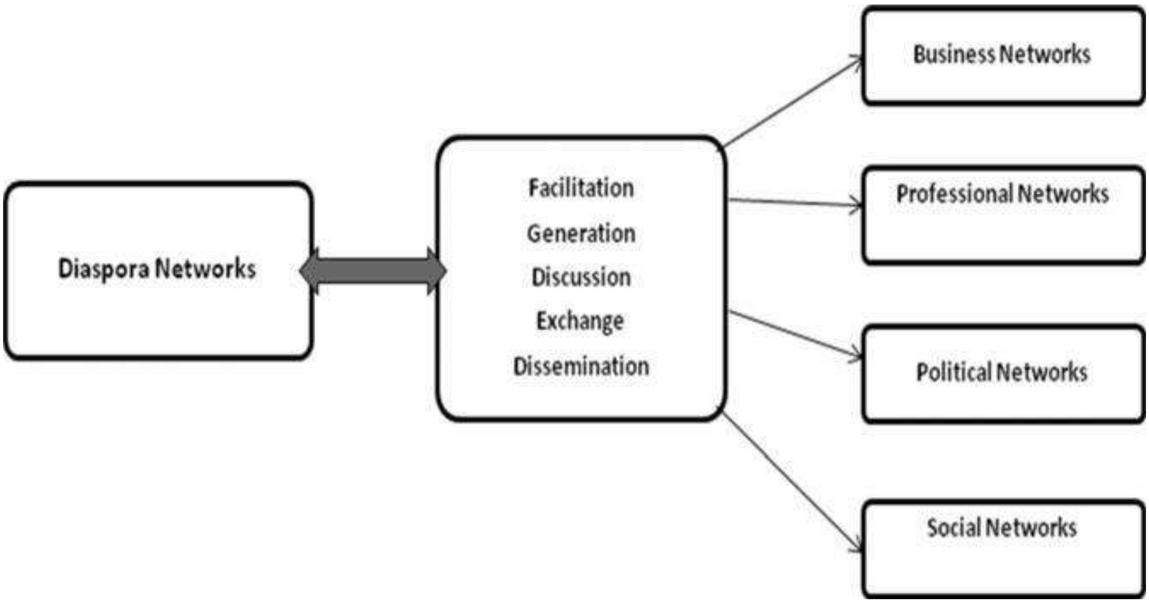

Source – Anjali sahay

Another example of this is the **OSA organization**. It is a **social, cultural, and non-profit organization** of the Odia diaspora settled in the United States. Approximately **2,000 families** are registered with this organization. These members regularly come together throughout the year through various small-scale programs, and once a year they organize an annual conference where all members gather at a common platform. Through these gatherings, they facilitate **cultural transmission among the younger generation** and discuss various important issues, exchange views, and take collective decisions. In the context of OSA, Dr. Nazia writes that *"the Odia Diaspora in the United States exists as a small community; however, it has developed social, cultural, and economic networks, which have resulted in the emergence of a strong ethnic connection among its members."* This clearly indicates that a strong ethnic network has evolved from social and cultural organizations. Naturally, such a community group also engages in collective discussions on economic and political issues, thereby strengthening its social influence and collective identity.

Since there are numerous organizations that provide **political training to the younger generation of the Indian Diaspora** and engage in lobbying activities for the Indian community in the United States as well as for strengthening **India–United States relations**. Among these organizations, some prominent ones include the **Asian American Hotel Owners Association (AAHOA), the American Association of Physicians of Indian Origin (AAPI), the U.S.–India Political Action Committee (USINPAC), and the Indian American Leadership Incubator (IALI).** In addition, organizations such as **WLA** are politically active and work towards creating strong advocacy and lobbying efforts for the positive development of India–U.S. relations. These organizations not only extend support to political parties and candidates but also provide significant financial contributions to political campaigns and political organizations.

Another important organization is the **Indian American Association (IAA)**, which works with the objective of organizing and connecting Indian Diaspora communities across the United States. Its primary aim is to promote a sense of brotherhood and unity among Indian students and community members while introducing them to Indian cultural values, traditions, and heritage. The organization's slogan reflects its deep cultural connection with India:

"If there is one place on the face of the earth where all the dreams of living men have found a home from the very earliest days when man began the dream of existence, it is INDIA."

The **Association of Indians in America (AIA)** is an old yet highly credible organization. It recognizes and honors members of the Indian Diaspora in the United States who have demonstrated outstanding achievements in their respective fields. The primary objectives behind this initiative are, firstly, to enhance the confidence and motivation of the award recipients, and secondly, to encourage them to contribute positively towards the Indian community and India. Several distinguished personalities have been honored by this organization, including Zubin Mehta, Coretta Scott King, Amartya Sen, Norman Borlaug, and Naresh Trehan. Several of these personalities later received the **Nobel Prize** for their remarkable contributions in their respective fields. Similarly, another significant organization is the **National Federation of Indian American Associations (NFIA)**, which was established in **1980**. Its primary objective is to bring together the Indian Diaspora settled in the United States as well as newly arrived Indian communities on social, economic, and political platforms, and to provide them with necessary support and assistance whenever required.

This is a highly significant organization that acts as a **bridge between India and the United States**, contributing towards strengthening bilateral relations. Along with this, it extends support and cooperation to organizations that contribute to the **diplomatic, strategic, and economic relations between India and the United States,** such as **AAHOA, AAPI, TIE, GOPIO,** and others. Thus, the Indian Diaspora in the United States has emerged as a strong and influential **political pressure group.** However, its activities are not limited only to the political sphere; it is also well-organized in cultural and religious domains. The actual credit for the political achievements of the Indian Diaspora in the United States goes to the various social and cultural organizations that have continuously maintained unity and collective identity among community members. The Indian Diaspora settled in the United States has extended significant support to India on several occasions. For instance, it supported India during the **nuclear tests of 1998,** the **Kargil War,** the **tsunami disaster,** the **India–U.S. Civil Nuclear Agreement, India–U.S. military exercises,** and various other areas. Apart from these collective efforts, the Diaspora has also provided substantial assistance to India at an individual level.

Therefore, it is evident that the migration of culture plays a crucial role even in foreign lands by preserving **ethnic cultural identity** and maintaining a strong connection with the **homeland**. Culture continues to serve as an important medium through which migrant communities sustain their heritage, strengthen social bonds, and contribute to the development of their country of origin.

References.

Appadurai, Arjun. (1996). *Modernity at large: Cultural Dimensions of Globalization.* London : University of Minnesota press.

Gisir, Sonia. (2015). Maintaining National Culture Abroad Countries of Origin, Culture and Diaspora. European University Institute. INTARACT RR

Cohen, Robin. (1997). *Global Diaspora.An Introduction : Routledge,USA*

Sahay, Anjali. (2009). *Indian Diaspora in the United State, Bren, Drin, or Gen?.* New Delhi : Lanham Lexington Books.

Steven, vertovec, (1999) Three dimension of Diaspora, exemplified among South Asian religions. University of Oxford.

UNESCO, (2016), The Globalization of Cultural Trade: A Shift in consumption, Montereal Canada.

UNESCO. (2022, January 27). *Cutting edge: From standing out to reaching out: Cultural diplomacy for sustainable development*. UNESCO.

NDTV. (2017, June 24). *Diaspora Indians real ambassadors of India in Portugal: PM Narendra Modi*.

Shaurya Times. (n.d.). *Indian diaspora and cultural diplomacy*. Retrieved July 6, 2026, from https://www.shauryatimes.com/news/165447

The Times of India. (2024, June 30). *Remittances at a record high: Indian diaspora sends home $135.46 billion, inflows more than double in eight years*.

Business Standard. (2024, August 23). *Indian diaspora in US top contributors in politics, economic growth, tech*.

Harvard Kennedy School. Cull, N. J. (2008). *Soft power and public diplomacy revisited*. Harvard Kennedy School.

Received: 05.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी का एकीकरण: माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों का प्रत्यक्षण और कक्षागत अभ्यासों का एक गुणात्मक अध्ययन

जेस्पेंदर सिंह* **डॉ. सारिका राय शर्मा†**

Jassijyoda1469@gmail.com **sarikaraisharma@hindivishwa.ac.in**

सारांश

प्रस्तुत गुणात्मक शोध आलेख माध्यमिक विद्यालय के विज्ञान और भूगोल शिक्षकों के दृष्टिकोण और उनके वास्तविक शिक्षण अभ्यासों के माध्यम से 'धारणीय विकास के लिए शिक्षा' (ESD) के अंतर्गत पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी के एकीकरण का समालोचनात्मक मूल्यांकन करता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में भारतीय पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों को आधुनिक पाठ्यक्रम से जोड़ने की आवश्यकता के बीच, यह अध्ययन शिक्षकों की वैचारिक प्रत्यक्षण (Perceptions) और उनके वास्तविक कक्षागत अभ्यास (Classroom Practices) के मध्य उपस्थित अंतराल की खोज करता है। शोध के अंतर्गत उद्देश्यपूर्ण प्रतिदर्श चयन (Purposive Sampling) पद्धति द्वारा 12 माध्यमिक शिक्षकों का चयन किया गया। आकड़ों के संकलन हेतु अर्ध-संरचित साक्षात्कार (Semi-structured Interviews) तथा 24 सत्रों के गैर-प्रतिभागी कक्षा अवलोकन (Classroom Observation) प्रणालियों का उपयोग किया गया, जिसके पश्चात प्राप्त आकड़ों का थीमैटिक विश्लेषण (Thematic Analysis) किया गया। निष्कर्षों से स्पष्ट हुआ कि सैद्धांतिक स्तर पर 90% से अधिक शिक्षक पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) की महत्ता और उसके सस्टेनेबिलिटी मूल्यों को स्वीकार करते हैं। हालाँकि, वास्तविक कक्षा अवलोकनों में इस ज्ञान का समावेशन अत्यंत सतही, काम चलाऊ और केवल पाठ्यपुस्तक में दिए गए रटे-रटाए उदाहरणों तक ही सीमित पाया गया। कक्षा में आज भी शिक्षक-केंद्रित व्याख्यान विधि की प्रधानता है और अनुभवात्मक अधिगम का अभाव है। इस वैचारिक और व्यावहारिक अंतराल (Perception-Practice Gap) के मुख्य कारणों में पाठ्यक्रम को समय पर पूरा करने का दबाव, परीक्षा-केंद्रित मूल्यांकन प्रणाली, प्रासंगिक शिक्षण-अधिगम सामग्री (TLM) तथा शिक्षकों के लिए व्यावहारिक व्यावसायिक प्रशिक्षण का अभाव पाया गया। यह आलेख अंत में पाठ्यपुस्तकों के नव-रूपांतरण, स्थान-आधारित शिक्षा (Place-Based Education) और शिक्षकों के लिए एकीकृत प्रशिक्षण मॉड्यूल विकसित करने की अनुशंसा करता है।

मूल शब्द:

पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान, आधुनिक सस्टेनेबिलिटी, धारणीय विकास के लिए शिक्षा(ESD), प्रत्यक्षण

प्रस्तावना

आज इक्कीसवीं सदी का हमारा समाज एक ऐसे मोड़ पर आ खड़ा हुआ है जहाँ चारों तरफ खतरा मंडरा रहा हैं। अंधाधुंध औद्योगिक विकास, अनियंत्रित शहरीकरण और उपभोक्तावादी जीवन शैली ने धरती के पूरे पर्यावरण को बिगाड़ कर रख दिया है। जलवायु परिवर्तन, ग्लोबल वार्मिंग, पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं की प्रजातियों का खत्म होना, ज़मीन का बंजर होना और पानी का भयानक संकट—ये सब अब सिर्फ किताबों या भाषणों तक सीमित नहीं हैं। ये हमारे जीने के अधिकार और अस्तित्व के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती बन चुके हैं। इन संकटों से निपटने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने 'धारणीय विकास

* **शोधार्थी (शिक्षा विभाग), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र**

† **सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र 442001**

लक्ष्यों' (SDGs) की रूपरेखा तैयार की है। जिसमें 'धारणीय विकास के लिए शिक्षा' (Education for Sustainable Development - ESD) को एक केंद्रीय स्तंभ के रूप में मान्यता दी गई है। **धारणीय विकास लक्ष्य 4.7 साफ़ तौर पर कहता है कि सभी शिक्षार्थियों को पर्यावरण के अनुकूल जीवन जीने और सस्टेनेबिलिटी को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक ज्ञान और कौशल प्राप्त होना चाहिए (UNESCO, 2020)।**

आज का आधुनिक सस्टेनेबिलिटी विज्ञान इन समस्याओं को सुलझाने के लिए ज़्यादातर नई तकनीकों, डेटा, कार्बन क्रेडिट सिस्टम और बड़े-बड़े अंतरराष्ट्रीय समझौतों (जैसे पेरिस समझौता) पर निर्भर है। लेकिन पिछले कुछ दशकों के अनुभव बताते हैं कि सिर्फ तकनीक के भरोसे इन उलझी हुई पर्यावरणीय समस्याओं को पूरी तरह हल नहीं किया जा सकता। यह तकनीकी-केंद्रित दृष्टिकोण अक्सर समस्या की असली जड़ को छोड़ देता है। वह असली जड़ है—प्रकृति के साथ इंसान का टूटता हुआ भावनात्मक और सांस्कृतिक रिश्ता। यही वजह है कि आज पूरी दुनिया में हमारे पुराने पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान (TEK) को फिर से सहेजने और उसे अपनाने की मांग बहुत तेज़ी से बढ़ रही है।

1. पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) की अवधारणा

सरल शब्दों में कहें तो पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान (TEK) का मतलब उस समझ, तौर-तरीकों और मान्यताओं से है, जिसे किसी खास इलाके में रहने वाले स्थानीय या मूल निवासियों ने सदियों के अनुभवों से सीखा है (Berkes, 2012)। यह ज्ञान प्रकृति और पर्यावरण के साथ मिलकर रहने के लंबे सफर से पैदा होता है। यह कोई पुरानी या रुकी हुई रूढ़िवादी सोच नहीं है। इसके उलट, यह एक ऐसी जीवंत प्रक्रिया है जो समय के साथ और पर्यावरण में होने वाले बदलावों के साथ खुद को बदलती और निखारती रहती है।

अगर भारत के संदर्भ में देखें, तो हमारे पास ऐसे पारंपरिक ज्ञान के ढेरों वैज्ञानिक उदाहरण मौजूद हैं। राजस्थान की पुरानी बावड़ियाँ (Stepwells) और 'जोहाद', बिहार की 'अहार-पाइन' प्रणाली, और दक्षिण भारत का 'एरी' (Eri) तालाब नेटवर्क इसके जीते-जाते सबूत हैं। ये व्यवस्थाएँ दिखाती हैं कि कैसे बिना किसी आधुनिक बिजली या मशीनों के पानी की एक-एक बूंद को सहेजा जा सकता था। इसी तरह, भारत के अलग-अलग हिस्सों में पाए जाने वाले 'पवित्र उपवन' (जिन्हें देवराई या सेक्रेड ग्रोव्स भी कहते हैं) समाज के स्तर पर जंगलों और जीवों को बचाने के बेहतरीन ऐतिहासिक मॉडल हैं। यहाँ लोगों की आस्था और सांस्कृतिक परंपराओं को प्रकृति की रक्षा का कवच बनाया गया (Gadgil et al., 1993)। खेती के मामले में भी एक साथ कई फसलें उगाना (मिश्रित खेती), फसलों को बदल-बदल कर बोना और नीम या गोबर जैसे देसी कीटनाशकों का इस्तेमाल करना इसी पारंपरिक विज्ञान का हिस्सा है।

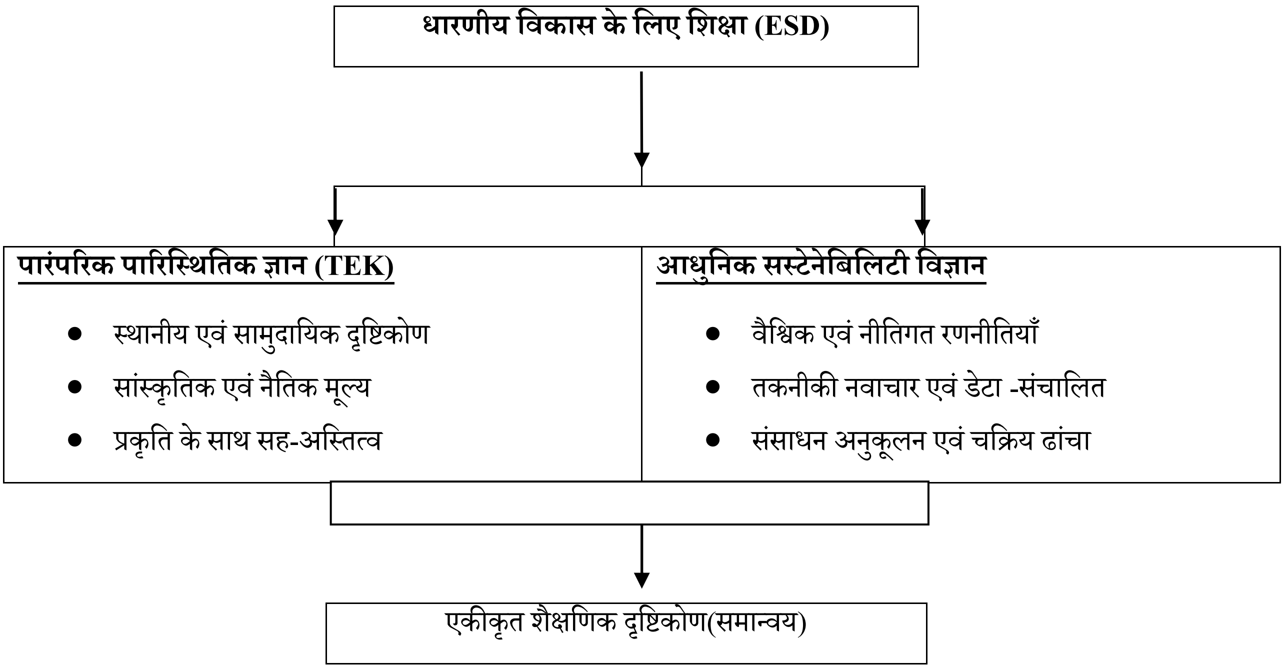

2. दोनों प्रणालियों के एकीकरण की आवश्यकता

जब हम आज के आधुनिक सस्टेनेबिलिटी के सिद्धांतों (जैसे रीसाइक्लिंग, कार्बन उत्सर्जन की गिनती, पर्यावरण के अनुकूल मकान बनाना) को अपने पुराने पारंपरिक ज्ञान (TEK) के साथ मिलाते हैं, तो पर्यावरण शिक्षा बहुत प्रासंगिक बन जाती है। आज का आधुनिक विज्ञान हमें आँकड़े और तकनीक देकर यह बताता है कि 'क्या करना है', वहीं हमारा पुराना ज्ञान हमें जीने का तरीका और सही सोच देकर यह सिखाता है कि 'क्यों और कैसे करना है'। इस एकीकरण से छात्रों को समझ आता है कि पर्यावरण को बचाना कोई विदेशी या एकदम नया विचार नहीं है, बल्कि यह तो हमारी अपनी संस्कृति और पुरानी जीवन शैली का हिस्सा रहा है।

3. शो की समस्या और उद्देश्य

माध्यमिक स्तर (कक्षा 9वीं और 10वीं) की शिक्षा शिक्षार्थियों के सोचने-समझने और नई धारणाएं बनाने के लिए बहुत खास होती है। इस उम्र में छात्र विज्ञान और भूगोल जैसे विषयों के जरिए पर्यावरण और समाज के अंतर्संबंधों को समझना शुरू करते हैं। भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP) 2020 भी इसी बात पर ज़ोर देती है कि कि देश की समृद्ध पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों (Indian Knowledge Systems - IKS) को आधुनिक स्कूली पाठ्यक्रम में इस प्रकार शामिल किया जाए कि वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ कदम से कदम मिला सकें (Ministry of Human Resource Development [MHRD], 2020)।

लेकिन कोई भी नीति ज़मीनी स्तर पर तभी कामयाब होती है जब उसे लागू करने वाले शिक्षक खुद तैयार हों। अगर शिक्षक खुद इस पारंपरिक ज्ञान के वैज्ञानिक आधार और उसकी अहमियत को लेकर पक्के नहीं हैं, तो वे इसे बच्चों को सही से नहीं समझा सकते। वर्तमान शैक्षणिक परिदृश्य में इस बात पर शोध की भारी कमी है कि माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी के एकीकरण को किस रूप में देखते हैं (Teachers' Perception) और क्या वे वास्तव में कक्षाओं के भीतर अध्यापन करते समय (Classroom Practices) इसका इस्तेमाल कर पा रहे हैं। यह शोध इसी सोच और व्यवहार के अंतर (Perception-Practice Gap) को एक गुणात्मक शोध ढाँचे के माध्यम से गहराई से समझने की एक कोशिश है।

4. साहित्य की समीक्षा

धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) का वैचारिक विकास

धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) की अवधारणा पर्यावरण शिक्षा (Environmental Education) के पारंपरिक स्वरूप से कहीं अधिक व्यापक है। पहले की पर्यावरण शिक्षा मुख्य रूप से सिर्फ पेड़-पौधों, प्रदूषण और पर्यावरण को होने वाले नुकसान की जानकारी देने तक सीमित थी। वहीं ESD शिक्षार्थियों को एक ऐसा भविष्य-उन्मुख दृष्टिकोण प्रदान करती है जिसमें पर्यावरण, समाज और अर्थव्यवस्था के अंतर्संबंधों का समालोचनात्मक विश्लेषण शामिल होता है की वे आपस में कैसे जुड़े हैं (UNESCO, 2020)। Barth और Rieckmann (2012) के अनुसार, ESD का मुख्य उद्देश्य छात्रों में 'सिस्टम थिंकिंग' (Systems Thinking) और 'एंटीसिपेटरी कॉम्पिटेंसी' (Anticipatory Competency) का विकास करना है, ताकि वे जान सकें कि आज लिए गए फैसले आगे चलकर पर्यावरण पर क्या असर डालेंगे (Barth & Rieckmann, 2012)।

भारत में पर्यावरण शिक्षा को सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य हिस्सा बनाया गया, जिसे NCERT ने अपने 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005' (NCF 2005) में प्रमुखता से स्थान दिया। हालाँकि, अध्ययनों से यह संकेत मिलते हैं कि भारतीय विद्यालयों में दी जाने वाली पर्यावरण शिक्षा मुख्य रूप सिर्फ रटने और परीक्षा पास करने तक ही सीमित रह गई है।, जो छात्रों को वास्तविक जीवन में धारणीय व्यवहार अपनाने के लिए पर्याप्त रूप से प्रेरित नहीं कर पाती (NCERT, 2005)।

पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) और सस्टेनेबिलिटी विज्ञान का अंतर्संबंध

पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) को सस्टेनेबिलिटी विज्ञान के एक पूरक और अत्यंत मूल्यवान संसाधन के रूप में देखा जा रहा है। Berkes (2012) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सैक्रेड इकोलॉजी" में तर्क दिया है कि पारंपरिक पारिस्थितिक

ज्ञान केवल सूचनाओं का पुलिंदा नहीं है, बल्कि यह प्रबंधन प्रणालियों (Management Systems), सामाजिक संस्थानों (Social Institutions) और एक विशिष्ट विश्व-दृष्टि (Worldview) का एक जटिल ताना-बाना है। स्वदेशी समाज यह अच्छे से जानते थे कि कुदरत की एक सीमा है, इसलिए वे ज़रूरत से ज़्यादा प्राकृतिक चीज़ों का दोहन नहीं करते थे।

Gadgil et al. (1993) ने भारतीय संदर्भ में यह स्पष्ट किया कि कैसे पारंपरिक समाजों ने सामाजिक और धार्मिक प्रतिबंधों के माध्यम से कुछ विशिष्ट प्रजातियों और आवासों के संरक्षण को सुनिश्चित किया। आधुनिक पारिस्थितिकी विज्ञान (Modern Ecology) भी अब यह मानने लगा है कि जैव विविधता के संरक्षण में स्थानीय समुदायों का पारंपरिक अनुभव और उनकी भागीदारी सबसे अधिक प्रभावी उपकरण साबित हो सकती है। इसलिए, शिक्षा में पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान ज्ञान को शामिल करने से छात्र प्रकृति को सिर्फ इस्तेमाल की चीज़ नहीं समझेंगे, बल्कि उसके साथ मिलकर रहना सीखेंगे।

शिक्षकों का दृष्टिकोण, कक्षा अभ्यास और संस्थागत अंतराल

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षकों के ESD संबंधी दृष्टिकोणों पर किए गए शोध बताते हैं कि अधिकांश शिक्षक धारणीय विकास की अवधारणा के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण तो रखते हैं, लेकिन जब इसे कक्षा में बच्चों को पढ़ाने की बारी आती है, तो उनकी कथनी और करनी में बड़ा अंतर दिखता है। McKeown (2002) ने रेखांकित किया है कि इसकी एक वजह यह है कि शिक्षकों को कॉलेज में केवल अपने मुख्य विषय को गहराई से पढ़ने की ट्रेनिंग मिलती है, जिससे वे पर्यावरण जैसे कई विषयों से जुड़े मुद्दे को क्लास में आसानी से नहीं संभाल पाते

पारंपरिक ज्ञान के एकीकरण के संदर्भ में यह चुनौती और भी जटिल हो जाती है। कई शिक्षक पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों को "अतीत की बातें", "पिछड़ापन" या "अंधविश्वास" मानकर आधुनिक विज्ञान की कक्षाओं में उनकी उपेक्षा कर देते हैं, क्योंकि वे उनके अंतर्निहित वैज्ञानिक आधार को नहीं जानते। इसके विपरीत, कुछ शिक्षक इसे केवल सांस्कृतिक गौरव के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उसका क्या फायदा है, यह नहीं समझा पाते। इसके अतिरिक्त, पाठ्यपुस्तकों का अत्यधिक दबाव, परीक्षाओं का कठोर ढाँचा और नवीन शैक्षणिक उपकरणों का अभाव शिक्षकों को कक्षा क्लास में कुछ नया प्रयोग करने से रोकता है (Barth & Rieckmann, 2012)। इस प्रकार, साहित्य की समीक्षा यह दर्शाती है कि प्रत्यक्षण, पाठ्यचर्या और कक्षागत अभ्यास के बीच के त्रिकोणीय अंतर्संबंधों को समझने के लिए जमीनी स्तर पर और अधिक गुणात्मक शोधों की आवश्यकता है।

5. शोध पद्धति

प्रस्तुत शोध अध्ययन पूरी तरह से एक गुणात्मक अनुसंधान ढाँचे (Qualitative Research Framework) पर आधारित है। गुणात्मक पद्धति का चयन इसलिए किया गया क्योंकि यह शोधकर्ताओं को शिक्षकों के आंतरिक विचारों, उनके दृष्टिकोणों की बारीकियों, वैचारिक द्वंद्वों और उनकी कक्षाओं के वास्तविक सामाजिक-शैक्षणिक वातावरण का गहराई से और उनके स्वाभाविक संदर्भ में खोज करने की अनुमति देती है।

6. शोध प्रश्न

I. माध्यमिक विद्यालय के विज्ञान और भूगोल के शिक्षक धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) के अंतर्गत पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी के एकीकरण के प्रति क्या प्रत्यक्षण रखते हैं?
II. शिक्षक अपनी दैनिक कक्षाओं में पर्यावरण और सस्टेनेबिलिटी संबंधी विषयों को पढ़ाते समय पारंपरिक और आधुनिक ज्ञान प्रणालियों को किस प्रकार और किस स्तर पर एकीकृत करते हैं?
III. कक्षा अवलोकन के दौरान इस एकीकरण के मार्ग में कौन-सी प्रमुख संस्थागत, पाठ्यचर्या संबंधी और शैक्षणिक बाधाएँ तथा चुनौतियाँ परिलक्षित होती हैं?

7. शोध का प्रतिदर्श और प्रतिभागी

प्रस्तुत अध्ययन के लिए **उद्देश्यपूर्ण प्रतिदर्श चयन (Purposive Sampling) पद्धति** का उपयोग किया गया, ताकि ऐसे प्रतिभागियों का चयन किया जा सके जो शोध के उद्देश्यों के लिए समृद्ध और प्रासंगिक डेटा प्रदान कर सकें।

प्रतिभागी: अध्ययन में कुल 12 माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों को शामिल किया गया, जिनमें 6 विज्ञान (भौतिक/रसायन/जीव विज्ञान) के शिक्षक और 6 भूगोल/सामाजिक विज्ञान के शिक्षक थे।

चयन के मानदंड: प्रतिभागियों का चयन इस आधार पर किया गया कि वे कक्षा 9वीं और 10वीं स्तर पर अध्यापन कर रहे हों और उनके पास पर्यावरण शिक्षा, भूगोल या विज्ञान पढ़ाने का न्यूनतम 5 वर्ष का अनुभव हो। सभी प्रतिभागियों की पहचान को पूरी तरह से गोपनीय रखने के लिए उन्हें Codes जैसे T-1, T-2 आदि दिए गए।

8. आकड़ों संग्रह के उपकरण और प्रक्रिया

गुणात्मक आकड़ों की प्रामाणिकता और गहराई सुनिश्चित करने के लिए दो प्रमुख उपकरणों के माध्यम से आकड़ों का संग्रहण किया गया, जिससे प्राप्त निष्कर्षों का त्रिकोणीयकरण (Triangulation) किया जा सके:

a. अर्ध-संरचित साक्षात्कार (Semi-Structured Interviews)

प्रत्येक शिक्षक के साथ शोधकर्ता द्वारा एक आमने-सामने (Face-to-face) बैठकर गहन साक्षात्कार आयोजित किया गया। साक्षात्कार के लिए एक लचीली इंटरव्यू गाइड तैयार की गई थी, जिसमें पारंपरिक ज्ञान की समझ, कोर्स में इसकी ज़रूरत और इसे लागू करने की इच्छा जैसे खुले सवाल रखे गए थे। हर इंटरव्यू करीब 15 से 20 मिनट चला, जिसे शिक्षकों की अनुमति से रिकॉर्ड किया गया।

b. गैर-प्रतिभागी कक्षा अवलोकन (Non-Participant Classroom Observation)

साक्षात्कार में शिक्षकों द्वारा व्यक्त की गई धारणाओं की वास्तविक धरातल पर पुष्टि करने के लिए 'गैर-प्रतिभागी कक्षा अवलोकन' तकनीक का उपयोग किया गया। शोधकर्ता ने कक्षा के पीछे बैठकर बिना किसी हस्तक्षेप के शिक्षण प्रक्रियाओं को नोट किया।

अवलोकन की मात्रा:शोधकर्ता द्वारा प्रत्येक शिक्षक की कम से कम 2 नियमित कक्षाओं का अवलोकन किया गया (12 शिक्षक × 2 कक्षाएं = कुल 24 कक्षा अवलोकनों का आकड़ों)।

अवलोकन का फोकस: इसके लिए एक संरचित 'क्लासरूम ऑब्जर्वेशन गाइड' का उपयोग किया गया, जिसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित बिंदुओं को रिकॉर्ड किया गया: शिक्षक द्वारा प्रयुक्त उदाहरण (क्या वे केवल पाठ्यपुस्तक के हैं या स्थानीय पारंपरिक संदर्भों से जुड़े हैं), छात्रों की सहभागिता, प्रयुक्त शिक्षण विधि (Pedagogy), और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी मुद्दों के साथ पारंपरिक ज्ञान कैसे जोड़ रहे हैं।

9. आकड़ों विश्लेषण की प्रक्रिया (Data Analysis)

एकत्रित किए गए संपूर्ण गुणात्मक आकड़ों का विश्लेषण Braun और Clarke (2006) द्वारा प्रतिपादित **थीमैटिक विश्लेषण (Thematic Analysis)** पद्धति के छह चरणों के अनुसार किया गया:

I. **आकड़ों से परिचित होना:** साक्षात्कारों के ऑडियो रिकॉर्डिंग को बार-बार सुनकर उनका सटीक हिंदी लिप्यंतरण (Transcription) किया गया और कक्षा अवलोकन के फील्ड नोट्स को व्यवस्थित किया गया।

II. **प्रारंभिक कोडिंग (Initial Coding):** महत्वपूर्ण वाक्यों, विचारों और घटनाओं को अर्थपूर्ण कोड प्रदान किए गए (जैसे- 'पारंपरिक ज्ञान के प्रति वैज्ञानिक संशय', 'समय का अभाव', 'केवल पाठ्यपुस्तक तक सीमित रहना')।

III. **थीम्स की खोज (Searching for Themes):** समान प्रकार के कोड्स को एक साथ समूहित करके संभावित और व्यापक थीम्स (Themes) की पहचान की गई।

IV. **थीम्स की समीक्षा:** पहचान की गई थीम्स की तुलना पुनः मूल आकड़ों सेट से की गई ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि वे आकड़ों का सही प्रतिनिधित्व करती हैं।

V. **थीम्स को परिभाषित और नामकरण करना:** प्रत्येक थीम के केंद्रीय विचार को स्पष्ट करते हुए उन्हें अंतिम शीर्षक दिए गए।

VI. **रिपोर्ट लेखन:** निष्कर्षों को प्रासंगिक उद्धरणों (Quotes) और अवलोकन तालिकाओं के साथ तार्किक रूप से प्रस्तुत किया गया।

10. परिणाम और चर्चा

प्राप्त आकड़ों का व्यापक स्तर पर थीमैटिक विश्लेषण करने के पश्चात **तीन प्रमुख थीम्स** उभर कर सामने आईं। ये परिणाम शिक्षकों के प्रत्यक्षण (Perception) और उनके कक्षागत अभ्यास (Classroom Practices) के बीच के अंतर्संबंधों और विरोधाभासों को गहराई से उजागर करते हैं।

थीम 1: सैद्धांतिक स्तर पर वैचारिक स्वीकृति बनाम वैज्ञानिक संशय

साक्षात्कारों के विश्लेषण से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हुआ कि लगभग सभी शिक्षकों (92%) की सोच पारंपरिक ज्ञान (TEK) को लेकर सकारात्मक है। वे मानते हैं कि हमारे पुराने तौर-तरीकों में पर्यावरण को बचाने के बेहतरीन सूत्र छिपे हैं। लेकिन जब इसी ज्ञान को विज्ञान और भूगोल के कोर्स में बराबर जगह देने की बात आई, तो विज्ञान के शिक्षकों में एक हिचक दिखी। वे दुविधा में थे कि बिना लैब में टेस्ट किए इस ज्ञान को बच्चों को कैसे पढ़ाया जाए।

विज्ञान के एक शिक्षक (प्रतिभागी T-4) ने साक्षात्कार में कहा: "यह सच है कि हमारे यहाँ नीम, तुलसी या पारंपरिक जैविक खादों का उपयोग सदियों से होता आ रहा है और वे सस्टेनेबल भी हैं। लेकिन एक विज्ञान शिक्षक के रूप में, मेरी समस्या यह है कि मैं कक्षा में तब तक किसी चीज़ पर जोर नहीं दे सकता जब तक कि पाठ्यपुस्तक में उसका कोई रासायनिक या जैविक समीकरण (Formula) न दिया हो।" इसके विपरीत, भूगोल के शिक्षकों ने पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान के प्रति अधिक लचीला और सांस्कृतिक रूप से जुड़ा हुआ दृष्टिकोण प्रदर्शित किया। उनका मानना था कि स्थानीय पर्यावरण को समझने के लिए स्थानीय समुदायों के अनुभवों को समझना अनिवार्य है। यह परिणाम यह दर्शाता है कि शिक्षकों का अपना विषय-अनुशासन (Disciplinary Background) उनके प्रत्यक्षण को अत्यधिक प्रभावित करता है।

थीम 2: कक्षा अभ्यासों में सतही समावेशन और काम चलाऊ दृष्टिकोण

यह इस शोध का सबसे महत्वपूर्ण और विचारणीय निष्कर्ष था। जब साक्षात्कार के आकड़ों का कक्षागत अवलोकन (Classroom Observation) के आकड़ों से त्रिकोणीयकरण (Triangulation) किया गया, तो शिक्षकों की कथनी और उनके वास्तविक क्रियान्वयन में एक गहरा अंतर दिखाई दिया। साक्षात्कार में पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान की वकालत करने वाले शिक्षक भी अपनी वास्तविक कक्षाओं में इसका बहुत ही कम उपयोग कर पा रहे थे। कुल 12 कक्षा अवलोकनों के विश्लेषण के आधार पर वास्तविक शैक्षणिक स्थिति को निम्नलिखित तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है:

अवलोकन के मुख्य आयाम	वास्तविक कक्षा अभ्यासों की स्थिति और प्रकृति (12 अवलोकनों का विश्लेषण)
प्रयुक्त शिक्षण पद्धतियाँ	• **व्याख्यान विधि की प्रधानता:** 83% कक्षाओं में शिक्षक-केंद्रित व्याख्यान विधि (Lecture Method) का उपयोग देखा गया। छात्र केवल निष्क्रिय श्रोता थे। • **अनुभवात्मक अधिगम का अभाव:** किसी भी कक्षा में छात्रों को किसी पारंपरिक पद्धति का व्यावहारिक अनुभव लेने या केस स्टडी पर चर्चा करने का अवसर नहीं मिला। |
पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान के उदाहरणों का स्वरूप	• **सीमित एवं रटे-रटाए उदाहरण:** शिक्षक केवल उन्हीं उदाहरणों तक सीमित रहे जो पाठ्यपुस्तक में सीधे तौर पर छपे थे (जैसे- चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, या राजस्थान में छत पर वर्षा जल संचयन)। • **स्थानीय ज्ञान की उपेक्षा:** जिस क्षेत्र में विद्यालय स्थित था, वहाँ की स्थानीय पर्यावरण समस्याओं या वहाँ के समुदायों के पारंपरिक जल/वन प्रबंधन के ज्ञान का कोई उल्लेख नहीं किया गया। |
पारंपरिक और आधुनिक ज्ञान का जुड़ाव	• **विखंडित प्रस्तुतीकरण:** शिक्षक आधुनिक सस्टेनेबिलिटी सिद्धांतों (जैसे- धारणीय विकास के उद्देश्य या पर्यावरण कानून) को पूरी तरह से अलग अध्याय के रूप में पढ़ाते हैं और पारंपरिक ज्ञान को केवल एक 'रोचक तथ्य' या बॉक्स आइटम की तरह पढ़ाकर छोड़ देते हैं। दोनों का तार्किक समन्वय लुप्त था।

कक्षा अवलोकन के दौरान यह देखा गया कि जब कक्षा 9वीं के भूगोल में 'जलवायु' और 'जल संसाधन' का अध्याय पढ़ाया जा रहा था, तब शिक्षक ने ब्लैकबोर्ड पर आधुनिक बांधों और बहुउद्देशीय परियोजनाओं के लाभ-हानि तो लिखवाए, लेकिन भारत की पारंपरिक जल प्रणालियों के विज्ञान को आधुनिक जल संकट के समाधान के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि वास्तविक कक्षागत अभ्यास अभी भी 'पाठ्यपुस्तक-अनुरूपता' (Textbook-conformity) के जाल में फंसे हुए हैं।

साक्षात्कार आकड़ा (शिक्षकों का प्रत्यक्षण)।

"पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान बहुत उपयोगी और मूल्यवान है"।

⇩

[गहरा अंतराल / वैचारिक विरोधाभास]

वास्तविक कक्षा अवलोकन (कक्षागत अभ्यास)।

"केवल पाठ्यपुस्तक आधारित व्याख्यान और रटे-रटाए उदाहरण"।

थीम 3: व्यवस्थागत, पाठ्यचर्या संबंधी और ढांचागत बाधाएं

शिक्षकों के वास्तविक अभ्यासों में इस कमी के लिए केवल उनकी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। आकड़ों के विश्लेषण से तीन अत्यंत ठोस और व्यावहारिक बाधाएँ सामने आईं जो शिक्षकों को इस एकीकरण से रोकती हैं:

I. समय की अत्यधिक कमी और पाठ्यक्रम का दबाव

शिक्षकों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया कि अकादमिक कैलेंडर इतना व्यस्त होता है कि उनका पूरा ध्यान इस बात पर केंद्रित रहता है कि बोर्ड परीक्षाओं और आंतरिक परीक्षाओं से पहले पाठ्यक्रम कैसे समाप्त किया जाए। एक सामाजिक विज्ञान शिक्षक (प्रतिभागी T-9) ने स्पष्ट किया कि- "अगर मैं कक्षा में पारंपरिक खेती या स्थानीय तालाबों के इतिहास पर चर्चा शुरू कर दूँगा, तो बच्चे उसमें रुचि तो लेंगे, लेकिन उस चर्चा में मेरे दो पीरियड चले जाएंगे। अंत में मुझसे यह पूछा जाएगा कि सिलेबस समय पर पूरा क्यों नहीं हुआ। परीक्षा में तो केवल वही प्रश्न आएंगे जो पाठ के अंत में दिए गए हैं।"

II. परीक्षा-केंद्रित मूल्यांकन प्रणाली

वर्तमान मूल्यांकन प्रणाली पूरी तरह से याद रखने (Rote Learning) और पाठ्यपुस्तक के सीधे उत्तरों पर आधारित है। जब तक परीक्षा प्रणालियों में पारंपरिक पारिस्थितिकी और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी के व्यावहारिक ज्ञान को परखने वाले प्रश्न शामिल नहीं किए जाएंगे, तब तक शिक्षक और छात्र दोनों ही इन विषयों को अतिरिक्त या महत्वहीन मानकर छोड़ते रहेंगे।

III. प्रासंगिक शिक्षण-अधिगम सामग्री (TLM) और शिक्षक प्रशिक्षण का अभाव

शिक्षकों ने इस बात पर गहरा असंतोष व्यक्त किया कि शिक्षा विभाग या NCERT द्वारा उन्हें ऐसी कोई ऐसी गाइड या टीचर मैनुअल प्रदान नहीं की गई है जो यह सिखा सके कि आधुनिक वैज्ञानिक विषयों (जैसे जलवायु परिवर्तन के मॉडल) को स्थानीय पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों के साथ जोड़कर कैसे पढ़ाना है। । इसके अलावा, सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण (In-service Teacher Training) कार्यक्रमों में आज भी ESD और पारंपरिक ज्ञान के समन्वय पर कोई व्यावहारिक कार्यशाला आयोजित नहीं की जाती है।

11. शैक्षणिक निहितार्थ और अनुशंसाएँ

प्रस्तुत गुणात्मक अध्ययन के निष्कर्ष केवल एक समस्या को उजागर नहीं करते, बल्कि वे माध्यमिक स्तर पर पर्यावरण शिक्षा और धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) को अधिक जीवंत, सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक और प्रभावी बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण नीतिगत और व्यावहारिक दिशा-निर्देश भी प्रदान करते हैं:

I. पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों का नव-रूपांतरण

- **सह-अस्तित्व आधारित पाठ्यचर्या:** पाठ्यपुस्तकों में पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान को केवल इतिहास या अतीत के एक 'रोचक बॉक्स' के रूप में रखने की प्रवृत्ति को समाप्त किया जाना चाहिए। इसके स्थान पर, आधुनिक सस्टेनेबिलिटी के प्रत्येक विषय (जैसे- ऊर्जा संकट, कचरा प्रबंधन, कृषि) के साथ एक समानांतर भाग होना चाहिए जो यह दिखाए कि पारंपरिक समाजों ने इन समस्याओं का समाधान कैसे किया था।
- **स्थानीयकरण:** केंद्रीय बोर्डों (जैसे CBSE) और राज्य बोर्डों को पाठ्यक्रम में कम से कम 15-20 % का एक ऐसा हिस्सा रखना चाहिए जहाँ शिक्षक स्थानीय भौगोलिक क्षेत्र की पारंपरिक पारिस्थितिकी प्रणालियों को पाठ्यक्रम में शामिल कर सकें।

II. शिक्षक शिक्षा और व्यावसायिक विकास

- **एकीकृत प्रशिक्षण मॉड्यूल:** प्री-सर्विस (B.Ed./D.El.Ed.) और इन-सर्विस शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में विशेष रूप से ऐसे मॉड्यूल तैयार किए जाने चाहिए जो शिक्षकों को भारतीय पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों (IKS) के वैज्ञानिक और पारिस्थितिक आधारों से परिचित कराएं।
- **कक्षा अवलोकन आधारित मेंटरशिप:** प्रशिक्षण केवल व्याख्यान कक्षों तक सीमित न रहकर वास्तविक कक्षाओं के भीतर होना चाहिए, जहाँ प्रशिक्षक स्वयं शिक्षकों को यह प्रदर्शित करके दिखाएं कि कक्षा अवलोकन के मानकों पर खरे उतरते हुए दोनों ज्ञान प्रणालियों का समन्वय कैसे किया जाता है।

III. शैक्षणिक रणनीतियों में परिवर्तन

- **स्थान-आधारित शिक्षा:** शिक्षकों को केवल बंद कक्षाओं में व्याख्यान देने के बजाय छात्रों को स्थानीय पर्यावरण के करीब ले जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी पारंपरिक जल स्रोत (बावड़ी या तालाब) का भ्रमण कराना, स्थानीय जैविक किसानों या बुजुर्गों के साथ साक्षात्कार आयोजित कराना जैसी गतिविधियों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
- **परियोजना-आधारित अधिगम:** छात्रों को ऐसी परियोजनाएं दी जानी चाहिए जहाँ वे आधुनिक सस्टेनेबिलिटी की समस्याओं (जैसे एकल-उपयोग प्लास्टिक का विकल्प) का समाधान अपने पारंपरिक पारिवारिक या सामुदायिक ज्ञान में खोज सकें।

निष्कर्ष

यह गुणात्मक शोध आलेख इस बात को प्रमाण सहित रेखांकित करता है कि धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) के व्यापक लक्ष्यों को प्राप्त करने में पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (TEK) और आधुनिक सस्टेनेबिलिटी का एकीकरण एक अत्यंत शक्तिशाली उपकरण बन सकता है। माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों के विचारों का विश्लेषण यह दर्शाता है कि वैचारिक स्तर पर इस एकीकरण के प्रति भारी स्वीकार्यता और सम्मान की भावना मौजूद है। शिक्षक यह भली-भांति समझते हैं कि केवल तकनीकी समाधानों से पृथ्वी को नहीं बचाया जा सकता, बल्कि इसके लिए पारंपरिक जीवन मूल्यों और प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना को पुनः जागृत करना होगा।

हालाँकि, शोध के निष्कर्ष यह भी चेतावनी देते हैं कि जब तक हम इस वैचारिक सकारात्मकता को कक्षागत अभ्यास (Classroom Practices) में परिवर्तित नहीं करते, तब तक ये नीतियां केवल कागजों तक सीमित रहेंगी। वर्तमान

कक्षागत अभ्यास पूरी तरह से पाठ्यपुस्तक केंद्रित, परीक्षा केंद्रित और काम चलाऊ व्यवस्था से ग्रसित हैं, जिन्हें बदलने के लिए व्यापक बुनियादी सुधारों की आवश्यकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के सपनों को साकार करने और भावी पीढ़ी को पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि हम पाठ्यपुस्तकों के ढांचे को लचीला बनाएं, परीक्षाओं के स्वरूप को बदलें और शिक्षकों को पर्याप्त संसाधन व व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान करें। जब शिक्षक की कक्षा में आधुनिक विज्ञान का तर्क और पारंपरिक पारिस्थितिकी की संवेदनशीलता एक साथ गूंजेंगे, तभी वास्तविक धारणीय विकास की नींव रखी जा सकेगी।

संदर्भ -

ओ'डोनोघ्यू, आर. (2014). स्वदेशी ज्ञान और ईएसडी: स्थान-आधारित जांच के माध्यम से कक्षा शिक्षण में कमी का मुकाबला करना। साउदर्न अफ्रीकन जर्नल ऑफ एनवायरनमेंटल एजुकेशन, 30, 12–24.

कीम, एम., बून, एच., एवं टायलर, जे. (2014). माध्यमिक विद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा: शिक्षकों की धारणाओं और कक्षा अभ्यासों के बीच के अंतर का अन्वेषण। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च, 64, 45–57. https://doi.org/10.1016/j.ijer.2013.11.002

गाडगिल, एम., बर्क्स, एफ., एवं फोल्के, सी. (1993). जैव विविधता संरक्षण के लिए स्वदेशी ज्ञान। एम्बियो, 22(2/3), 151–156. http://www.jstor.org/stable/4314055

ज़ुइदी, ए., एवं अल-शुआइली, ए. (2019). धारणीय विकास के लिए शिक्षा और पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान के साथ इसके एकीकरण पर विज्ञान शिक्षकों की धारणाएँ। जर्नल ऑफ स्टडीज इन एजुकेशन, 9(2), 114–131. https://doi.org/10.5296/jse.v9i2.14650

बर्क्स, एफ. (2012). सैक्रेड इकोलॉजी (पवित्र पारिस्थितिकी) (तीसरा संस्करण). रूटलेज।

बार्थ, एम., एवं रीकमैन, एम. (2012). धारणीय विकास के लिए शिक्षा की दिशा में पाठ्यचर्या परिवर्तन के उत्प्रेरक के रूप में अकादमिक स्टाफ का विकास: एक आउटपुट मूल्यांकन। जर्नल ऑफ क्लीनर प्रोडक्शन, 26, 28–36. https://doi.org/10.1016/j.jclepro.2011.12.012

मैककॉन, आर. (2002). ईएसडी टूलकिट (संस्करण 2.0). वेस्ट मैनेजमेंट रिसर्च एंड एजुकेशन इंस्टीट्यूशन।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद। (2005). राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005। एनसीईआरटी।

शर्मा, पी., एवं मिश्रा, एस. (2021). माध्यमिक शिक्षा में भारतीय ज्ञान प्रणालियों का एकीकरण: एनईपी 2020 के तहत शिक्षक तत्परता और संस्थागत बाधाओं का आकलन। इंडियन एजुकेशनल रिव्यू, 59(1), 88–104।

सिंह, आर., एवं सुब्रमण्यम, के. (2018). आधुनिक सस्टेनेबिलिटी के लिए शैक्षणिक उपकरण के रूप में पारंपरिक जल संचयन प्रणालियाँ: अर्ध-शुष्क भारत से एक अध्ययन। जर्नल ऑफ एनवायरनमेंटल एजुकेशन, 49(3), 215–228. https://doi.org/10.1080/00958964.2017.1394562

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 06.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

प्रयागराज की हाई टेक रामलीला पथरचट्टी

डॉ विधु खरे दास*
kharedasv@gmail.com

शोध सारांश

रामलीला प्रदर्शन भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग है। रामलीला का वर्तमान स्वरूप गोस्वामी तुलसी दास जी की देन माना जाता है। रामलीला उत्तर प्रदेश का मुख्य लोक उत्सव है। इसका प्रदर्शन मुख्यतः दशहरे में होता है। दशहरे वाले दिन रावण वध के साथ ही रामलीला का भी समापन होता है। दस दिवसीय रामलीला प्रदर्शन की तैयारी कम से कम दो माह पहले आरम्भ हो जाती है। प्रत्येक प्रदर्शन की अपनी एक राम लीला कमेटी होती है। वाराणसी तथा प्रयागराज की रामलीलाएं अपनी भव्यता के लिए विख्यात हैं। प्रयागराज शहर में कई रामलीला कमेटियां हैं जिनमें भव्यता को लेकर एक प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। कटरा, सिविल लाइंस तथा पथरचट्टी की रामलीला हर वर्ष नए प्रयोग करती रहती हैं। इसके अतिरिक्त नैनी में भी रामलीला का मंचन होता है। पथरचट्टी की रामलीला अपनी विहंगमता के लिए विख्यात है। यहाँ पर अनेक यंत्रों के द्वारा रामलीला के दृश्य उत्पन्न किये जाते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में मैं पथरचट्टी रामलीला में प्रयुक्त हाई – टेक नवाचारों का विश्लेषण करने का प्रयास करूँगी।

बीज शब्द - *लीला, परंपरा, अनुष्ठान, तकनीक, भव्यता*

प्रस्तावना

भारतीय लोकनाट्य परंपरा में रामलीला का विशिष्ट स्थान है। यह केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि भारतीय समाज की सांस्कृतिक चेतना, लोक आस्था और सामुदायिक जीवन का जीवंत प्रतीक है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस पर आधारित रामलीला उत्तर भारत की प्रमुख लोकनाट्य परंपरा है, जिसे यूनेस्को द्वारा मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर (Intangible Cultural Heritage) के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। प्रयागराज की पथरचट्टी रामलीला अपनी भव्य मंच-संरचना, आधुनिक तकनीकी प्रयोगों तथा परंपरा और नवाचार के समन्वय के कारण विशेष पहचान रखती है। इसमें हाइड्रोलिक लिफ्ट, रोबोटिक्स, एलईडी स्क्रीन, त्रि-आयामी (3D) दृश्य प्रभाव, आधुनिक प्रकाश व्यवस्था तथा ध्वनि तकनीक का प्रयोग कर रामकथा के प्रसंगों को अत्यंत प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

वर्तमान शोध का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि आधुनिक तकनीक ने पारंपरिक रामलीला की प्रस्तुति को किस प्रकार अधिक आकर्षक, प्रभावी एवं जनसुलभ बनाया है, साथ ही यह भी कि तकनीकी नवाचारों के बावजूद रामलीला की धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल भावना अक्षुण्ण बनी हुई है। यह अध्ययन भारतीय लोकनाट्य परंपरा में तकनीकी नवाचारों की भूमिका को समझने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

शोध उद्देश्य

1. प्रयागराज की पथरचट्टी रामलीला की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन करना।
2. रामलीला के मंचन में प्रयुक्त आधुनिक तकनीकी नवाचारों का विश्लेषण करना।

---

* **प्रदर्शनकारी कला विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

3. परंपरा एवं आधुनिक तकनीक के समन्वय से उत्पन्न नाट्य-सौंदर्य एवं दर्शकीय प्रभाव का मूल्यांकन करना।
4. पथरचट्टी रामलीला के माध्यम से भारतीय लोकनाट्य परंपरा के संरक्षण एवं विकास में आधुनिक तकनीक की भूमिका का अध्ययन करना।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध वर्णनात्मक (Descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) शोध प्रविधि पर आधारित है। अध्ययन में पथरचट्टी रामलीला के मंचन, तकनीकी संरचना एवं प्रस्तुति शैली का गुणात्मक (Qualitative) विश्लेषण किया गया है। शोध के लिए पुस्तकों, शोध-लेखों, स्मारिकाओं तथा संबंधित साहित्य को द्वितीयक स्रोत के रूप में उपयोग किया गया है। साथ ही उपलब्ध विवरणों के आधार पर रामलीला में प्रयुक्त आधुनिक तकनीकों एवं उनके सांस्कृतिक प्रभावों का व्याख्यात्मक अध्ययन किया गया है।

रामलीला उत्तर भारत का एक धार्मिक अनुष्ठानिक प्रदर्शन है। इसमें भगवान् के जीवन को प्रदर्शित किया जाता है। रामलीला हमारी राष्ट्रीय पहचान है। यूनेस्को ने रामलीला को intangible cultural heritage में सूचीबद्ध किया है। लीला का अर्थ है प्रदर्शन और दिव्य स्वरूप। भगवान् श्री राम की लीलाओं का प्रदर्शन ही राम लीला है। लीला भगवान् का दिव्य स्वरूप प्रदर्शन है। यह एक लिविंग ट्रेडिशन है। ईश्वर की लीला मंच से अधिक दर्शकों के हृदय तथा मानस में घटित होती है। दर्शक राम लीला के प्रदर्शन में नाट्य नहीं देखते बल्कि वे साक्षात् भगवान् का दर्शन करते हैं। राम लीला श्रद्धा के भाव से रची जाती है तथा श्रद्धा के भाव से ही देखी जाती है। यह भक्ति का मार्ग है। यह भक्ति का संचार है। इसमें कोई भी कमी नहीं निकाली जा सकती है। मंच पर पात्र नहीं स्वयं राम अवतरित होते हैं। यह मेक बिलीव पद्धति है। लीला का स्वरूप अत्यंत भव्य है, यह विशालतम है, विराट है। यह प्रभु श्री राम की लीला है। इसका अर्थ दिव्य तथा अलौकिक क्रीड़ा के रूप में लिया जा सकता है। राम लीला भारतीय जन मानस की जीवन पद्धति का आवश्यक अंग है। पूरे उत्तर भारत में रामलीला सबसे अधिक लोकप्रिय धार्मिक एवं सामाजिक आयोजन है। यह एक लोकप्रिय धार्मिक लोक विधा है। प्रयागराज की रामलीला मंचन परंपरा इस अर्थ में विशेष है कि यहाँ परंपरा के साथ-साथ आधुनिक तत्वों का समावेश भी किया जाता है। प्रयागराज शहर में कई रामलीला कमेटियां हैं जिनमें भव्यता तथा नवाचार को लेकर एक प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। कटरा, सिविल लाइंस तथा पथरचट्टी की रामलीला हर वर्ष नए प्रयोग करती रहती हैं। प्रयाग की रामलीला की एक और परंपरा है कि यहाँ सभी प्रमुख क्षेत्रों में राम दल जुलूस की भांति नगर में भ्रमण करता है जिसमें अनेकों झांकियां होती हैं। ये झाकियां प्रभु श्री राम तथा राम चरित मानस से सम्बंधित होती हैं। इनमें से कुछ झाकियां सामाजिक विषयों से सम्बंधित भी होती हैं, यहीं पर कमेटियां नवाचार करके कौतूहल उत्पन्न करती रही हैं। इन झाकियों की सजावट अत्यंत भव्य होती है तथा ये प्रतिस्पर्धा का विषय बनती हैं। कुछ झांकियों में सोने, चांदी तथा रत्नों की सजावट भी होती है। कर्ण घोड़ा की चौकी, भोर की श्रृंगार की चौकी, भरत मिलाप की चौकी अति जनप्रिय चौकियां हैं। प्रकाश के बल्बों से अद्भुत रंगों से युक्त सजावट की जाती है। लाइट का यह प्रयोग झांकियों को दिव्यता प्रदान करता है। राम दल का मेला पूरी रात चलता है तथा शहर के लोग रात में सज संवर कर अपने परिवार के साथ पैदल मेले में घूमने जाते हैं। पथरचट्टी रामलीला का सञ्चालन पुराने शहर की तरफ राम बाग़ में होता है। पहले यह रामलीला एक खुले मैदान में होती थी परन्तु अंग्रेजों की आपत्ति के बाद ये एक ऐसे स्थान पर विस्थापित हो गयी जहाँ पर अत्यधिक मात्रा में पथरचट्टे के पौधे थे। इसी कारण से इसका नामकरण पथरचट्टी रामलीला पड़ गया। इस कमेटी का अपना एक बड़ा भवन, मंदिर परिसर, खुला मंच परिसर है। इस कमेटी में शहर के धनाढ्य, राजनीतिक, सामाजिक तथा प्रबुद्ध वर्ग के लोग जुड़े हुए हैं। कमेटी के लोग कम से कम तीन महीने रामलीला के आयोजन को समर्पित करते हैं । रामलीला से जुड़े हुए परिवार वर्ष का कम से कम एक पूरा महीना रामलीला को भेंट करते हैं। लीला में पूरा परिवार अपना योगदान देता है। " रामलीला धार्मिक नाट्य रूप है अतः उसकी संकल्पना ही धार्मिक अनुष्ठान के रूप में की गयी है। रामलीला करवाना, उसमें अभिनय करना और उसे देखना - सभी भक्ति भावना से जुड़े हुए हैं"[1]। रामलीला का प्रदर्शन पूरे वर्ष नहीं होता है। रामलीला आयोजन को दशहरे के प्रथम दिन से आरम्भ किया जाता है तथा दशहरे के अंतिम दिन यह समाप्त होता है। आरम्भ तथा समापन दोनों ही दिन पूजा अनुष्ठान किये जाते हैं जिसमें सभी पात्र, मंच परे के व्यवस्थापक आदि सभी सम्मिलित रहते हैं। मंचन हेतु पात्रों का चयन एक प्रक्रिया के अंतर्गत होता है। रामलीला का आयोजन इतनी भव्यता के साथ करने की परम्परा

कब आरम्भ हुई इसका सही-सही प्रमाण नहीं मिलता है। नोर्विन हेंन ने एक शोध इस सम्बन्ध में किया था जिसके अनुसार “रामचरितमानस की प्रथम प्रस्तुति बनारस में 1625 ई. के आस पास हुई होगी”[2]। रामलीला में चूँकि टेक्स्ट के रूप में मुख्यतया रामचरितमानस का ही प्रयोग होता है अतः इसका सम्बन्ध तुलसीदास से जुड़ जाता है। “ तुलसी दास ने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया और न कोई धार्मिक सिद्धांत ही स्थिर किये।...”[3]। परन्तु उनकी कृति को धार्मिक पुस्तक के रूप में माना जाता है इसलिए रामलीला का मंचन धार्मिक लोक नाट्य विधा के रूप में प्रतिस्थापित है। प्रयाग हिन्दुओं का एक प्रमुख धार्मिक तीर्थ स्थल है। राम वन गमन का यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारद्वाज मुनि का आश्रम है यहाँ, निषाद राज की भूमि है, त्रिवेणी का तट है, महाकुम्भ का पवित्र स्थल है। ऐसा कहा गया है कि प्रयाग की महिमा का कोई बखान नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त यह भारतीय राजनीति तथा साहित्य का भी प्रमुख केंद्र रहा है। अंग्रेज़ी शासन में यह स्थान महत्वपूर्ण रहा है। प्रयाग आधुनिक शिक्षा का तथा साहित्य का केंद्र भी रहा है। प्रयाग परंपरा तथा आधुनिकता का संगम है। इसीलिए प्रयाग की पारंपरिक रामलीला भी आधुनिकता से प्रभावित रही है विशेषकर आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग यहाँ रामलीला के मंचन में होता है। पथरचट्टी का आयोजन कब से आरम्भ हुआ यह सही रूप में ज्ञात नहीं है। पजावा तथा पथरचट्टी रामलीला कमेटियों का गठन आपस की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप हुआ था। इस संबंध में अनेक रोचक कथाएं हैं। 1925 से दस वर्ष तक यह रामलीला हिन्दू – मुस्लिम दंगों के कारण बंद रही। 1936 में यह पुनः आरम्भ हुई। दोनों पक्षों के लोग अपनी तरह से लीला का मंचन करते रहे। दोनों कमेटियों की भरत मिलाप की झांकियां आमने-सामने खड़ी हो जाती हैं तथा दोनों पक्ष एक स्थान पर एक साथ ही भरत मिलाप संपन्न करते हैं। यह एक भावुक क्षण होता है।

रामलीला दिव्य अनुभूति उत्पन्न करती है। “for the non-devotees Lila performances are mere fantasies of myths and belong to the domain of religion and not theater; for the devotees they are the actual myths happening before their eyes and not theater. Therein lies the duality and the ambiguity of the Lila performances”[4]। अतः हाई टेक डिज़ाइन के द्वारा लीला की दिव्यता उत्पन्न की जाती है। तकनीकी का प्रयोग चमत्कार, दिव्यता, भव्यता तथा अद्भुत भाव उत्पन्न करता है। राम की संस्कृति की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी क्योंकि “ राम त्यागवादी संस्कृति के उन्नायक हैं और रावण भोगवादी सभ्यता का संस्थापक है।”[5]

आज पथरचट्टी प्रयागराज की रामलीला एक हाई टेक रामलीला है। यह देश की सर्वश्रेष्ठ रामलीला का अवार्ड भी ग्रहण कर चुकी है। इस रामलीला का मंच बहुस्तरीय है। इसकी मल्टिपल मंच संरचना स्थाई रूप से निर्मित है। मंच दर्शक स्थल के चारों ओर बना है। दर्शकों के पीछे भी, मंदिर की छत पर भी लंका दहन तथा मेघनाद – वध का दृश्य किया जाता है। दर्शकों के सर के ऊपर से भी आकाश मार्ग से पात्रों का आवागमन दिखाया जाता है जो कि अत्यधिक चमत्कारपूर्ण होता है। पूरी लीला का वाचिक तथा ध्वनि पहले से रेकॉर्डेड होता है। लीला का प्रारंभ शिवलोक से होता है। शिवलोक तीसरी मंजिल पर स्थायी रूप से निर्मित है। इतनी ऊंचाई पर शिव तथा पार्वती बैठकर रामकथा को सुनाते हैं। शिवलोक को श्वेत हिम से आच्छादित बनाया गया है जिसमें लाइट डिजाईन से अलौकिकता उत्पन्न की जाती है। जिस प्रकार भगवान राम सर्वव्याप्त हैं उसी प्रकार से रामलीला भी हर दिशा में प्रदर्शित होती है। लीला हर दिशा में घटित होती है। आजकल एक नया प्रयोग कमेटी ने किया है। प्रत्येक वर्ष सिनेमा तथा टी वी से जुड़े कलाकारों को भी लीला में अभिनय के लिए आमंत्रित किया जाता है। इस युक्ति से युवा दर्शक भी रामलीला मंचन से जुड़ने के लिए आकर्षित होते हैं। लोकप्रिय अभिनेताओं की भागीदारी से रामलीला देखने अपार जन समूह उमड़ता है। आधुनिक मशीनी तकनीकी का प्रयोजन भी यही होता है। तकनीकी चमत्कार से प्रति वर्ष उत्सुकता बनी रहती है तथा हर वर्ग का दर्शक इस रोमांचक राम लीला को देखने के लिए पथरचट्टी के प्रांगण में उपस्थित रहता है। लीला के मंचन में अभिनेता का महत्त्व गौण हो जाता है चाहे वो कितना ही लोकप्रिय छवि वाला क्यों न हो। मंच पर केवल लीला के पात्र दिखते हैं, वहां भगवान के रूप में स्वरूप विराजते हैं। टेक्नोलोजी केवल लौकिक तथा पारलौकिक के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करती है। तकनीकी दृश्यों का साक्षात् अनुभव कराने में सहायक सिद्ध होती है। पहले भगवान् स्वरूपों के लिए ब्राह्मण बालकों का चयन किया जाता था परन्तु अब यह व्यवस्था वहां काम नहीं करती। पथरचट्टी के मल्टिपल मंच का कुछ भाग स्थायी निर्माण करके बना दिया गया है, जिसमें शिव लोक भी है, शिव तथा पार्वती सबसे ऊंचे स्थान पर ही बैठते हैं। कुल मिलाकर आठ जोन हैं अभिनय के लिए। एक दर्शकों की पीठ की तरफ भी है तो एक जोन आकाशमार्ग में भी है। आकाशमार्ग का सञ्चालन मशीनों के द्वारा होता है, दर्शक आकाश मार्ग को देखने के लिए अपने सर को आकाश की ओर करके दृश्य को देखते हैं। यह एक चमत्कारिक प्रभाव उत्पन्न करता है। इस आकाश मार्ग का सञ्चालन कई हाइड्रोलिक लिफ्ट के माध्यम से होता है। पूरी लीला के चमत्कार पूर्ण दृश्य लिफ्टों तथा रोबोटिक्स के माध्यम से प्रस्तुत

किये जाते हैं। पथरचट्टी में अब ग्राफिक डिज़ाइन, एल ई डी स्क्रीन, प्रोजेक्टर आदि का प्रयोग थ्री – डी प्रभाव के लिए किया जाता है। ये प्रयोग गहराई को निरूपित करने में मदद करता है। समुद्र, नदी आदि के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। मंच पर कई जगह ट्रैप डोर भी बनाये गए हैं। ट्रैप डोर का प्रयोग – सीता जी का अग्नि में समाहित होना तथा फिर प्रकट होना, अंगद का रावण से ऊंचे आसन पर बैठना आदि दिखाने में किया जाता है। रोबोट का प्रयोग आकाश मार्ग से त्रिजटा का प्रवेश, मेघनाद का वध, हनुमान जी का संजीवनी पर्वत उठा लाना आदि के लिए किया जाता है। मेघनाद वध पूरी तरह से रोबोटिक्स की तकनीकी से संचालित किया जाता है। राम जी का तीर हवा में उड़ता हुआ जाता है और एक-एक करके मेघनाद के दोनों हाथों को काट देता है तथा इसी प्रकार से हवा में आता हुआ तीर मेघनाद का सर काट देता है। मंच परे इस तकनीकी को संयोजित करने के लिए करीब सौ लोग कार्य करते हैं। आतिशबाजी तथा आधुनिक प्रकाश व्यवस्था का प्रयोग राम विवाह, रावण वध तथा अन्य सुखद दृश्यों के लिए किया जाता है जिससे लीला विहंगम लगने लगती है। इसी प्रकार से लंका दहन का दृश्य भी किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सच में लंका में आग लग गयी है। श्री राम का गंगा जी को पार करना तथा नाव का जल में बहना, सुरसा राक्षसी के मुख से हनुमान जी का निकलना, लिफ्ट के प्रयोग से मां अहिल्या का उद्धार, सीता जी का रावण के द्वारा अपहरण तथा उसका आकाश मार्ग में उड़ना, रावण का सिर बार-बार कटना तथा जुड़ना, रावण का वध आदि का दृश्यांकन आधुनिक यंत्रों के द्वारा किया जाता है। प्रतिवर्ष ये कमेटी कुछ न कुछ तकनीकी नवाचार रामलीला के मंचन में अवश्य करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रयाग की पथरचट्टी राम लीला अपने यांत्रिक प्रयोगों से एक भव्य, दिव्य, अलौकिक, अद्भुत लीला मंचन में दक्ष है। यह एक ऐसा अनुभव प्रदान करती है जो दर्शक के मानस पटल पर अंकित हो जाता है। यह रामलीला परंपरा तथा आधुनिकता का प्रभावी मिश्रण है।

निष्कर्ष

अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि पथरचट्टी रामलीला केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिक आदर्शों तथा सामाजिक समरसता का प्रभावी संवाहक है। आधुनिक तकनीकी प्रयोगों ने विशेष रूप से युवा पीढ़ी को इस लोकपरंपरा से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि परंपरा को समयानुकूल तकनीकी नवाचारों के साथ प्रस्तुत किया जाए, तो उसकी लोकप्रियता और प्रासंगिकता दोनों में वृद्धि होती है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रयागराज की पथरचट्टी रामलीला भारतीय लोकनाट्य परंपरा के संरक्षण और संवर्धन का एक अनुकरणीय मॉडल है। यह आयोजन भारतीय संस्कृति की निरंतरता, लोकआस्था की जीवंतता तथा आधुनिक रंगमंचीय तकनीकों के रचनात्मक उपयोग का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। भविष्य में इस प्रकार की लोकनाट्य परंपराओं का व्यवस्थित प्रलेखन, अकादमिक अध्ययन तथा तकनीकी संरक्षण आवश्यक है, ताकि भारत की अमूल्य सांस्कृतिक विरासत आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित एवं सशक्त रूप में पहुँच सके।

सन्दर्भ

1. अवस्थी, इंदुजा. (2000). *रामलीला : परंपरा और शैलियाँ*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन।
2. अवस्थी, सुरेश. (सम्पा. भानु शंकर मेहता). (वर्ष उपलब्ध नहीं). *रामलीला: Varied Perspectives*. पृ. 181.
3. ग्रियर्सन, जॉर्ज अब्राहम. (2011). *भारत का भाषा सर्वेक्षण* (खंड 1, अनुवाद: उदय शंकर तिवारी). नई दिल्ली. पृ. 295.
4. हेन, नोर्विन. (2011). द *मिरेकल प्ले ऑफ मथुरा* (मूल प्रकाशन 1972). पृ. 62.
5. मिश्र, राजीव. (2022). "विजय का पर्व विजयादशमी." *श्री रामलीला स्मारिका 2022*. प्रयागराज: श्री पथरचट्टी रामलीला कमेटी. पृ. 22.

Received: 07.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

छत्तीसगढ़ में सादरी भाषा का सृजनात्मक इतिहास

डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो*

kusummadhuri953@gmail.com

सारांश

छत्तीसगढ़ राज्य की प्रमुख बोली "छत्तीसगढ़ी" है। इस राज्य को अनेक बोलियों का संगम स्थल कहा जाता है। छत्तीसगढ़ राज्य में विभिन्न जातियां-जनजातियां निवास करती है। जिनकी अपनी अलग-अलग बोली-भाषा है। छत्तीसगढ़ी एक ऐसा भाषायी क्षेत्र है, जहां आर्यभाषा परिवार की 87, द्रविड़ भाषा परिवार की 19, मुण्डा भाषा परिवार की 16 तथा 18 विदेशी भाषाएं एवं 22 अंवगीकृत बोलियां है। इस प्रकार 162 मातृभाषाएं हैं। छत्तीसगढ़ की भाषा का विभाजन जातिगत और भौगोलिक सीमाओं के आधार पर है। छत्तीसगढ़ में सादरी भाषा का सर्वाधिक प्रयोग जशपुर जिले में होता है। मुख्यतः कोरवा जाति के लोगों की भाषा "सादरी कोरवा" कहलाता है। जशपुर अंचल के लोग जो अन्य जिलों में जैसे बिलासपुर, कोरबा, रायगढ़, सरगुजा में निवास करते हैं। वे सादरी भाषा का प्रयोग करते हैं। सादरी भाषा से मिलती-जुलती सरगुजिया भाषा छत्तीसगढ़ के सरगुजा संभाग के कोरिया, उदयपुर, बलरामपुर, सीतापुर में बोली जाती है। रायगढ़, बिलासपुर, जांजगीर-चांपा, रायपुर, दुर्ग-भिलाई, कवर्धा, राजनांदगाँव में छत्तीसगढ़ी भाषा का प्रयोग किया जाता है। बस्तर संभाग में हल्बी-भतरी बोली का प्रयोग होता है। सादरी भाषा से मिलती-जुलती छत्तीसगढ़ी और सरगुजिया भाषा छत्तीसगढ़ के विभिन्न अंचलों में सम्पर्क भाषा के रूप में प्रचलित है।

प्रस्तावना -

सादरी भाषा छत्तीसगढ़ी की उप बोली मानी जाती है। झारखण्ड में सादरी को नागपुरी भाषा कहा जाता है। कहा जाता है कि 1947 ई. में अधिकारिक रूप से सादरी झारखण्ड राज्य की "राजभाषा" रह चुका है। सादरी भाषा में कुछ पत्र, पत्रिकाएं, रचनाएं आदि प्राप्त होते हैं। छत्तीसगढ़ में आदिवासियों और अन्य वर्ग के लोगों के बीच सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। सादरी भाषा में लोक साहित्य मौखिक परम्पराओं के रूप में विद्यमान है जो वर्तमान में भी प्रचलित है। विशेषकर छत्तीसगढ़ के उरांव जनजातियों के लोकगीतों में सादरी लोकगीत प्रचलन में है। साथ ही कहावतें, मुहावरें, पहेलियां भी सादरी में कहा जाता है। जैसे- उरांव पहेली व सादरी भाषा में कहा जाता है। "आय गुंगूं जाय गुंगूं पानी के डराय गुंगू" जिसका उत्तर है-- चमड़े का जूता"। उसी तरह उरांव कहावतों में कहा जाता है कि- "अपन सीमा म कुकुर भूके" अर्थात अपने क्षेत्र में उसी का बोलबाला। उसी तरह कहा जाता है- "बतक लहलह कमक ढील" अर्थात बड बोलापन किन्तु कामचोर। इस तरह देखा जाता है कि सादरी उरांव जनजाति की कुंडुख भाषा के साथ घुल मिल गया है। छत्तीसगढ़ी की उपभाषा सरगुजिया, पहाड़ी कोरवा, गोड़ी आदि के साथ भी सादरी भाषा मिलती जुलती है। सादरी भाषा एक हिन्द आर्य भाषा है किन्तु द्रविड़ भाषा उरांव जनजाति के कुडुंख में भी प्रचलन में है। झारखण्ड राज्य में सदानों की मातृभाषा के रूप में स्वीकारा जाता है। झारखण्ड राज्य में विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है, परन्तु छत्तीसगढ़ राज्य में नई शिक्षा नीति के आधार पर स्कूल शिक्षा में लागू किया जा रहा है। छत्तीसगढ़ के जनजातियों एवं गैर जनजातियों के बीच बोलने वाली सम्पर्क भाषा के रूप में प्रचलित है।

सादरी उड़ीसा राज्य के उड़िया भाषा के साथ भी घुल मिल गया है। सादरी के प्रयोग में उड़ीया भाषा का साम्यता इनके भाषागत उच्चारण में भी सुनने को मिलता है। छत्तीसगढ़ के जशपुर, सारंगढ़, रायगढ़ जिले के सीमाओं में लगे उड़ीसा का क्षेत्र होने के कारण यहां उड़ीया भाषा के साथ भी साम्यता रखता है। छत्तीसगढ़ के इन जिलों के ग्रामीण क्षेत्रों में छत्तीसगढ़ी के साथ सादरी भाषा के साथ भी उड़ीया का प्रभाव है। देखा जाता है कि छत्तीसगढ़ के पड़ोसी राज्य झारखण्ड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल आदि राज्यों में सादरी भाषा का प्रयोग किया जाता है। झारखण्ड राज्य में नागपुरी भाषा के रूप में साहित्य का सृजन

* **सहायक प्राध्यापक "हिन्दी", नवीन शास.महा. कांसाबेल, जिला जशपुर (छ.ग.)**

लगातार किया जा रहा है। जिसमें साहित्य के विविध विधाओं पर सादरी में कार्य चल रहे हैं। साथ ही लघु फिल्म, वीडियो, ऑडियो आदि प्रचलन में है। छत्तीसगढ़ के जशपुर अंचलों में सादरी भाषा से बनी लघु फिल्म - झरियो, महुवा, मोर गाँव मोर देश आदि यहां के जनजातियों के जनजीवन शैली पर बना हुआ है। वर्तमान में सादरी लोक साहित्य और साहित्य पर शोध कार्य चल रहे हैं। छत्तीसगढ़ी के बाद सादरी भाषा का प्रयोग छत्तीसगढ़ में लोकभाषा के रूप में प्रचलन में है।

सादरी भाषा की उत्पत्ति एवं विकास -

छत्तीसगढ़ में सादरी भाषा जशपुर जिले के सम्पूर्ण भू-भाग रायगढ़ तथा कोरबा जिले के कुछ क्षेत्र में बोला जाता है। सादरी भाषा के संबंध में कहा जाता है कि जब कोई आदिवासी कबिला अपनी परम्परागत भाषा छोड़ता है और आर्य पड़ोसियों की भाषा को अपनाता है, तब इसके द्वारा प्रयुक्त विश्रृंखला भाषा "सादरी" अथवा "साद्री" सादरी कही जाती है। "कोरबा" एक आदिवासी कबिला है, जिसका मुख्य आवास जशपुर जिले के पहाड़ी और पाट क्षेत्र में हैं तथा सरगुजा पलमऊ, मिर्जापुर के सोनपाट क्षेत्र में भी निवासरत हैं। उनमें लगभग 4000 लोग जशपुर क्षेत्र में खेतिहर के रूप में बस गये हैं। कोरवा जनजाति के लोग जिन भाषा का प्रयोग करते हैं, वह "सादरी कोरवा" कहलाता है। जो छत्तीसगढ़ी और सरगुजिया भाषा से पर्याप्त साम्य रखती है। सादरी भाषा हिन्दी आर्य भाषा है। सादरी मूलतः देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। इसे हिन्दी की उपभाषा भी माना जाता है। सादरी भाषा का पर्याय सादरी, सदानी, साद्री, सदान और गंवारी भाषा है। कई इतिहासकारों का मानना है कि सदानी शब्द की उत्पत्ति "निषध" शब्द से हुई है। सादरी शब्द का विकास फारसी के सदर मुकाम से माना जाता है। इस क्षेत्र में नागवंशी राजाओं के शासन के कारण इस भाषा का नाम नागपुरी हुआ है। जो झारखण्ड प्रान्त में नागपुरी भाषा कहलाती है।

फादर पीटर शांति नवरंगी ने इसके उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डाला है कि सादरी भाषा मगही, भोजपुरी, छत्तीसगढ़, सरगुजिया भाषा से मिलती जुलती है। वस्तुतः यह भाषा कहां से आयी है, कैसे विकसित हुई है, यह अब भी शोध का विषय है। किन्तु अरण्य पहाड़ों के बीच बसने वालों तथा गाँव में बसे लोग इस भाषा का प्रयोग करते हैं। स्वतंत्र रूप से पनपी और विकसित हुई। ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर ज्ञात होता है कि झारखण्ड में बसने वाले आर्य भाषी लोगों को सदान कहा जाता है। सादरी तात्पर्य सिद्ध होता है कि गैर जनजातीय आर्य भाषी जातीय समूह और जनजातीय समूह के सम्पर्क भाषा। छत्तीसगढ़ के जशपुर अंचलों में विभिन्न जाति, जनजातियों में रौतिया, भुईहर, तेली, अहिर, चिक, घांसी, गांड़ा, कुम्हार, लोहार, नगेशिया, उरांव, मुण्डा, खड़िया आदि जातियों का वास है और ये आपस में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह सादरी भाषा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह विभिन्न जाति समुदायों का सम्पर्क भाषा है।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सादरी भाषा की साहित्यिक स्वरूप से ज्ञात होता है कि नागपुरी सादरी भाषा का काव्यों में रचना 17वीं शताब्दी में शुरू हुई। नागवंशी राजाओं और रामगढ़ के राजाओं के शासन काल के दौरान- "देवनागरी और कैथी" लिपि में कई सादरी कविताएं लिखी गई। नागवंशी राजाओं में से राजा रघुनाथ शाह एक कवि और रामगढ़ का राजा दलेल सिंह एक रचनाकार थे, जो नीरामराम मेहता द्वारा लिखित "नागवंशावली एक ऐतिहासिक कृति माना जाता है। भारत में नागवंशी समाजों का प्रचलन प्राचीनकाल से ही रहा है। भारतीय संस्कृति, धर्म और परम्परा में नाग कथा नाग पूजा, नाग नृत्य-नाट्य, नाग मंड और नाग कॉमिक्स प्रचलित है। छत्तीसगढ़ के बस्तर में भी नल और नाग वंश तथा कवर्धा के फणि-नाग पंथियों का उल्लेख मिलता है। वर्तमान में सादरी भाषा की साहित्यिक रचनाओं में मौखिक लोक साहित्य भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु लिखित साहित्य रचनाएं अप्राप्त है। मौखिक लोक साहित्य में लोक कथा, लोक नाट्य, लोक गीत, लोक पहेलियां, कहावतें, मुहावरों सादरी भाषी लोगों में प्रचलित है। जैसे कहावतें सादरी में प्रचलित है- "दातुन खने नहीं तो तोम्बा खने" अर्थात बाल्यकाल में कार्य नहीं सीख पाया तो बुढ़ापे में क्या सीख पायेगा। सादरी भाषा में लेखन कार्य नहीं हो पाया है। छत्तीसगढ़ में सादरी भाषा की मौखिक लोक साहित्य बहुतायत उपलब्ध है, किन्तु लिखित रचनात्मक कार्य की विशेष आवश्यकता है।

सरगुजिया भाषा के साथ सादरी भाषा का संबंध -

सरगुजिया सरगुजा छत्तीसगढ़ अंचल की प्रधानता हिन्दी और छत्तीसगढ़ भाषी क्षेत्र है किन्तु यहां हिन्दी में न तो खड़ी बोली व्यवहार की जाती है और न ही विशुद्ध छत्तीसगढ़ी, अपितु छत्तीसगढ़ का स्थानीय भाषी रूप सरगुजिया भाषा का व्यवहार सम्पर्क भाषा के रूप में सरगुजा अंचल में प्रयोग किया जाता है। सरगुजिया सरगुजा क्षेत्र के जनभाषा है, जिसका नामकरण भूतपूर्व इस्टिर्न स्टेट्स एजेंसी की देशी रियासत सरगुजा के नाम पर हुआ है। वस्तुतः यह केवल भूतपूर्व सरगुजा

रियासत की बोली न होकर सरगुजा समूह की पूर्ण भूत पूर्व पांच रियासतों में प्रचलित है। जिन्हे प्राचीनकाल में सामूहिक रूप से झारखण्ड के नाम से जाना जाता था। वर्तमान स्थिति के आधार पर सरगुजिया सम्पूर्ण सरगुजिया जिले एवं रायगढ़, जशपुर का कुछ भू-भाग, कोरिया तथा उदयपुर तहसील में व्यवहार की जाती है। सरगुजा एक जीवन्त भाषा है, जिसका विकास गावों से आरंभ हुआ जो कालांतर में अनेक भू-भाग में छा गई है। आदिवासी और गैर आदिवासी को आपस में मिलाने का महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यही कारण है कि सरगुजिया सरगुजा क्षेत्र में सम्पर्क भाषा के रूप में प्रचलित लोकप्रिय है। कांति कुमार जैन के अनुसार "सरगुजिया छत्तीसगढ़ी का उत्तरी बोली है जो भोजपुरी, बघेली, पलमुही, मुण्डा और कुड़ुख बोलियों के सम्पर्क एवं प्रभावों के फलस्वरूप शेष छत्तीसगढ़ी से किंचित विशिष्ट रूप धारण करने में समर्थ हुई है। सरगुजिया पर बघेली का सर्वाधिक प्रभाव चांगभखार में, भोजपुरी का प्रभाव प्रतापपुर के सीमावर्ती क्षेत्र में बिहार की पलमुही बोली का प्रभाव रामानुजगंज तहसील में तथा सादरी बोली का प्रभाव जशपुर के पाट से मैदानी भाग में प्रचलित है। सरगुजिया उत्तरी छत्तीसगढ़ी की प्रमुख बोली है। उत्तर प्रदेश और बिहार के सीमा से लगे भू-भाग पर भोजपुरी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है और अवधि का प्रभाव भी जैसे "राउर या राउरे" शब्द प्रयोग आप के लिए भोजपुरी और अवधि दोनों में किया जाता है। सरगुजिया में यह लचक के साथ क्रियापद में प्रयुक्त होता है- "रउरे मन जात रहिन"। किन्तु सादरी में "तोहरे मन जात रहला" ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है।

सरगुजा क्षेत्र की लोककला एवं लोकगीतों पर विभिन्न शोध कार्य हुए हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से सरगुजिया बोली पर शोधात्मक कार्य लगभग 40 वर्ष पहले डॉ. कांतिकुमार जैन ने शोध की कड़ी को विस्तार दिया है। इसके उपरांत लम्बे समय के अंतराल के बाद डॉ. सुधीर पाठक ने "सरगुजिया बोली व छत्तीसगढ़ भाषा की व्याकरण के तुलनात्मक अध्ययन" पर शोध कार्य किया है। साथ ही सरगुजा अंचल की सरगुजिया भाषा में लोक कला, लोकगीत, पहेली, कहावतें, मुहावरों पर निरंतर कार्य कर रहे हैं। सरगुजा के अंबिकापुर से निकलने वाली "गागर" पत्रिका सरगुजिया बोली की पहली पत्रिका है, जिसका प्रकाशन 2003 में शुरू की गई, जो आज तक अनुवरत प्रकाशित है। जिसमें लोक कलाओं का संवर्धन एवं लोक साहित्य के प्रकाशन का कार्य निरंतर कर रहे हैं। आकाशवाणी अंबिकापुर से लगातार कविता, कहानी और लोकगीतों का सरगुजिया भाषा में प्रसारण होता है। सरगुजिया भाषा के साहित्यकारों में डॉ. सुधीर पाठक, रामा राम गुप्ता, देवरत सिंह सवले, भोला प्रसाद अनाम, राजेश आदि हैं। जिनकी सरगुजिया भाषा पर कहानी, कविता, नानगी, निबंध और नाटक आदि लिखे गये हैं। डॉ. सुधीर पाठक की कहानी में सरपदेवता, आजाद तथा निबंध "माटी के आखड" सरगुजिया भाषा में प्रकाशित है। जिसमें सरगुजिया अंचल की लोककला, धार्मिक मान्यताएं, परम्पराएं और आंचलिक माटी की सौंधी महक घुला मिला है। सरगुजिया और सादरी में भाषागत साम्यता, उच्चारण में मिलता है। दोनों भाषा की शैलीगत प्रभाव एक दूसरे के समकक्ष है।

छत्तीसगढ़ी के साथ सादरी भाषा का संबंध -

छत्तीसगढ़ भाषा सादरी और सरगुजिया से काफी साम्य रखता है। छत्तीसगढ़ राज्य में बोली जाने वाली अत्यन्त मधूर एवं सरस भाषा है। यह हिन्दी के अत्यधिक निकट है, इसकी लिपि देवनागरी है। छत्तीसगढ़ी भाषा आदिवासी क्षेत्रों के भाषा हल्बी, भतरी, माड़िया, सादरी, कोरवा, उरांव आदि बोलियों में भी साम्य रखता है। छत्तीसगढ़ी एक तरह से छत्तीसगढ़ राज्य की सम्पर्क भाषा है। इसका अपना समृद्ध साहित्य और व्याकरण है। छत्तीसगढ़ी भाषा अर्धमागधी की दुहिता एवं अवधि की सहोद्रा है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य मौखिक लोक कथाओं और लोक गीतों के रूप अवश्य सुरक्षित है। छत्तीसगढ़ी शिष्ट साहित्य का प्रारंभ 20वीं शताब्दी से माना जाता है। छत्तीसगढ़ी गद्य और प्रद्य दोनों ही विधाओं में कई लेखन कार्य हो चुके तथा निरंतर गतिमान हैं। श्री हरि ठाकुर की "छत्तीसगढ़ी गीत अउ कविता", विमल कुमार पाठक की "गंवई के गीत" और "सुघ्घर गीत" आदि कविताओं का संग्रह है। छत्तीसगढ़ खण्ड काव्य में पं. सुन्दरलाल शर्मा की "दानलीला" डॉ. विनय पाठक की "सीता के दुःख", गया प्रसाद बसेड़िया का "महादेव के बिहाव" आदि कई छत्तीसगढ़ी भाषा में कवियों और साहित्यकारों की पंक्ति कटिबद्ध बलदाउ राम साहू जी की बाल कविता, कविता, कहानी आदि भी छत्तीसगढ़ी भाषा से लिखी गई है, जिसमें उन्होंने छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अंचलों की सौन्दर्य जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्राकृतिक सुन्दरता की अनुपम छटा को बिखेरा है। जैसे- इनकी कविता को देखने से स्पष्ट होता है-

अरसी सरसों खेत मा, फुले फरे मह माव
आय बसंती दिवस तब मन सबके हरसाय
सेमर परसा ला लड़े, महुआ रूख के डार

जंगल झाड़ी तुम बसौ, मैं बसौं संसार
गाये कोयल राग जब पंचम सुर मा तान
लगे देव अस्तुति अउर, गीत लगे अभियान।।

छत्तीसगढ़ी गद्य साहित्य की विकास यात्रा में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, पत्रकारिता और समीक्षा साहित्य की लम्बी कतार है। पत्रकारिता में "छत्तीसगढ़ी" मासिक, त्रैमासिक, "भोजली", लोकाक्षर, मड़ई, मयारूमाटी आदि पत्रिका समय समय पर निकलते हैं। कहानी लेखन में "चन्दा के कहिनी, ढोला की कहिनी, हीरू की कहिनी को लखन लाल गुप्ता की "सरंग ले डोला आईस, उर्मिला शुक्ल की "गोदना के फुल" माटी कहे कुम्हार से, डॉ. पालेश्वर शर्मा की "सुसक झन कुकरी सुरता ल, तिरिया जनम झनि देय आदि हैं। छत्तीसगढ़ी उपन्यास में "मोगरा" शिवशंकर शुक्ल कृत चंदा अमरित बरसाईस लखन लाल गुप्ता कृत कृति हैं। नाटक में "साहूकार से छुटकारा, किसान की कलाई, बेटवा बिहाव आदि हैं। इस प्रकार देखा जाए तो छत्तीसगढ़ी भाषा की साहित्यक यात्रा की परम्परा लम्बी और समृद्धता को प्राप्त कर रही है। जिसमें साहित्यकारों ने अपनी लोकभाषा छत्तीसगढ़ी से ग्राम्य सुलभ सौंदर्य, अभावों में जन्मी कड़वाहट, भोले-भाले ग्रामीणों के जीवन संघर्ष और पीड़ा को अपनी रचना में चित्रित किया है। विदित हो कि विद्यालयों, विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी छत्तीसगढ़ी भाषा में रचित साहित्य को लागू किया गया है। सादरी भाषा नई शिक्षा नीति के पाठ्यक्रम के अंतर्गत स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रमों में कहानी, कविता, कहावतें, मुहावरें, पहेलिया आदि भी शामिल किया जा रहा है। खासकर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में बच्चों को अपनी मातृभाषा की जानकारी हेतु पाठ्यक्रम में पढ़ाया जायेगा।

छत्तीसगढ़ की भाषा में सादरी, कोरवा, सादरी, सरगुजिया और छत्तीसगढ़ी भाषा का पर्याप्त साम्य नजर आता है। जो एक दूसरे के साथ घुले मिले प्रतीत होते हैं। जैसे कि छत्तीसगढ़ी, सरगुजिया और सादरी भाषा के शब्दों को देखने से स्पष्ट होता है।

सादरी	सरगुजिया	छत्तीसगढ़ी
मोंय जाथों	मैं जात आहों	मैं जात हों
तोय जाबे	ते जाइबे	तैं जाबो
मोके दे	मोला दे	मोहूं ला दे
तोहे मन जाइहो	राउरे मन जाइहो	तुमन जाबो

इस प्रकार छत्तीसगढ़ की भाषा सादरी सरगुजिया और छत्तीसगढ़ी के शब्द में साम्यता है। उच्चारणगत कुछ अन्तर तो अवश्य है किन्तु काफी हद तक भाषा का समायोजन लगभग करीब प्रतीत हुए हैं। बोली की विभिन्नता के बावजूद छत्तीसगढ़ी अपने अंचल की उदात परिवेश में सादरी और सरगुजिया भाषा को भी पुष्ट करता है। लेकिन छत्तीसगढ़ की विविध भाषा बोलियों को सहेजने और समेटने की नितांत आवश्यकता है। सरगुजिया भाषा पर कार्य चल रहे हैं किन्तु उन्हें और अत्यधिक विस्तृत रूप में गति देना बाकी है तथा सादरी भाषा की लोक साहित्य को सहेजकर लिपिबद्ध करना और सादरी भाषा में साहित्य का सृजन करना हम बुद्धिजीवियों का परम कर्तव्य और आवश्यकता है।

संदर्भ -

1. दुबे, व्यास नारायण. *छत्तीसगढ़ी जनभाषा*. न्यू छत्तीसगढ़ी अकादमी, रायपुर; पंडित रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, पृ. 30.
2. दुबे, व्यास नारायण. *छत्तीसगढ़ी जनभाषा*. न्यू छत्तीसगढ़ी अकादमी, रायपुर; पंडित रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, पृ. 31.
3. *बिहनिया* (त्रैमासिक), मार्च 2002, संस्कृति विभाग, छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर, पृ. 5.
4. *बिहनिया* (त्रैमासिक), मार्च 2002, संस्कृति विभाग, छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर, पृ. 6.
5. *बिहनिया* (त्रैमासिक), मार्च 2002, संस्कृति विभाग, छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर, पृ. 22.
6. शुक्ल, उर्मिला. *गोदना के फुल*. छत्तीसगढ़ी साहित्य परिषद, कुदुदंड, बिलासपुर.
7. शुक्ल, उर्मिला. *माटी कहे कुम्हार से*. वैभव प्रकाशन, रायपुर, पृ. 240.
8. चन्द्राकर, नवीन. *छत्तीसगढ़ इनसाइड स्टडी*. वैभव प्रकाशन, रायपुर, पृ. 240.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 08.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

विनोद कुमार शुक्ल की रचनाओं में भाषा शैली

अर्चना पांडये*

archanapandey172@gmail.com

भाषा में शपथ लेता हूँ
कि मैं किसी भी भाषा का
अपमान नहीं करूँगा
और मेरी मातृ भाषा
हर जन्म में बदलती रहे
इसके लिए मैं बार-बार
जन्म लेता रहूँ -
यह मैं जीव-जगत से कहता हूँ
चिड़ियों, पशुओं, कीट-पतंगों से भी।

समकालीन हिंदी लेखकों में एक महान व्यक्तित्व, जिन्होंने बिना किसी आकांक्षा के ही राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कई सर्वोच्च सम्मान प्राप्त किए, उनकी आवाज़ आने वाले लंबे समय तक एक महत्वपूर्ण शक्ति बनी रहेगी। रचना किसी भी रचनाकार का सबसे बड़ा परिचय हुआ करती है। इसलिए लेखन की शुरुआत में ही, मुक्तिबोध और परसाई के सानिध्य से विनोदकुमार शुक्ल को जो सही दिशा-बोध मिला था। श्री अशोक बाजपेयी भारतीय प्रशासनिक सेवा के दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी राष्ट्रीय क्षितिज पर कवि और समीक्षक के रूप में एक प्रख्यात व्यक्तित्व हैं। जब वे छत्तीसगढ़ परिक्षेत्र में जिलाधीश के रूप में कार्यरत थे उन्हीं दिनों उन्होंने 'पहचान' सीरिज निकाली थी जिसके माध्यम से उन्होंने एक युवा कवि-समीक्षक के रूप में समकालीन कविता के रचनाकारों मुक्तिबोध, कमलेश, धूमिल, विनोदकुमार शुक्ल आदि की काव्य विशेषताओं को सही रोशनी में रखने और परखने का जरुरी मुहावरा दिया। इन विद्वानों के साहचर्य और प्रेरणा के कारण ही विनोदकुमार शुक्ल हिंदी साहित्य में एक श्रेष्ठ कवि, कहानीकार और उपन्यासकार बन गये।

विनोद कुमार शुक्ल के संपूर्ण कवि कर्म में भाषा की चिन्ता महत्वपूर्ण प्रश्न है। वे भाषा की असाध्य अवस्था पर खीजते हैं। शुक्ल जी भाषा की अभिव्यक्ति की अक्षमताओं पर झुंझलाते भी हैं, विकल्प हेतु नई सर्जना करने में भी वे पीछे नहीं रहे। उन्होंने हिन्दी कविता की भाषा की सहजता को छेड़े बिना उसमें सर्वधा नये मुहावरों का प्रयोग किया है। भाषा में पुराने से पड़ गये शब्दों में बिल्कुल नयी अर्थ व्यंजना का समावेश, शब्दों की और कहीं-कहीं वाक्यों की व्यंग्य और करुणा के सम्मिलन हेतु पुनरावृत्ति और बहुत थोड़े से शब्दों में बहुत सी बातें कह जाना तथा शब्दों के एक समूह द्वारा सर्वथा नये अर्थ की ध्वनि उत्पन्न करना ही भाषा का वह विशिष्ट मुहावरा है जिसका प्रयोग विनोद कुमार शुक्ल जी की पहचान माना जाता है। उनकी सारी कविताओं में शायद ही कोई शब्द हो जो असाधारण हो या दूर की कौड़ी लगता हो। भाषा की अभिव्यक्तिगत अक्षमता और नये कवि की विफलता के संदर्भ में शुक्ल जी द्वारा भाषा के नये मुहावरों की खोज समकालीन कविता के मध्य में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

विनोद कुमार शुक्ल की भाषा, पाठक से आत्मीय रिश्ता कायम करती हुई अनुभूति की हर परत को उखाड़ कर रख देती है। कई बार तो पाठक यही अनुभव करता है कि यह कथ्य ही भाषा बन गयी है। उन्होंने अपने अनुभव को व्यक्त करते

* **हिंदी शोधार्थी, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद**

समय शब्द-शब्द को तौला है। उसकी अनंत छवियों को टटोला है और उसके रंगों व ध्वनि संकेतों को पहचाना है। इस प्रक्रिया में कहीं तत्सम और परिष्कृत शब्द उनके सामने आये हैं तब कहीं अंग्रेजी, उर्दू और दैनिक जीवन में प्रयोग आने वाले शब्द तो कहीं चिर-परिचित शब्द भी नये अर्थ के वाहक बन कर आये हैं, और कहीं अभिप्रेत शब्दों का सहारा पाकर विनोद जी की सृजन क्षमता कई गुणा बढ़ गई है।

शुक्ल औपन्यासिक संरचना में शब्दो से खेलते हैं, जो शाब्दिक तो है, लेकिन भाषिक नहीं है। उनकी भाषा में बिंब और दृश्य शब्द-दर-शब्द दिखाई पड़ते हैं। भाषा इन बिंबों व दृश्यों को चाक्षुष बनाने का एक माध्यम है। यह शाब्दिक खेल और भाषायी कौशल उनके बाद के दोनों उपन्यासों 'खिलेगा तो देखेंगे' और 'दीवार में एक खिड़की रहतीं थी' चरम पर है। यही नहीं, उनके उपन्यासों में राजनीति पूरी तरह निर्वासित है। राजनीति का यह निर्वासन और मूर्त स्थितियों का अमूर्तन ही उनके उपन्यासों की कलात्मक उपलब्धि है।

विनोद कुमार शुक्ल भाषा के संबंध में स्वयं कहते हैं कि "कहानी की भाषा या कविता की भाषा अलग नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि कहानी में आया हुआ आदमी अलग है और कविता में आया हुआ मनुष्य। परन्तु यह तो कविता में कहानी उसी तरह हो सकती है, जिस तरह कहानी में कविता। और मैंने यह हर जगह महसूस किया है कि गद्य में कविता बार-बार दिखाई देती है और हो जाती है। कविता में केवल कविता कुछ कठिन है। गद्य का अगर कहीं लम्बा रास्ता तय करना है जो कहानी या उपन्यास में होता है, और अगर यह धूप है तो रास्ते की छांव कविता के नीम के पेड़ से कहीं-कहीं मिल जाती है।"[1]

आमतौर पर विनोद जी की भाषा बोलचाल की भाषा है और वह उनके आस पास फैले परिवेश की देन है। उसमें ऐसे शब्द अधिक हैं, जो जिदंगी की भाषा का निर्माण करते हैं। विनोद कुमार शुक्ल जी बार-बार यह महसूस करते रहे हैं कि परिवेश की सही व्यंजना और उसमें उभरती स्थितियों और उनसे जुड़े मानवीय भावों, मनोभावों, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं के संप्रेषण के लिए भाषा की शक्तियों का सही इस्तेमाल किया जाये। उनकी कविता में साधारण शब्द भी गहरी संवेदना एवं अर्थ लेकर आया है। इतने संवेदनशील और महत्वपूर्ण कवि होने के बावजूद भी विनोद जी की कविता में आत्मगौरव या आत्ममुग्धता बिल्कुल भी नहीं मिलती। वे किसी आत्मवंचना के लिए नहीं लिखते बल्कि आसपास के संघर्ष भरे जीवन को समूची ऐन्द्रियता के साथ स्पर्श करने के लिए कविता के पास जाते हैं इसीलिए उनकी कविता खुद उनके ऊपर भी उँगली उठा पाती है जैसा कि उनकी इन्हीं विशेषताओं पर अशोक वाजपेयी ने लिखा है- "विनोद कुमार शुक्ल का काव्य निर्मोह का काव्य है, जो जैसे अपने काव्य होने के प्रति भी कोई मोह नहीं पालता और उनके चारित्रिक मसखरेपन से, अपने काव्य होने पर भी, स्वयं प्रश्न-चिह्न लगाता चलता है।"[2]

हिंदी साहित्य में विनोद कुमार शुक्ल की भाषा में सादगी, संवेदना की गहराई और जीवन की साधारण दिखने वाली लेकिन असाधारण चमक सामने आ जाती है। वे उन विरल रचनाकारों में थे जिन्होंने शोर से दूर रहकर, बहुत धीमी आवाज़ में, पाठक के भीतर गूंजने वाली बातें कही। उनकी कविता और गद्य में रोज़मर्रा का जीवन पूरे आदर के साथ उपस्थित है - घर, रास्ते, पेड़, हवा, पड़ोस, और मन के छोटे-छोटे भाव। उन्होंने शब्दों को सजाया नहीं, बल्कि उन्हें वैसा ही रहने दिया जैसा वे जीवन में होते हैं। शायद इसी कारण उनकी रचनाएँ पढ़ते हुए लगता है कि हम कोई साहित्य नहीं, बल्कि अपना ही जीवन पढ़ रहे हैं।

विनोद कुमार शुक्ल का साहित्य हिंदी भाषा के भीतर एक ऐसी अंतर्दृष्टि प्रदान करता है जिसमें विचार, संवेदना और मौन का अनूठा समागम है। यह शोध स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि उनके लेखन में केवल वर्णनात्मकता ही नहीं, बल्कि भाषा के गहनतम स्तरों पर अनुभूति और अस्तित्व के प्रश्न उठाए जाते हैं। जो एक काव्य-कर्म है। उनका साहित्य पाठक के भीतर एक ध्वनि उत्पन्न करता है, जो शब्दों से परे है। उनकी भाषा किसी ऊँचे मंच से नहीं आती। वह पास के कमरे से आती है, जहाँ कोई धीमे स्वर में अपने आप से बात कर रहा होता है। वहाँ शब्द बहुत कम होते हैं, लेकिन हर शब्द अपने साथ एक पूरा समय लेकर आता है। उनकी कविता में मौन भी बोलता है, और बोलना भी एक तरह का मौन हो जाता है। यही वह जगह है जहाँ पाठक रुक जाता है और बिना यह जाने कि वह क्यों रुक गया। विनोद कुमार शुक्ल की कविता हमें यह भरोसा देती है कि साधारण होना कोई कमजोरी नहीं है। एक आदमी का पैदल चलना, एक स्त्री का चुपचाप बैठना, एक बच्चे का बिना वजह हँस देना- ये सब उनके यहाँ बड़े अर्थ रचते हैं, बिना घोषणा किए। उनकी दृष्टि में दुनिया को बदलने की जल्दबाज़ी नहीं हैं; पहले

उसे समझने की विनम्रता है। विनोद कुमार शुक्ल ने हिन्दी उपन्यास के शिल्प में भाषा का नया रूप दिया है। यह भाषा सहज सरल लगती है।

विनोद कुमार शुक्ल के लेखन की बड़ी विशेषता है अमूर्त में मूर्त की कल्पना। अर्थात् निरपेक्ष विषयों या वस्तुओं को भी सापेक्ष रूप में प्रस्तुत करना। विनोद जी के उपन्यास सतही संरचना की कथा न बुनकर, गहरी कसावटमयी शब्द क्रीडाएं द्वारा यथार्थ को अंतर्निहित करते हैं। उन्होंने अपने इस उपन्यास में एक ठोस दाम्पत्य प्रेम को 'यथार्थ में सुख की लय' की कल्पना में गुंथा-पिरोया है। जिसकी मूर्त कल्पना प्रत्येक पाठक करता है। इस तरह विनोद जी निरपेक्ष विषयों को सापेक्ष रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यही उनकी सृजनात्मक कलात्मकता है। उनकी इसी कलात्मक दृष्टि को रेखांकित करते हुए योगेश तिवारी अपनी पुस्तक 'विनोद कुमार शुक्लः 'खिड़की के अंदर और बाहर' में लिखते हैं:- "विनोद जी के लेखन में 'कला' तो है पर सिर्फ कला ही नहीं है और भी बहुत कुछ है। जीवन का यथार्थ है। यथार्थ को देखने की एक नई दृष्टि और नया दृष्टिकोण है। सूक्ष्म और पैनी दृष्टि।"[3] विनोद जी की इसी सृजनात्मक कलात्मकता को रेखांकित करता उपन्यास का ये अंश देखते बनता है- "जो दिख रहा था वह दिन के आरंभ की भर्ती थी। वे (रघुवर प्रसाद) हाजिरी ले रहे थे। उन्होंने सूर्य कहा हो और कुछ चढ़ आए सूर्य ने उपस्थित कहा हो। सूर्य का उपस्थित कहना रघुवर प्रसाद के ऊपर सुबह की धूप का पड़ना था।"[4]

निष्कर्ष

जनजीवन को कविताओं में उकेरने वाले कवि विनोद कुमार शुक्ल प्रेम और प्रकृति के कवि हैं. वे सीधे सरल शब्दों में जादुई बातें कहने में ऐसे माहिर हैं, जो नदी, पहाड़, घाटी से लेकर 'सबसे गरीब आदमी' को अपनी कविता में समेट लेते हैं. उनके बारे में कहा जाता है कि वे शिल्प सजग कवि भी हैं, उनकी काव्य भाषा, शिल्प और कथन के दीवाने लोग उन्हें शब्दों का जादूगर मानते हैं। इस यथार्थवादी शैली की एक धारा जादुई यथार्थवाद है। जादुई यथार्थवाद ऐसी साहित्यिक विधा है जिसमें वास्तविकता और जादुई कल्पना या अलौकिक बातों को इस तरह मिलाया जाता है कि दोनों एक साथ सामान्य लगते हैं। इस तरह से यह न तो पूरी तरह कल्पना होती है, न ही सिर्फ सच। जादुई यथार्थवाद लेखन शैली यथार्थवादी विधि से हटकर अपने में प्रतीक, बिंब, कल्पना, स्वप्न, लोक विश्वास, लोक मान्यताएँ, मिथक, भूत-प्रेत आदि को समाविष्ट कर एक ऐसे लोक का चित्रण करती है, जो देखने में भले ही जादुई लगे मगर उसका कथ्य यथार्थ ही होता है। ऐसे साहित्य के पात्रों की रोजमर्रा की दुनिया में जादुई घटनाएँ होती हैं और उन्हें असामान्य नहीं माना जाता। इस शैली की मदद से लेखक समाज, संस्कृति या इतिहास की गहरी सचाई को दिखाने का प्रयास करता है, जैसे-जादुई यथार्थवादी शैली में नायक उड़ने लगता है या मरे हुए लोग भी आम जिंदगी का हिस्सा होते हैं। वे अपने उपन्यासों 'नौकर की कमीज़', 'दीवार में एक खिड़की रहती थी', 'खिलेगा तो देखेंगे' और कविताओं 'सब कुछ होना बचा रहेगा', 'लगभग जय हिंद' में रोज़मर्रा की जिंदगी को असाधारण ढंग से प्रस्तुत करते हैं, जिसमें जादुई यथार्थवाद के तत्त्व दिखते हैं। शुक्ल के लेखन में वास्तविकता और जादुई या असाधारण तत्त्व इस तरह मिलते हैं कि वे सामान्य लगते हैं। यह जादू न तो पूरी तरह कल्पना है, न ही रहस्यवाद। उनके साहित्य के जादुई तत्त्व समाज और इंसान की भावनाओं को लेकर आते हैं। उनकी रचनाओं में संवेदनशीलता का अनूठा जादू है, जो पाठकों को रोजमर्रा की दुनिया को नए ढंग से देखने के लिए प्रेरित करता है। शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता उनकी भाषा की सादगी है।

संदर्भ :-

1. अग्रवाल, महावीर, संपा. *सापेक्ष*, अंक 51, जुलाई 2009–जून 2010, पृ. 642.
2. अशोक वाजपेयी. *कुछ पूर्वग्रह*. पृ. 37.
3. तिवारी, योगेश. *विनोद कुमार शुक्ल: खिड़की के अन्दर और बाहर*. राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, 2013, पृ. 58.
4. विनोद कुमार शुक्ल. *दीवार में एक खिड़की रहती थी*. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 123.

Received: 09.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

बाल अपराध के रोकथाम में शिक्षा एवं परिवार की भूमिका: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. नीलिमा नागर*

neelimaaman02@gmail.com

सारांश

यह शोध पत्र बाल अपराध की रोकथाम में शिक्षा एवं परिवार की भूमिका का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है, विशेष रूप से भारतीय संदर्भ को केंद्र में रखते हुए। बाल अपराध को केवल विधिक समस्या के रूप में नहीं, बल्कि समाजीकरण, संरचनात्मक असमानता, पारिवारिक विघटन, शैक्षिक बहिष्करण, सहकर्मी प्रभाव, और सामुदायिक नियंत्रण की जटिल अंतःक्रिया के रूप में समझा गया है। अध्ययन का उद्देश्य यह विश्लेषित करना है कि शिक्षा और परिवार किस प्रकार बाल अपराध के जोखिम को कम करते हैं, तथा किन परिस्थितियों में उनकी रोकथामकारी क्षमता कमजोर पड़ जाती है। शोध पत्र द्वितीयक स्रोतों, समाजशास्त्रीय सिद्धांतों, भारतीय विधिक प्रावधानों, और उपलब्ध शैक्षिक तथा सामाजिक रिपोर्टों पर आधारित एक वैचारिक-विश्लेषणात्मक अध्ययन है। विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि विद्यालयी जुड़ाव, नैतिक शिक्षा, जीवन-कौशल, सकारात्मक सहकर्मी संस्कृति, अभिभावकीय निगरानी, भावनात्मक समर्थन, तथा परिवार-विद्यालय समन्वय बाल अपराध के विरुद्ध प्रमुख सुरक्षात्मक कारक हैं। इसके विपरीत, गरीबी, घरेलू हिंसा, विद्यालय छोड़ना, निम्न-गुणवत्ता वाली शिक्षा, सामाजिक बहिष्करण, और कमजोर सामुदायिक संरचनाएँ किशोरों को अपराध-संबद्ध व्यवहार की ओर धकेल सकती हैं। भारतीय संदर्भ में यह प्रश्न वर्ग, जाति, लिंग, शहरीकरण, प्रवासन, और संस्थागत असमानताओं से गहराई से जुड़ा हुआ है। शोध पत्र निष्कर्षतः यह प्रतिपादित करता है कि बाल अपराध की प्रभावी रोकथाम के लिए दंडात्मक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है; अपितु परिवार-सुदृढ़ीकरण, समावेशी शिक्षा, समुदाय-आधारित हस्तक्षेप, और पुनर्वास-उन्मुख नीति ढाँचे की आवश्यकता है।

मुख्य शब्द:

बाल अपराध, शिक्षा, परिवार, समाजीकरण, भारतीय समाज, किशोर न्याय, सामाजिक नियंत्रण

परिचय

बाल अपराध समकालीन समाज की एक जटिल सामाजिक समस्या है, जिसका प्रभाव केवल विधिक व्यवस्था तक सीमित नहीं रहता, बल्कि परिवार, शिक्षा, समुदाय, और व्यापक रूप से सामाजिक संरचना पर भी पड़ता है। भारतीय विधिक संदर्भ में "बाल अपराध" की चर्चा प्रायः उन किशोरों के लिए की जाती है जो "कानून के साथ संघर्ष की स्थिति में" पाए जाते हैं (Ministry of Law and Justice, 2015)। समाजशास्त्रीय रूप से यह अवधारणा ऐसे व्यवहारों को समेटती है जो सामाजिक मानदंडों, विधिक प्रावधानों, या संस्थागत अपेक्षाओं के विरुद्ध जाते हैं और जिनमें किशोर संलिप्त पाए जाते हैं।

वैश्विक साहित्य यह स्थापित करता है कि किशोर अपराध को केवल व्यक्तिगत चरित्र-दोष, जैविक प्रवृत्ति, या मनोवैज्ञानिक विचलन से नहीं समझा जा सकता; यह सामाजिक विघटन, अवसर-असमानता, कमजोर सामाजिक बंधन, दोषारोपण, और नकारात्मक समाजीकरण प्रक्रियाओं से भी निर्मित होता है (Becker, 1963; Hirschi, 1969; Shaw &

* **एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय, उन्नाव**

McKay, 1942)। भारतीय संदर्भ में यह प्रश्न और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि यहाँ बच्चों और किशोरों का जीवन वर्ग, जाति, लिंग, शहरी-ग्रामीण विभाजन, पारिवारिक संरचना, विद्यालयी गुणवत्ता, और राज्यीय समर्थन की असमानताओं से प्रभावित होता है। National Crime Records Bureau की रिपोर्टें यह संकेत करती हैं कि किशोरों की अपराध-संबद्ध संलिप्तता एक स्थायी सार्वजनिक चिंता बनी हुई है, जिसका समाधान केवल पुलिसिंग और दंड से संभव नहीं है (National Crime Records Bureau [NCRB], 2023)।

इस अध्ययन का केंद्रीय तर्क यह है कि शिक्षा और परिवार 'बाल अपराध' की रोकथाम के दो सबसे महत्त्वपूर्ण समाजीकरण तंत्र हैं। परिवार बच्चे को प्रारंभिक स्तर पर भावनात्मक सुरक्षा, अनुशासन, मूल्य, और सामाजिक पहचान प्रदान करता है, जबकि शिक्षा उसे व्यापक सामाजिक जीवन, नियमबद्धता, नैतिक मानदंड, वैध अवसर, और सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ती है। जब ये दोनों संस्थाएँ प्रभावी, समन्वित, और समावेशी ढंग से कार्य करती हैं, तब वे बाल अपराध के विरुद्ध सुरक्षात्मक ढाँचा निर्मित करती हैं। इसके विपरीत, जब परिवार तनावग्रस्त, हिंसात्मक, या विघटित हो तथा विद्यालय बहिष्करणकारी, निम्न-गुणवत्ता वाला, या संवेदनहीन हो, तब अपराध-जोखिम बढ़ सकता है।

उद्देश्य :-

1. बाल अपराध की रोकथाम में शिक्षा की भूमिका का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना।
2. पारिवारिक संरचना, पालन-पोषण, और अभिभावकीय समर्थन के प्रभाव का परीक्षण करना।
3. शिक्षा और परिवार के परस्पर संबंध को भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में समझना।
4. नीति, समाज, और शैक्षिक संस्थानों के लिए रोकथाम-उन्मुख सुझाव प्रस्तुत करना।

शोध प्रविधि :

यह शोध पत्र एक गुणात्मक, वैचारिक एवं द्वितीयक स्रोत-आधारित अध्ययन है। इसमें प्राथमिक क्षेत्रीय सर्वेक्षण या साक्षात्कार का उपयोग नहीं किया गया है; बल्कि समाजशास्त्रीय सिद्धांतों, पुस्तक-आधारित साहित्य, समीक्षित शोध लेखों, सरकारी रिपोर्टों, कानूनी दस्तावेजों, तथा भारतीय शिक्षा और परिवार-संबंधी प्रासंगिक स्रोतों का विश्लेषण किया गया है। आगे के अनुभागों में साहित्य समीक्षा, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, शिक्षा और परिवार की भूमिका, भारतीय संदर्भ, पद्धति, निष्कर्ष, तथा सुझावों पर क्रमशः चर्चा की गई है। यह पद्धति विषय की अवधारणात्मक गहराई को समझने और भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक समेकित अकादमिक निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए उपयुक्त है।

साहित्य समीक्षा

बाल अपराध पर उपलब्ध साहित्य यह इंगित करता है कि इसकी रोकथाम में शिक्षा और परिवार की भूमिका केंद्रीय है। Bronfenbrenner (1979) के पारिस्थितिक तंत्र सिद्धांत (ecological framework Theory) के अनुसार बालक का विकास कई स्तरों की सामाजिक संरचनाओं से प्रभावित होता है, जिनमें परिवार और विद्यालय सबसे निकटस्थ संस्थाएँ हैं। इसी प्रकार Hirschi (1969) ने सामाजिक बंधनों को विचलन-निरोधक माना और तर्क दिया कि परिवार और विद्यालय से मजबूत जुड़ाव किशोरों को अपराध तथा नियमों के उल्लंघन से बचाते हैं।

शिक्षा पर आधारित साहित्य से स्पष्ट है कि विद्यालयी जुड़ाव, शैक्षिक उपलब्धि, शिक्षक-समर्थन, और जीवन-कौशल आधारित अधिगम किशोर विचलन को कम करते हैं। विद्यालयी विफलता, बार-बार अनुपस्थिति, और ड्रॉपआउट किशोरों को नकारात्मक सहकर्मी समूहों के प्रभाव में अधिक संवेदनशील बना सकते हैं (Maguin & Loeber, 1996)। Bandura (1977) के सामाजिक अधिगम सिद्धांत के अनुसार बच्चे व्यवहार को अनुकरण और अवलोकन से सीखते हैं; अतः विद्यालय यदि सकारात्मक, समावेशी और सम्मानजनक हो तो वह व्यवहार-संशोधन का शक्तिशाली माध्यम बन सकता है।

पारिवारिक भूमिका पर साहित्य यह दर्शाता है कि अभिभावकीय निगरानी, भावनात्मक लगाव, संवाद, और संतुलित अनुशासन किशोर अपराध के विरुद्ध सुरक्षात्मक कारक हैं। Bowlby (1969) ने लगाव के महत्व को रेखांकित किया, जबकि Baumrind (1991) ने पाया कि authoritative parenting, जिसमें स्नेह और अनुशासन का संतुलन होता है, बच्चों के स्वस्थ सामाजिक विकास में सहायक होता है। Patterson, DeBaryshe, और Ramsey (1989) ने coercive family process की अवधारणा के माध्यम से दिखाया कि परिवार के भीतर हिंसा, धमकी, और असंगत अनुशासन असामाजिक व्यवहार को बढ़ा सकते हैं।

भारतीय संदर्भ में शिक्षा और परिवार दोनों की भूमिका विशेष महत्व रखती है। ASER Centre (2023) की रिपोर्टें यह दर्शाती हैं कि विद्यालयों में प्रवेश बढ़ने के बावजूद अधिगम-परिणामों की असमानता अभी भी गंभीर समस्या है। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल नामांकन पर्याप्त नहीं है; शिक्षा की गुणवत्ता और विद्यालय का सामाजिक वातावरण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार NFHS-5 के निष्कर्ष घरेलू हिंसा, सामाजिक असमानता, और पारिवारिक तनाव की उपस्थिति की ओर संकेत करते हैं, जिनका प्रभाव बच्चों के मनोसामाजिक विकास पर पड़ सकता है (International Institute for Population Sciences [IIPS] & ICF, 2021)।

डॉ. भीमराव रामजी अंबेडकर के अनुसार 'शिक्षा' सामाजिक परिवर्तन, समानता और मानव मुक्ति का सबसे प्रभावी साधन है। उनका प्रसिद्ध आह्वान— "शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो।" —केवल व्यक्तिगत उन्नति का संदेश नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय और उत्तरदायी नागरिक निर्माण का आधार भी है (Ambedkar, 2003)। अंबेडकर का मानना था कि शिक्षा व्यक्ति में विवेक, आत्मसम्मान तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास करती है, जिससे अपराध की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण संभव होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह विचार स्पष्ट करता है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और समान अवसर बच्चों को सामाजिक विचलन (Social Deviance) एवं अपराध की ओर जाने से रोकने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

सावित्रीबाई फुले ने शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का सबसे प्रभावी माध्यम माना। उनका विश्वास था कि शिक्षा व्यक्ति में ज्ञान, आत्मसम्मान और नैतिक चेतना का विकास करती है। उनके विचार में अशिक्षा सामाजिक विषमता, शोषण और अनेक सामाजिक बुराइयों की जड़ है (Mali, 1980)। उन्होंने विशेष रूप से बालकों एवं बालिकाओं की समान शिक्षा पर बल दिया तथा परिवार और विद्यालय को बालक के नैतिक एवं सामाजिक विकास की प्रथम संस्थाएँ माना। उनका यह दृष्टिकोण बाल अपराध की रोकथाम में परिवार और शिक्षा की संयुक्त भूमिका को रेखांकित करता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "शिक्षा मनुष्य में निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है।" (Vivekananda, 2006)। उनका मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि व्यक्तित्व, चरित्र एवं नैतिक मूल्यों का विकास करना है। परिवार और विद्यालय दोनों मिलकर बच्चों में आत्मानुशासन, आत्मविश्वास तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास करते हैं, जो बाल अपराध की रोकथाम में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने शिक्षा को नैतिक चेतना, मानवीय मूल्यों तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के विकास का माध्यम माना। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना प्रदान करना नहीं, बल्कि ऐसे उत्तरदायी नागरिक तैयार करना है जो समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर सकें (Radhakrishnan, 1944)। उनके विचारों के अनुसार मूल्यपरक शिक्षा बाल अपराध की रोकथाम के लिए एक प्रभावी सामाजिक उपकरण है।

इस साहित्य से एक मुख्य निष्कर्ष निकलता है: बाल अपराध की रोकथाम में शिक्षा और परिवार अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर जुड़े तंत्र हैं। परिवार-विद्यालय साझेदारी, सामुदायिक समर्थन, और समावेशी सामाजिक नीतियाँ इन दोनों की प्रभावशीलता को बढ़ाती हैं।

शिक्षा की भूमिका

बाल अपराध की रोकथाम में शिक्षा की भूमिका बहुआयामी है। विद्यालय बच्चे को न केवल साक्षर बनाता है, बल्कि उसे सामाजिक मानदंड, समूह-व्यवहार, अनुशासन, आत्म-नियंत्रण, और जीवन के वैध अवसरों से भी जोड़ता है।

शिक्षा की भूमिका को औपचारिक, अनौपचारिक, संरचनात्मक, और रोकथामकारी कार्यक्रमों के स्तर पर समझा जा सकता है।

विद्यालय बालक के लिए परिवार के बाद दूसरी प्रमुख समाजीकरण संस्था है। नियमित उपस्थिति, शिक्षक-विद्यार्थी संबंध, अकादमिक समर्थन, और सह-पाठयक्रमीय सहभागिता बच्चों को सकारात्मक दिनचर्या और सामाजिक पहचान प्रदान करती है। जो बच्चे स्कूल से जुड़े रहते हैं, वे अपेक्षाकृत कम समय असंरचित और जोखिमपूर्ण गतिविधियों में व्यतीत करते हैं। विद्यालय से विच्छेदन, निरंतर असफलता, और बहिष्करण उन्हें अपराध-प्रवण वातावरण के निकट ला सकते हैं (Maguin & Loeber, 1996)।

ज्योतिराव फुले का मानना था कि शिक्षा सामाजिक समानता और न्याय की आधारशिला है। उनका प्रसिद्ध कथन— "विद्या बिना मति गई, मति बिना नीति गई, नीति बिना गति गई, गति बिना वित्त गया, वित्त बिना शूद्र टूटे; इतने अनर्थ एक अविद्या ने किए।" —अशिक्षा के व्यापक सामाजिक दुष्परिणामों को स्पष्ट करता है (Phule, 1873/1991)। उनके विचारों के अनुसार शिक्षा से वंचित बच्चे सामाजिक एवं आर्थिक वंचनाओं का अधिक सामना करते हैं, जिससे उनके विचलित व्यवहार और अपराध की ओर अग्रसर होने की संभावना बढ़ सकती है।

नैतिक शिक्षा, खेल, कला, परामर्श, नेतृत्व-प्रशिक्षण, संघर्ष-समाधान, और सामाजिक-भावनात्मक अधिगम बाल अपराध-निरोधी रणनीतियों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। Bandura (1977) के अनुसार व्यवहार सीखने की प्रक्रिया सामाजिक है; अतः सकारात्मक रोल मॉडल और समूह-गतिविधियाँ किशोरों में वैकल्पिक, रचनात्मक पहचान का विकास कर सकती हैं।

भारतीय संदर्भ में शिक्षा की पहुँच बढ़ी है, पर गुणवत्ता, समावेशन, और अधिगम का प्रश्न अभी भी गंभीर है (ASER Centre, 2023)। कमजोर आधारभूत कौशल, भीड़भाड़ वाले कक्षा, शिक्षक-अभाव, परामर्श सेवाओं की कमी, और परीक्षा-केंद्रित संस्कृति बच्चों को विद्यालय से भावनात्मक रूप से काट सकती है। ऐसी शिक्षा अपराध-रोकथाम की क्षमता को सीमित कर देती है।

स्कूल-आधारित रोकथाम कार्यक्रम

विश्व स्तर पर और भारतीय संदर्भ में विद्यालय आधारित कार्यक्रम—जैसे जीवन-कौशल शिक्षा, नशा-रोधी शिक्षा, मानसिक स्वास्थ्य परामर्श, एंटी-बुलिंग रणनीतियाँ, और restorative discipline—अपराध-जोखिम कम करने में प्रभावी माने गए हैं। भारत में National Education Policy 2020 ने समग्र शिक्षा, सामाजिक-भावनात्मक अधिगम, और 21वीं सदी के कौशलों पर बल दिया है (Ministry of Education, 2020)। यदि इसे विद्यालयी व्यवहार-प्रबंधन और किशोर समर्थन से जोड़ा जाए, तो इसका बाल अपराध-निरोधी प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

भारतीय शिक्षा प्रणाली में कई संरचनात्मक चुनौतियाँ बाल अपराध की रोकथाम को प्रभावित करती हैं। जैसे - ड्रॉपआउट और अनियमित उपस्थिति, शहरी-ग्रामीण असमानता, जाति, वर्ग, लिंग और भाषा आधारित बहिष्करण, विद्यालयी परामर्श एवं मनोसामाजिक सेवाओं की कमी।

अतः शिक्षा की भूमिका तभी प्रभावी होगी जब उसे अधिकार-आधारित, समावेशी, और बाल-केंद्रित दृष्टि से पुनर्गठित किया जाए।

परिवार की भूमिका

परिवार बालक के व्यक्तित्व निर्माण, मूल्य-समाजीकरण, अनुशासन, सुरक्षा, और भावनात्मक स्थिरता का सबसे प्रारंभिक तथा स्थायी आधार है। बाल अपराध की रोकथाम में परिवार की भूमिका को भावनात्मक, नियंत्रणात्मक, संरचनात्मक, और संसाधनात्मक आयामों में समझना चाहिए।

परिवार बच्चे को सही-गलत का प्रारंभिक बोध, सामाजिक मानदंडों की समझ, तथा दूसरों के प्रति उत्तरदायित्व का अनुभव कराता है। Bowlby (1969) के अनुसार सुरक्षित लगाव बच्चों में आत्म-विश्वास और व्यवहार-नियमन को प्रोत्साहित करता है। जिन बच्चों को प्रेम, संवाद, और स्थिरता मिलती है, उनमें नियम-पालन और सामाजिक समायोजन की संभावना अधिक होती है।

महात्मा गांधी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल साक्षरता प्राप्त करना नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण, नैतिक विकास तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास करना है (Gandhi, 1999)। गांधी ने परिवार को बच्चे की प्रथम पाठशाला माना और यह प्रतिपादित किया कि यदि परिवार में सत्य, अहिंसा, अनुशासन तथा नैतिक मूल्यों का वातावरण हो, तो बच्चों में अपराध प्रवृत्तियों का विकास नहीं होता। उनके अनुसार मूल्यपरक शिक्षा और सुदृढ़ पारिवारिक संस्कार बाल अपराध की रोकथाम के प्रमुख आधार हैं।

Baumrind (1991) ने दिखाया कि authoritative parenting किशोर विकास के लिए सबसे सकारात्मक है। इसमें स्नेह, स्पष्ट अपेक्षाएँ, और संतुलित अनुशासन शामिल होते हैं। इसके विपरीत, अत्यधिक कठोर, दंडात्मक, उपेक्षात्मक, या असंगत पालन-पोषण किशोरों में आक्रोश, विद्रोह, असुरक्षा, और असामाजिक प्रवृत्तियों को बढ़ा सकता है।

मजबूत parental supervision बच्चों के मित्र-समूह, गतिविधियों, डिजिटल उपस्थिति, और विद्यालयी जीवन पर निगरानी रखती है, पर यह निगरानी दमनकारी नहीं, संवादात्मक होनी चाहिए। जिन परिवारों में बच्चे अपने अनुभव साझा कर सकते हैं, वहाँ जोखिमपूर्ण व्यवहार की पहचान जल्दी संभव होती है।

Patterson et al. (1989) के अनुसार जबरदस्तीपूर्ण पारिवारिक प्रक्रियाएं (coercive family process), जिसमें चिल्लाना, मारना, धमकाना, या निरंतर संघर्ष शामिल है, असामाजिक व्यवहार को सामान्यीकृत कर सकता है। भारत में घरेलू हिंसा, मद्यपान, आर्थिक तनाव, बेरोजगारी, और पारिवारिक टूटन बच्चों के व्यवहार पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है (IIPS & ICF, 2021)। यह समझना आवश्यक है कि समस्या केवल परिवार के प्रकार में नहीं, बल्कि उसके कार्यात्मक स्वास्थ्य में होती है।

Coleman (1988) के अनुसार परिवार सामाजिक पूंजी का स्रोत है। रिश्तेदारी नेटवर्क, पड़ोस से संबंध, विद्यालय से संपर्क, और सामुदायिक भरोसा मिलकर बच्चों के लिए समर्थन-तंत्र बनाते हैं। भारत में संयुक्त परिवार, विस्तारित परिवार, और स्थानीय समुदाय कई बार संरक्षणकारी भूमिका निभाते हैं; हालांकि पितृसत्ता, भेदभाव, और दमन के संदर्भों में यही संरचनाएँ जोखिम का स्रोत भी बन सकती हैं।

इस प्रकार परिवार की भूमिका को आदर्शीकृत नहीं, बल्कि आलोचनात्मक ढंग से समझने की आवश्यकता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

बाल अपराध की रोकथाम को समाजशास्त्रीय दृष्टि से समझना इसलिए आवश्यक है क्योंकि यह दृष्टिकोण बालक को एक पृथक इकाई नहीं, बल्कि संबंधों, संरचनाओं, अवसरों, और संस्थाओं से घिरे सामाजिक प्राणी के रूप में देखता है। इस अध्ययन में चार प्रमुख सिद्धांत विशेष रूप से उपयोगी हैं: सामाजिक विघटन सिद्धांत, सामाजिक बंधन सिद्धांत, लेबलिंग सिद्धांत, और उपसंस्कृति/तनाव सिद्धांत।

1. **सामाजिक विघटन सिद्धांत :** Shaw और McKay (1942) के सामाजिक विघटन सिद्धांत के अनुसार अपराध उन समुदायों में अधिक पनपता है जहाँ पड़ोस की सामाजिक एकजुटता कमजोर हो, जनसंख्या अस्थिर हो, गरीबी अधिक हो, और स्थानीय संस्थाएँ प्रभावहीन हों। भारतीय शहरी झुग्गियों, प्रवासी बस्तियों, तथा संसाधन-विहीन बस्तियों में यह सिद्धांत विशेष रूप से लागू हो सकता है। जब समुदाय, परिवार, और विद्यालय तीनों कमजोर हों, तब किशोरों के लिए सकारात्मक निगरानी और वैध अवसर सीमित हो जाते हैं।

2. **सामाजिक बंधन सिद्धांत :** Hirschi (1969) ने सामाजिक बंधन के चार आयाम बताए: लगाव, प्रतिबद्धता, सहभागिता, और विश्वास। यदि किशोर का परिवार से भावनात्मक लगाव, विद्यालय से जुड़ाव, भविष्य के प्रति प्रतिबद्धता, और सामाजिक नियमों पर विश्वास मजबूत हो, तो अपराध की संभावना कम होती है। यह सिद्धांत सीधे शिक्षा और परिवार की रोकथामकारी भूमिका को रेखांकित करता है।
3. **लेबलिंग सिद्धांत :** Becker (1963) के अनुसार विचलन केवल व्यवहार का गुण नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिक्रिया का परिणाम भी है। यदि किसी किशोर को बार-बार "समस्याग्रस्त", "उपद्रवी", या "अपराधी" कहा जाए, तो यह लेबल उसकी आत्म-छवि और सामाजिक अवसरों को प्रभावित कर सकता है। भारतीय विद्यालयों और पुलिसिंग व्यवस्था के संदर्भ में यह सिद्धांत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर कुछ बच्चों का अधिक अपराधीकरण हो सकता है।
4. **तनाव और उपसंस्कृति सिद्धांत :** Merton (1938) और बाद में Cohen (1955) तथा Cloward और Ohlin (1960) ने अवसर-असमानता और status frustration को अपराध से जोड़ा। जब वैध साधनों तक पहुँच सीमित हो और सामाजिक सफलता का दबाव बना रहे, तो किशोर वैकल्पिक समूहों या अपराध-संबद्ध व्यवहार की ओर बढ़ सकते हैं। भारत में यह तनाव शिक्षा-असमानता, बेरोजगारी, शहरी उपभोग-संस्कृति, और सामाजिक बहिष्करण से गहराई से जुड़ा हुआ है।

इन सिद्धांतों का संयुक्त विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि शिक्षा और परिवार केवल नैतिक संस्थाएँ नहीं, बल्कि सामाजिक नियंत्रण, पहचान-निर्माण, अवसर-वितरण, और पुनर्सामाजीकरण की केंद्रीय संस्थाएँ हैं।

भारतीय संदर्भ में विश्लेषण

भारत में बाल अपराध की रोकथाम के प्रश्न को समझने के लिए केवल सिद्धांत पर्याप्त नहीं; यहाँ के विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, और राजनीतिक संदर्भ को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। भारत में गरीबी, बेरोजगारी, प्रवासन, असंगठित श्रम, स्लम-जीवन, जाति-आधारित बहिष्करण, लिंग-असमानता, और शहरीकरण किशोर जीवन को प्रभावित करते हैं। ऐसे संदर्भों में बच्चों को कभी-कभी शिक्षा छोड़नी पड़ती है, काम में लगना पड़ता है, या परिवार की कठिन परिस्थितियों के कारण निगरानी से वंचित होना पड़ता है। इससे अपराध-जोखिम बढ़ सकता है। शहरी क्षेत्रों में सामाजिक उपभोगवाद, प्रतिस्पर्धा, नशा-सुलभता, और असमानता अधिक दिखाई देती है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में समुदायिक निगरानी अपेक्षाकृत मजबूत हो सकती है। इसके बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, परामर्श सेवाओं, और संस्थागत पहुँच का अभाव एक बड़ी समस्या है। इसलिए दोनों क्षेत्रों में जोखिम के प्रकार भिन्न हैं।

विधिक और नीतिगत ढाँचा

किशोर न्याय (बालकों की देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2015, बाल-अधिकार आधारित और पुनर्वास-उन्मुख दृष्टिकोण को मान्यता देता है (Ministry of Law and Justice, 2015)। यह अधिनियम बाल अपराध को दंडात्मक से अधिक सुधारात्मक और संरक्षणात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने का आधार देता है। इसी प्रकार शिक्षा का अधिकार, समावेशी शिक्षा, और National Education Policy 2020 शिक्षा को व्यापक सामाजिक विकास से जोड़ते हैं (Ministry of Education, 2020)।

भारत में अनेक गैर-सरकारी संगठन सड़क-बच्चों, जोखिमग्रस्त किशोरों, ड्रॉपआउट बच्चों, और बाल संरक्षण के क्षेत्र में कार्यरत हैं। ये संगठन परामर्श, पुनःशिक्षण, परिवार-पुनर्स्थापन, कौशल-प्रशिक्षण, और समुदाय-आधारित हस्तक्षेप के माध्यम से अपराध-निरोधी कार्य करते हैं।

भारतीय समाज में शिक्षा और परिवार के संबंध को वर्ग, जाति, भाषा, और सांस्कृतिक पूंजी से अलग नहीं किया जा सकता। प्रथम-पीढ़ी शिक्षार्थियों के परिवार विद्यालयी संरचना से कम परिचित हो सकते हैं, जिससे बच्चे को शैक्षिक सहयोग

सीमित मिलता है। दूसरी ओर, जिन परिवारों का विद्यालय से मजबूत संपर्क होता है, वहाँ बच्चे का विद्यालयी जुड़ाव अधिक मजबूत हो सकता है। यही कारण है कि परिवार-विद्यालय साझेदारी भारतीय संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

निष्कर्ष

इस शोध पत्र के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि बाल अपराध की रोकथाम में शिक्षा और परिवार की भूमिका केंद्रीय, परस्पर-निर्भर, और संरचनात्मक रूप से महत्त्वपूर्ण है। बाल अपराध को केवल विधि-विरुद्ध व्यवहार मानकर दंड से नियंत्रित करना पर्याप्त नहीं है; इसे एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए जो परिवार, विद्यालय, समुदाय, अवसर-असमानता, सामाजिक प्रतिक्रिया, और राज्यीय नीतियों के संयुक्त प्रभाव से निर्मित होती है।

शिक्षा किशोर को वैध अवसर, अनुशासित दिनचर्या, नैतिक बोध, जीवन-कौशल, सहकर्मी नियंत्रण, और सामाजिक मान्यता प्रदान करती है। दूसरी ओर परिवार भावनात्मक सुरक्षा, अभिभावकीय निगरानी, मूल्य-संस्कार, व्यवहारिक अनुशासन, और सामाजिक पूंजी का स्रोत है। जब विद्यालय समावेशी, संवेदनशील और सहयोगी हो तथा परिवार संवादात्मक, सहायक और संरचनात्मक रूप से सक्षम हो, तब बाल अपराध की संभावना उल्लेखनीय रूप से घटती है।

भारतीय संदर्भ में शिक्षा और परिवार की यह भूमिका सामाजिक असमानताओं से प्रभावित होती है। गरीबी, घरेलू हिंसा, ड्रॉपआउट, प्रवासन, जातिगत बहिष्करण, और शहरी अस्थिरता इन दोनों संस्थाओं की रोकथामकारी क्षमता को कमजोर कर सकती है। इसलिए बाल अपराध-निरोध की प्रभावी रणनीति वही होगी जो परिवार-सुदृढ़ीकरण, समावेशी शिक्षा, समुदाय-आधारित हस्तक्षेप, और पुनर्वासात्मक किशोर न्याय को एकीकृत रूप में देखे।

सुझाव

नीति निर्माताओं के लिए

1. बाल अपराध-निरोधी नीति में शिक्षा, परिवार, और समुदाय को एक साथ जोड़ने वाला अंतर्विभागीय ढाँचा विकसित किया जाए।
2. किशोर न्याय व्यवस्था में पुनर्वास, परामर्श, कौशल-विकास, और विद्यालयी पुनर्संलग्नता को अनिवार्य तत्व बनाया जाए।
3. उच्च-जोखिम क्षेत्रों में परिवार परामर्श, स्कूल सोशल वर्क, और किशोर मानसिक स्वास्थ्य सेवाएँ विकसित की जाएँ।

शैक्षिक संस्थानों के लिए

1. विद्यालयों में परामर्श सेवाएँ, जीवन-कौशल शिक्षा, और एंटी-बुलिंग तंत्र को संस्थागत रूप दिया जाए।
2. ड्रॉपआउट या जोखिमग्रस्त बच्चों की प्रारंभिक पहचान के लिए ट्रैकिंग प्रणाली विकसित की जाए।
3. शिक्षक प्रशिक्षण में किशोर मनोविज्ञान, समावेशी शिक्षाशास्त्र, और restorative practices को शामिल किया जाए।

परिवारों के लिए

1. बच्चों के साथ खुला संवाद, नियमित निगरानी, और भावनात्मक उपलब्धता को बढ़ाया जाए।
2. विद्यालय के साथ सक्रिय संपर्क और सामुदायिक सहयोग को मजबूत किया जाए।

संदर्भ सूची

Agnew, R. (1992). Foundation for a general strain theory of crime and delinquency. Criminology, 30(1), 47–87.

Ambedkar, B. R. (2003). Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and speeches (Vol. 17). Government of Maharashtra.

ASER Centre. (2023). Annual Status of Education Report (Rural) 2022. New Delhi, India: Author.

Bandura, A. (1977). Social learning theory. Englewood Cliffs, NJ: Prentice Hall.

Baumrind, D. (1991). The influence of parenting style on adolescent competence and substance use. Journal of Early Adolescence, 11(1), 56–95.

Becker, H. S. (1963). Outsiders: Studies in the sociology of deviance. New York, NY: Free Press.

Bowlby, J. (1969). Attachment and loss: Vol. 1. Attachment. New York, NY: Basic Books.

Bronfenbrenner, U. (1979). The ecology of human development: Experiments by nature and design. Cambridge, MA: Harvard University Press.

Cloward, R. A., & Ohlin, L. E. (1960). Delinquency and opportunity: A theory of delinquent gangs. New York, NY: Free Press.

Cohen, A. K. (1955). Delinquent boys: The culture of the gang. Glencoe, IL: Free Press.

Coleman, J. S. (1988). Social capital in the creation of human capital. American Journal of Sociology, 94, S95–S120.

Gandhi, M. K. (1999). The collected works of Mahatma Gandhi (Electronic ed.). Publications Division, Government of India.

Hirschi, T. (1969). Causes of delinquency. Berkeley, CA: University of California Press.

International Institute for Population Sciences, & ICF. (2021). National Family Health Survey (NFHS-5), 2019–21: India. Mumbai, India: Author.

Maguin, E., & Loeber, R. (1996). Academic performance and delinquency. In M. Tonry (Ed.), Crime and justice: A review of research (Vol. 20, pp. 145–264). Chicago, IL: University of Chicago Press.

Mali, M. G. (1980). Krantijyoti Savitribai Phule. Ministry of Information and Broadcasting, Government of India.

Merton, R. K. (1938). Social structure and anomie. American Sociological Review, 3(5), 672–682.

Ministry of Education. (2020). National Education Policy 2020. New Delhi, India: Government of India.

Ministry of Law and Justice. (2015). The Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015. New Delhi, India: Author.

National Crime Records Bureau. (2023). Crime in India 2022. New Delhi, India: Ministry of Home Affairs.

Patterson, G. R., DeBaryshe, B. D., & Ramsey, E. (1989). A developmental perspective on antisocial behavior. American Psychologist, 44(2), 329–335.

Phule, J. (1991). Gulamgiri (Original work published 1873). Samyak Prakashan.

Radhakrishnan, S. (1944). Education, politics and war. George Allen & Unwin.

Sampson, R. J., & Laub, J. H. (1993). Crime in the making: Pathways and turning points through life. Cambridge, MA: Harvard University Press.

Shaw, C. R., & McKay, H. D. (1942). Juvenile delinquency and urban areas. Chicago, IL: University of Chicago Press.

Sutherland, E. H. (1947). Principles of criminology (4th ed.). Philadelphia, PA: J. B. Lippincott.

Vivekananda, S. (2006). The complete works of Swami Vivekananda. Advaita Ashrama.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 10.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

आदिवासी साहित्य में रामकथा

डॉ. अपर्णा पाण्डेय*

aparnapandey121@gmail.com

सारांश (Abstract)

यह शोध आलेख आदिवासी साहित्य में रामकथा के विविध रूपों और उनके सांस्कृतिक महत्त्व का विश्लेषण करता है। भारतीय साहित्यिक परम्परा में रामकथा एक महाकाव्यात्मक आख्यान है, किन्तु आदिवासी समाज ने इसे अपनी मौखिक परम्पराओं, लोकगीतों और सामुदायिक जीवन के अनुरूप रूपान्तरित किया है। इन संस्करणों में पात्रों का स्थानीयकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है—सीता को कृषि देवी और राम को जननायक या सामुदायिक रक्षक के रूप में देखा जाता है।

मुख्यधारा की रामायण और आदिवासी रामकथा के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी दृष्टिकोण धर्म और नीति की अपेक्षा प्रकृति, सामुदायिक सहयोग और सांस्कृतिक पहचान पर अधिक केन्द्रित है। यह साहित्य केवल धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक स्वायत्तता और प्रतिरोध का भी माध्यम है। समकालीन विमर्श में आदिवासी रामकथाओं का महत्त्व और बढ़ जाता है, क्योंकि वे साहित्यिक बहुलता और सांस्कृतिक विविधता को रेखांकित करती हैं। यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आदिवासी साहित्य में रामकथा भारतीय साहित्य की बहुलता के प्राणवान प्रतीक है और भविष्य के शोध के लिए नए आयाम प्रस्तुत करती है।

कुंजीपद:

मुख्यधारा की रामायण, आदिवासी रामकथा, आदिवासी, गोंड, सन्थाल, मुण्डा समुदाय, मौखिक परम्परा, लोकगीत, लोककथा , नृत्य-नाट्य, प्रकृति-केन्द्रित साहित्य, स्थानीय देवी-देवता, प्रतीक, सांस्कृतिक पुनर्पाठ, सामूहिकता और उत्सवधर्मिता, आदिवासी दृष्टिकोण, सांस्कृतिक पहचान।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय साहित्यिक परम्परा में रामकथा केवल धार्मिक आख्यान नहीं है, बल्कि यह सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का आधार भी रही है। विभिन्न युगों और समुदायों ने इसे अपनी दृष्टि से पुनर्परिभाषित किया है। आदिवासी समाज, जो प्रकृति और सामुदायिक जीवन से गहरे जुड़े हुए हैं, ने रामकथा को अपनी मौखिक परम्पराओं, लोकगीतों और नृत्य-नाट्यों में विशिष्ट रूप से रूपान्तरित किया है।

आदिवासी रामकथाएँ मुख्यधारा की रामायण से भिन्न हैं। इनमें पात्रों का स्थानीयकरण होता है—सीता को कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में देखा जाता है, तो राम को जननायक या योद्धा के रूप में। इन कथाओं में प्रकृति, सामुदायिक एकता और संघर्ष की झलक मिलती है, जो आदिवासी जीवन की वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है।

इस शोध का उद्देश्य आदिवासी साहित्य में रामकथा के विविध रूपों का अध्ययन करना है, ताकि यह समझा जा सके कि किस प्रकार आदिवासी समाज ने अपनी सांस्कृतिक पहचान और सामुदायिक चेतना को इस महान आख्यान के माध्यम से व्यक्त किया। साथ ही, यह अध्ययन मुख्यधारा की रामायण और आदिवासी संस्करणों के तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा साहित्यिक बहुलता और सांस्कृतिक विविधता को रेखांकित करेगा।

* **सहायक आचार्य (हिन्दी), दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर**

आदिवासी साहित्य की विशेषताएँ

आदिवासी साहित्य भारतीय साहित्यिक परम्परा का एक विशिष्ट और सजीव अंग है, जिसकी जड़ें मौखिक परम्पराओं, सामुदायिक जीवन, प्रकृति-निष्ठ दृष्टिकोण और संघर्ष-प्रतिरोध की चेतना में गहराई से धंसी हुई हैं। बीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में आदिवासी विमर्श अस्मितामूलक विमर्श के रूप में उभरा, जिसके केन्द्र में जल, जंगल, जमीन और जीवन की चिन्ताएँ रही हैं। यह विमर्श केवल साहित्यिक ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और राजनीतिक भी है, जो आदिवासी समाज की अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा का माध्यम बनता है।

आदिवासी साहित्य का मूल आधार मौखिक परम्परा है। लोकगीत, लोककथाएँ, नृत्य-नाट्य और गाथाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुनाई जाती रही हैं। लिखित ग्रंथों की अपेक्षा सामुदायिक स्मृति और सजीव प्रस्तुति का महत्त्व अधिक है। वाहरू सोनवणे इस सन्दर्भ में कहते हैं- "लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना ही आदिवासियों की दृष्टि से असंगत है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन के बीच जो दीवारें खड़ी हैं, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है।"[1]

इस मौखिक परम्परा को आधुनिक सन्दर्भ में "ऑरेचर" (Orature) कहा गया है। युगांडा के विद्वान पियो जिरिमू ने इस शब्द को प्रस्तुत किया, जिसे न्गूगी वा थ्योंगो और भारत की वन्दना टेटे जैसे साहित्यकारों ने स्वीकार किया। ऑरेचर का अर्थ है- मौखिक साहित्य, जो सामुदायिक जीवन में उर्जस्वित होकर ही अस्तित्व में रहता है। जैसा कि Simon Gikandi लिखते हैं- "Orature means something passed on through the spoken word, and because it is based on the spoken language it comes to life only in a living community."[2]

आदिवासी साहित्य में प्रकृति को जीवन का केन्द्र माना गया है। जंगल, नदियाँ, पर्वत और कृषि इनके साहित्यिक आख्यानों में प्रमुख प्रतीक हैं। सामुदायिक जीवन और सहयोग की भावना कथा और गीतों में बार-बार उभरती है। यह साहित्य मनुष्य और प्रकृति के बीच गहरे सम्बन्ध को रेखांकित करता है।

आदिवासी साहित्य में स्थानीय देवताओं, पूर्वजों और आत्माओं की कथाएँ प्रमुख हैं। रामकथा जैसे मुख्यधारा के आख्यानों को भी स्थानीय प्रतीकों और देवताओं के साथ जोड़ा गया है। इससे साहित्य में सांस्कृतिक पुनर्पाठ और स्थानीयकरण की प्रक्रिया दिखाई देती है।

आदिवासी साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि यह शोषण, विस्थापन और संघर्ष की अभिव्यक्ति भी है। यह साहित्य सांस्कृतिक प्रतिरोध और सामुदायिक चेतना का माध्यम बनता है। जैसा कि अनिता हेइस लिखती हैं- "आदिवासियों के आदिवासियत को न तो आप वर्गीकृत कर सकते हैं न ही किसी मानक से नाप सकते हैं क्योंकि यह तो विरासत में मिला हुआ वह गुण है जिसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।"[3]

यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि आदिवासी साहित्य अस्मिता और प्रतिरोध का सजीव दस्तावेज है। आदिवासी समाज 'आत्म' से अधिक सामूहिकता में विश्वास करता है। अतः उसकी परम्परा, संस्कृति, इतिहास से लेकर शोषण और प्रतिरोध आदि में सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है। गंगा सहाय मीणा का मानना है- "आदिवासी लेखन में आत्मकथात्मक लेखन केन्द्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' से अधिक समूह में विश्वास करता है।"[4]

पर्व, उत्सव और अनुष्ठान आदिवासी साहित्य के अभिन्न अंग हैं। सामूहिक रूप से गाया, सुनाया और प्रस्तुत किया जाने वाला यह साहित्य जीवन्तता और सामुदायिक सहभागिता को बनाए रखता है। आदिवासी साहित्य की विशेषताएँ उसकी मौखिक परम्परा, प्रकृति-निष्ठ दृष्टिकोण, सामुदायिकता, स्थानीय प्रतीकों के समावेश और संघर्ष-प्रतिरोध की चेतना में निहित हैं। यह साहित्य भारतीय साहित्यिक परम्परा को समृद्ध करता है और हमें यह समझने में मदद करता है कि साहित्य केवल लिखित ग्रंथों तक सीमित नहीं है, बल्कि सामुदायिक जीवन, मौखिक परम्परा और सांस्कृतिक अस्मिता का भी सजीव दस्तावेज है।

रामकथा की बहुरूपता

लोकसाहित्य का जीवन आधार श्रुति और स्मृति रही है। इसकी मौलिक प्रवृत्ति यह है कि कोई भी रचना तभी टिकती है जब वह अनेक कण्ठों से बार-बार कही, गाई और परिवर्तित होकर अन्ततः एक सर्वमान्य रूप ग्रहण कर ले। चूंकि

यह साहित्य सामूहिक परम्परा और सृजनशीलता की देन है, इसलिए इसे किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं कहा जा सकता। लोकगीत, कथाएँ और कहावतें स्थान-स्थान पर बदलती रहती हैं; कभी पंक्तियों का फेरबदल होता है, तो कभी घटनाओं का। फिर भी उनके निष्कर्ष और लोकमान्य सत्य अपरिवर्तित रहते हैं। आल्ह-खण्ड जैसे लोकमहाकाव्य भी आज तक एकरूपता नहीं पा सके, क्योंकि लोकप्रवृत्ति किसी बंधन को स्वीकार नहीं करती।

आदिवासी साहित्य की रामकथा भी इसके प्रमुख उदाहरणों में से एक है। लोकजीवन में इसके असंख्य रूप प्रचलित हैं, जिनसे मिलकर एक विशिष्ट 'लोकरामायण' का निर्माण हो सकता है, जो प्रचलित रामाख्यानों से भिन्न होगी। जैसा कि लोकसाहित्य पर एक अध्ययन में कहा गया है— "रामकथा को ही लें। 'नाना भाँति राम अवतारा, रामायन सत कोटि अपारा' वाली बात शत प्रतिशत सत्य है। रामकथा सम्बन्धी जितनी विविधताएँ लोकसाहित्य में प्रचलित हैं यदि उन सब को एकत्र किया जाए तो यह विचित्र प्रकार का 'लोकरामायण' ग्रंथ तैयार होगा जो अबतक के सभी रामाख्यानों से भिन्न अस्तित्व का होगा। घटनाचक्रों को देखते हुए कभी-कभी तो उनकी संगति बैठाना भी कठिन हो जाएगा। उदाहरणस्वरूप लोकगीतों में भी रामजन्म के कई कारण हैं किन्तु एक बहुत ही साधारण कारण यह है कि एक बार जब महाराज दशरथ प्रात: काल सरयू में स्नान करने जा रहे थे तो उनका दर्शन सवेरे ही गली में झाड़ू देनेवाली हेलिन (भंगिन) को हो गया। उसने ताना मारा कि आज प्रात: काल ही सतानहीन व्यक्ति का दर्शन हुआ, पता नहीं दिन कैसे बीतेगा। दशरथ को यह बात लग गई और तभी वे रानी समेत पुत्रप्राप्ति के लिए वन में तप करने चले गए। इस प्रकार कारण दूसरा दिखाते हुए भी लोककथाकार दशरथ को फिर तपस्यावाले स्थल पर ले आता है जहाँ कथा अन्य रामायणों की कथा से मिल जाती हैं।"[5]

लोक साहित्य का यह सिद्धान्त आदिवासी साहित्य की रामकथा पर भी हूबहू लागू होता है। आदिवासी समाजों में रामकथा श्रुति और स्मृति पर आधारित होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रही है। भील, गोंड, सन्थाल, मुण्डा और मिजो जैसे समुदायों ने इसे अपनी सांस्कृतिक दृष्टि और जीवनानुभवों के अनुरूप ढाला है। इनकी रामकथा की घटनाएँ और पात्र भले ही स्थानीय जीवन से जुड़े हों, लेकिन कथा का मुख्य सन्देश वही है—राम और सीता की पहचान, संघर्ष और समाज की साझा चेतना। लोकसाहित्य की बहुरूपता और सामूहिकता आदिवासी रामकथा में भी उसी तरह प्रकट होती है, जैसे अन्य लोकमहाकाव्यों और लोककथाओं में।

आदिवासी समाज में रामकथा का रूपान्तरण

रामकथा भारतीय समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय आख्यानों में से एक है, परन्तु आदिवासी समुदायों ने इसे अपनी सांस्कृतिक दृष्टि और जीवनानुभवों के अनुरूप ढालकर नया रूप दिया है। यह रूपान्तरण केवल कथा का पुनर्पाठ नहीं, बल्कि उनकी सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक चेतना और प्रकृति-केन्द्रित जीवन दृष्टि का प्रतिबिंब है। मौखिक परम्पराएँ, लोकगीत, नृत्य-नाट्य और सामुदायिक जीवन के अनुभव इस पुनर्रचना के आधार बने हैं।

भारतीय महाकाव्य रामायण केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि सांस्कृतिक स्मृति का दृढ़तम आधार है। इसकी कथा भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक समुदायों में अलग-अलग रूपों में सुनाई और गाई जाती रही है। विशेष रूप से आदिवासी समाजों ने इसे अपनी स्थानीय मान्यताओं और जीवनानुभवों के साथ पुनः रचा है। इन रूपांतरणों में उनके सामाजिक मूल्य, प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की भावना और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की समानता का दर्शन होता है।

रामायण के महत्त्वपूर्ण अध्येताओं में से एक, जर्मन मूल के रेवरेंड फ़ादर कामिल बुल्के ने हिन्दी में इस महाकाव्य पर गहन शोध किया और रामकथा: उत्पत्ति और विकास जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ हिन्दी में रामकथा पर किया गया सबसे गहन और व्यवस्थित अध्ययन माना जाता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने यह टिप्पणी की थी कि, "आदिवासियों का साहित्य सुरक्षित न रह सका, केवल उनकी कुछ दन्तकथाओं का वर्णन मिलता है। उन कथाओं में राम-कथा का मूल रूप ढूंढ़ना व्यर्थ है।"[6] यह कथन स्पष्ट करता है कि आदिवासी समाजों में रामकथा किसी निश्चित प्रारम्भिक बिन्दु से नहीं जुड़ी है; बल्कि उपलब्ध दन्तकथाओं और मौखिक परम्पराओं में यह विविध रूपों में प्रकट होती रही है और समय-समय पर उनके जीवनानुभवों तथा सांस्कृतिक दृष्टि के अनुरूप रूपान्तरित होती रही है।

यही कारण है कि हमें आदिवासी रामकथाओं में विविध रूप दिखाई देते हैं—कहीं रावण विकलांग बालक से जन्म लेता है, कहीं सीता कृषि की देवी बन जाती हैं, कहीं पशु-पक्षी उसके सहचर बनकर उसकी रक्षा करते हैं, तो कहीं लक्ष्मण संयम की परीक्षा में सफल होते हैं। इन विविध कथाओं का संकलन और विश्लेषण यह समझने में मदद करता है कि रामकथा

आदिवासी समाजों के लिए केवल धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि उनके सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा है। यह उनके कृषि-जीवन, सामाजिक सम्बन्धों और प्रकृति के साथ गहरे जुड़ाव को अभिव्यक्त करती है।

इसी आशय से, कामिल बुल्के, गणेश देवी और हरिराम मीणा के संकलनों एवं अध्ययनों से प्राप्त विभिन्न आदिवासी समुदायों की रामकथाओं का संक्षेप में परिचय और उनक सार-संक्षेप यहाँ आगे प्रस्तुत किया जा रहा है-

1. **कुंकना रामायण:** गुजरात के कोंकणा (कुंकना) आदिवासी समाज में प्रचलित यह रामकथा मौखिक परम्परा का हिस्सा है।[7] इसके सर्गों या खण्डों की निश्चित संख्या का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। कथा में रावण का जन्म एक विकलांग बालक के रूप में होता है, जिसके हाथ-पाँव नहीं होते और जिसे उसके भाई त्याग देते हैं। वह बारह वर्षों तक शिव की कठोर तपस्या करता है और अमृत पीकर नौ सिर और अठारह भुजाओं वाला बन जाता है। शिव उसे लंका का राजा बनाते हैं तथा अहि (सर्प) और माही (गाय) को उसका सहायक नियुक्त करते हैं। आगे चलकर रावण पार्वती को पाने का प्रयास करता है, किन्तु देवताओं के छल से भ्रमित हो जाता है। इस कथा में रावण को शिव का वरदान प्राप्त प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है, जो आदिवासी कल्पना और धार्मिक दृष्टि का विशिष्ट रूप है। कोंकणा समाज की रामकथा में राम और सीता को स्थानीय देवी-देवताओं के साथ जोड़ा गया है। गणेश देवी लिखते हैं— "Among the Kunkanas of Gujarat, the Ramayana is not a distant myth but a living narrative, woven into dances, songs and seasonal rituals."[8]

2. **भील समाज की रामकथा:** राजस्थान और गुजरात के भीलांचल में यह कथा "राम-सीतामणी वारता" के नाम से प्रसिद्ध है। इसे भगवानदास पटेल ने संकलित किया है और इसमें कुल तीस सर्ग हैं। इस कथा में सीता को कृषि की अधिष्ठात्री देवी माना गया है। विवाह के अवसर पर वह पिता से दहेज स्वरूप फूल-पौधों के बीज मांगती हैं और उन बीजों को बोकर वन को हरा-भरा बनाती हैं। यहाँ अग्निपरीक्षा का प्रसंग नहीं मिलता। अयोध्या लौटने पर सीता का त्याग सास-बहू के झगड़े के कारण होता है। वन में बाघ उसे अपनी धर्म-बहन बनाकर वाल्मीकि आश्रम तक पहुँचाता है। यह कथा स्त्री-पुरुष समानता और प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व का संदेश देती है।

   हरिराम मीना लिखते हैं— "भीली रामकथा में सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी हैं। विवाह के मौके पर वह पिता से दहेज स्वरूप सिर्फ़ फूल-पौधों के बीज मांगती हैं। वह बीज बोकर वन को हरा बनाती हैं।"[9] इसी प्रसंग को के. एस. सिंह ने भी रेखांकित किया है— "In the Bhil Ramkatha, Sita is seen as the goddess of agriculture, and her dowry consists of seeds which she plants to make the forest green."[10] यहाँ राम जननायक और सामुदायिक रक्षक के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अहल्या प्रसंग में भी भील समाज ने अपनी सांस्कृतिक दृष्टि से कथा को पुनर्परिभाषित किया है।

3. **गोंड समाज की रामकथा:** भारत के आदिवासियों में भीलों के बाद गोंडों की संख्या सर्वाधिक है, जो मुख्यतः छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र में पाए जाते हैं। इस समुदाय में प्रचलित रामकथा 'गोंड रामायणी' कहलाती है। यहाँ राम की तुलना में सीता और लक्ष्मण को अधिक महत्त्व दिया गया है। गोंड अपनी पौराणिक परम्परा को 'नावेदा' (जो वेदों में नहीं है) और 'लावेदा' (जो वेदों से बाहर है) कहते हैं। कथा में एक प्रसंग आता है, जहाँ राम और सीता लक्ष्मण का विवाह नागराज वासुकी की पुत्री बिजुलदई से कराते हैं। वासुकी की शर्त के अनुसार लक्ष्मण को उनके यहाँ तिल्ली की खेती और लकड़ी की चिराई का काम करना पड़ता है। यह प्रसंग दिखाता है कि मिथकीय कथाएँ जिस समाज में प्रचलित होती हैं, वहाँ की जीवनशैली के अनुरूप रूपान्तरित हो जाती हैं।

   गोंडों का विश्वास है कि रावण उनका पूर्वज है और कई स्थानों पर दशहरे के दिन उसकी पूजा की जाती है। नागपुर, अमरावती और यवतमाल जैसे जिलों में गोंडों की नई पीढ़ी अपने नाम के साथ राम की जगह रावण का नाम जोड़ रही है। रावण का मातृपक्ष अनार्य माना जाता है, इसी कारण आदिवासी समुदाय उसे अपना देवता मानते हैं। हरिराम मीना बताते हैं— "गोंड रामकथा में राम और सीता का जीवन जंगल, नदियों और पर्वतों से जुड़ा हुआ है। यहाँ कथा का उद्देश्य धार्मिक आस्था से अधिक सामुदायिक सहयोग और प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करना है।"[11] इसी दृष्टि से गोंड रामायणी में लक्ष्मण को प्रमुख नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मौली कौशल भी रेखांकित करती हैं— "The Gond Ramayani emphasizes Lakshmana's adventures rather than Rama's, thereby shifting the focus of the epic to local heroes and magical landscapes."[12] गोंड

रामकथा आदिवासी जीवन की सांस्कृतिक स्मृति, प्रकृति-निष्ठ दृष्टि और सामुदायिक सहयोग की चेतना को अभिव्यक्त करती है।

4. **मुण्डारी रामायण:** झारखण्ड के मुण्डा आदिवासी समाज में यह कथा मौखिक परम्परा के रूप में प्रचलित है।[13] इसमें सीता एक आदिवासी किशोरी है, जो अकाल के समय जन्म लेती है। जनक साधारण किसान हैं। वानर वास्तव में आदिम समुदाय हैं, जिनकी धोती बाँधने की शैली पूंछ जैसी प्रतीत होती है। यहाँ रावण को कभी-कभी स्थानीय शक्ति या विरोधी समुदाय का प्रतीक माना जाता है। हरिराम मीना लिखते हैं— "मुण्डा रामकथा में रावण को केवल खलनायक नहीं, बल्कि एक ऐसी शक्ति के रूप में देखा जाता है जो सामुदायिक जीवन के लिए चुनौती प्रस्तुत करती है।"[14] इस कथा में राम और सीता का जीवन आदिवासी समाज की जीवनशैली से गहराई से जुड़ा हुआ है।

5. **कार्बी रामायण:** असम के कारबि समुदाय में प्रचलित रामकथा को स्थानीय रूप से 'छाबिन अलुन' (Sabin Alun) कहा जाता है[15], जो कारबी जनजाति की मौखिक परम्परा में गाई जाने वाली रामकथा है।[16] 'छाबिन' का अर्थ है सीता और 'आलुन' का अर्थ गीत होता है। इस कथा में रावण बारह सिर वाला है और उसके तीन भाई विभीषण, महीराबन और मेकनात हैं। युद्ध से पहले राम विशेष पूजा करते हैं और रावण को पुरोहित रूप में आमंत्रित करते हैं। रावण पूजा सम्पन्न कर राम को विजय का आशीर्वाद देता है। यह प्रसंग आदिवासी समाज की धार्मिक दृष्टि और वैष्णव प्रभाव को दर्शाता है।

6. **बिरहोर रामायण:** झारखण्ड के बिरहोर समुदाय[17] में प्रचलित रामकथा में सीता का जन्म एक विशिष्ट प्रसंग से जुड़ा है। कथा के अनुसार राजा जनक के राज्य में भीषण अकाल पड़ा। पंचों के कहने पर राजा स्वयं खेत जोतने लगे और हल की नाली (हड़ाई) से एक सुन्दर शिशु प्रकट हुआ। हल चलाते समय मिली होने के कारण उसका नाम 'सीता' रखा गया और जनक ने उसे अपनी पुत्री के रूप में पालन-पोषण किया। जनक के आंगन में रखा भारी धनुष, जिसे कोई हिला तक नहीं सकता था, सीता ने सफाई करते समय स्थानान्तरित कर दिया। यही धनुष बाद में राम और सीता के विवाह का निमित्त बना। वनगमन, स्वर्ण मृग, सीता-हरण और राम-रावण युद्ध जैसे प्रसंग यहाँ भी वाल्मीकि और तुलसीकृत रामकथा के अनुरूप हैं। अन्तर केवल इतना है कि बिरहोर रामायण में रावण के प्राण उसकी नाभि में नहीं, बल्कि सोने की दीवारों से बने एक विशेष कक्ष में स्थित बताए गए हैं। यह भिन्नता आदिवासी कल्पना और उनकी सांस्कृतिक दृष्टि को उजागर करती है।

7. **बंजारा रामायण :** बंजारा समाज में प्रचलित रामकथा में वाल्मीकि और तुलसीकृत परम्पराओं का एक तरह से 'आदिवासीकरण' दिखाई देता है। बंजारा कथा में सीता का चरित्र सबसे त्रासद रूप में सामने आता है। स्वयंवर में लक्ष्मण द्वारा धनुष तोड़े जाने के बाद भी उसे राम को वर के रूप में चुनने को विवश किया गया। यही राम आगे चलकर निर्दोष सीता को वनवास देते हैं। अन्ततः सीता को किसी सवर्ण ऋषि के आश्रम में नहीं, बल्कि एक 'अवर्ण' वाल्मीकि की कुटिया में शरण मिलती है। यहाँ विवाह में वरमाला की जगह पगड़ी का प्रयोग होता है और जनकपुरी में बारात को 'चूरमा और लापसी' परोसी जाती है। कथा में सीता के वनवास और रावण द्वारा हरण के बाद पशु-पक्षी और प्रकृति तत्व उसकी रक्षा करते हैं—कौवा, कबूतर, बगुला और गिद्ध उसे जल और फल देते हैं, हरिण उसकी सुरक्षा करते हैं और सीता को होश में लाने का प्रयास करते हैं। गोमली बाई सीता का प्रसव कराती है, और सीता स्वयं कहती है कि "आदिवासी बहन की मदद से प्रसव पूर्ण हुआ है जिसके कारण हम दोनों जच्चा-बच्चा ठीक हैं।" बंजारा रामकथा आदिवासी जीवन की सांस्कृतिक दृष्टि, प्रकृति-निष्ठ आस्था और सामाजिक प्रतिवाद की चेतना को अभिव्यक्त करती है।

8. **कोल रामकथा:** कोल आदिवासी समाज में प्रचलित इस कथा[18] में शबरी के बेर राम खाते हैं, पर लक्ष्मण पहले अस्वीकार करते हैं। बाद में एक बाण से घायल होने पर उन्हें सामाजिक भेदभाव का अहसास होता है और वे बेर स्वीकार करते हैं। यह प्रसंग सामाजिक प्रतिवाद का प्रतीक है।

9. **बैगा-भूमिया कथा:** मध्य भारत के बैगा-भूमिया समुदाय में प्रचलित इस कथा[19] में सीता कृषि की देवी हैं। उनके हाथ में छठी उंगली होती है, जिसे काटकर भूमि में रोपने से बाँस उत्पन्न होता है। उस बाँस की गाँठों में सभी प्रकार के बीज छिपे रहते हैं। यह कथा कृषि और जीवन-निर्वाह से जुड़ी आदिवासी मान्यता को दर्शाती है।

10. **सन्थाल समाज की रामकथा:** सन्थाल समाज में रामकथा लोकगीतों और नृत्य-नाट्यों के माध्यम से जीवित है। पात्रों को स्थानीय जीवन की परिस्थितियों से जोड़ा गया है। सन्थालों की रामकथा में सामुदायिक उत्सव और सहयोग की भावना प्रमुख है। मीणा लिखते हैं— "सन्थाल रामकथा में गीत और नृत्य के माध्यम से कथा का प्रस्तुतीकरण होता है। यहाँ राम और सीता केवल धार्मिक पात्र नहीं, बल्कि सामुदायिक जीवन के प्रतीक हैं।"[20] इसमें रावणवध के बाद राम सन्थालों के बीच रहकर शिव मन्दिर बनाते हैं और सीता के साथ पूजा करते हैं।[21] अन्य प्रसंगों में[22] सीता की खोज करते समय राम का गिलहरी और बेर को वरदान तथा बगुले को दण्डित करना। लक्ष्मण और हनुमान की पहली भेंट द्वन्द्व युद्ध के रूप में होती है। हनुमान राम-बाण के सहारे समुद्र पार करते हैं और लंका दहन के बाद स्वयं ही अपना मुख जलाकर काला कर लेते हैं। यहाँ राम का जीवन सन्थाल समाज के धार्मिक जीवन से जुड़ जाता है।

11. **असुर रामकथा:** डॉ. डब्ल्यू. रूबेन द्वारा संकलित नागपुर की असुर समुदाय में प्रचलित दन्तकथाओं[23] में भी यह उल्लेख मिलता है कि सीता की खोज के समय राम बगुले को दण्डित करते हैं और हनुमान अपने ही बाण के सहारे समुद्र पार करते हैं। लंका दहन का एक परिवर्तित रूप मिलता है, जो आदिवासी मनोविज्ञान को दर्शाता है।

12. **परधान रामकथा:** नर्मदा घाटी के परधान समुदाय में प्रचलित इस कथा[24] में सीता लक्ष्मण के संयम की परीक्षा लेती है। लक्ष्मण परीक्षा में सफल होते हैं और अपनी नैतिक दृढ़ता सिद्ध करते हैं। यह प्रसंग आदिवासी समाज की नैतिक दृष्टि और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में सन्तुलन की चेतना को उजागर करता है।

13. **उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की रामकथा:** उत्तर-पूर्व भारत के विभिन्न जनजातीय समुदायों में प्रचलित इस कथा में एक राजा की पुत्री उसके हाथ की सूजन से जन्म लेती है। आठ सिर वाला राक्षस उसका हरण करता है, जिसे राजा मारकर पुत्री को वापस ले आता है। बाद में एक अन्य राक्षस उसे समुद्र पार ले जाता है। राजा उसकी खोज में असफल होकर वानर-राजा की सहायता लेता है। वानर-राजा राक्षस के गाँव पहुँचता है, जहाँ उसकी पूँछ जलाने का प्रयास किया जाता है। वह गाँव में आग लगाकर राजकुमारी को छुड़ाकर पिता के पास लौट आता है। राजा उसे एक सुनहरा महल भेंट करता है, जिसमें प्रवेश करते ही वानर के बाल गिर जाते हैं, उसका रंग गोरा हो जाता है और वह प्रथम अंग्रेज बन जाता है।[25]

विभिन्न आदिवासी समाजों में रामकथा का रूपान्तरण यह स्पष्ट करता है कि आदिवासी समुदायों ने इस लोकप्रिय आख्यान को अपनी सांस्कृतिक दृष्टि, सामुदायिक जीवन और प्रकृति-केन्द्रित दर्शन के अनुरूप पुनर्परिभाषित किया है। भील समाज की 'राम-सीतामणी वारता', गोंड समाज की गोंड रामायणी, सन्थालों की गीत-नृत्य आधारित कथा, मुण्डा समाज की वैकल्पिक दृष्टि और कोंकणा समाज की मौखिक परम्परा—ये सभी मिलकर यह प्रमाणित करते हैं कि आदिवासी रामकथाएँ भारतीय साहित्यिक परम्परा में एक विशिष्ट और सशक्त स्थान रखती हैं।

मुख्यधारा की रामायण और आदिवासी रामकथा तुलनात्मक दृष्टि और सांस्कृतिक पुनर्पाठ

मुख्यधारा की रामायण, चाहे वह वाल्मीकि की हो या तुलसीकृत, एक धार्मिक-आध्यात्मिक आख्यान के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसमें राम आदर्श पुरुष और सीता आदर्श नारी के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इसके विपरीत विभिन्न आदिवासी समाजों में प्रचलित रामकथाएँ इस आख्यान को अपनी सांस्कृतिक दृष्टि, सामुदायिक जीवन और प्रकृति-केन्द्रित दर्शन के अनुरूप रूपान्तरित करती हैं। यहाँ राम जननायक और सामुदायिक रक्षक के रूप में सामने आते हैं, जबकि सीता कृषि देवी और धरती की अधिष्ठात्री बन जाती हैं। मुख्यधारा की कथा धर्म और नीति पर केन्द्रित है, वहीं आदिवासी संस्करण प्रकृति, सामुदायिक सहयोग और संघर्ष को केन्द्र में रखते हैं। रावण का वध मुख्यधारा में धर्म की स्थापना के लिए है, जबकि आदिवासी कथाओं में यह सामुदायिक अस्तित्व और सांस्कृतिक पहचान से जुड़ा होता है।

हरीराम मीणा के अनुसार, आदिवासी रामकथाएँ केवल धार्मिक आख्यान नहीं हैं, बल्कि सामुदायिक जीवन और प्रकृति-निष्ठ दृष्टि की अभिव्यक्ति हैं। भील समाज की कथा में सीता कृषि की देवी हैं, जो विवाह में बीज मांगकर वन को हरा-भरा करती हैं। गोंड रामायणी में लक्ष्मण को प्रमुख नायक माना गया है और रावण को पूर्वज के रूप में पूजा जाता है। मीणा बताते हैं कि इन कथाओं का उद्देश्य धार्मिक आस्था से अधिक सामुदायिक सहयोग और सांस्कृतिक प्रतिरोध की चेतना को सुदृढ़ करना है।

कामिल बुल्के अपनी पुस्तक रामकथा: उत्पत्ति और विकास में आदिवासी संस्करणों का विस्तृत विवेचन करते हैं। वे लिखते हैं कि आदिवासी समाज ने रामकथा को अपनी सांस्कृतिक दृष्टि से पुनः रचा है और इसे अपने जीवनानुभवों के अनुरूप ढालकर जीवित रखा है। इन संस्करणों में कई भिन्नताएँ दिखाई देती हैं—कहीं दशरथ की पत्नियों की संख्या अलग है, कहीं लक्ष्मण के तप का उल्लेख मिलता है, तो कहीं सीता कृषि-सम्बन्धी रूप में प्रस्तुत होती हैं। हनुमान की जन्मकथा और रावण-वध भी विविध रूपों में सामने आते हैं। इन कथाओं में राम, सीता और रावण स्थानीय जीवन और विश्वासों से जुड़ जाते हैं। कभी सीता उर्वरता की अधिष्ठात्री देवी बनती हैं, तो कभी रावण सहस्र-स्कंध वाला असुर या केवल एक स्थानीय सरदार के रूप में चित्रित होता है। इन प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि आदिवासी समाज ने रामकथा को अपनी सांस्कृतिक चेतना और सामुदायिक अनुभवों के अनुरूप पुनर्परिभाषित किया है, जिससे यह कथा धार्मिक आख्यान से आगे बढ़कर सामुदायिक जीवन, प्रकृति-निष्ठ आस्था और सांस्कृतिक स्वायत्तता की अभिव्यक्ति बन जाती है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी रामकथाएँ भारतीय साहित्यिक परम्परा में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। वे मुख्यधारा की धार्मिक दृष्टि से अलग होकर सामुदायिक जीवन, प्रकृति-निष्ठ आस्था और सांस्कृतिक स्वायत्तता को अभिव्यक्त करती हैं।

निष्कर्ष

आदिवासी साहित्य में रामकथा का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारतीय साहित्यिक परम्परा केवल एकरूप नहीं है, बल्कि बहुलता और विविधता से परिपूर्ण है। मुख्यधारा की रामायण जहाँ धर्म, नीति और आदर्श जीवन की स्थापना पर केन्द्रित है, वहीं आदिवासी रामकथाएँ सामुदायिक जीवन, प्रकृति और सांस्कृतिक पहचान को केन्द्र में रखती हैं। इन संस्करणों में पात्रों का स्थानीयकरण और कथा का पुनर्पाठ यह दर्शाता है कि आदिवासी समाज ने रामकथा को अपने जीवनानुभवों और सांस्कृतिक दृष्टि के अनुरूप ढाला है। सीता का कृषि देवी के रूप में रूपान्तरण और राम का जननायक के रूप में चित्रण आदिवासी समाज की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं का प्रतीक है।

साहित्यिक दृष्टि से यह विविधता भारतीय साहित्य को समृद्ध करती है और सांस्कृतिक दृष्टि से यह आदिवासी समाज की स्वायत्तता और प्रतिरोध को अभिव्यक्त करती है। समकालीन विमर्श में आदिवासी रामकथाओं का महत्त्व और बढ़ जाता है, क्योंकि वे सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक संरक्षण और बहुसंस्कृतिवाद की दिशा में नए आयाम प्रस्तुत करती हैं।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि, आदिवासी साहित्य में रामकथा केवल एक धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना, सामुदायिक एकता और साहित्यिक बहुलता की अभिव्यक्ति है। इसमें आदिवासी समाज ने अपने जीवनानुभवों, प्रकृति-निष्ठ दृष्टि और सामुदायिक सहयोग की भावना को समाहित कर इसे पुनर्परिभाषित किया है, जिससे यह कथा भारतीय साहित्यिक परम्परा में विविधता और सांस्कृतिक स्वायत्तता का सशक्त उदाहरण बन जाती है। भविष्य के शोध में इन कथाओं के और अधिक संस्करणों का संकलन और तुलनात्मक अध्ययन भारतीय साहित्य की विविधता को और गहराई से समझने में सहायक होगा।

संदर्भ :-

[1] वन्दना टेटे, सं., आदिवासी दर्शन और साहित्य, पृ.- 19-20

[2] Simon Gikandi, Encyclopaedia of African Literature, Routledge, 2003, p.- 210

[3] Anita Heiss, The Strength of Us as Women: Black Women Speak, in Why Does a Black Woman Write, ed. Anita Heiss & Kerry Reed-Gilbert, 2000, p.- 51

[4] गंगा सहाय मीणा, सं., आदिवासी साहित्य विमर्श, पृ.- 10

[5] लोक साहित्य – विकिपीडिया, (https://hi.wikipedia.org/ लोक साहित्य)

[6] रामकथा: उत्पत्ति और विकास, इलाहाबाद परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, पृ.- 230

[7] Painted Words: An Anthology of Tribal Literature, संपादक जी. एन. देवी; दस्तावेज़ीकरण: दलीयाभाई वधु; अनुवाद: जेनी राठोड़ (पृ. 37–60)

[8] Ganesh N. Devy, Oral Traditions and Ramkatha among Adivasis, Frontline, 2022, p. 56

[9] हरिराम मीना, आदिवासी समाज में रामकथा, वागर्थ (ऑनलाइन संस्करण: https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/hariram-mina-jan26/)

[10] K. S. Singh, Rama-Katha in Tribal and Folk Traditions of India, Seagull Books, 1993, p. 87

[11] हरिराम मीना, आदिवासी समाज में रामकथा, वागर्थ (ऑनलाइन संस्करण: https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/hariram-mina-jan26/)

[12] Molly Kaushal, Ramkatha: Retelling and Reinterpretation, IGNCA, 2001, p. 134

[13] हरिराम मीना, आदिवासी समाज में रामकथा, वागर्थ (ऑनलाइन संस्करण: https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/hariram-mina-jan26/)

[14] हरिराम मीना, आदिवासी समाज में रामकथा, वागर्थ, (ऑनलाइन संस्करण: https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/hariram-mina-jan26/)

[15] डॉ. देवेनचन्द्र दास 'सुदामा', छाबिन आलुन (कारबि रामायण) की भूमिका से, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ, पृ.- 14

[16] हरिराम मीना, आदिवासी समाज में रामकथा, वागर्थ (ऑनलाइन संस्करण: https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/hariram-mina-jan26/)

[17] शरच्चंद्र राय, The Birhors; उद्धृत: कॉमिल बुल्के, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1962, पृ.- 231

[18] हरिराम मीना, आदिवासी समाज में रामकथा, वागर्थ (ऑनलाइन संस्करण: https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/hariram-mina-jan26/)

[19] कॉमिल बुल्के, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1962, पृ.- 232

[20] हरिराम मीना, आदिवासी समाज में रामकथा, वागर्थ, (ऑनलाइन संस्करण: https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/hariram-mina-jan26/)

[21] गोपाल लाल वर्मा, संथाली लोकगीतों में श्रीराम; उद्धृत: कामिल बुल्के, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1962, पृ.- 230-231

[22] आदित्य मित्र 'संताली', सीता की खोज (राँची आकाशवाणी द्वारा प्रसारित 5-11-57) उद्धृत: कामिल बुल्के, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1962, पृ.- 231

[23] डॉ. डब्ल्यू. रूबेन; उद्धृत: कामिल बुल्के, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1962, पृ.- 232

[24] शामराव हिवाले, The Pardhans of the Upper Narmada Valley; उद्धृत: कामिल बुल्के, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1962, पृ.- 232

[25] पेरियर एलपिन, Myths of the North Eastern Frontier of India; उद्धृत: कामिल बुल्के, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1962, पृ.- 233

Received: 11.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

रेडियो कार्यक्रम 'मन की बात' की संचार शैली और विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दे: एक अध्ययन

सूरज शुक्ला* surajshuklajournalist@gmail.com

डॉ विशाल शर्मा† vishalchsm@gmail.com

डॉ. ओमशंकर गुप्ता‡ omshankar1971@gmail.com

शोध सारांश-

यह शोधपत्र प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा हिंदी भाषा में प्रस्तुत रेडियो कार्यक्रम 'मन की बात' की संचार शैली और इसके माध्यम से उठाए गए विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में, जहाँ दृश्य माध्यमों का बोलबाला है, 'मन की बात' ने रेडियो जैसे पारंपरिक माध्यम को पुनर्जीवित कर 'अंतिम छोर' के व्यक्ति तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की है। शोध में कार्यक्रम की 'संवादात्मक और अनौपचारिक' शैली का विशेष अध्ययन किया गया है। इस कार्यक्रम में नरेंद्र मोदी विभिन्न विषयों पर श्रोताओं से सुझाव मांगते हैं और उनमें से चयनित सुझावों को अपने कार्यक्रम में शामिल करते हैं। यह कार्यक्रम पारंपरिक राजनीतिक भाषणों के विपरीत एक पारिवारिक सदस्य या परिवार के प्रमुख के संवाद जैसा प्रतीत होता है। कार्यक्रम को छुट्टी के दिन रविवार को रखा जाता है, जिससे कि अधिकांश जनता को इसे सुनने का अवसर मिले। कार्यक्रम में सरल, सुबोध और लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिससे भाषाई बाधाएँ समाप्त होती हैं और संदेश की ग्राह्यता बढ़ती है। अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि कैसे यह मंच स्वच्छता अभियान, बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ, जल संरक्षण और स्थानीय कला-संस्कृति जैसे विषयों को जन-आंदोलन में बदलने का माध्यम बना है। यह कार्यक्रम 'वोकल फॉर लोकल' जैसे विज़न के जरिए भारतीय सांस्कृतिक गौरव को पुनः स्थापित करने का प्रयास करता है। 'मन की बात' केवल एक सरकारी सूचना प्रसारण का माध्यम नहीं है, बल्कि यह 'सहभागी संचार' का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसने रेडियो को 'टू-वे कम्युनिकेशन' के और करीब लाते हुए सामाजिक परिवर्तन के एक सशक्त उपकरण के रूप में अपनी पहचान बनाई है। यह शोध प्रमाणित करता है कि प्रभावी संचार शैली के माध्यम से सामाजिक संदेशों को जन-जन तक सुगमता से पहुँचाया जा सकता है।

मुख्य शब्द –

मन की बात, रेडियो संचार, सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दे, सहभागी संचार, हिंदी भाषाई शैली, जन-आंदोलन।

प्रस्तावना-

सूचना एवं संचार क्रांति के इस युग में बड़ी संख्या में सूचना माध्यम कार्य कर रहे हैं, जिनपर हर तरह की सूचनाएं 24 घंटे उपलब्ध हैं। इंटरनेट की सहज उपलब्धता, फेसबुक, एक्स (ट्विटर), इंस्टाग्राम, व्हाट्सएप्प जैसे सोशल मीडिया प्लेटफार्म, विभिन्न समाचार माध्यमों के वेबसाइट, ई-पेपर और हर हाथ में स्मार्टफोन ने आमजन तक सूचनाओं की पहुंच को सरल कर दिया है। एआई तकनीकी ने सूचना निर्माण को आसान कर दिया है। रेडियो, टीवी, समाचारपत्र- पत्रिकाओं के अलावा इंटरनेट आधारित इन माध्यमों ने एक तरफ सूचनाओं तक पहुंच सुलभ किया है दूसरी तरफ फेक न्यूज, मिसइन्फॉर्मेशन और डिसइन्फॉर्मेशन की समस्याएं भी सामने आ रही हैं। सूचनाओं के आदान-प्रदान की इन सुविधाओं और चुनौतियों के बीच आकाशवाणी पर हिंदी भाषा में प्रसारित 'मन की बात' एक आकर्षक और चर्चित कार्यक्रम है, जिसे स्वयं भारत के प्रधानमंत्री

* **पी-एच. डी., पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर, उत्तर प्रदेश**

† **असिस्टेंट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, राम लाल आनंद कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

‡ **असिस्टेंट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर, उ.प्र.**

नरेंद्र मोदी अपनी आवाज में प्रस्तुत करते हैं। मन की बात कार्यक्रम में राष्ट्रीय पर्व, तीज-त्योहार, गांव-देहात से लेकर छोटे-बड़े शहरों में आम आदमी जो राष्ट्रहित का काम कर रहा होता है, प्रधानमंत्री अपनी शैली में उसका परिचय कराते हैं और उसकी उपलब्धियों को बताते हैं। किसान, खिलाड़ी, चिकित्सक, वैज्ञानिक, विद्यार्थी- शिक्षक से लेकर आम नागरिक के विभिन्न मुद्दों, समाज और संस्कृति में घटित मुद्दों की चर्चा प्रधानमंत्री की आवाज में जन-जन तक पहुंचती है। यह कार्यक्रम लोगों को सूचना देने के साथ-साथ जागरुक भी करता है। कोविड-19 महामारी के दौर में इसकी उपयोगिता जगजाहिर है। फेक न्यूज, मिसइन्फॉर्मेशन और डिसइन्फॉर्मेशन की चुनौतियों के इस दौर में मन की बात श्रोताओं के लिए उपयोगी और मनोरंजक कार्यक्रम साबित हो रहा है। इस कार्यक्रम को लेकर अनेक अध्ययन सामने आए हैं। इस शोध पत्र में 'मन की बात' कार्यक्रम में प्रयुक्त संचार शैली और विभिन्न सांस्कृतिक-सामाजिक मुद्दों का विभिन्न पुस्तकों, समाचारपत्र-पत्रिकाओं और अन्य समाचार माध्यमों आदि की मदद से अध्ययन-विश्लेषण किया गया है।

शोध समस्या-

वर्तमान दौर डिजिटल क्रांति का है। जिसमें आम आदमी से लेकर खिलाड़ी, पत्रकार, सेलिब्रिटी और नेताओं के पास समान रुप से अपनी बात साझा करने का अधिकार है। लोग इस अधिकार का प्रयोग करके देश-दुनिया तक अपने मन की बात पहुंचा रहे हैं। दूसरी तरफ भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी रेडियो के माध्यम से हिंदी भाषा में 'मन की बात' महीने में एक बार प्रस्तुत करते हैं। अक्टूबर, 2014 से यह कार्यक्रम प्रस्तुत हो रहा है। इस कार्यक्रम में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की संचार शैली, माध्यम के रूप में रेडियो का चयन, कार्यक्रम में प्रस्तुत विषय का चयन, सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव को जानने के लिए इस कार्यक्रम की प्रस्तुति और कंटेंट का व्यवस्थित अध्ययन आवश्यक है। इस विषय पर अध्ययन अलग-अलग व्यक्तियों, संस्थाओं द्वारा होने और रिपोर्ट सामने आने पर बिना किसी पूर्वाग्रह या झुकाव के इसके प्रभाव को जाना जा सकता है।

शोध उद्देश्य-

1- 'मन की बात' में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की संचार शैली और कार्यक्रम में प्रस्तुत विषय का अध्ययन करना।

2—'मन के बात' में प्रस्तुत मुद्दों के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव को जानना।

शोध प्रविधि-

'मन की बात' मूलतः ध्वनि माध्यम से प्रस्तुत होता है लेकिन मीडिया कन्वर्जेंस के दौर में हमें यह ऑडियो के साथ-साथ विजुअल और टेक्स्ट फॉर्म में भी तुरंत उपलब्ध हो जाता है। इस शोध में 'मन की बात' में प्रस्तुत कंटेंट का अध्ययन किया जाएगा। शोध प्रविधि के रूप में अंतर्वस्तु विश्लेषण शोध पद्धति का उपयोग किया जाएगा।

उपकल्पना-

(1) मन की बात रेडियो कार्यक्रम अपनी विशिष्ट संचार शैली और अन्य माध्यमों पर प्रभावपूर्ण प्रस्तुति के कारण चर्चा में रहता है।
(2) मन की बात कार्यक्रम में प्रस्तुत सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दे लोगों के दिल के करीब होते हैं और उन्हें राष्ट्रनिर्माण के लिए प्रेरित करते हैं।

'मन की बात' : प्रत्यक्ष और अनौपचारिक संवाद शैली-

'मन की बात' अन्य रेडियो कार्यक्रमों से अलग और विशेष है। इस कार्यक्रम के पहले एपिसोड की शुरुआत प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के इन शब्दों में हुई थी- "आज विजयादशमी का पावन पर्व है। आप सबको विजयादशमी की अनेक-अनेक शुभकामनाएं। मैं आज रेडियो के माध्यम से आपसे कुछ मन की बातें बताना चाहता हूं। मेरे मन में तो ऐसा है कि सिर्फ आज नहीं बातचीत का ये क्रम आगे भी चलता रहे और मैं कोशिश करूंगा कि हो सके तो महीने में दो बार या तो महीने में एक बार समय निकाल करके आपसे बातें करूं।"[1] प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने जनता से प्रत्यक्ष, हिंदी भाषाई शैली में और बिना किसी औपचारिकता के बात करना शुरु किया। संवाद के जिस कार्य में वह अभ्यस्त हैं, जिसके महत्व को वह समझते हैं,

उसके बारे में बिना लाग लपेट के उन्होंने कह भी दिया कि मैं आपसे आगे भी महीने में एक या दो बार बात करने का प्रयास करुंगा। नरेंद्र मोदी के व्यक्तित्व एवं सार्वजनिक जीवन को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि नरेंद्र मोदी का मतलब निरंतर संवाद है, प्रासंगिक संवाद और प्रभावशाली संवाद है। नरेंद्र मोदी की अपनी विशेष संवाद शैली है और उनका विषय चयन भी विशेष ही होता है। मन की बात का पहला एपिसोड उन्होंने गांधी जयंती के एक दिन बाद अर्थात 3 अक्टूबर, 2014 को शुरु किया था। उन्होंने मन की बात के आगामी संवादों (एपिसोडों) के लिए प्रत्येक महीने की आखिरी रविवार, सुबह 11:00 बजे का समय निर्धारित करने का विचार साझा किया, ताकि वक्ता और श्रोता दोनों की सुविधा बनी रहे और विचारों का आदान-प्रदान प्रभावी ढंग से हो सके। विजयादशमी के अवसर पर मोदी ने मुंबई के एक नागरिक, गणेश वेंकटद्री के सुझाव का उल्लेख किया, जिसमें उन्होंने पर्व की सार्थकता हेतु व्यक्तिगत बुराइयों के त्याग पर बल दिया था। इस विचार का समर्थन करते हुए मोदी ने मन की बात में जनता को सुझाव दिया कि व्यक्तिगत सुधार के साथ-साथ हमें इसे एक राष्ट्रीय संकल्प का रूप देना चाहिए। उन्होंने देशवासियों से आह्वान किया कि इस विजयादशमी पर हम सब मिलकर 'गंदगी' रूपी बुराई को समाप्त करने का प्रण लें। अंत में, महात्मा गांधी की जयंती (2 अक्टूबर) के उपलक्ष्य में शुरू हुए 'स्वच्छ भारत अभियान' को सफल बनाने के लिए उन्होंने जनता के सहयोग पर अपना अटूट विश्वास व्यक्त किया। (मन की बात, 3 अक्टूबर, 2014) प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इस कार्यक्रम की शुरुआत में ही अपना मन खोलकर रख दिया कि वे जनता से नियमित अंतराल पर निरंतर संवाद करना चाहते हैं। मुम्बई के एक नागरिक का नाम और उनके सुझाव का जिक्र कर उन्होंने ज़ाहिर कर दिया कि यह कार्यक्रम एकतरफा नहीं रहने वाला। विजयादशमी के अवसर पर यह कार्यक्रम शुरु हुआ था और शुरुआती बातों में ही विजयादशमी की बधाई, बुराई पर अच्छाई की जीत, एक दिन पहले बीते गांधी जयंती पर शुरु हुए 'स्वच्छ भारत अभियान' की राष्ट्रव्यापी सफलता का आह्वाहन करके उन्होंने जनता को धार्मिक, सांस्कृतिक, भावनात्मक और उद्देश्यपूर्ण ढंग से कार्यक्रम से जोड़ने का कार्य किया। नरेंद्र मोदी ने एक राजनेता की तरह राजनीतिक भाषण की बजाय इस कार्यक्रम को एक परिवार के प्रमुख के रुप में संवाद किया और जनता के सुझाव को शामिल करके इसे दो-तरफा बनाया। इससे सुनने वालों को यह एहसास होता है कि इसमें हमारे मन की बात भी सामने आ रही है।

प्रधानमंत्री का शब्द चयन और भाषाई कौशल-

मन की बात कार्यक्रम में प्रधानमंत्री अपनी बातों को जनता के बीच रखने के लिए सरल शब्दों का चयन करते हैं और उनकी बातों में उनका अपना हिंदी भाषाई कौशल भी झलकता है। दिसंबर 2014 के एपिसोड में वह कहते हैं- "आज फिर मुझे आप से मिलने का सौभाग्य मिला है। आपको लगता होगा कि प्रधानमंत्री ऐसी बातें क्यों करता है। एक तो मैं इसलिए करता हूं कि मैं प्रधानमंत्री कम, प्रधान सेवक ज्यादा हूं।"[2] प्रधानमंत्री को जनता से मिलने के बहुतायत मौके होते हैं, लेकिन रेडियो जैसे ध्वनि माध्यम से जनता से मिलने को सौभाग्य बताना, खुद को प्रधानमंत्री कम, प्रधान सेवक कहना उनका भाषाई कौशल है। वह जनता के दिलों को छू जाने वाले ढंग से अपनी बात कहते हैं। प्रधानमंत्री के तौर पर वह देश के विभिन्न भागों में जाते हैं और वहां उन्हें अलग-अलग तरह का अनुभव मिलता है। इन अनुभवों में से कुछ को वह 'मन की बात' में जनता के साथ साझा भी करते हैं। नवंबर, 2014 के एपिसोड में प्रधानमंत्री ने मन की बात कार्यक्रम में कहा कि "मैंने दीवाली देश के लिए मर मिटने वाले जवानों के बीच में बितायी। देश जब दीवाली मना मना रहा था, तब मैं सियाचिन गया था। क्योंकि उन्हीं की बदौलत तो हम दीवाली मना पा रहे हैं, मैं तो उनके बीच गया था। कितनी कठिनाइयों में भी जीवन गुजारा करते हैं उसका अनुभव मैंने किया मैं देश की रक्षा करने वाले जवानों को सैल्यूट करता हूं।"[3] प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी इस कार्यक्रम में बोर्ड की परीक्षा दे रहे विद्यार्थियों, संस्कृति के क्षेत्र में काम कर रहे लोगों, किसानों आदि की भी चर्चा करते रहते हैं। नवंबर, 2014 के एपिसोड में प्रधानमंत्री ने नशाखोरी के खिलाफ मिले एक पत्र का जिक्र करते हुए कहा था- "श्रीमान अभिषेक पारीक ने मुझे कहा है कि हमारे युवा पीढ़ी में बहुत तेजी से नशे का सेवन ड्रग की तरफ झुकाव बढ़ रहा है उन्होंने मुझसे कहा है कि आप इस विषय पर अपनी मां की बात में जरूर चर्चा करें मैं उनकी स्पीड से सहमत हूं मैं अगली मां की बात जब करूंगा मैं जरूर यह नशाखोरी यह ड्रग्स यह ड्रग माफिया और उसके कारण भारत के युवा धन को कितना बड़ा संकट आ सकता है उसकी चर्चा अगली बार मैं जरूर करूंगा"[4] प्रधानमंत्री द्वारा एक आम नागरिक को श्रीमान कहकर संबोधित करना, नशाखोरी जैसी गंभीर समस्या पर उसकी चिंता सबसे साझा करना, प्रधानमंत्री के भाषाई कौशल और संवेदनशीलता को दर्शाता है। लोगों से नशाखोरी के विरुद्ध किये गये कार्यों को प्रधानमंत्री तक पहुंचाने का आह्वाहन करना, जिसे वह अपने अगले एपिसोड में शामिल करेंगे- यह कहना प्रधानमंत्री जिम्मेदारी और कर्तव्य परायणता को प्रकट करता है।

'सामाजिक व्यवहार परिवर्तन' योग्य विषयवस्तु और प्रस्तुति-

मन की बात कार्यक्रम में समाज को जोड़ने, सामाजिक समस्याओं से सामूहिक रूप से लड़ने का आह्वाहन होता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने जनवरी, 2026 के अंक में बताया कि "मुझे अनंतनाग के शेखगुन्ड गाँव के बारे में जानकारी मिली है। यहां ड्रग्स, तंबाकू, सिगरेट और शराब से जुड़ी चुनौतियाँ काफी बढ़ गई थीं। इन सबको देखकर यहां के मीर जाफ़र जी इतना परेशान हुए कि उन्होंने इस समस्या को दूर करने की ठान ली। उन्होंने गाँव के युवाओं से लेकर बुजुर्गों तक सभी को एकजुट किया। उनकी इस पहल का असर कुछ ऐसा रहा कि वहाँ की दुकानों ने तंबाकू उत्पादों को बेचना ही बंद कर दिया। इस प्रयास से ड्रग्स के खतरों को लेकर भी लोगों में जागरूकता बढ़ी है।"[5] प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी मन की बात में सामूहिक प्रयासों की जानकारी देते हैं और सराहना भी करते हैं। उनके इस प्रकार के संबोधन से लोगों को प्रेरणा मिलती है और सामाजिक समस्याओं को दूर करने में जनभागीदारी बढ़ती है। जनवरी, 2026 के एपिसोड में प्रधानमंत्री ने बताया उत्तर प्रदेश के अयोध्या से निकलने वाली तमसा नदी की स्वच्छता में वहां के नागरिकों के प्रयास का जिक्र करते हुए कहा कि "अयोध्या से निकलकर गंगा में समाहित होने वाली यह नदी कभी इस क्षेत्र के लोगों के जन-जीवन की धुरी हुआ करती थी, लेकिन प्रदूषण की वजह से इसकी अविरल धारा में रुकावट आने लगी थी। गाद, कूड़ा-कचरा और गंदगी ने इस नदी के प्रवाह को रोक दिया था। इसके बाद यहाँ के लोगों ने इसे एक नया जीवन देने का अभियान शुरू किया। नदी की सफाई की गई और उसके किनारों पर छायादार, फलदार पेड़ लगाए गए। स्थानीय लोग कर्तव्य भावना से इस काम में जुटे और सबके प्रयास से नदी का पुनरुद्धार हो गया।"[6] प्रधानमंत्री ने 'मन की बात' के पहले ही एपिसोड में स्वच्छता भारत में जनभागीदारी की बात की थी, 10 वर्ष से ज्यादा समय बीत जाने के बाद भी वह स्वच्छता के प्रति संवेदनशील हैं, और नागरिकों की भागीदारी को रेखांकित करते हैं। मन की बात के पहले एपिसोड में प्रधानमंत्री ने लोगों से खादी का कम से कम एक कपड़ा चाहें वह रुमाल ही क्यों ना हो, खरीदने और उपयोग करने का आह्वाहन किया था, अगले ही एपिसोड में उन्होंने बताया कि खादी वस्त्र उपयोग करने की बात कहने का जोरदार असर हुआ है। उन्होंने कहा कि खादी भंडार वालों ने मुझे बताया है कि जितना पिछले एक साल में खादी वस्त्र नहीं बिका था उससे दोगुना 2 अक्टूबर, 2014 से एक सप्ताह के अंदर खादी वस्त्र बिका है। (मन की बात, अक्टूबर, 2014) 'मन की बात' कार्यक्रम का यह असर एक माह के अंदर ही दिख गया। यह कार्यक्रम सामाजिक व्यवहार परिवर्तन के लिए बार-बार प्रेरित करता है। विषयवस्तु के चयन के साथ-साथ प्रधानमंत्री की विशेष आवाज में प्रस्तुत होने के कारण मन की बात से लोगों का जुड़ाव होता है। इस कार्यक्रम को रेडियो के अलावा दूरदर्शन के विभिन्न चैनलों व हिंदी के साथ- साथ अनेक भाषाओं में अनुवाद करके प्रसारित किया जाता है। कार्यक्रम को लगभग सभी सभी न्यूज चैनलों पर लाइव प्रसारित भी किया जाता है। सभी समाचार पत्र- पत्रिकाओं में इसे भरपूर कवरेज मिलता है।

स्थानीय नायकों की प्रेरक कहानियाँ-

'मन की बात' जनवरी, 2018 के एपिसोड में प्रधानमंत्री ने बताया कि आईआईटी, कानपुर के पूर्व छात्र अरविन्द ने चार दशकों से कचरे से खिलौना बनाने का कार्य करके बच्चों में विज्ञान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न किया है। वे 3000 स्कूलों में जाकर फिल्में दिखाकर विद्यार्थियों को प्रेरित भी करते रहे हैं। इसके बाद प्रधानमंत्री ने कर्नाटक की सितावा जोदत्ती का जिक्र किया, जिन्होंने पिछले तीन दशकों से कर्नाटक के बेलागवी में दलित महिलाओं के जीवन में बदलाव के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। इन्हें महिला सशक्तिकरण की देवी कहा जाता है। इसके बाद प्रधानमंत्री ने मध्यप्रदेश के भज्जू श्याम का जिक्र करते हुए बताया कि उनको पारंपरिक आदिवासी पेटिंग बनाने की शौक है, अच्छी पेंटिंग की वजह से भारत, नीदरलैंड, जर्मनी आदि देशों में इनकी प्रदर्शनी लग चुकी है। इन्हें पद्मश्री अवार्ड से सम्मानित किया गया है। केरल की आदिवासी महिला लक्ष्मीकुट्टी जो कि कल्लार में शिक्षिका हैं और इन्हें हर्बल दवा बनाने में महारत हासिल है। इनकी बनाई दवा सर्प दंश के बाद उपयोग में लाई जाने वाली ये बनाती हैं। यह समाज सेवा का एक विशेष कार्य है। इन्हें भी पद्मश्री अवार्ड से सम्मानित किया गया है। पश्चिम बंगाल की सुभासिनी मिस्त्री का जिक्र करते हुए प्रधानमंत्री ने इसी एपिसोड में बताया कि 23 वर्ष की अवस्था में इन्होंने इलाज के अभाव में अपना पति खो दिया था। इसले लोगों के घरों में बर्तन धोकर, सब्जी बेचकर पैसे जुटाए और अस्पताल का निर्माण किया, जिसमें बड़ी संख्या में गरीबों का मुफ्त इलाज होता है। ऐसे व्यक्ति जिनका काम उल्लेखनीय है, लोगों को प्रेरित कर सकता है, लेकिन इन व्यक्तियों को जो पहचान मिलनी चाहिए, नहीं मिली, उन्हें पहचानकर सरकार पुरस्कृत कर रही है। (मन की बात, जनवरी, 2018) मन की बात में गुमनाम नायकों के कार्यों को रेखांकित करने से नागरिकों में गौरव और भागीदारी की भावना पैदा करती है।

भारतीय जन संचार संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'संचार सृजन' के लिए 'मन की बात' के 100 एपिसोड पूरे होने पर एक विशेष अध्ययन हुआ था। इस अध्ययन में मन की बात पर विशेषज्ञों ने अपनी राय व्यक्त की थी। उनमें से कुछ विशेषज्ञों की राय और उनका विश्लेषण इस प्रकार है-

क्र.सं.	विशेषज्ञों की प्रतिक्रिया	विश्लेषण
1.	आईआईएमसी, नई दिल्ली के तत्कालीन महानिदेशक प्रो. संजय द्विवेदी मन की बात में प्रस्तुत कंटेंट के बारे में कहते हैं "इस शो ने विभिन्न सरकारी योजनाओं और पहलों के बारे में जागरुकता पैदा करने में मदद की है और लोगों को राष्ट्र निर्माण गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया।"[7]	प्रधानमंत्री 'मन की बात' कार्यक्रम में आयुष्मान भारत, स्वच्छ भारत अभियान, बेटी बचाओ- बेटी पढ़ाओ, खादी को बढ़ावा देने आदि योजनाओं और अभियानों की चर्चा करते हैं और उसके बाद के एपिसोड़ों में हमें कहीं स्वच्छता तो कहीं खादी की रिकॉर्ड बिक्री की खबर सुनाई देती है। इससे पता चलता है कि यह कार्यक्रम सामाजिक कार्यों में जनभागीदारी को बढ़ावा देता है।
2.	अनुराग सिंह ठाकुर, तत्कालीन केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री मन की बात के बारे में लिखते हैं "प्रधानमंत्री इस प्लेटफॉर्म का देश के लिए अपने दृष्टिकोण को साझा करने में उपयोग करते हैं और राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया में नागरिकों की सक्रिय भागीदारी चाहते हैं। 'मन की बात' का प्राथमिक उद्देश्य प्रधानमंत्री और नागरिकों के बीच सीधा सम्पर्क बनाना है।"[8]	प्रधानमंत्री अपने कार्यक्रम के दौरान जनता से पत्र लेखन, सोशल मीडिया, नमो ऐप आदि माध्यमों से विभिन्न विषयों जनता से राय मांगते हैं और इन माध्यमों से मिले संदेशों को संदेशकर्ता के नाम सहित प्रसारित करते हैं। एक प्रधानमंत्री आम जनता से इस तरह से संवाद करता है तो जनता का सरकार के प्रति विश्वास और सम्पर्क बढ़ता है। प्रधानमंत्री से सीधा संपर्क होना लोकतंत्र के लिए लाभकारी है।
3.	इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक के तत्कालीन कुलपति प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी 'मन की बात' के बारे में लिखते हैं कि "रेडियो को पुनर्जीवित करने में भी इस कार्यक्रम का महत्व है। रेडियो की यह विशेषता है कि उसे कभी भी, कहीं भी सुना जा सकता है। हाट-बाजार, खेत-खलिहान तक में भी रेडियो की पहुंच है। रेडियो ने इस कार्यक्रम के प्रसार में अपनी श्रेष्ठ भूमिका निभाई है।"[9]	डिजिटल युग में आज अधिकतर लोगों हाथ में स्मार्ट फोन पहुंच चुका है। इंटरनेट की सेवा सस्ती और सुलभ हो गयी है। एक क्लिक पर देश-दुनिया के समाचार मिल रहे हैं। ऐसे में रेडियो सुनने का प्रचलन कम हो गया था। अक्टूबर, 2014 में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने मन की बात रेडियो पर शुरु किया तो रेडियो आज फिर से जीवित हो गया है। आज हर रविवार को लोग रेडियो पर कार्यक्रम सुनते नजर आते हैं। इसमें कार्यक्रम की विषयवस्तु और श्री मोदी की संवाद कला की बड़ी भूमिका है।
4.	वरिष्ठ पत्रकार, गिरीश उपाध्याय मन की बात में अपनी राय व्यक्त करते हुए लिखते हैं "प्रधानमंत्री ने अपने इस कार्यक्रम के लिए रेडियो जैसे जनसंचार के माध्यम को चुना। सवाल किया जा सकता है कि आखिर रेडियो ही क्यों। संभवतः इसलिए कि रेडियो ही एक ऐसा माध्यम है जो गैर पढ़े-लिखे लोगों से भी संवाद का सेतु बन सकता है।"[10]	आजादी के करीब 75 वर्ष हो चुके हैं। देश-दुनिया के तमाम इलाकों में विकास की गंगा बही है लेकिन यह कहना बेईमानी होगी की विकास की इस गंगा में हर नागरिक समान रूप से लाभान्वित हुआ है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में हर नागरिक डिजिटली साक्षर हो, हर नागरिक के पास टीवी हो, हर नागरिक न्यूज पेपर पढ़ने में सक्षम हो यह नहीं कहा जा सकता। ऐसे में रेडियो पढ़े-लिखे और असाक्षर हर नागरिक को मन की बात से जोड़ता है। अनेक भाषाओं में इसे अनुवाद के जरिये प्रसारित किया

		जाता है। इसलिए यह कार्यक्रम जन-जन तक पहुंच रहा है और प्रभाव उत्पन्न कर रहा है।
5.	वरिष्ठ पत्रकार, शिवकुमार विवेक लिखते हैं कि "भारत की स्थितियों में रेडियो सबसे उपयुक्त माध्यम हो सकता है, यह मोदी जी बखूबी आँका। कोविड के दौरान उनके तीन प्रसारण ऐसा ही काम कर रहे थे। जैसे विश्वयुद्ध के दौरान चर्चिल के रेडियो संदेश। कैंब्रिज युनिवर्सिटी के एक अध्ययन के अनुसार कोरोना काल में प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी का बार-बार जनता के सामने आने, संवाद करने और लॉकडाउन जैसे सख्त कदम उठाने से देश को कोरोना को काबू करने में कामयाबी मिली।"[11]	वर्ष 2020 में कोविड-19 एक ऐसी महामारी के रुप में प्रकट हुआ, जिससे बचाव के बारे में ज्यादा जानकारी देश-दुनिया में नहीं थी। भारत इससे बुरी तरह प्रभावित हो सकता था लेकिन प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी रेडियो पर मन की बात के ज़रिये जनता को समय-समय जानकारी देकर जागरुक किया। लोगों पर उसका असर भी हुआ। लोगों ने फिजीकल डिस्टेंस मेंटेन किया, मास्क लगाया और इस महामारी से घबराने की बजाय सुरक्षा के उपायों को प्राथमिकता दी। अन्य माध्यम भी कोविड-19 के प्रति जागरुकता फैला रहे थे, जिनमें रेडियो पर प्रसारित 'मन की बात' की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी।
6.	दैनिक ट्रिब्यून के पूर्व संपादक राजकुमार सिंह ने मन की बात में नरेंद्र मोदी के कार्य का उल्लेख महात्मा गांधी के पत्र लेखन की परंपरा से करते हुए लिखते हैं- "राजनीति में संपर्क संवाद कला का प्रभाव सभी जानते हैं। महामा गांधी इस संपर्क-संवाद के लिए पत्र लेखन का उपयोग करते थे। एक अनुमान के अनुसार उन्होंने एक लाख पत्र लिखे होंगे। गांधीजी ने एक दिन में अधिकतम 49 पत्र तक लिखे। शासन कला में भी संपर्क-संवाद कला अत्यंत प्रभावी हो सकती है, मन की बात से मोदी जी ने साबित कर दिया है।"[12]	कोई भी व्यक्ति जब सामाजिक कार्य करता है तो उसे जन संवाद करना पड़ता है। जिस तरह से आज नरेंद्र मोदी 'मन की बात' के जरिये जनता से संवाद स्थापित करने का कार्य कर रहे हैं और इसमें पत्रों, ईमेल, नमो ऐप, सोशल मीडिया प्लेटफार्म आदि का उपयोग हो रहा है। उसी तरह महात्मा गांधी अपने समय में जनता से संवाद करने के लिए पत्र लेखन किया करते थे। समय बदलने के साथ-साथ साधन बदल गये हैं मगर भावना वही है। आज शासन चलाने, जनता की आवश्यकताओं, उपलब्धियों को जानने, अच्छे कार्यों के लिए प्रेरित करने, संबंधित व्यक्ति की सार्वजनिक रूप से प्रशंसा करने के लिए नरेंद्र मोदी रेडियो का उपयोग कर रहे हैं।
7.	प्रसार भारती के सलाहकार उमेश चतुर्वेदी मन की बात के एक विशेष (99वें) एपिसोड का जिक्र करते हैं जिसमें प्रधानमंत्री ने जनता से अंगदान कर जरूरतमंद लोगों के जीवन बचाने की अपील इन शब्दों में की थी- "ऐसा कहा जाता है कि मरने के बाद जब कोई व्यक्ति अपना शरीर दान करता है तो आठ से नौ लोगों को नया जीवन मिलने की संभावना बन जाती है। मैं देशवासियों से आग्रह करता हूं कि अंगदान करने वाले अधिक से अधिक संख्या में आगे आएं। आपका एक फैसला कई लोगों की जान बचा सकता है, जान दे सकता है।"[13]	स्वास्थ्य हर व्यक्ति के लिए एक जरुरी विषय है। हमारे शरीर का एक भी अंग अगर ठीक से काम नहीं करता तो हम अच्छा महसूस नहीं करते हैं। कई ऐसी समस्याएं हैं जिनमें अंगों को बदलकर ही स्वस्थ हुआ जा सकता है। समाज में आज भी लोग रक्तदान से भी बचते हैं जबकि जरा सी प्रेरणा से रक्तदान के लिए लाइन भी लग जाती है ऐसे में नेत्र और किडनी आदि दान करना एक पुण्य का काम है। प्रधानमंत्री अपने कार्यक्रम में लोगों से मरने के बाद अपना शरीर दान करने की अपील करते हैं, जिससे कि कई जरुरतमंद लोगों को नया जीवन मिल सकता है। यह भी मन की बात कार्यक्रम की एक उपलब्धि है।

निष्कर्ष:

'मन की बात' में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की आकर्षक संचार शैली और अपने विषय वस्तु के कारण पसंद किया जाता है। इसमें प्रस्तुत मुद्दे लोगों को देश के विभिन्न राज्यों की संस्कृतियों, खास ही नहीं बल्कि आम लोगों द्वारा भी समाज हित में किये गये कार्यों, स्वच्छता अभियान, जल- संरक्षण आदि विषयों पर जानकारी देकर जागरुक करते हैं और अच्छा कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। कोविड19 जैसी महामारी के दौर में यह कार्यक्रम जनता को जागरुक करने और जान बचाने में अत्यंत प्रभावशाली भूमिका निभा चुका है। इस कार्यक्रम को स्वयं प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी अपनी आवाज में प्रस्तुत करते हैं। उनके पद के साथ- साथ, उनके व्यक्तित्व, लम्बे सार्वजनिक जीवन, वाकपटुता, सरल संवाद शैली के कारण समाचारों के लगभग हर प्लेटफार्म पर प्रसारित और प्रकाशित किया जाता है और प्रधानमंत्री के पद, वाकशैली और व्यक्तित्व के कारण ही यह रेडियो माध्यम होने के बावजूद जन-जन तक पहुंचता है और लोकप्रियता हासिल करता है। इस कार्यक्रम ने रेडियो को पुनर्जीवन दिया है। 'मन की बात' में प्रधानमंत्री विभिन्न मुद्दों पर लोगों की राय मांगते हैं और शामिल करते हैं। यह 'सहभागी संचार' का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसने सामाजिक परिवर्तन के एक सशक्त उपकरण के रूप में अपनी पहचान बनाई है।

संदर्भ :-

1. भारतीय, डॉ. निशा नंदिनी. (2024, 29 मार्च). *प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मन की बात*. मेरठ: साई प्रकाशन, पृ. 07.
2. भारतीय, डॉ. निशा नंदिनी. (2024, 29 मार्च). *प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मन की बात*. मेरठ: साई प्रकाशन, पृ. 17.
3. भारतीय, डॉ. निशा नंदिनी. (2024, 29 मार्च). *प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मन की बात*. मेरठ: साई प्रकाशन, पृ. 14.
4. भारतीय, डॉ. निशा नंदिनी. (2024, 29 मार्च). *प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मन की बात*. मेरठ: साई प्रकाशन, पृ. 15.
5. प्रधानमंत्री कार्यालय. (2026, 25 जनवरी). *मन की बात की 130वीं कड़ी में प्रधानमंत्री के संबोधन का मूल पाठ*. PMINDIA. https://www.pmindia.gov.in/hi/news_updates/मन-की-बात-की-130वीं-कड़ी-में-प्/
6. प्रधानमंत्री कार्यालय. (2026, 25 जनवरी). *मन की बात की 130वीं कड़ी में प्रधानमंत्री के संबोधन का मूल पाठ*. PMINDIA. https://www.pmindia.gov.in/hi/news_updates/मन-की-बात-की-130वीं-कड़ी-में-प्/
7. द्विवेदी, प्रो. संजय. (2023, अप्रैल–जून). *संचार सृजन*. नई दिल्ली: भारतीय जन संचार संस्थान, पृ. 03.
8. ठाकुर, अनुराग सिंह. (2023, अप्रैल–जून). *संचार सृजन*. नई दिल्ली: भारतीय जन संचार संस्थान, पृ. 10.
9. त्रिपाठी, प्रो. श्रीप्रकाश मणि. (2023, अप्रैल–जून). *संचार सृजन*. नई दिल्ली: भारतीय जन संचार संस्थान, पृ. 12.
10. उपाध्याय, पंकज. (2023, अप्रैल–जून). *संचार सृजन*. नई दिल्ली: भारतीय जन संचार संस्थान, पृ. 18.
11. विवेक, शिवकुमार. (2023, अप्रैल–जून). *संचार सृजन*. नई दिल्ली: भारतीय जन संचार संस्थान, पृ. 22.
12. सिंह, राजकुमार. (2023, अप्रैल–जून). *संचार सृजन*. नई दिल्ली: भारतीय जन संचार संस्थान, पृ. 25.
13. चतुर्वेदी, उमेश. (2023, अप्रैल–जून). *संचार सृजन*. नई दिल्ली: भारतीय जन संचार संस्थान, पृ. 27.

Received: 11.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

"Who Owns the Local Voice?" The Study of Ownership Structure in India's Small Hindi Newspapers

DR. MUKESH KUMAR*
Mukesh29kumar@gmail.com

Abstract

Small Hindi newspapers constitute one of the most significant yet least studied segments of India's print media ecosystem. Serving rural, semi-urban and linguistically diverse populations, these papers function as vital democratic platforms that document hyperlocal issues and give voice to communities often overlooked by mainstream media. However, escalating corporate consolidation, unequal distribution of government advertising and resource scarcity have created structural pressures that threaten their autonomy and sustainability. This study examines ownership structure of 38 small Hindi newspapers.

Findings reveal significant disparities in publication continuity, resource availability and editorial independence. Only 23 of the sampled newspapers were actively publishing and many exhibited a heavy dependence on advertising or informal networks, leading to compromised autonomy. Ownership patterns emerged as a crucial determinant of editorial freedom: individually owned newspapers were more community centric but under resourced, while chain-owned papers had better financial stability but weaker local decision-making power.The study demonstrates how ownership concentration and structural inequalities undermine pluralism and weaken India's democratic public sphere.

Keywords:

Local Journalism; Editorial Autonomy; Media Ownership; Small Hindi Newspapers; Public Sphere

Introduction

Over the past three decades, the ecosystem of local news print media in India has been reshaped by forces of democratization, market liberalization, technological expansion and linguistic assertion. Within this dynamic environment small Hindi newspapers constitute a crucial yet structurally vulnerable segment of the communication landscape. Unlike national English-language dailies, which cater to urban and elite audiences, small Hindi newspapers serve as primary information channels for rural, tribal and semi-urban citizens. They provide a rare combination of linguistic

* **Assistant Professor, PG Department of Journalism and Mass Communication**

Maulana Mazharul Haque Arabic and Persian University, Patna (India).

proximity, cultural resonance and geographic relevance. As such, they act not only as conveyors of information but as instruments of local identity-making, social accountability and democratic participation. Their significance is amplified in regions where state institutions and mainstream media have historically failed to represent micro-level social realities, everyday concerns, and marginal voices.

Yet, the very newspapers that anchor India's regional democratic public spheres are now situated within rapidly intensifying pressures of media consolidation, advertising dependency, technological disparities, and political influence. Globally, scholars have observed that concentration of media ownership erodes editorial diversity, compresses ideological plurality and aligns newsroom priorities with commercial or partisan interests (Bagdikian, 2004; McChesney, 2008). These trends acquire sharper contours in India, where large media conglomerates such as Jagran Prakashan, D.B. Corp., and the Indian Express Group have expanded aggressively into local markets. Their entry introduces asymmetrical competition: chain-owned newspapers possess financial and technological advantages, whereas individually owned small newspapers operate with limited capital, scarce professional staff and inconsistent advertisement flows. This uneven landscape directly influences editorial autonomy and the ability of small newspapers to sustain independent local journalism a concern consistently reflected in interviews with editors and owners.

Central to this study is the question of locality, which remains the defining feature of small Hindi newspapers. Locality shapes content priorities, news agendas, representational choices and audience expectations. The readers of these newspapers look for news about village governance, district-level administration, law-and-order conditions, local elections, caste dynamics, agricultural issues and community conflicts topics often absent in mainstream national newspapers. Thus, locality functions both as a professional orientation and as a democratic responsibility. However, locality also generates constraints: editors and reporters frequently negotiate pressures from local politicians, advertisers, bureaucrats and interest groups. The tension between professional norms like, objectivity, accuracy, public interest and socio-political pressures become central to understanding editorial autonomy in such contexts.

This study finds that many chain-owned newspapers rely heavily on national wire agencies and centralized newsrooms, which reduces the proportion of authentically local stories. In contrast, individually owned papers typically depend on local correspondents, informal networks and community-driven information channels. While this enhances local relevance, it also exposes vulnerabilities related to verification, accuracy and resource constraints.

With these concerns interviews of editors and owners was taken, it investigates how ownership structures, resource distribution and institutional pressures shape editorial decision-making. The study makes a significant contribution to international scholarship by situating India's small Hindi newspapers within broader debates on media pluralism, community journalism and the political economy of news. In doing so, it demonstrates that sustaining the vitality of India's democratic communication infrastructure requires strong, autonomous and community-oriented small newspapers entities whose survival is increasingly under threat but whose relevance remains indispensable.

Review of Literature

The editor is the living articulate voice of the press and speaks through the paper (**Verghese, 1977**).

The first responsibility of an editor: to get the paper out, an editor must ensure that the newspaper is fair to everyone. Readers are an editor's paramount concern (**Hadwin, 1998**). The "local news agenda is constructed from a number of sources with the journalist and the newspaper editors acting as gatekeepers" (**Gandy Jnr, 1982**). "It has been argued that the public sees that the world, not as it is, but through the filter of the media" (**McCombs, 2005**). The agenda of local newspapers is clear: to share the concerns of development in a locality and to expose the problems of that local region, therefore editors of local newspapers act as gatekeepers.

"If one voice becomes too powerful, this process is placed in jeopardy and democracy is damaged. It is a tragedy for our democracy" (**Engel, 2009**). "It is harmful to the democratic health to have too few voices and there is demonstrable evidence of harm to journalism from an overly concentrated media landscape. The theoretical need for sustaining a diversity of voices in a democracy" (**Barnett, Journalism, Democracy and the Public Interest: rethinking media pluralism for the Digital Age, 2009**). Different ownerships help to ensure that a variety of views and interests are represented in the press (**Busa, 2014**). Indian language newspapers have a wide variety of ownership. On the one hand, there are businessmen like Bennett Colman, and on the other hand, there are people who are publishing small newspapers (**Jeffrey, 2000**). "An important factor affecting news is ownership". Newspapers owners have been known to use their papers to convey their own political views and interests (**Busa, 2014**). Nobody gets rich in the local and regional media, except the owners (**Cole, 1998**).

'Monopolistic capitalists' mainly control the Indian newspapers. In the report of the first press commission, it was said that the owner of a monopoly should regularize the control and also criticized the power of controlling the public according to his mind (**Jeffrey, 2000**).

The idea that narrow ownership of the local and regional press is a threat to pluralism and diversity is not new. The "Royal Commission on the press, in its 1962 report, concluded that control of the press was a matter of public concern and that the increasing concentration of newspaper ownership in a few hands could stifle the expression of opinion and argument and distorts the presentation of news" (**Williams, 1998**).

"Three factors that distinguish newspapers from one another are: ambitions, resources and ownership is probably the greatest influence among all three" (**Downie, JR., Leonard & Kaiser, Robert, G., 2003**). "Business models influence the ability of small-market newspapers to respond to digital disruption. Chain ownership can bring security and resources, but it may also bring with it homogeneity and a lack of local autonomy. Independent and family ownership", on the other hand, potentially offers greater flexibility, but with more limited recourses and institutional support (**Radcliffe, Damian; Ali, Christopher, 2017**). Also substantiate by (**Vilanilam J. V., 1975**), (**Shah, 1990**).

Small newspapers complained about the growth of newspapers chains. A report is written for the second press commission in 1982 by S K Goyal and Chalapathi Rao under the caption 'Ownership and control structure of the Indian Press' advocated public takeover of the top eight newspaper

establishments because it was “essential to delink the press from monopoly houses” (**PCI**, **2001**).

The striking common feature in the patterns of ownership of the local and regional press across Europe is the horizontal integration of local newspapers titles by media groups to create regional monopolies in newspaper markets. In the UK (**Williams, 1998**).

Diversity of voice is the healthy journalistic culture. Pluralism is a ‘good thing’. Policymakers promote it by putting in place a regulatory regime designed to prevent undue conglomeration. Through the means of plural ownership, it is assumed that it will achieve the ends of a diverse output (**Barnett, Journalism, Democracy, and the Public Interest: Rethinking Media Pluralism for the Digital Age, 2009**). “To save democracy, it is necessary that the concentration of the ownership of the media is legally prohibited and media plurality and diversity of ownership structure is actively promoted. The press is our country is reliable and useful not because of its good character but because of its great diversity” **(PCI, 2001**).

A better newspaper relies on its sales and therefore, it keeps the readers in mind. It is in the control of the readers because if the readers do not like the news then they will start buying another newspaper with their money and the same effect will be carried onto advertisements. As newspapers of Indian languages were developed, the competition to control the growing areas also started (**Jeffrey, 2000**). The “significant change in the universe of Hindi journalism was that smaller players were getting squeezed out of the market by the financial muscle and advertising dominance of the multi-edition players” (**Ninan, 2007**). The newspaper gets profits from advertising. The economy of newspaper publication is dependent on advertising not on its sales (**Jeffrey, 2000**).

Theoretical Framework

The Critical Political Economy of Media provides the foundational lens for examining how ownership patterns and market structures influence editorial decisions. Scholars such as **Mosco (2009)** and **McChesney (2008)** argue that media ownership concentration restricts diversity of viewpoints, commodifies news, and weakens editorial independence by subordinating content to commercial imperatives. In the Indian context, large conglomerates Jagran Prakashan, D.B. Corp, and Indian Express Group extend chain ownership into small-newspaper markets, creating asymmetrical power relations that undermine locally owned titles. **Bagdikian’s (2004)** seminal claim that monopolistic control distorts news to serve corporate and political interests echoes the findings of this study, which shows that corporate-owned small newspapers enjoy greater resources and advertising support, while independently owned small papers struggle to survive. Through this framework, editorial autonomy emerges not merely as a professional ideal but as a structural outcome of who owns and finances the newspaper.

Research Methodology

Objective of the Research

1. To analyze the impact of different ownership structures in Small Hindi Newspapers.

Sampling

Considering the objectives of this study, two Hindi newspapers each from 19 States were selected for the study, amounting to a total of 38 newspapers. The selected 19 states are the only states which show a significant presence of small newspapers in the Hindi language.

Procedure for selection of sample: -

For selection purposes and to rule out the element of bias, the states were first arranged in an alphabetical order as shown in column one. Thereafter, two daily newspapers each with the largest circulation in respective states were chosen. These newspapers were arranged in a chronological order according to the unique numbers assigned to each one of them, as shown in column two and three of the chart.

Andhra Pradesh	1.SWATANTRAVAARTHA(Nizamavad)	2.SWATANTRA VAARTHA(Vishakhapatnam)
Assam	3.DAINIK PURVODAY(Guwahati)	4. DAINIK PURVODAY (Jorhat)
Bihar	5.BIHAR KI HAKIKAT(Muzaffarpur)	6.MONA TIMES(Muzaffarpur)
Chandigarh	7.PAHALI KHABAR(Chandigarh)	8.JANSATTA(Chandigarh)
Chhattisgarh	9.SAMACHARKHOJ(Raipur)	10.CHHATTISGARH SWAR(Raipur)
Daman and Diu	11. SAVERA INDIA TIMES (daman)	12. ASALI AZADI(Daman)
Delhi	13.RASHTRAWADI TIMES(Delhi)	14. ISHAN TIMES(Delhi)
Gujarat	15.JANABHUMI HERALD(Surat)	16.JAN HITAISHI(Baroda)
Haryana	17.BABYYIAN TIMES (Rohtak)	18.TYAGI TIMES(Sonipat)
Himachal Pradesh	19.DAINIK BHASKAR(Shimla)	20.JAGRAN DAINIK (kangra)
Jharkhand	21.CHAMAKTHA AIYNA(Jamshedpur)	22.APNA INDIA (Ranchi)
Jammu and Kashmir	23.DAINIK JAGRAN (Jammu)	24.NORTHEN TIMES(Jammu)
Maharashtra	25.DOPAHAR KA SAMANA(Mumbai)	26.TARUN MITRA(Thane)
Madhya Pradesh	27.DAINIK ALOK(Bhopal)	28.KRITI KRANTI(Bhopal)
Punjab	29.DAINIK JAGRAN(Patiala)	30.DAINIK JAGRAN(Bathinda)
Rajasthan	31.ASIAN STANDARD(Jaipur)	32.HELLO TIMES(Jodhpur)
Uttar Pradesh	33.CITY TIMES(Lucknow)	34.*NEWS READER(Lucknow)*
Uttarakhand	35.RUDRA TIMES(Haridwar)	36.KUMAON TIMES(Haldwani)
West Bengal	37.HIND SAMWAD(Asansol)	38.RAJASTHAN PATRIKA(Kolkata)

Table 1: Newspapers sample arranges chronologically and state-wise

Interview

Keeping in mind the objectives of the study, the interview of the following was conducted

1. Editor /Owner of the concerned newspapers.

NO.	**Newspapers Name**	**Owner's Name**	**Editor's Name**
1.	Swatantra Vaartha	Aga Publication Ltd.	Radhey Shyam Shukla

2.	Swatantra Vaartha	Aga Publication Ltd.	Radhey Shyam Shukla
3.	Dainik Purvoday	Purvoday Publication Ltd.	Satyanand Pathak
4.	Dainik Purvoday	Purvoday Publication Ltd.	Satyanand Pathak
5.	Bihar Ki Hakikat	Kumar Abhimanyu	Kumar Abhimanyu
6.	Mona Times	Surendra Prasad	Surendra Prasad
7.	Pehli Khabar	First Newsmedia Pvt. Ltd.	Surrendra S. Hooda
8.	Jansatta	The Indian Express Ltd.	Mukesh Bhardwaj
9.	Samachar Khoj	Ganesh Singh Rajpoot	Ganesh Singh Rajpoot
10.	Chhattisgarh Swar	Sai Kripa Trading Pvt. Ltd	Ganesh Singh Rajpoot
11.	Savera India Times	Naresh Agrawal	Naresh Agrawal
12.	Ashli Azadi	Maruti Nandan Publication	Vijay J. Bhatt
13.	Rashtrawadi Times	Chandra-Jyoti P. Pvt. Ltd	Ram Sakal Tiwari
14.	Ishan Times	Sanjay Rai	Sanjay Rai
15.	Janabhumi erald	Harishbhai M. Sapkal	Harishbhai M. Sapkal
16.	Jan Hitaisi	Laxmichand G. Agrawal	Laxmichand Agrawal
17.	Babyian Times	Manju Gupta	Manju Gupta
18.	Tyagi Times	Dharampal Tyagi	Satpal Tyagi
19.	Dainik Bhaskar	D.B. Corp. Ltd.	Uttam Sen Gupta
20.	Dainik Jagran	Jagran Prakashan Pvt. Ltd.	Sanjay Gupta
21.	Chamakata Aiyna	Binay Kumar Shukla	Jai Prakash Rai
22.	Apna India	Alok Kumar Soren	Prakash Kumar Jha
23.	Dainik Jagran	Jagran Prakashan Pvt. Ltd.	Abhimanyu Sharma
24.	Northern Times	Ashok Kumar Raina	Ashok Kumar Raina
25.	Dopahar Ka Sammna	Prabodhan Prakashan	Bal Keshav Theckeray
26.	Tarun Mitra	Kailash Nath	Swatantra Kumar
27.	Dainik Alok	Mohammad Hamid Khan	Mohammad H. Khan
28.	Kirti Kranti	Umesh Dixit	Lokesh Dixit
29.	Dainik Jagran	Jagran Prakashan Pvt. Ltd.	Sanjay Gupta
30.	Dainik Jagran	Jagran Prakashan Pvt. Ltd.	Sanjay Gupta
31.	Asian Standard	Anilkant Sharma	Anilkant Sharma
32.	Hello Times	Kailash Chandra Muta	Kailash Chandra Muta
33.	City Times	Media Communication Pvt. Ltd	Shailendra M Tripathi
34.	News Reader	P. Kumar	P. Kumar
35.	Rudra Times	Amit Kumar Sharma	Sneh Lata Sharma
36.	Kumaon Times	Krishna Kumar Gupta	Krishna Kumar Gupta
37.	Hind Samvad	Imtiyaz Khan	Imtiyaz Khan
38.	Rajasthan Patrika	Rajasthan Patrika Pvt. Ltd.	Govind Chaturvedi

Table 2: List of editors and owners for interview

Data Analysis

- While conducting a study on 38 newspapers, it was found that only 23 of them were getting published.
- Out of the 38 small Hindi newspapers, only 3 of them had female editors but they were only operating on paper.
- Out of the 38 newspapers, only 15 had either Private or Limited ownership and publication. Out of those 15, 4 were not even being published.
- Out of the 38 newspapers, only 23 small Hindi newspapers had individual ownership out of which 11 were not being published.
- Out of the 38 newspapers, 12 newspapers had individual ownership and 11 were private or public limited companies. Among them, only9 were public limited and 2 were private limited companies.

Discussion

In this section, the researcher discusses the editor, the locality, where local-small newspapers are published and power control of news business. The concentration of power at different levels, the need to distribute power into the hands of citizens to eradicate the unbalanced power relationship between the principals and the subalterns. This can only be achieved by ensuring that the public has the "maximum influence, control, and ownership over the decision-making forces and agencies which shape their lives and the environments" (**Manyozo, 2012**)

Editor

An editor "has to be a journalist, writer, manager, legal expert, negotiator, visionary, mentor, publisher, and an entrepreneur" (**Hadwin, 1998**). This is substantiated by (**Khan I., 2015**), (**Gupta, 2016**), (**Dixit, 2016**), (**Khan M. H., 2017**), (**Tyagi, 2017**) (**Kumar, 2018**), (**Agrawal L. G., 2018**) (**Agrawal N., 2018**) (**Bhatt V. J., 2018**).

Small newspapers editors are concerned about the local communities. These editors make sure that news from everywhere and every perspective gets space in the newspaper to inform about various issues along with providing a voice to everyone. An editor's role is to produce a newspaper that serves the community in which it is being circulated and is willingly bought as it is concerned about the reader's long-term interest, satisfies her curiosity, improves her and others' lives, increases her prospects and assists to form an informed, liberal public opinion. Local newspaper editors are close to their communities. The role of an editor is to produce a newspaper which serves the community (**Hadwin, 1998**). This is substantiated by (**Khan I., 2015**), (**Gupta, 2016**), (**Dixit, 2016**), (**Khan M. H., 2017**) (**Tyagi, 2017**) (**Kumar, 2018**), (**Agrawal L. G., 2018**) (**Agrawal N., 2018**) (**Bhatt V. J., 2018**).

Regional editors are generally not subject to direct intervention, as many local newspapers execute their responsibility to uphold editorial independence. However, the management holds an important

position as it controls the financial matters. This is applicable to small newspapers of big corporate houses and those small newspapers with ample resources (**Pathak, 2014**) (**Shukla, 2015**) (**Sharma, 2015**) (**Bhardwaj, 2017**).

"More and more editors today have turned their attention away from readers' interest in news and views to the promotion of their publishers" (**Nair, 1997**). Still, the editors of local newspapers are connected to their local community. Earlier the editor used to sell the paper, now marketing sells newspapers (**Ninan, 2007**). The change has been brought about by the era of globalization and consumerism. Readers must get their money's worth or they will stop buying the paper. Nowadays, newspapers must give their readers what they want (**Hadwin, 1998**).

Ownership

In the Indian context, small and local newspapers are creating strong public spheres in the local regions. Example -- '*Poora Sach*'. This is substantiated by (**Srivastava, 2017**), (**Tripathi, 2018**).

The plurality of sources of information is a must for democratic governance to prevail. The growing tendency towards monopoly in print media can be found all over the world. This is indeed a consequence of commercialization of the press. The philosophy of the media business that 'the primary objective of media is service and not profit should not be forgotten by the newspaper management'. Monopoly over information is detrimental to democracy. In this study, the researcher found that the big Indian conglomerates enter the local and small newspapers market-creating unequal opportunities and conditions of competitions and inducing a survival struggle. Example – Jagran publication ltd., The Indian express ltd. and D.B Corp. ltd. The corporate sector has entered the press mainly to do business like any other business, and to earn profits. This is an unhealthy pattern for democracy.

Ownership at present among the newspapers:

1. Individual
2. Partnership
3. Joint-stock company
4. Society registered under the various act
5. Co-operative ownership
6. Trust (**Singh, 1962**). On the basis of this type of ownership. The researcher found that out of 23 small newspapers in India, 12 are individual and 11 are a private and public limited company. Among them, 9 are public limited and 2 are a private limited company. Because of Individual ownership, these small newspapers are working with less resource.

Control

The readers of local communities have more control over local newspapers (**Gupta, 2016**). If their views, issues, and concerns are not well expressed or represented in a newspaper, the readers do not buy them (**Khan I., 2015**).

Jawaharlal Nehru believed that the big newspapers presented public opinion by their own will and used them in their best interest. Advertisers control these newspapers (**Jeffrey, 2000**). This is substantiated by (**Mandal, 2013**). However small newspapers which are individually owned are controlled by local readers from that geographical region.

Newspapers owners want to serve the community, but in a competitive scenario marketing and advertising are driving their publishing businesses (**Ninan, 2007**), but in the time of global-digital era, many newspapers are doing service to their community whereas small newspapers from big houses get more advertisements as compared to small local newspapers.

The government also attempts to control small newspapers through the medium of advertisements. In a case, the West Bengal government stopped issuing advertisements because the newspapers criticized Mamta Bannerjee's government (**Khan I., 2015**). In this study, the researcher found that the government had discriminated in issuing advertisements to newspapers belonging to the same category. For example, *Northern Times* from Jammu received Rs. 40 lac less in their advertisement budget from *Dainik Jagran*. 'This is also a way of controlling newspapers' (**Gupta, 2016**).

Advertisement

The revenue, a newspaper makes from readers payments are relatively small, the key factors in generating profit are sales and circulation. "Sales and circulation are important because they determine the paper's appeal and service charge to advertisers", they are the real source of profit. Newspaper publishers are serving to keep sales and circulation high, so as to attract advertisements (**Busa, 2014**). On average, advertisement is extremely important for any newspaper. *Dopahar ka Saamana* newspaper states that their priority is not an advertisement but ideology. Mahatma Gandhi did not advertise in the weekly, he believed 99 per cent of the advertisements were useless. If the advertisement is not printed, we will definitely save at least half the expense on an article. 'The only purpose of journalism should be service', but now journalism has transitioned from being a mission to a profession of commission (**Tiwari, 2016**).

Newspapers sell news and ideas to the readers and sell readers to the advertisers because readers are essential for any newspaper. The newspaper gets advertisements from the readership and newspaper of India are now increasingly earning their profits from advertisements. Readers are provided newspapers at a cost which is much less than the printing cost (**Agrawal L. G., 2018**). The shortfall in revenue is compensated by the advertisements. Small newspapers obtain their advertisements from their local areas.

The Hindi journalism was that smaller players were getting squeezed out of the market by the financial muscle and advertising dominance of the multi-edition players. The local newspapers of the Big Indian media group entered the small newspaper market and increased the competition. The former attracts readers by their competitive pricing and coupon schemes. Such unequal rivalry makes small newspapers suffer as they have minimal resources and are individually owned. The same has been substantiated by (**Khan I., 2015**), (**Gupta, 2016**), (**Dixit, 2016**), (**Khan M. H., 2017**) (**Tyagi, 2017**) (**Kumar, 2018**) (**Agrawal L. G., 2018**) (**Agrawal N., 2018**) (**Bhatt V. J., 2018**).

Conclusions

This study affirms that small Hindi newspapers constitute an indispensable yet increasingly vulnerable component of India's democratic print media ecosystem. Their rootedness in locality, cultural proximity and linguistic accessibility enables them to capture everyday realities that remain outside the gaze of metropolitan media. Yet the evidence reveals that structural asymmetries manifested in concentrated ownership, uneven resource distribution, discriminatory advertising practices and inconsistent news-sourcing severely restrict their editorial autonomy and long-term viability. While individually owned newspapers uphold a more authentic local voice, they function under acute financial and institutional constraints; conversely, chain-owned titles possess greater resources but diminished local independence. Safeguarding India's democratic public sphere therefore necessitates policies that ensure ownership diversity, fair advertisement allocation and robust protections for editorial freedom. Strengthening these newspapers is essential for preserving pluralism, fostering accountability and sustaining meaningful public discourse.

Reference

Agrawal, L. G. (2018, March 12). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Agrawal, N. (2018, January 20). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Barrett, O. B. (2011, March - April 26-01). Rethinking news agencies, national development and information imperialism. *Economic and political weekly Vol-46, No-13*, pp. 85-94.

Bell, M. (1998). The journalism of attachment. In M. Kieran, *Media Ethics* (pp. 15-22). London: Routledge.

Bhatt, V. J. (2018, March 27). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Dixit, U. (2016, January 22). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Gupta, K. K. (2016, March 10). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Engel, M. (2009). Local papers: An obituary. *British journalism review 20/02*, 55-62.

Fraser, N. (1990). Rethinking the public sphere: A contribution to the critique of actually existing democracy. *Social Text*, 25/26, 56–80.
Franklin, B. (1998). *Local Journalism and local media: Making the local news.* London: Routledge.
Hadwin, S. (1998). Real readers, real news: the work of a local newspaper editor. In B. Franklin,

Khan, I. (2015, June 12). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Khan, M. H. (2017, June 17). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Kumar, M. (2024), Digital scale for newspaper content analysis (Indian Patent No. 4216320010. Controller General of Patents, Designs & Trade Marks.

Neyazi, T. A. (2011). Politics after vernacularisation: Hindi media and Indian democracy. *Economic and Political Weekly*, 75-82.

Ninan, S. (2007). *Headlines from the Heartland: Reinventing the Hindi public sphere.* New Delhi: Sage Publication.

Pilling, R. (1998). Local journalist and the local press: waking up to change? In B. Franklin, *Local journalism and local media: making the local news* (pp. 104-114). London: Routledge.

Jeffrey, R. (2000). *India's newspaper revolution.* London: Hurst & Company.

Randall, D. (1999). *The Universal Journalist.* London: Pluto Press.

Tripathi, A. (2018). *Dera Sacha Sauda and Gurmeet Ram Rahim: A Decade-Long Investigation.* New Delhi: Penguin.

Tyagi, D. (2017, July 18). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

PCI. (2001). *Future of Print Media: A Report.* New Delhi: Press Council of India.

Shah, H. (1990). Some methodological considerations for the study of development news: an examination of three Indian daily newspaper. *Gazette 45: Kluwer Academic Publishers, Netherlands*, 33-48.

S.C.Bhatt. (1997). *Indian press since 1955.* New Delhi: Publication Division, Ministry of information and broadcasting.

Singh, P. P. (1962). Mass communication in India. *International communication Gazette vol.-8* , 183-187.

Srivastava, A. (2017, September 1). *Newslaundry.com.* Retrieved October 11, 2018, from Newslaundry: http://www.newslaundry.com/2017/09/01/ramrahim-small-newspapers-played-a-huge-role-in -cases-against-jailed-Dera-chief

Shrivastava, K. M. (2010). Indian scene: Nehru's dream remains distant. In O. Boyd-Barrett, *News agencies in the turbulent era of the internet* (pp. 245-258). Barcelona: Generalitat de Catalunya.

Tiwari, R. S. (2016, March 18). Local media in global scenario: A content analysis of small Hindi newspapers in India. (M. Kumar, Interviewer)

Verghese, B. G. (1977). The media in a free society: proposals for restructuring. *Economic and political weekly vol-12, No-18*, pp. 731-740.

Vilanilam, J. V. (1975). Ownership versus developmental news content: an analysis of independent and conglomerate newspapers of India. *AEJ International Communication Convention*, 1-17.

Williams, G. (1998). Profits before product? Ownership and economic of the local press. In B. Franklin, *Local journalism and local media: making the local news* (pp. 83-92). London: Routledge.

Received: 13.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

स्वास्थ्य संचार के सैद्धांतिक पक्ष : भारतीय संदर्भ में मॉडल, सिद्धांत और अनुप्रयोग

Theoretical Dimensions of Health Communication: Models, Theories and Application in Indian Context

डॉ. अमृत कुमार*

amrit.kumar@cuj.ac.in

सारांश:

स्वास्थ्य संचार केवल सूचना देना नहीं है, बल्कि व्यवहार परिवर्तन की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में सिद्धांतों की समझ के बिना प्रभावी स्वास्थ्य संचार संभव नहीं। इस शोध पत्र का उद्देश्य स्वास्थ्य संचार के प्रमुख सैद्धांतिक मॉडलों, मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों और उनके भारतीय ग्रामीण संदर्भ में अनुप्रयोग का विश्लेषण करना है।यह शोध पत्र वर्णनात्मक-विश्लेषणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है ।इस शोध पत्र में 15 अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय शोध पत्रों का द्वितीयक विश्लेषण है।शोध परिणाम एवं निष्कर्ष में यह पाया गया कि, Health Belief Model, Social Cognitive Theory, Diffusion of Innovation और Extended Parallel Process Model भारत में TB, टीकाकरण और पोषण अभियानों में सफल रहे हैं तथा स्वास्थ्य सकारात्मकता हेतु भारत को "Glocal Health Communication Model" विकसित करना चाहिए जो वैश्विक सिद्धांत के साथ स्थानीय संस्कृति को भी जोड़ें।

मुख्य शब्द:

स्वास्थ्य संचार, सैद्धांतिक मॉडल, व्यवहार परिवर्तन, भारत, ग्रामीण संचार

प्रस्तावना

स्वास्थ्य संचार 21वीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता एवं चुनौतियों में से एक है। WHO 2020 के अनुसार दुनिया की 60% बीमारियाँ व्यवहार से जुड़ी हैं जैसे तंबाकू, कुपोषण, असुरक्षित यौन संबंध, टीका न लगवाना इत्यादि।

भारत में क्षय रोग से मृत्यु की घटनाओं में कमी आई है फिर भी प्रत्येक वर्ष लगभग 1.5 लाख लोग क्षय रोग से मरते हैं। पोषण स्तर में सुधार है फिर भी बच्चे का कुपोषित होना चिंता का विषय बना हुआ है (NFHS-5)। सरकार हर साल हजारों करोड़ "जागरूकता अभियान" पर खर्च करती है। जागरूकता अभियान में मीडिया के विभिन्न भाग जैसे प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक, रेडियो, वेबसाइट, परम्परागत पोस्टर-बैनर के साथ सरकारी जनसंपर्क विभाग, स्वास्थ्य कर्मी, समाजसेवी लगातार प्रयासरत रहते हैं। फिर भी स्वास्थ्य के प्रति वैज्ञानिक चेतना का अभाव आज भी देखा जा सकता है। लोगों के व्यवहार में काफ़ी हद तक बदलाव हुआ है, यह बदलाव विभिन्न कारणों आज भी विभिन्न क्षेत्रों में अलग अलग दृष्टिगत होता है। कई बार तो ऐसा लगने लगता है जैसे स्वास्थ्य व्यवहार बदलना मुश्किल है या बदलेगा ही नहीं।ऐसी परिस्थिति में स्वास्थ्य संचार के मुख्य मॉडल एवं सिद्धांत से परिचित होना प्रासंगिक हो जाता है। कई बार हम "संचार" को "प्रचार" समझ लेते हैं। सिद्धांत के बिना किया गया संचार को हम तीर बिना निशाने के जैसा कह सकते हैं।

* **सहायक प्राध्यापक, जनसंचार विभाग, झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय, रांची**

स्वास्थ्य संचार की परिभाषा:

NCI 2019 के अनुसार "Health communication is the study and use of communication strategies to inform and influence individual and community decisions that enhance health"।

शोध प्रश्न :

1. स्वास्थ्य संचार के मुख्य सिद्धांत कौन से हैं?
2. ये सिद्धांत भारतीय संदर्भ में कैसे काम करते हैं?
3. एकीकृत भारतीय मॉडल कैसा हो सकता है?

स्वास्थ्य संचार के प्रमुख सैद्धांतिक मॉडल

1. स्वास्थ्य विश्वास मॉडल (Health Belief Model – HBM)

स्वास्थ्य विश्वास मॉडल (Health Belief Model–HBM) स्वास्थ्य संचार एवं स्वास्थ्य व्यवहार परिवर्तन के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली मॉडलों में से एक है। इस मॉडल का विकास इरविन एम. बेकर (Irwin M. Becker) तथा उनके सहयोगियों ने 1970 के दशक में किया। इसका मूल उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि व्यक्ति स्वास्थ्य संबंधी व्यवहारों को अपनाने या न अपनाने का निर्णय किन मनोवैज्ञानिक कारकों के आधार पर करता है (Becker, 1974)।

इस मॉडल के अनुसार व्यक्ति तभी किसी स्वास्थ्य-संबंधी व्यवहार को अपनाता है जब उसे यह विश्वास हो कि वह किसी बीमारी या स्वास्थ्य समस्या के जोखिम में है, वह समस्या गंभीर है, उससे बचाव के उपाय लाभकारी हैं तथा उन उपायों को अपनाने में आने वाली बाधाएँ अपेक्षाकृत कम हैं (Rosenstock, 1974; Becker, 1974)।

स्वास्थ्य विश्वास मॉडल के चार प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं—

1. Perceived Susceptibility (अनुभूत संवेदनशीलता): व्यक्ति को यह विश्वास होना चाहिए कि वह किसी बीमारी के जोखिम में है। उदाहरण के लिए, धूम्रपान करने वाला व्यक्ति यह समझे कि उसे भी फेफड़ों का कैंसर हो सकता है (Becker, 1974)।
2. Perceived Severity (अनुभूत गंभीरता): व्यक्ति यह अनुभव करे कि बीमारी के परिणाम गंभीर हो सकते हैं, जैसे मृत्यु, विकलांगता अथवा जीवन की गुणवत्ता में गिरावट (Rosenstock, 1974)।
3. Perceived Benefits (अनुभूत लाभ): व्यक्ति को यह विश्वास हो कि सुझाया गया स्वास्थ्य व्यवहार अपनाने से वास्तविक लाभ प्राप्त होगा। उदाहरणतः टीकाकरण से बच्चा गंभीर संक्रामक रोगों से सुरक्षित रहेगा (Becker, 1974)।
4. Perceived Barriers (अनुभूत बाधाएँ): यदि स्वास्थ्य सेवा आसानी से उपलब्ध हो तथा आर्थिक, सामाजिक या भौगोलिक बाधाएँ कम हों, तो व्यक्ति स्वास्थ्य व्यवहार अपनाने के लिए अधिक प्रेरित होता है। उदाहरण के लिए, यदि टीकाकरण निःशुल्क हो तथा प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र (PHC) निकट स्थित हो, तो टीका लगवाने की संभावना बढ़ जाती है (Rosenstock, 1974)।

भारतीय संदर्भ में पोलियो उन्मूलन अभियान इस मॉडल का उत्कृष्ट उदाहरण है। "दो बूंद ज़िंदगी की" जैसे जनसंचार संदेशों ने अभिभावकों में पोलियो के प्रति जोखिम (Perceived Susceptibility) और उसके गंभीर परिणामों (Perceived Severity) के प्रति जागरूकता उत्पन्न की, साथ ही निःशुल्क एवं सुलभ टीकाकरण सेवाओं के माध्यम से बाधाओं (Perceived Barriers) को भी कम किया।

यद्यपि स्वास्थ्य विश्वास मॉडल स्वास्थ्य व्यवहार को समझाने में अत्यंत उपयोगी है, फिर भी इसकी एक प्रमुख सीमा यह है कि यह मुख्यतः व्यक्ति के भय अथवा जोखिम-बोध पर आधारित है। कई परिस्थितियों में अत्यधिक भय उत्पन्न होने पर व्यक्ति समस्या को स्वीकार करने के बजाय उसका इनकार (Denial) भी कर सकता है, जिससे अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन नहीं हो पाता (Glanz, Rimer, & Viswanath, 2008)।

2. Social Cognitive Theory (SCT) - सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धांत

Bandura ने 1986 में इस सिद्धांत को दिया। इस सिद्धांत की मुख्य उद्घोषणा है Reciprocal Determinism - अर्थात् व्यक्ति, व्यवहार और वातावरण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

सिद्धांत की मुख्य अवधारणा:

1. Observational Learning: लोग दूसरों को देखकर सीखते हैं। उदाहरण: इसलिए "आशा दीदी" की भूमिका महत्वपूर्ण हैं।
2. Self-Efficacy: अर्थात् "मैं कर सकता हूँ" का विश्वास।
3. Outcome Expectation: अर्थात् "करने से क्या फायदा होगा"?

भारत में उपयोग का उदाहरण: Nand Ghar और Poshan Abhiyan में महिला समूहों द्वारा खाना बनाने का लाइव डेमो। "देखकर सीखो" मॉडल।

3 Diffusion of Innovation (DOI) - नवाचार प्रसार सिद्धांत

Rogers ने सिद्धांत दिया कि कोई भी नई स्वास्थ्य तकनीक 5 चरण में फैलती है।

5 प्रकार के अपनाने वाले चरण : Innovators 2.5% ⟶ Early Adopters 13.5% ⟶ Early Majority 34% ⟶ Late Majority 34% ⟶ Laggards 16%

भारत में उपयोग का उदाहरण : COVID वैक्सीन के समय। पहले डॉक्टर और शिक्षक Early Adopters बने। फिर पंचायत ने Late Majority को मनाया।

महत्व का उदाहरण: अभियान में पहले "Opinion Leader" को टारगेट करें, सबको नहीं।

4. Extended Parallel Process Model (EPPM) - विस्तारित समानांतर प्रक्रिया मॉडल

Witte ने यह सिद्धांत दिया। डर आधारित संचार के लिए।
फार्मूला: Threat + Efficacy = Danger Control
अगर Threat ज्यादा और Efficacy कम = Fear Control = संदेश को नकार देंगे।
भारत में उपयोग के उदाहरण : तंबाकू पर "Cancer की तस्वीर" के साथ "Quitline नंबर" देना जरूरी है। केवल डराने से लोग पाउच छुपा लेंगे।

5. Theory of Planned Behavior (TPB) - नियोजित व्यवहार सिद्धांत

Ajzen ने यह सिद्धांत दिया। इस सिद्धांत के अनुसार व्यवहार = Intention। Intention = Attitude + Subjective Norm + Perceived Control

भारत में उपयोग का उदाहरण : खुले में शौच। Attitude: "गंदा है"। Subjective Norm: "गाँव वाले क्या कहेंगे"। Control: "शौचालय है"। Swachh Bharat ने तीनों पर काम किया।

भारतीय संदर्भ में स्वास्थ्य संचार : सांस्कृतिक अनुकूलन की आवश्यकता

स्वास्थ्य संचार के अधिकांश प्रमुख सिद्धांत, जैसे स्वास्थ्य विश्वास मॉडल (Health Belief Model–HBM), सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धांत (Social Cognitive Theory–SCT), नियोजित व्यवहार सिद्धांत (Theory of Planned Behavior–TPB) तथा नवाचार प्रसार सिद्धांत (Diffusion of Innovation–DOI), पश्चिमी समाजों में विकसित हुए हैं। इन सिद्धांतों का वैज्ञानिक आधार सार्वभौमिक है, किंतु भारतीय समाज की सांस्कृतिक, भाषायी, सामाजिक एवं आर्थिक विविधताओं के कारण इनका प्रत्यक्ष अनुप्रयोग सदैव प्रभावी नहीं होता। अतः भारतीय संदर्भ में इन सिद्धांतों का स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप सांस्कृतिक अनुकूलन (Cultural Adaptation) आवश्यक है (Airhihenbuwa, 1995; Rogers, 2003)।

1. सामूहिकतावाद बनाम व्यक्तिवाद (Collectivism vs. Individualism): पश्चिमी समाज मुख्यतः व्यक्तिवादी (Individualistic) हैं, जहाँ स्वास्थ्य संबंधी निर्णय व्यक्तिगत स्तर पर लिए जाते हैं। इसके विपरीत भारतीय समाज सामूहिकतावादी (Collectivist) है, जहाँ परिवार एवं समुदाय का निर्णय व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है (Hofstede, 2001)। उदाहरण के लिए, परिवार नियोजन के संदर्भ में स्वास्थ्य विश्वास मॉडल व्यक्ति को छोटे परिवार के लाभ समझाने पर बल देता है, जबकि भारत में अनेक परिवारों में पुत्र-प्राप्ति की सामाजिक अपेक्षा निर्णय को प्रभावित करती है। इसलिए केवल "दो बच्चे पर्याप्त हैं" जैसे संदेशों के स्थान पर "स्वस्थ माँ, स्वस्थ परिवार" जैसे परिवार-केंद्रित संदेश अधिक प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं (Ministry of Health and Family Welfare [MoHFW], 2020)।

2. भाषा एवं सांस्कृतिक प्रतीकों का महत्त्व: स्वास्थ्य संचार में भाषा, लोक-विश्वास और सांस्कृतिक प्रतीकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पश्चिमी देशों में भय उत्पन्न करने वाले दृश्य (Fear Appeals) प्रभावी हो सकते हैं, किंतु भारत के ग्रामीण एवं जनजातीय क्षेत्रों में स्थानीय मान्यताएँ, धार्मिक विश्वास तथा लोक-प्रतीक अधिक प्रभावशाली होते हैं (Airhihenbuwa, 1995)। उदाहरणस्वरूप, झारखंड में क्षय रोग (टीबी) जागरूकता अभियान में "टोटका से नहीं, दवा से ठीक होगा" जैसे स्थानीय सांस्कृतिक संदेशों ने लोगों में वैज्ञानिक उपचार के प्रति विश्वास बढ़ाने में सकारात्मक भूमिका निभाई।

3. विश्वास का संकट (Trust Deficit): स्वास्थ्य संचार की सफलता संदेश की विषयवस्तु के साथ-साथ उसके स्रोत (Source Credibility) पर भी निर्भर करती है। भारत में कई क्षेत्रों में लोग सरकारी चिकित्सकों की अपेक्षा स्थानीय ग्रामीण चिकित्सकों (RMP), आशा कार्यकर्ताओं या समुदाय के प्रभावशाली व्यक्तियों पर अधिक विश्वास करते हैं। दास और हैमर (Das & Hammer, 2007) के अध्ययन में भी यह पाया गया कि अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय स्वास्थ्य प्रदाताओं पर अपेक्षाकृत अधिक भरोसा किया जाता है। अतः स्वास्थ्य संदेशों के प्रसार में समुदाय-आधारित विश्वसनीय व्यक्तियों की सहभागिता आवश्यक है।

4. डिजिटल विभाजन (Digital Divide): नवाचार प्रसार सिद्धांत (Diffusion of Innovation Theory) डिजिटल माध्यमों के माध्यम से सूचना के तीव्र प्रसार पर बल देता है (Rogers, 2003)। किंतु भारत में डिजिटल संसाधनों तक समान पहुँच अभी भी सुनिश्चित नहीं हो सकी है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS-5) के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों, विशेषकर महिलाओं के बीच स्मार्टफोन एवं इंटरनेट की उपलब्धता सीमित है (International Institute for Population Sciences [IIPS] & ICF, 2021)। इसलिए केवल डिजिटल माध्यमों पर आधारित स्वास्थ्य संचार पर्याप्त नहीं है। रेडियो, सामुदायिक बैठकें, लोकनाट्य, मुनादी, आंगनबाड़ी तथा आशा कार्यकर्ताओं जैसे पारंपरिक संचार माध्यमों का समन्वित उपयोग अधिक प्रभावी सिद्ध हो सकता है।

एकीकृत "GLocal स्वास्थ्य संचार मॉडल" का प्रस्ताव

भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए एक GLocal (Global + Local) स्वास्थ्य संचार मॉडल प्रस्तावित किया जा सकता है, जिसमें वैश्विक सिद्धांतों की वैज्ञानिकता और स्थानीय संस्कृति की सामाजिक वास्तविकताओं का समन्वय हो।

इस मॉडल के प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं—

G (Global Theories): स्वास्थ्य विश्वास मॉडल (HBM), सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धांत (SCT), नियोजित व्यवहार सिद्धांत (TPB) तथा नवाचार प्रसार सिद्धांत (DOI) का वैज्ञानिक आधार।

L (Local Culture): स्थानीय भाषा, लोककला, त्योहार, पंचायत तथा सांस्कृतिक परंपराओं का समावेश।

O (Opinion Leaders): आशा कार्यकर्ता, आंगनबाड़ी सेविका, शिक्षक, धार्मिक नेता तथा ग्राम प्रधान जैसे विश्वसनीय व्यक्तियों की सहभागिता।

C (Community Participation): स्वास्थ्य संदेशों के निर्माण एवं प्रसार में स्थानीय समुदाय की सक्रिय भागीदारी।

A (Accessibility): स्वास्थ्य सेवाओं को सरल, सुलभ, निःशुल्क एवं सभी वर्गों के लिए उपलब्ध बनाना।

L (Long-term Sustainability): अल्पकालिक अभियानों के स्थान पर दीर्घकालिक एवं सतत स्वास्थ्य संचार रणनीतियों का विकास।

उदाहरणस्वरूप, कुपोषण उन्मूलन अभियान में स्वास्थ्य विश्वास मॉडल के माध्यम से कुपोषण के जोखिम के प्रति जागरूकता विकसित की जा सकती है; सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धांत के अंतर्गत आंगनबाड़ी कार्यकर्ता पोषणयुक्त भोजन का व्यवहारिक प्रदर्शन कर सकती हैं; नवाचार प्रसार सिद्धांत के अनुसार प्रारंभिक स्तर पर "पोषण सखी" जैसी स्थानीय महिला नेतृत्वकर्ता तैयार की जा सकती हैं; नियोजित व्यवहार सिद्धांत के माध्यम से सामाजिक स्वीकृति का वातावरण निर्मित किया जा सकता है; तथा लोकगीत, नचारी, पइका नृत्य, कठपुतली, नुक्कड़ नाटक और अन्य लोकमाध्यमों के द्वारा स्वास्थ्य संदेशों का प्रभावी प्रसार किया जा सकता है।

निष्कर्ष

स्वास्थ्य संचार के बिना कोई भी स्वास्थ्य नीति सफल नहीं हो सकती। पर अंधाधुंध संचार से संचार नीति सफल ही होगा यह नहीं कहा जा सकता। अगर नीति सटीक नहीं है तो संसाधन बर्बाद भी होते हैं। भारत में हमे स्वास्थ्य संचार हेतु सिद्धांत-आधारित संचार अपनाना होगा। क्योंकि सिद्धांत हमें सुनियोजित तरीक़े से बताते हैं कि "किसे, क्या, कैसे, कब" कहना है। भविष्य की चुनौती से निपटने के लिए हमे, जैसे , WhatsApp फेक न्यूज, जलवायु परिवर्तन इत्यादि । के लिए हमें सिद्धांतों को "डिजिटल + सांस्कृतिक" पर आधारित बनाना होगा। एक वाक्य में अगर निष्कर्ष कहे तो "सही संदेश + सही सिद्धांत + सही संस्कृति रणनीति = सफल स्वास्थ्य संचार अर्थात् स्वस्थ भारत"।

संदर्भ -

Airhihenbuwa, C. O. (1995). *Health and culture: Beyond the Western paradigm*. Thousand Oaks, CA: Sage Publications.

Ajzen, I. (1991). The theory of planned behavior. Organizational Behavior and Human Decision Processes, 50(2), 179–211.

Bandura, A. (1986). _Social foundations of thought and action: A social cognitive theory_. Prentice-Hall.

Becker, M. H. (1974). The health belief model and personal health behavior. _Health Education Monographs, 2(4), 324–473.

Das, J., & Hammer, J. (2007). Economic Development and Cultural Change, 55(3), 525–558.

Glanz, K., Rimer, B. K., & Viswanath, K. (Eds.). (2008). *Health behavior and health education: Theory, research, and practice* (4th ed.). San Francisco, CA: Jossey-Bass.

Hofstede, G. (2001). *Culture's consequences: Comparing values, behaviors, institutions and organizations across nations* (2nd ed.). Thousand Oaks, CA: Sage Publications.

International Institute for Population Sciences (IIPS), & ICF. (2021). *National Family Health Survey (NFHS-5), 2019–21: India*. Mumbai: IIPS.

Ministry of Health & Family Welfare. (2021). National family health survey NFHS-5 2019-21. GOI.

Ministry of Health and Family Welfare. (2020). *National Family Planning Programme*. New Delhi: Government of India.

National Cancer Institute. (2019). _Making health communication programs work_. NCI, NIH.

Rogers, E. M. (2003). *Diffusion of innovations* (5th ed.). New York, NY: Free Press.

Rosenstock, I. M. (1974). Historical origins of the health belief model. *Health Education Monographs, 2*(4), 328–335.

Singh, P., & Kumar, A. (2023). Cultural adaptation of health messages in tribal Jharkhand. _Indian Journal of Communication, 11(1), 45–60.

Witte, K. (1992). Putting the fear back into fear appeals. Communication Monographs, 59(4), 329–349.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 14.03.2026 | Accepted: 30.04.2026 | Published: 30.05.2026

यथार्थवाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. रवेन्द्र राजपूत *

ravendrarajput@hotmail.com

शोध सारांश

यथार्थवाद एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। वास्तव में यह मूलतत्व दर्शन के रूप में यह उतना ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य। प्रारम्भ में जब मनुष्य के पास विचार नहीं थे उसने संसार की सभी वस्तुओं व क्रियाओं को जिस रूप में देखा स्वीकार किया। यथार्थवाद वस्तु के अस्तित्व के बारे में एक विचारधारा है, जो वस्तु को वास्तविक मानती है। वस्तु को वास्तविक मानने वाली यह विचारधारा विचार के रूप में सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान है। भारतीय दर्शन में यह वैदिक काल से ही दृष्टिगोचर होती है, जहाँ प्रकृति के तत्वों का वर्णन है, जहाँ मनुष्य की उत्पत्ति ही पंचतत्वों - क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर से मानी गयी है। चार्वाक् दर्शन तो पूर्ण रूप से भौतिकवादी था। महर्षि गौतम के न्याय दर्शन व महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन में भी यथार्थवाद तत्वों के प्रमाण मिलते हैं। जैन दर्शन तो यथार्थवादी दर्शन का ली उदाहरण है। यथार्थवाद के अनुसार संसार की वस्तुएँ यथार्थ है और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान ही सत्य है। जो कुछ भी हमारे सम्मुख है और हमारे चक्षुओं से परिलक्षित हो रहा है वही सत्य है। ये ब्रह्माण्ड पदार्थ का ही रूप है और पदार्थ ही तरह ही वास्तविक है।

बीज शब्द-

प्राचीन, मूलतत्व, अस्तित्व, सृष्टि, विद्यमान, वैदिक काल, दृष्टिगोचर, उत्पत्ति, क्षिति, वैशेषिक, चक्षुओं, परिलक्षित, ब्रह्माण्ड, इन्द्रिय। ।

प्रस्तावना

यथार्थवाद दर्शन की एक महत्वपूर्ण विचारधारा है, जो प्रत्यक्ष अनुभव, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा भौतिक जगत की वास्तविकता को स्वीकार करती है। यह मानती है कि संसार की वस्तुएँ अपने वास्तविक स्वरूप में विद्यमान हैं तथा उनका ज्ञान इन्द्रियों एवं अनुभव के माध्यम से प्राप्त होता है। शिक्षा के क्षेत्र में यथार्थवाद ने शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों, अनुशासन तथा विद्यालय व्यवस्था को व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी स्वरूप प्रदान किया है। आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी विकास के युग में यथार्थवादी शिक्षा-दर्शन का महत्व और अधिक बढ़ गया है, क्योंकि यह शिक्षा को वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं से जोड़ता है तथा व्यक्तियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तार्किक चिंतन और व्यावसायिक दक्षता का विकास करता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में यथार्थवाद के अर्थ, परिभाषाओं, मूलभूत सिद्धान्तों, शिक्षा में इसके विभिन्न रूपों, शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों, शिक्षक, अनुशासन तथा विद्यालय संबंधी विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। साथ ही यथार्थवाद के गुण, दोष एवं आधुनिक शिक्षा में उसकी प्रासंगिकता का भी विवेचन किया गया है, जिससे शिक्षा के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता का समग्र मूल्यांकन किया जा सके।

* **एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़**

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) प्रकृति का है। इसमें ऐतिहासिक तथा दार्शनिक शोध प्रविधि का उपयोग किया गया है। अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री का संकलन द्वितीयक स्रोतों (Secondary Sources) से किया गया है, जिनमें शिक्षा-दर्शन एवं शिक्षा-शास्त्र से संबंधित पुस्तकें, शोध-पत्र, संदर्भ ग्रंथ तथा अन्य प्रामाणिक साहित्य शामिल हैं। संकलित सामग्री का वर्गीकरण, तुलनात्मक अध्ययन एवं आलोचनात्मक विश्लेषण करके यथार्थवाद के सिद्धान्तों, शैक्षिक विचारों तथा आधुनिक शिक्षा में उनकी उपयोगिता का निष्पक्ष मूल्यांकन किया गया है।

इस प्रकार यह अध्ययन पूर्णतः दस्तावेज़ीय (Documentary Research) एवं विषय-वस्तु विश्लेषण (Content Analysis) पर आधारित है, जिसका उद्देश्य यथार्थवाद के दार्शनिक एवं शैक्षिक स्वरूप को स्पष्ट करना तथा वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में उसकी प्रासंगिकता का विश्लेषण करना है।

यथार्थवाद का अर्थः-

शाब्दिक अर्थ - यथार्थवाद अंग्रेजी भाषा के शब्द 'रियलिज्म' (Realism) का हिन्दी रूपान्तर है। जोकि अंग्रेजी के ही रियल (Real) से बना है। रियल शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'रेस' (Res) से हुई है जिसका अर्थ है 'वस्तु'। अतः रियलिज्म (Realism) का अर्थ हुआ वस्तु सम्बन्धी विचारधारा।

वास्तविक अर्थ - 'यथार्थवाद' वस्तु के अस्तित्व सम्बन्धी विचारों के प्रति एक दृष्टिकोण है जो कि प्रत्यक्ष जगत को सत्य मानता है। अर्थात् सत्य वही है जिसे हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण करते हैं।

अतः यथार्थवाद का तात्पर्य उस दार्शनिक विचारधारा से है जो कि अनुभव में भौतिक यथार्थवाद के जगत को वास्तविक एवं आधारभूत वस्तु मानती हैं। इसके अनुसार भौतिक जगत वस्तु है और तथ्य जगत कोई ऐसी वस्तु है जिसे उतनी सरलता से स्वीकार किया जा सकता है।

परिभाषायेंः-

1. "यथार्थवाद यह मानता है कि जिन वस्तुओं का हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है उनके पीछे उन जैसी ही वस्तुओं का एक यथार्थ जगत् है।" -रॉस
2. "यथार्थवाद संसार को सामान्यतः उसी रूप में स्वीकार करता है जिस रूप में वह हमें दिखाई देता है।" - बटलर
3. "संक्षेप में यथार्थवाद का अर्थ उस विश्वास या सिद्धान्त से है जो जगत को पैसा ही स्वीकार करता है जैसा वह दिखाई देता है अर्थात् जो केवल एक घटना मात्र है।" - रामतीर्थ स्वामी
4. "यथार्थवाद अनुभव में भौतिक वास्तविकता के जगत को सत्य तथा आधारभूत सत्य मानता है। इसका विचार है कि भौतिक जगत कोई ऐसी वस्तु है जिसे उसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिस रूप में वह है।" - चैबे एस.पी.

यथार्थवाद के मूलभूत सिद्धान्तः-

1. दृश्य जगत ही सत्य है। 2. ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की द्वार हैं। 3. वस्तु जगत में एक नियमितता है।
4. अवयव का सिद्धान्त 5. मानव के वर्तमान व्यावहारिक जीवन का महत्व 6. प्रयोग पर बल देता है।
7. पारलौकिकता को अस्वीकार करता है। 8. आदर्शवाद का विरोध 9. आंगिक सिद्धान्त

यथार्थवादी शिक्षा की प्रमुख विशेषतायेंः-

1. विस्तृत एवं व्यावहारिक पाठ्यक्रम। 2. प्राकृतिक तत्वों तथा सामाजिक संस्थाओं की महत्ता।
3. इन्द्रियाँ ज्ञान के प्रमुख द्वार है। 4. उदार शिक्षा पर बल 5. व्यावसायिक शिक्षा पर बल।

शिक्षा में यथार्थवाद के रूपः-

शिक्षा में यथार्थवाद के 4 रूप हैं जो निम्न हैं-

1. मानवतावादी यथार्थवाद - मानवतावादी यथार्थवाद का विश्वास है कि शिक्षा यथार्थवादी होनी चाहिए ऐसी शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य को जीवन में सुख और सफलता मिल सकती है। पॉल मुनरो लिखते हैं- ''मानवतावादी यथार्थवादियों का उद्देश्य अपने जीवन की प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का पूर्ण अध्ययन प्राचीन व्यक्तियों के जीवन की व्यापक परिस्थितियों के माध्यम के करना था, लेकिन यह कार्य केवल ग्रीक एवं रोमन साहित्य के विस्तृत ज्ञान से पूर्ण किया जा सकता था।'' मानवतावादी यथार्थवाद के समर्थक - इरेसमस, रैवलैंस, मिल्टन।

2. सामाजिक यथार्थवाद - सामाजिकतावादी यथार्थवादियों ने रटन्त पद्धति का विरोध किया तथा समाज और सामाजिक वातावरण को महत्व देते हुए वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति पर बल दिया। इनका विचार है कि ऐसी शिक्षा बालक को प्रदान की जाये जो उसके जीवन में उपयोगी तथा व्यावहारिक हो। इसीलिए यथार्थवादियों ने पाठ्यक्रम में इतिहास, भूगोल, गणित, कानून, राजदूत शिक्षा, हथियार चलाना, घुड़सवारी तथा जिमनास्टिक आदि विषयों को स्थान देने पर बल दिया जिससे बालकों में सामाजिक गुणों की अभिवृद्धि हो।

रॉस के शब्दों में - ''सामाजिक यथार्थवादी पुस्तकीय पढ़ाई को व्यर्थ समझते थे तथा मनुष्यों व वस्तुओं के सीधे अध्ययन पर बल देते थे। उनके मस्तिष्क में मुख्य रूप से उच्च वर्गों का विचार था। इसीलिए ये एक लम्बी यात्रा करने के लिए कहते थे, जिससे कि वास्तविक जीवन के विविध पहलुओं का वास्तविक अनुभव हो जाये।'' सामाजिक यथार्थवाद के समर्थक - लार्ड मान्टेन, जॉन, लॉक।

3. ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद - ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद का जन्म 17 वीं शताब्दी में हुआ। इस बात का दावा है कि ज्ञान प्राथमिक रूप से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, शब्दों से नहीं। अतः बालक की शिक्षा में आँख, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा से काम लिया जाना चाहिए। शिक्षा कृत्रिम रूप की अपेक्षा स्वाभाविक रूप से प्रदान की जानी चाहिए। क्योंकि जब तक किसी वस्तु को व्यक्ति आँख से देखेगा नहीं, कान से सुनेगा नहीं, नाक से सूंघेगा नहीं अर्थात् इन्द्रियों का उचित प्रयोग नहीं करेगा, तब तक उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त होगा। ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के समर्थक - मूल कास्टर, फ्रांसिस वेकन, राटफे, कमेनियस

4. नव-यथार्थवाद - नव यथार्थवाद का महत्व शिक्षा के क्षेत्र की अपेक्षा दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्र में अधिक है। नव यथार्थवादियों का विचार है कि अन्य नियमों की भाँति वैज्ञानिक नियम भी परिवर्तनशील है। वे किसी सीमित अथवा विशेष परिस्थितियों में ही प्रामाणिक होते है। जब उन परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तो इनमें भी परिवर्तन हो जाता है। जैसा कि रस्क कहते है- ''नव-यथार्थवाद का महत्वपूर्ण योगदान उन पद्धतियों एवं निष्कर्षों को स्वीकार करने में है जो कि भौतिक शास्त्र के आधुनिक विकास में प्राप्त हुए है।'' नव-यथार्थवाद के समर्थक - व्हाई हैड, बद्रन्ड रसेल।

यथार्थवाद और शिक्षा -

यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो जीवन की यथार्थ परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करती है। यह केवल व्यक्ति के विकास व प्रगति की प्रक्रिया ही नहीं बल्कि वह समाज के विकास व प्रगति की प्रक्रिया भी है।

यथार्थवाद तथा शिक्षा के उद्देश्यः-

1. वास्तविक जीवन की तैयारी
2. बालक की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास करना।
3. मानव समाज का पूर्ण ज्ञान प्रदान करना
4. ज्ञानेन्द्रियों का विकास करना
5. सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास
6. व्यावसायिक क्षमता, कुशलता एवं योग्यता का विकास

यथार्थवाद और पाठ्यक्रमः-

1. मानवतावादियों के अनुसार - भाषा, साहित्य तथा नैतिक शिक्षा को मुख्य तथा शरीर विज्ञान, शिल्प कला, कृषि को गौण स्थान देते हैं।
2. सामाजिकतावादियों के अनुसार - भूगोल, इतिहास, गणित, कानून, राजदूत शिक्षा, हथियार चलाना।
3. ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादियों के अनुसार - भौतिक विज्ञान, व्यावहारिक शिक्षा तथा मातृभाषा।
4. नव यथार्थवादी - भौतिकशास्त्र के पाठन पर बल।

संक्षेप में यथार्थवादियों ने पाठ्यक्रम में इन विषयों को शामिल किया हैः-

1. प्राकृतिक विज्ञान 2. मातृभाषा 3. कौशल एवं हस्त कार्य
4. राजनीति (अर्थशास्त्र एवं समाज विज्ञान) 5. गृहस्थशास्त्र (बाल मनोविज्ञान भी)
6. स्वास्थ्य रक्षा एवं व्यायाम 7. खेलकूद 8. भ्रमण 9. गणित
10. इतिहास 11. धर्म 12. भूगोल 13. नक्षत्र विज्ञान

यथार्थवाद और शिक्षण पद्धतिः-

1. मानवतावादी - मनोरंजन विधि , देशाटन विधि, अभ्यास विधि

2. सामाजिकतावादी - भ्रमण विधि, निरीक्षण विधि, क्रियाविधि, अभ्यास विधि

3. ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद - 1617 में रेटीशियस ने 'मेथड्स नोवा' प्रकाशित की जिसमें इन शिक्षण सूत्रों की चर्चा की-

प्राकृतिक नियमों के आधार पर ज्ञान एक समय पर एक ही वस्तु का ज्ञान दिये हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति नहीं
मातृभाषा के माध्यम से ज्ञान वस्तु ज्ञान का महत्व

बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता रहने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया जाय। संक्षेप में यथार्थवाद की शिक्षण विधि ये हैंः-

1. शाब्दिकता तथा आत्मसात् भावना का विरोध 2. वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक विधि के प्रयोग पर बल
3. आगमन व निगमन विधियां 4. यात्रा, वस्तुओं, दृश्य - श्रव्य सामग्री का प्रयोग
5. स्वानुभव पर बल 6. निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग आदि पर बल।

अनुशासनः-

I. प्रेम व सहानुभूति पर आधारित अनुशासन का समर्थन।
II. सामाजिक नियमों के अनुसार अनुशासन।
III. प्राकृतिक परिणामों के द्वारा अनुशासन

शिक्षकः-

i. शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान।
ii. शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि किसको, किस समय, कितना पढ़ाना है।
iii. शिक्षक के प्रशिक्षण पर बल।

विद्यालयः-

विद्यालय मनुष्यों के वास्तविक निर्माण के साधन है। विद्यालय के साथ-साथ औपचारिक साधनों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्कूल एक सामाजिक सुव्यवस्थित संस्था है। विद्यालय समाज का दर्पण है।

यथार्थवाद का मूल्यांकनः-

गुण -

1. यथार्थवाद के परिणामस्वरूप शिक्षा के व्यवहारिक व यथार्थ उद्देश्यों पर बल दिया जाने लगा।
2. प्राचीन भाषाओं एवं साहित्य के स्थान पर व्यवसायिक एवं प्राविधिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा मनुष्य के यथार्थ जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है।
3. आज पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों को केन्द्रीय स्थान दिया जाने लगा है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं मानव जीवन को अधिक से अधिक सुखमय बनाने के लिए वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं शोधों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाने लगा है।
4. यथार्थवादी विचारों से प्रेरित होकर प्रत्येक शिक्षा शास्त्री इस बात पर बल देता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना, विश्व बन्धुत्व, विश्वशान्ति एवं मानव जाति की एकता का विकास शिक्षा के द्वारा ही किया जा सकता है।
5. यथार्थवाद के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय स्थापित करता है।
6. यथार्थवाद शिक्षा के विभिन्न पहलुओं जैसे- शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय, अनुशासन आदि की व्याख्या कर उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करता है।

दोष-

1. यथार्थवाद सत्य को दिखाई देने वाले भौतिक जगत् ही सीमित करता है।
2. यथार्थवादी ज्ञान के वस्तुनिष्ठ होने का दाबा करते हैं, जबकि ज्ञान वस्तुनिष्ठ न होकर सदैव व्यक्तिनिष्ठ होता है।
3. यथार्थवाद किसी भी लोकोत्तर सत्ता अर्थात् आत्मा, परमात्मा तथा स्वर्ग आदि पर विश्वास नहीं करता।
4. यथार्थवाद मानव व्यक्तित्व के भावात्मक पक्ष की उपेक्षा करता है। वह एक ओर जीवन की यथार्थ भावनाओं एवं आवश्यकताओं को स्वीकार करता है और दूसरी और कल्पना, संवेग एवं स्थायी भाव को कोई स्थान नहीं देता है।
5. यथार्थवादी शाश्वत मूल्यों व आदर्शों जैस- सत्यं, शिवं, सुन्दरं की उपेक्षा कहते हैं, जबकि ये मूल्य मानव जीवन के लिए अति आवश्यक है। यदि इन मूल्यों की उपेक्षा की जाती है तो मानव एवं पुश जीवन में कोई अन्तर नहीं रह जाता।
6. यथार्थवाद साहित्य, कला, दर्शन जैसे मानवीय विषयों की उपेक्षा करता है।
7. यथार्थवादी शिक्षा का उद्देश्य भौतिक समृद्धि एवं इन्द्रिय सुख की प्राप्ति है जबकि तथ्य यह है कि जीवन में इन्द्रिय सुख एवं भौतिक समृद्धि ही सब कुछ नहीं होता है। बल्कि इसके विपरीत आध्यात्मिक सुख और नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का अधिक महत्व होता है।

निष्कर्ष

यथार्थवाद एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा है जो प्रत्यक्ष अनुभव, भौतिक जगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ज्ञान का आधार मानती है। यह मानता है कि संसार की वस्तुएँ वास्तविक हैं तथा उनका ज्ञान इन्द्रियों और अनुभव के माध्यम से प्राप्त होता है। शिक्षा के क्षेत्र में यथार्थवाद ने व्यावहारिकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, व्यावसायिक शिक्षा, प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश के अध्ययन तथा बालक के सर्वांगीण विकास पर विशेष बल दिया है। इस दर्शन ने शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाते हुए पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, अनुशासन और विद्यालय व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं।

यद्यपि यथार्थवाद ने शिक्षा को अधिक व्यवहारिक, वैज्ञानिक और उपयोगी बनाया है, फिर भी इसकी सीमाएँ हैं। यह आध्यात्मिक, नैतिक तथा भावात्मक मूल्यों की अपेक्षाकृत उपेक्षा करता है और ज्ञान को मुख्यतः भौतिक एवं इन्द्रियानुभव तक सीमित कर देता है। अतः वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में यथार्थवाद की उपयोगिता तभी अधिक प्रभावी होगी जब इसके व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय नैतिक, सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों के साथ किया जाए। इस प्रकार यथार्थवाद आधुनिक शिक्षा को जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं से जोड़ने वाली एक महत्वपूर्ण दार्शनिक आधारशिला है।

संदर्भ -

1. चौबे, सर्वपल्ली प्रसाद. (2010). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार*. आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर.
2. पाण्डेय, रामशकल. (2012). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार*. आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर.
3. लाल, रमन बिहारी. (2011). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*. मेरठ: रस्तोगी पब्लिकेशन्स.
4. सक्सेना, नन्दकिशोर रामस्वरूप. (2014). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*. मेरठ: लॉयल बुक डिपो.
5. त्यागी, गोविन्द सिंह देव. (2013). *शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार*. आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.
6. टण्डन, उमा, एवं गुप्ता, अरुणा. (2012). *उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक*. आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.
7. ब्रूबेकर, जॉन सीली. (1962). *आधुनिक शिक्षा दर्शन* (हिन्दी संस्करण). नई दिल्ली: मैकग्रा-हिल.
8. रॉस, जेम्स स्कॉट. (2008). *शिक्षा सिद्धान्त की आधारशिला* (हिन्दी संस्करण). नई दिल्ली: सुरजीत पब्लिकेशन्स.

NOTES FOR AUTHORS

PADCHINHA: A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

1. Submissions

Authors should send all submissions and resubmissions to padchinha@muditeducation.com some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within one month. As a general rule, Padchinha operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.5), an abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list and a word count on the front page (include all elements in the word count). Regular articles are restricted to an absolute maximum of 8,000 words, including all elements (title page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

2. Types of articles

In addition to Regular Articles, Padchinha publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

3. The manuscript

The final version of the manuscript should contain, in this order:

(a) title page with name(s) of the author(s), affiliation and Email

(b) Abstract

(c) Main text

(d) List of references

(e) Biographical statement(s)

(f) Tables and figures in separate documents

(g) Notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.5.

The final manuscript should be submitted in MS Word for Windows.

4. Language

Padchinha is a Bilingual Journal, i.e. English and हिंदी. The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.

5. The abstract

The abstract should be in the range of 200-300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the actual content of the article, rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be written

in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order increasing the visibility of the abstract in electronic searches.

6. Title and headings

The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name an institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

7. Notes

Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

8. Tables

Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be fairly brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table. Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral, and printed on a separate page.

9. Figures

The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure. Example: Figure 1.

10. References

References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA form of reference.

11. Biographical statement

The biosketch in Padchinha appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

12. Proofs and reprints

Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proofs will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (Corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 6–9 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

13. Copyright

The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.

R.N.I. UPHIN/2011/37086

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तथा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (24–25 फरवरी 2025) में प्रस्तुत शोध पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित हुआ। इस विशेषांक का लोकार्पण संगोष्ठी के समापन सत्र में सम्पन्न हुआ।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (अक्टूबर 2024) में प्रस्तुत शोध पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में किया गया।

के. एल. ई. संस्था, कर्नाटक द्वारा 10 जुलाई 2024 को आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित किया गया, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में संपन्न हुआ।

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी. 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित।

संपादक : अजय परमार | सह-संपादक : पंकज कुमार सिंह - 9823696685